विचार-सागर

निगम

20-/

ॐ

उदासीन संस्कृत विद्यालय-ग्रन्थमाला

ग्रन्थाङ्क—४

विविध-ग्रन्थ-पाथोधि-मन्थाचल-श्रीमन्निश्चलदास स्वामि-प्रणीत

विचार-सागर

प्राक्कथन के लेखक :-

सर्वश्री हरिभाऊजी उपाध्याय (मुख्य-मन्त्री-अजमेर)

अनुवादक :-

निगमानन्द परमहंस

[गुरुस्थान — अन्दरली बारान्दरी

मु० पो० 'छाजली' सङ्गरूर (पेप्सु)]

भूमिका तथा टिप्पणी के लेखक :-

न्या० आचार्य, मी० तीर्थ, श्रीस्वामी योगीन्द्रानन्दजी

प्राचार्य, उदासीन-संस्कृत-विद्यालय

CK. ३६/१९ दुण्ढिराज 'बनारस'

संस्कृत-पद्य-निर्माता-

श्रीस्वामी विद्यानन्दजी व्याकरणाचार्य, न्या० मी० तीर्थ

20-4

दो शब्द

उदासीनं सुखासीनमुपासीनं रमारमम् ।
औदास्य-प्रथमाचार्यं कुमारं वैधसं भजे ॥

विचार-सागर का यह द्वितीय परिवर्धित संस्करण पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुए मुझे महान् हर्ष हो रहा है। केवल एक वर्ष में ही इसका प्रथम संस्करण खप जायगा—यह आशा न थी। इस संस्करण में महत्त्व की नई बात है—श्री स्वामी निश्चलदास जी का प्रामाणिक पूर्ण जीवन-परिचय। और यह जीवन-परिचय भी एक ऐसे महानुभाव के द्वारा उपस्थित किया गया है, जो कि केवल दादू सम्प्रदाय की ही नहीं; अपितु समूचे भारत की एक अनुपम विभूति है। आप का नाम है—त्यागमूर्ति,-प्रतिभा-सम्पन्न, श्री स्वामी मंगलदास जी महाराज। आप राजस्थान के एक प्रधान शिक्षा-केन्द्र श्री दादूमहाविद्यालय, (जयपुर) के अध्यक्ष हैं। आप की छत्र-छाया में उक्त विद्यालय की जो चतुरस्र श्रीवृद्धि हुई है, वह किस से छिपी नहीं। आपने जो श्री स्वामी निश्चलदासजी का जीवन-परिचय लिख भेजा है, उसके लिए मैं आप का बहुत आभारी हूँ।

विचार-सागर के अनुवादक राष्ट्रभाषा-पतञ्जलि, कविकान्त श्री स्वामी निगमानन्द जी महाराज ने जो इस पुस्तक के प्रकाशन का पूर्ण अधिकार "उदासीन संस्कृत विद्यालय, ढुण्ढिराज, बनारस" को सौंपने की अपूर्व उदारता का परिचय दिया है, उसके लिए यह विद्यालय आप का सदा ऋणी रहेगा। यद्यपि आप धन-सम्पन्न बिल्कुल ही नहीं, हमारे देश के लेखकों के लिए सम्पन्न होना, असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य रहा है। तथापि आप की यह उदारता हमारे लिए लखपतियों और करोड़पतियों से भी अधिक महत्त्व रखती है।

हमारे इस विद्यालय से मिथिला के चूड़ान्त तार्किक स्वनाम धन्य श्री धर्मदत्त बच्चा झा की (सामान्यनिरुक्ति, सिद्धांतलक्षण और व्याप्तिपञ्चक की) विवेचनाएँ ही पहले-प्रकाशित हुई थीं, किंतु

अब हमारे विद्यालय के संरक्षक, संचालक एवं अध्यक्ष, वेददर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर माननीय श्री स्वामी गङ्गेश्वरानंद जी महाराज ने विद्यालयीय प्रकाशन का विशाल आयोजन हृदय में रखकर इसके द्वितीय संस्करण को शीघ्र निकालने की आज्ञा दी। उनकी आज्ञा पाकर दिसम्बर १९५५ में प्रकाशन का कार्य आरम्भ कर दिया। इसके संशोधनादि के कार्यों में हमें पूरा सहयोग हमारे इस विद्यालय के स्नातक, दादू सम्प्रदाय के उज्वल रत्न स्वामी द्वारिकादास जी, कलानौरीय व्याकरणाचार्य का प्राप्त हुआ है। इसके लिए मैं आप को बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ। चित्सुखी के प्रकाशन में व्यस्त होने के कारण शब्द-सूची आदि कुछ अंगों को पूरा न कर सका। भूमिका एवं पाद-टिप्पणियाँ अवश्य बढ़ा दी गई हैं। आशा है कि तृतीय संस्करण सर्वाङ्गपूर्ण निकलेगा।

६-३-५६
उदासीन संस्कृत विद्यालय
ढुण्ढिराज, बनारस।

योगीन्द्रानन्द

द्वितीय आवृत्ति के समय

मैं दूर बैठा हूँ ; पता तक भी नहीं चला। पर अभी पत्र मिला कि द्वितीय संस्करण छप चुका है, केवल जिल्द बँधना बाकी है। इस बात का हर्ष है कि एक ही वर्ष के अंदर-अंदर प्रथम संस्करण समाप्त हो चुका। मुझे तो भय था कि न जाने क्या-क्या सुनना पड़े। पर पाठकों ने इस अपनी वस्तु को अपना लिया—यह भगवान् की कृपा का फल है। कुछ लोगों ने पंचम तरंग के विषय में आपत्ति की है उन्हें पूज्य विनोबाजी के इन शब्दों पर ध्यान देना चाहिए—

"पंचमत रंग में वैराग्य-वर्धन की कल्पना से विषय-निन्दा के तौर पर जो अश्लील वर्णन किया है उसके बारे में आपने ठीक ही लिखा है।" (विनोबा, १।३।५५)

अनुवादक
६।३।५६

—: कथन :—

मैं वेदान्तशास्त्र का ज्ञाता या पंडित नहीं। फिर भी वेदमंदिर, अहमदाबाद के स्वामी श्रीनिगमानन्द परमहंस ने खड़ीबोली में 'विचार-सागर' के अपने अनुवाद के सम्बन्ध में दो शब्द लिखने की मुझे प्रेरणा की है। इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। स्वामी निश्चलदास जी का "विचार-सागर" ज्ञान की गंभीरता किन्तु विवेचन की सरलता के लिए बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रन्थ है। उसका खड़ीबोली में शायद यह अनुवाद पहला ही है और मुझे खुशी है कि यह परमहंस स्वामी निगमानन्द जी जैसे अधिकारी विद्वान् के द्वारा प्रस्तुत हुआ है। अनुवाद के साथ जो पाद-टिप्पणियाँ दी गई हैं; उनमें कतिपय आवश्यक विषयों का तर्कयुक्त स्पष्टी-करण किया गया है, जो लेखक के वेदान्तशास्त्रों के गंभीर अध्ययन का परिचायक है। हिन्दी-भाषियों को, खासकर वेदान्तप्रेमियों को, इसका खूब सत्कार करना चाहिए।

भगवान् ने मनुष्य को बुद्धि दी है। इसलिए बुद्धि के ारा जितना समझा जा सकता है, परमात्मा को समझने का प्रयत्न जिज्ञासुओं ने किया है। विद्वानों तथा आचार्यों ने उस पर बड़े-बड़े ग्रन्थ और टीकाएं लिखी हैं। फिर भी, सब ने अनुभव किया है कि परमात्म-तत्त्व और शक्ति; बुद्धि की पहुँच के परे है और वह कोरे ज्ञान से नहीं जाना जाता; बल्कि अनुभव से प्राप्त होता है या पहचाना जाता है। अनुभव मुख्यतः साधना से होता है। अतः ज्ञानानुकूल या ज्ञानसाधक आचार को हम साधना कह सकते हैं। इसप्रकार परमात्म-प्राप्ति के लिए ज्ञान से अधिक नहीं तो ज्ञान के बराबर ही महत्त्व साधना का है।

इस प्रकार ज्ञान और साधना अर्थात् बुद्धि और शरीर दोनों के

सहयोग से मनुष्य को भगवान् की प्राप्ति हो सकती है ऐसा मैं समझता हूँ। निश्चय ही स्थूल आचार से उत्तरोत्तर सिद्धि प्राप्त करते हुए हम सूक्ष्म आत्म-प्रदेश में प्रवेश करते हैं। इस प्रक्रिया में हमारा चित्त हमारे पास एक बहुत बड़ा-शायद सबसे बड़ा-साधन है जो हमको परमात्मा की ओर ले जा सकता है। चित्त का एक सिरा स्थूल जगत् या शरीर से लगा हुआ है और दूसरा सूक्ष्म तत्त्व या आत्मा से लगा हुआ है। जगत् ज्यों-ज्यों हमारी दृष्टि से हटता जायगा--आत्मा के मुकाबले में जगत् की स्थिति ज्यों-ज्यों गौण होती जायगी--त्यों-त्यों चित्त का ढलाव आत्मा की ओर होता जायगा, और शुद्ध चित्त की अन्तिम अवस्था को ही हम आत्मप्रदेश में प्रवेश की अवस्था कहें तो कोई हानि नहीं। जब ज्ञान और आचार की रगड़ से चित्त शुद्ध और बलिष्ट होता है--आन्तरिक संघर्ष खत्म हो जाता है,--तब मनुष्य चिरशांति का अनुभव करता है। इसका दूसरा नाम मोक्ष या परमात्म-प्राप्ति है।

परमात्म-प्राप्ति और आत्मा-प्राप्ति और आत्म-निष्ठा दोनों एक नहीं। परमात्म-प्राप्ति प्रारम्भिक अवस्था है और उसमें निष्ठता अन्तिम या पूर्ण अवस्था है, जहांतक मनुष्य को पहुँचाना वेदान्तशास्त्र का मुख्य लक्ष्य है। विचार-सागर का यह अनुवाद हिन्दीभाषावित् तमाम जिज्ञासुओं और साधकों के लिए इस कार्य में बहुत सहायक होगा, इसमें मुझे कुछ सन्देह नहीं। एतदर्थ उन सब को स्वामी निगमानन्द जी का कृतज्ञ होना चाहिए।

गांधी आश्रम,
हटूंडी (अजमेर)

हरिभाऊ उपाध्याय
७-११-५४

ॐ

प्रथम संस्करण
की
प्रस्तावना

अनुवादः सखा मेऽस्ति, लेखनी सहचारिणी।
ययोः साहाय्यमासाद्य, गतोऽस्मि विदुषां पदम्॥

एक दिन वंदनीय मेरे ज्येष्ठ गुरुबंधु वेदमंदिर-संस्थापक वेददर्शनाचार्य महामंडलेश्वर श्री १०८ स्वामी गंगेश्वरानंद जी महाराज ने मुझसे कहा कि "निगम ! हिन्दी में 'विचार-सागर' बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ है। प्रचार की दृष्टि से तो इसका स्थान 'रामायण' और 'श्री गुरुग्रन्थ-साहब' के साथ आता है। यदि इसका खड़ीबोली में अनुवाद किया जाय तो राष्ट्रभाषा की सेवा के अतिरिक्त जिज्ञासु लोगों पर भी उपकार हो सकेगा"।

यद्यपि वेदान्त-ग्रन्थों का मेरा अध्ययन बिल्कुल ही नहीं। मेरा दृढ अनुभव है कि वेदान्त चोपड़ी की चीज नहीं; किंतु खोपड़ी की चीज है। अर्थात् जीनेकी कला का नाम वेदान्त है। जो संसार में जीना चाहता है; वेदान्त उसका परम हितैषी मार्ग-दर्शक है। वेदान्त यह बिल्कुल नहीं कहता कि तुम संसार में मत रहो। इसका तो ढंढोरा है कि, 'तुम संसार में रहो; पर संसार तुम में नहीं रहना चाहिए। पानी में नौका रहे तो कोई आपत्ति की बात नहीं; पर नौका में पानी नहीं रहना चाहिए।

वेदान्त ही नहीं सभी शास्त्र कहते हैं कि "मा शुचः"= तुम शोक मत करो। जो शोक करता है; उतने अंश में न वह भक्त है, न ज्ञानी है, न योगी है और न कर्म-कुशल ही है।"

शोक का बाप है शौक। अर्थात् शौक में से शोक पैदा होता

है। जिस वस्तु का हमें शौक होता है; उसके मिल जाने पर उसमें मोह पैदा हो जाता है और उसके नष्ट हो जाने पर होता है शोक। इस आधार पर हम मोह को शोक का बड़ा भाई कह सकते हैं।

वेदान्त कहता है कि भाई! तुम बदलनेवाली चीजों की कीमत क्यों करते हो ? जिसकी कीमत होती है उसीका शौक होता है। तुम अपनी कीमत करो। तुम आनन्दरूप हो। तुम्हारे आनन्द से ही सब आनन्दित हैं। सफेदी कपड़े में है, साबुन में नहीं। साबुन तो बाहर के आगन्तुक मल को निकालता भर है। इसलिए अपनी=(आत्मा की) कीमत करो। शास्त्र तो रास्ता सुझानेवाले टाइम-टेबुल हैं। चलना तो तुम्हें ही होगा। "आत्मानं विद्धि"=अपने स्वरूप को पहचानो।

जिसका अपना आप, सर्वभूत है बन रहा।
रहा देख जो साफ़, सर्वत्र अपनी एकता॥
एवंविध विज्ञान, जिसे प्राप्त है सर्वदा।
उस कृतार्थ के लिए, कहां मोह औ शौक है ?॥
('ईशावास्य-दर्शन')

हां, दूर निकल आया। यद्यपि वेदान्त-ग्रन्थों का मेरा अध्ययन बिल्कुल ही नहीं। फिर भी इस बहाने कुछ समय के लिए वेदान्त-ग्रन्थ का चिन्तन ही हो जायगा। साहस कर ही लिया। 'विचार-सागर' का संस्कृत और गुजराती अनुवाद मँगा लिया। संस्कृत अनुवाद का नाम है 'वेदान्त-सुधा'। इसमें जैसे आदि से लेकर अन्त तक कहीं प्रघट्टक (पैराग्राफ) बदलने का नाम ही नहीं लिया गया। वैसे ही यह 'विचार-सागर का अनुवाद है; इसकी गन्ध तक भी नहीं आने दी। काशी के धुरंधर विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से ही नहीं मुँदी आंखों से भी ग्रन्थकर्ता की भूरि भूरि

प्रशस्ति पद्यों में लिखी है। इसके लेखक (वस्तुतः—अनुवादक हैं बूंदी नरेश के पुरोहित श्रीहरिशर्माजी।

गुजराती अनुवाद भी देखा। इसके अनुवादक हैं--छोटालाल नरभेराम भट्ट। अनुवाद अच्छा है; पर इससे भी अच्छा है उनके लिखने का उद्देश्य। किन्तु इन्होंने सारी पुस्तक में 'तरङ्ग' शब्द ही नहीं आने दिया, जिसे गन्थकर्ता ने जान-बूझ कर रखा है। क्योंकि 'सागर' में तरङ्ग ही उठेंगी अंक नहीं। दूसरे-इन्होंने पीताम्बरी टीका के उपयोगी स्थलों का मूल में ही अनुवाद कर डाला है; जिससे यह अनुवाद न रहकर विवरण ग्रन्थ-(व्याख्याग्रन्थ)-सा बन गया है।

अनुवाद करना सुगम से सुगम और कठिन से कठिन काम है। सुगम इसलिए कि अनुवादक को विषय आदि की कल्पना नहीं करनी पड़ती। क्योंकि वे सब मूल में ही मिल जाते हैं। कठिन इसलिए है कि यदि वह मूल को बढ़ा देगा तो 'व्याख्या' बन जायगी। यदि उसे अति संक्षिप्त कर देगा तो 'सार' कहलावेगा। यदि उसी भाषा में मूल के क्रम को यथावत् न रखे तो 'वाच्यार्थ' का रूप ले लेगा। इसलिए इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए "एक-भाषा से दूसरी भाषा में लिखना या बोलना अनुवाद (भाषान्तर) कहलाता है।" किसी की देखा-देखी की जाय तो 'अनुकरण' की कोटि में आ जायगा।

पर मैं तो एक ही भाषा से एक ही भाषा में लिख रहा हूँ; जिससे मेरी कठिनाई तो और भी बढ़ जाती है। यह बात मेरे ध्यान में है कि मूल लेखक की शैली ही अनुवाद का प्राण होती है। जहाँ उसकी हत्या हो जाती है, वहीं मूल का-सा रसास्वाद नहीं होता। यही कारण है कि 'कादम्बरी' 'गीताञ्जलि' आदि के अनुवादों में वह मजा नहीं जो मूल में है।

मैंने मूल लेख के आकार-प्रकार को बिल्कुल घटने-बढ़ने नहीं दिया। विचारसागर के अध्यापकों को ऐसा प्रतीत होगा कि श्री निश्चलदास जी ही बोल रहे हैं। पर बोलने की भाषा है 'खड़ीबोली'। आप इसकी चाल-ढाल देखकर दूर से ही पहचान सकेंगे कि यह निश्चलदासी भाषा है। हाँ, बाहरी पहनावे में अंतर अवश्य दिखाई देगा। यही मैंने किया है। भाषा की पुरानी घघरी की काँट-छाँट करके सादी सुथनी बना दी है। हाँ, बनारसी रेशमी साड़ी भी पहनाई जा सकती थी; पर वह कृत्रिम दिखाई देती। हो सकता है पुराने लोग सुदामा की भाँति अपनी इस बुढ़िया को पहचान भी न सकते।

यद्यपि जितनी काँट-छाँट की आवश्यकता समझी गई उतनी करके ही मैंने छुट्टी पा ली है। फिर भी मैंने पंचम तरंग में पूर्ण स्वतंत्रता से काम लिया है। उसमें के नग्न अश्लीलता से भरे पद्यों को निकाल कर उन के स्थान पर साहित्यिक भाषा में उनका भावानुवाद दे दिया है। इसके लिए यदि क्षमा माँगने की आवश्यकता समझी जाती हो तो मैं माँग लेता हूँ और वह मुझे मिल भी जानी चाहिए।

दूसरी बात अधिक यह की है कि चार तरङ्गों के पद्यों का मूल में ही अर्थ दे दिया है। जिससे नये जिज्ञासुओं को पदार्थ समझने में सुविधा मिलेगी। पुस्तक का आकार आवश्यकता से अधिक बढ़ जाने के भय से बाकी के पद्यों का अर्थ साथ नहीं दिया।

यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वेदान्त-सिद्धान्त पर मेरा चौपड़ी-अधिकार नहीं; खोपड़ी-अधिकार हो तो यह दूसरी बात है। एक बार लिखकर मैंने इसे दुबारा देखा तक नहीं। क्योंकि मैं जानता था कि यह अनुवाद दर्शनों के अधिकारी विद्वान् मेरे आदरणीय भाई श्रीयोगीन्द्रानन्द जी [आचार्य-उदासीन-संस्कृत-विद्यालय. ३६।१९ ढुण्ढिराज, 'बनारस'] की अक्षरेदृष्टि (ऐक्सरेदृष्टि) में से

निकलनेवाला है । इनकी दृष्टि से ही निकला हो सो बात नहीं। इन्होंने इस पर परम उपयोगी टिप्पणी तथा भूमिका लिखकर इसका मूल्य भी बढ़ा दिया है। इसके लिए इन्हें धन्यवाद देने का अर्थ तो अपनी पीठ स्वयं ठोकने के समान होगा।

अजमेर के मुख्य-मंत्री "उपल-शकलमेकं भेदकं गोमयानाम्" के आदर्श महामान्य सर्वश्री हरिभाऊ जी उपाध्याय ने इसका प्राक्कथन लिखने के लिए जो अपना अमूल्य समय देकर राष्ट्रभाषा की सेवा के साथ-साथ अनुवाद का मान और मेरा उत्साह बढ़ाया है। इसके लिए हृदय से मैं आप का आभारी हूँ।

अक्षरी = जोड़नी (हिज्जों) के संबंध में-

मुझे धन-वन या कीर्ति-कूर्ति की तो विशेष कामना नहीं होती। हाँ, यह कामना अवश्य होती है कि अब राष्ट्रभाषा की अक्षरी निश्चित हो जानी चाहिए। इस संबंध में मैंने 'आदर्श-हिन्दी' पुस्तक लिखी। मैं नये राष्ट्रभाषा-प्रेमियों से 'आदर्श--हिन्दी' तथा श्रीरामचन्द्रवर्मा की "अच्छी--हिन्दी' देख जाने की भलामण (सिफारिश) करता हूँ।

गुजराती--भाषा का एक विशाल 'जोड़णीकोश' है। उसके मुख पृष्ठ पर राष्ट्रपिता गान्धी जी ने एक लीटी ही लिखी है:— "हवे पछी कोई ने स्वेच्छाए जोड़णी करवानो अधिकार नथी" "आज से पीछे किसी को स्वेच्छापूर्वक जोड़नी करने का अधिकार नहीं।" कितना अच्छा हो यदि राष्ट्रभाषा के विषय में ऐसा ही एकरूपता का निर्णय दे दिया जाय। पर इधर तो 'लिये' 'लिए' 'जायँगे' 'जावेंगे' आदि सब चलता है। जिससे अन्यप्रान्तीय विद्यार्थी द्विविधा में पड़ जाते हैं और लिखने में झिझकते रहते हैं। मैं नये रास्ट्रभाषा-प्रेमियों के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत करता हूँ:-

१--'आशाएँ' 'विधियां' 'लिये' (क्रिया) होता है; 'आशायें' 'विधियें' 'लिए' नहीं होता।

२--इस, इसी, उस, उसी, के, ने, और रे के बाद सदा 'लिए' अव्यय ही आता है।

३--संख्यावाचक विशेषणों के आगे या ऊपर बिन्दी नहीं होनी चाहिए। जैसे--दोनो भाई, तीनो लोक, चारो तरफ, पाँचो पाण्डव, सातो ऋषि, आठो याम, आदि, । पर जब ये संज्ञा की भाँति प्रयुक्त होते हैं। या मुखावरे (मुहावरे) के रूप में आते है; तब बिन्दी अवश्य आती है। जैसे--दोनों का, चारों का, आठों का, तथा-सैकड़ों--हजारों (मुहावरा)।

४--'६' संख्या के वाचक शब्द को पंजाबी ' छे ' और दूसरे ' छः ' लिखते हैं। पर ' छह ' लिखना चाहिए। क्योंकि हिन्दी में विसर्गान्त कोई शब्द ही नहीं। किंच जैसे—' सातो भाई ' ' आठो पहर ' लिखते हैं ; वैसे ' छहो भाई ' भी लिखा जा सकेगा। पञ्जाबी रूपका तो ' छेओ भाई ' बनेगा।

२६--६--५४ पञ्चनद-सरस्वती-समाज के अधिवेशन में श्रीमदाचार्य विश्वबंधुजी ने कहा कि " 'छह' शब्द को 'षट्' शब्द का तद्भव होने से हलंत या विसर्गान्त मानना ही ठीक है, अकारान्त नहीं" (विश्वज्योति, वर्ष ३, संख्या ६, पृष्ठ ३६०)। इसके विषय में मेरा नम्र निवेदन है कि पहले भाषा बनती है और बाद में व्याकरण। जिस व्याकरण के बल से 'ष' का 'छ' हो गया; उसी के बल से 'ह्' का 'ह' होने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। सप्ताह का हप्ताह तो बनता ही चला आ रहा है।

५--'बड़ा' शब्द का प्रयोग सदा साकार या जिनका आकार बन सके; उन्हीं पदार्थों के लिए होता है। अतः 'बड़ी खुशी हुई' 'प्रेम का बड़ा सुन्दर स्वरूप दिखाई देता है' आदि में 'बड़ा' शब्द के स्थान पर 'बहुत' होना चाहिए।

६–सप्तमी विभक्ति के अर्थ में 'के ऊपर' कभी नहीं आना चाहिए। जैसे–'चटाई के ऊपर सोता है' ठीक नहीं 'चटाई पर' होना चाहिए।

७–'नहीं' के बाद 'हो' धातु के वर्तमान और विध्यर्थक प्रत्यय नहीं आते। जैसे–'यहाँ कोई आदमी नहीं है' में 'है' ने क्या काम किया, व्यर्थ है। 'यहाँ कोई आदमी नहीं' लिखना और बोलना चाहिए। 'क्या तुम यहां नहीं हो ?' के स्थान पर 'क्या तुम यहां नहीं ? लिखना और बोलना ही भाषा की प्रकृति के अनुरूप है [देखिए–'अच्छी हिन्दी' या 'आदर्श हिन्दी']

संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः

डेढ़–महीने में पुस्तक छापकर देने का लिखित वचन ले लिया। पुस्तक प्रेस में दे दी गई। साथ में सत्यंकार (अग्रिम धन = पेशगी) ५०० रु० भी दे दिया। काम चल पड़ा। अब क्या था। जब कहूँ तो यही उत्तर मिले—"बस कालथीज तमारा काम माटे बीजो माणस रोकवाणो छे = काल से आपके काम के लिए ही दूसरा आदमी रख रहे हैं। इनकी 'कल' तो वियोगियों की रात की तरह लम्बी होती गई। लम्बाती–लम्बाती अयन (छह महीनों की) बन गई। कितनी बार मैं ऊँचा–नीचा हुआ। पर इनके कानों जूं तक नहीं रेंगी। नम्र होकर भी कहा कि "देखो, भाई ! इस जन्म में तो मैंने आपका कुछ बुरा नहीं किया। पूर्व जन्म का होगा सो निकाल लिजिए"। इधर तो वही ढाक के तीन पात। पर वेचारों की अन्तरात्मा ही मरी–सी दिखाई दी।

छठी तरङ्ग से दूसरे प्रेस में काम दे दिया और इधर भी कीड़ी की चाल कांम चलता ही रहा। दूसरा प्रेस यहां से दूर

पड़ता है। पैदल ही जाना होता था। यदि मैं पहले का--सा होता तो अबतक पुस्तक-वुस्तक बीच में ही छोड़-छाड़ कभी का रफू-चक्कर हो गया होता।

पर प्रेस के बाहर पाँव रखते ही श्रीविनोबाजीकृत 'विकर्म' शब्द की अश्रुतपूर्व व्याख्या का ध्यान आ जाता। फिर तो ऐसा लगता कि मैं यज्ञ कर रहा हूँ "तीर्थानि पदे पदे" हो रहा है।

इधर तो यह चिन्तन चल ही रहा था कि इतने में नया सुझाव मिला "कविकान्तजी! हिन्दी पद्यों के संस्कृत-श्लोक भी अन्त में अवश्य दें"। यद्यपि 'कविकान्त' शब्द से मैंने कभी की छुट्टी ले ली है। फिर भी पुरानी भूल आज भाररूप बन गई। क्या किया जाय! मैं तो युँजानकवि हूँ; घण्टों भर बैठने के बाद कहीं एक--आध छन्द ठीक बैठता है। भगवान् ने मुझ पर दया की। ऐन मौके पर मेरे आदरणीय बन्धु श्रीविद्यानन्द जी व्याकरणाचार्य को भेज दिया। आप युक्तकवि हैं। दिनों का काम घण्टों में कर डालते हैं। तीन तरङ्गों के श्लोक सांझ तक बनाकर मुझे सुनाने लगेः—

"साधनानुशयकर्म-विडम्बः, क्ष्वेड-पीक्ष्य-विषयेन निकम्बः।
म्लान-चित्त-वनिताधर-बिम्बः, कोऽप्युपारतिमुपैति मुनीन्द्रः॥"

अन्त में मैंने धीरे से कह दिया कि यह 'संक्षेप-शारीरक' नहीं, विचार-सागर' है। कृपया सुगम श्लोक बनाइए। प्रातः वही तीन तरङ्ग दुबारा बना और देकर आप अन्यत्र चले गये। शेष तरंगें वहीं से भेज दीं। इस काम के लिए आप को मैं धन्यवाद तो नहीं दूँगा। क्योंकि समाज आप की इतनी सेवा से सन्तोष नहीं

मानता । आप जैसे विशिष्ट व्यक्ति से विशिष्ट सेवा की अपेक्षा रखता है ।

हां, अहिन्दीभाषी प्रान्त में भी जो यह पुस्तक इस आकार-प्रकार में प्रकाशित हो सकी; इसका सर्वश्रेय 'जनकल्याण' (अहमदावाद) के सम्पादक मेरे प्रियबन्धु श्रीयुत चन्दूभाई को है। जिन्हों ने कागज खरीद ने से लेकर जिल्द बँधाने तक का सारा भार अपने पर लिया। धन्यवाद देने का मुझे व्यसन न होने पर भी यदि इनकी सज्जनता देखकर अपने आप हृदय से धन्यवाद निकल जाय तो मैं क्या करूं ।

अन्त में=जैसा कुछ मुझ से बन सका; वह आप के हाथ में है । विशेष सुझाव भेजने पर आभारी हूँगा ।

वेदमन्दिर
अहमदाबाद-१

निगम
२५-१२-५४

—

—: भूमिका :—

वेदान्त

मानव-मस्तिष्क-प्रसूत प्रत्येक मान्यता आरम्भ में प्रायः स्थूल तथा अनगढ़-सी हुआ करती है। परवर्ती विचारकों की मीमांसाकसौटी पर चढ़ती-चढ़ाती क्रमशः सूक्ष्म और परिष्कृत होती रहती है। किन्तु इससे नितान्त विपरीत है—हमारे वेदान्त की मान्यता। इसका प्रथम पाठ ही कैसे उदात्त, सूक्ष्म एवं गम्भीर भावों का क्रीडा-प्राङ्गण है—"ईशावास्यमिदं सर्वम्"। हम विवश क्यों न हों इसे अमानवीय मानने पर ? इस तक किसकी पहुँच है जो इसका कोई रास्ता रोक सके ? सत्य तो यह है कि अन्य सभी दर्शन इसका ही पानी भरते हैं—(क) अन्नमयादि कोशों में आत्म-दर्शन करानेवाला चार्वाक-दर्शन अरुन्धती-दर्शन-क्रम का परिपालन करता है। (ख) सौगत-दर्शन भी प्रपञ्च को मिथ्या बताकर वेदान्त की चरण-पीठि का बना रहा है। (ग) न्याय-वैशेषिक सत्कार्यवाद से एवं सांख्य-योग असत्कार्यवाद से भागते हैं। वे वेदान्त के सदसद्-विलक्षण (अनिर्वचनीय) वाद के पूर्व और पर अङ्ग नहीं तो क्या हैं ? (घ) मीमांसक-मूर्धन्य भट्ट कुमारिल ने तो अपना पूर्ण विश्वास वेदान्त पर घोषित कर ही दिया है—

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या
दृढत्वमेतद्विषयः प्रबोधः प्रयाति वेदान्त-निषेवणेन ॥

'जैमिनि—सूत्र के भाष्यकार शबर स्वामी ने नास्तिकता के कलङ्क

से बचने के लिए आत्मा की सत्ता में कुछ युक्तियाँ दे डालीं। किन्तु आत्म-बोध दृढ होगा वेदान्त की आराधना से ही।' कितने निष्पक्ष मर्मस्पर्शी शब्द हैं भट्ट कुमारिल के? (ङ) प्रभाकर गुरु भी वेदान्त की गुरुता में ही विश्वास प्रकट करते हैं—

"यत्तु ब्रह्मविदामेष निश्चयः, यदुपलभ्यते न तत्तथ्यं यन्नोपलभ्यते तत्तथ्यमिति नमस्तेभ्यः।"

वेदान्त-दर्शन के तीन प्रस्थान हैं—(१) उपनिषद्, (२) श्रीमद्भगवद्गीता और (३) महर्षि-व्यास-प्रणीत ब्रह्मसूत्र।

(१) उपनिषद्

वेदान्त-दर्शन के मूल आधार हैं—उपनिषद्-ग्रन्थ। इनमें समस्त वेदों का निचोड़ और भारतीय अध्यात्म-विद्या का निगूढ़तम रहस्य निहित है। महर्षियों के इसी प्रशान्त महामानस में विदेशियों ने भी सच्ची शान्ति पाई है। उनमें शापन हर और मैक्समूलर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। शापन हर ने लिखा है—

"† पूरे विश्व में जीवन को ऊँचा उठानेवाला दूसरा वैसा कोई अध्ययन नहीं, जैसा उपनिषदों का है। इस अध्ययन से ही मेरे जीवन को शान्ति मिली है। इसी से ही मृत्यु में भी शान्ति मिलेगी।" इन शब्दों के समर्थन में मैक्समूलरने अत्यन्त मर्मस्पर्शी शब्द कहे हैं—'शापनहर के इन शब्दों को यदि किसी प्रकार के समर्थन की आवश्यकता हो, तो मैं

---

† In the whole word, there is no study so elevating as that of the Upanishads. It has been the solace of my life. It will be the solace of my death.

अपने जीवनभर का अनुभव उनके समर्थन में सहर्ष उपस्थित करता हूँ। †

क्या आस्तिक, क्या नास्तिक सभी प्रकार की विचार-धाराओं का उद्गम हैं—उपनिषद्-ग्रन्थ। कोई आध्यात्मिक मान्यता ऐसी नहीं, जिसका समर्थन उपनिषदों में न हो। आज के बौद्ध लोग अपने सिद्धान्तों का उद्भव उपनिषदों से नहीं मानते यह उनकी अनभिज्ञता और आन्तरिक निर्बलता का मिथ्या संवरण है। कारण यह है कि कुछ पंक्तियों को छोडकर उपनिषदों का पूर्ण भाग उनका घोर घातक है। अकेले नास्तिक ही नहीं घबराते उपनिषद्-परिवार से, आस्तिक कर्मठ भी अपने कर्म-काण्ड के कोमल कमल-बन को इस हिमपात से बचा-बचा कर रखते हैं। कहीं ये लोग उपनिषदों का पठन-पाठन ही चौपट न कर दें—इसी लिए भगवान् वेद ने कड़े शब्दों में चेतावनी दी है—

'ऋचां मूर्धानं यजुषामुत्तमाङ्गं साम्नां शिरोऽथर्वणां मुंडमुण्डं नाधीतेऽधीते वेदमाहुस्तमज्ञं शिरश्छित्त्वा कुरुते कबन्धम् ।'

(शांखा० आरण्यक १४।१) अर्थात् ऋगादि वेदों के उत्तमाङ्ग (उपनिषदों) का अध्ययन न करके जो शेष वेद का अध्ययन करता है। उसे निपट मूर्ख कहा जाता है, क्योंकि उसने भगवान् वेद का सिर काटकर महान् अपराध करने की मूर्खता की हैं।'

यूं तो उपनिषदें सैकड़ों हैं। परन्तु महत्त्व की ग्यारह-बारह हैं। इन पर प्रायः ब्रह्मसूत्र के सभी भाष्यकारों या उनके अनुयायियों की व्याख्याएँ हैं। छान्दोग्य और बृहदारण्यक तो एक ऐसी रणस्थली

---

† If thease words of Schopenhauer required any confirmation I Would willingly give it result of my life-long study.

है, जहाँ पर भाष्यकारों की लौह लेखनी ने अपने जौहर खुलकर दिखाये हैं। भर्तृप्रपञ्च-जैसे जरठ वेदान्तियों की खबर खूब ली है आचार्य शङ्कर ने। अतः ये दोनो उपनिषदें सिद्धान्त-गत सूक्ष्म भेदों को समझने के लिए नितान्त आवश्यक हैं।

(२) श्रीमद्भगवद्गीता

कुरुक्षेत्र के कर्कश रणप्राङ्गण में ठीक समय पर वीर अर्जुन को मोह ने आकर कायरतम बनाकर रख दिया। उस घोर निशा को मिटा कर निर्जीव अर्जुन में जीवन-सञ्चार करनेवाली भगवान् कृष्णचन्द्र की यह निर्मल वेदान्त-चन्द्रिका है। इसके निर्माण की कहानी बहुत आकर्षक है--उपनिषदों ने कामधेनुओं का रूप धारण किया और अर्जुन ने सुन्दर बछड़े का। हाँ, कृष्ण को कुछ बनना न पड़ा। गोपाल-मणिने सुधा-सहोदर दुग्ध दुहा। वही क्षीर सार है--यह ७०० श्लोकों की भगवद्गीता। इस पर की भाष्य-सम्पत्ति उतनी अच्छी नहीं, जितनी कि सूत्रों और उपनिषदों की है। कारण समझ में नहीं आता। उपनिषदों के इस सार में काण्डत्रय का समन्वय भी कुछ विचित्र-सा है। वस्तुतः आचार्य शङ्कर के शब्दों में गीता दुर्विज्ञेयार्थ है। द्वैत से लेकर अद्वैत तक के उतने ही सभी सिद्धान्त गीता के हृदय में भी हैं, जितने कि उपनिषदों में। गीता पर भारत को महान् गर्व है। ऐसा ग्रंथ विश्व में अभीतक और नहीं बन सका। श्री राजगोपालाचार्य के शब्दों में देश की यह एक अलौकिक सम्पत्ति है। †

---

† Men and women of any western nation had they inherited our philosophy, would has been as proud of it as of an Empire.

(३) ब्रह्मसूत्र

वेदान्त--सिद्धान्त का निर्णय इसमें है ही। इसी विश्वस्त सूत्र के द्वारा हम अपने पूर्वज वेदान्तियों का भी कुछ इतिहास पाते हैं। यद्यपि इस समय उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। तो भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कभी--न--कभी उनके भी सूत्र या भाष्यग्रन्थ थे।

सूत्र--सूचित पुरातन वेदान्तिगणः—

१—आचार्य बादरि

महर्षि व्यास और जैमिनि दोनो ही अपने--अपने सूत्रों में आचार्य बादरि के मत का निर्देश करते हैं। अतः वे इन दोनों से अवश्य प्राचीन थे। एवं दोनों मीमांसाओं पर उनकी रचना--सम्पत्तियां अपना विशेष स्थान रखती थीं। हाँ, महर्षि जैमिनि बराबर उनका खण्डन करते हैं और महर्षि व्यास तो कहीं--कहीं समन्वय भी कर देते हैं। इसलिए आचार्य बादरि का वेदान्ती होना निश्चित है। कर्मकाण्ड के लिए ये एक महान् आन्दोलक--से प्रतीत होते हैं। इनका मत है कि कर्मानुष्ठान में चारों वर्णों का अधिकार है। महर्षि जैमिनि ने जोरदार शब्दों में इनका निराकरण करके शूद्रों को अधिकार नहीं देने दिया। आचार्य बादरि के ऐसे--ऐसे विचार ही बताते हैं कि वे उग्र वेदान्ती थे। वेदान्त में इनके विशेष सिद्धान्तों का पता ठीक नहीं चलता।

२—आचार्य कार्ष्णाजिनि

महर्षि व्यास ने अपने मत के पोषण में आचार्य कार्ष्णाजिनि की साक्षी दी है। जैमिनि महर्षि ने उनका खण्डन किया है। अतः आचार्य कार्ष्णाजिनि अवश्यमेव वेदान्त के आचार्य थे।

३—आचार्य औडुलोमि

इनका सिद्धान्त स्पष्ट है कि ये भेदाभेद--वादी थे। संसार अवस्था में जीव और ब्रह्म का भेद तथा मोक्ष--अवस्था में अभेद मानते थे। जैमिनि-सूत्रों में इनका उल्लेख बिल्कुल नहीं। अतः इनका शुद्ध वेदान्त--निष्ठ होना निश्चित है। ब्र० सू० ४।४।६ में आचार्य औडुलोमि ने जैमिनि महर्षि को समझाया है कि मुक्त आत्मा परमेश्वर के गुणों से सम्पन्न होकर मोक्ष--अवस्था में पृथक् नहीं रहता; अपि तु चितिमात्र--स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है।

४—आचार्य आश्मरथ्य

श्रीभाष्य के व्याख्याता सुदर्शनाचार्य ने कहा है कि आचार्य आश्मरथ्य भेदाभेद--वादी थे। इन्हीं के मत का परिग्रह पश्चाद् आचार्य यादवप्रकाश ने किया। ब्र० सू० १।२।२९ और १।४।२० में इनका उल्लेख है। उपनिषदों में परमेश्वर के लिए व्यवहृत 'प्रादेशमात्र' शब्द का समन्वय इस प्रकार इन्होंने किया है कि परमेश्वर वस्तुतः अनन्त है, उपासकों पर दया करके उनके प्रादेशमात्र मन में अविर्भूत होता है। अतः उसे प्रादेशमात्र कहा जाता है।

५—आचार्य काशकृत्स्न

ब्र० सू० १।४।२२ के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने काशकृत्स्न के मत को श्रुत्यनुसारी कहकर मान लिया है। अतः ये अद्वैतवादी वेदान्ती सिद्ध होते हैं।

६—आचार्य काश्यप

ब्रह्मसूत्र में यद्यपि इनका उल्लेख नहीं। शाण्डिल्य के भक्ति--सूत्रों से पता चलता है कि आचार्य काश्यप भेदवादी वेदान्ती

थे। अतः इनका भी कोई वेदान्त--ग्रन्थ अवश्य रहा होगा।

इसी प्रकार भाष्य ग्रन्थों की आलोचना से ज्ञात होता है कि आचार्य शङ्कर आदि से पूर्व भी कुछ भाष्यकार या वृत्तिकार थे। जिनके विशेष नाम उस समय खूब प्रचलित थे। उनमें कुछ प्रसिद्ध ये हैं—भर्तृप्रपञ्च, ब्रह्मनन्दी, टङ्क, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, बोधायन, सुन्दरपाण्ड्य, द्रविड़ाचार्य, ब्रह्मदत्त आदि। आचार्य शङ्कर ने बृहदारण्यक भाष्य में औपनिषदम्मन्या, यत्तु, केचित्तु—आदि शब्दों से अधिकतर भर्तृप्रपञ्च के मत का ही निर्देश किया है। भर्तृप्रपञ्च, ज्ञानकर्म--समुच्चय--वादी थे। नैष्कर्म्य-सिद्धि में श्रीसुरेश्वराचार्य ने तीन प्रकार के समुच्चय--वादों की चर्चा की है। एक भर्तृप्रपञ्च का, दूसरा ब्रह्मदत्त का और तीसरा मण्डनमिश्र का। भर्तृप्रपञ्च अनेकान्तवादी हैं। उनके मत में भेद और अभेद--दोनो सत्य हैं। भेद सत्य है, अतः कर्म अनिवार्य है। उसी प्रकार सत्य अभेद की अभिव्यक्ति के लिए ज्ञान की परम आवश्यकता है।

ब्रह्मदत्त का कहना है कि वेदान्त--वाक्य--जन्य ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति कदापि नहीं होती। उसके लिए साक्षात्कारात्मक ज्ञान होना चाहिए। साक्षात्कारात्मक ज्ञान भावनाप्रकर्ष से उत्पन्न होता है। अतः श्रवण के अनन्तर दीर्घ समय तक निरन्तर उपासना करनी होगी। ज्ञानाभ्यास के समय ज्ञान और कर्म का समुच्चय होगा ही। "देवो भूत्वा देवानप्येति"—यह श्रुति स्पष्ट कह रही है कि उपासना से देवभाव का साक्षात्कार होता है। बाद में शरीर-पात के अनन्तर देव-भाव की प्राप्ति होती है। इनके मत में वेदमात्र विधिप्रधान है। चाहे वह कर्मकाण्ड हो या उपनिषद्। हाँ, दोनों में इतना अन्तर अवश्य है कि कर्मकाण्ड में कर्म-विधि का प्राधान्य है और उपनिषदों में

उपासना-विधि का। "आत्मेत्युपासीत"—इस प्रकार की आत्म-उपासना-विधि में ही समस्त उपनिषद्-वाक्यों का तात्पर्य है। "तत्त्वमसि"—आदि वाक्य मुख्य नहीं। ऐसे वाक्य केवल उपासना-विषय का निर्देश करते हैं। जबतक उपासना से ब्रह्म-साक्षात्कार न हो तब तक कर्म आवश्यक है।

तीसरे मण्डनमिश्र के मत का खण्डन बृहदारण्यक-वार्तिक ४।४।७२६-८१० में किया गया है। †आनन्दगिरि ने अपनी टीका में लिखा है कि यह मत मण्डनमिश्र का है। इस आधार पर कुछ आलोचक मण्डन मिश्र और सुरेश्वराचार्य का अभिन्न मानने में सन्देह करते हैं। मण्डनमिश्र के मत से भी उपासना में ही उपनिषदों का तात्पर्य है। तत्त्वमसि आदि वाक्य स्वतन्त्र नहीं, अपितु उपासना-विधि के अधीन हैं। श्रवण के अनन्तर ध्यान की आवश्यकता मण्डन भी मानते हैं। क्योंकि श्रवण मात्र से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह संसर्गात्मक सविकल्प ज्ञान है। उससे अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। निरन्तर अभ्यास से वह साक्षात्कार उत्पन्न होता है, जिससे अज्ञान निवृत्त होता है। "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" यह श्रुति श्रवणोत्तर ध्यान का विधान मुक्तकण्ठ से कर रही है। शब्दमात्र संसर्गात्मक ज्ञान का ही जनक है, चाहे वह लौकिक हो चाहे वैदिक। अतः साक्षात्कार तक जाने के लिए उपासना परम आवश्यक है। ज्ञान उपासना-समुच्चय के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने उक्त दोनों मतों का प्रबल युक्तियों से निरास कर के आचार्य शङ्कर के मत की स्थापना की है।

---

† अन्ये तु पण्डितम्मन्याः सम्प्रदायानुसारतः।
विज्ञायेति वचः श्रौतमिदं व्याचक्षतेऽन्यथा॥

उन्होंने कहा है कि उपासना की आवश्यकता हमारे आचार्य भी मानते हैं। किन्तु ब्रह्म--साक्षात्कार में उपासना की अपेक्षा नहीं। वह केवल उपनिषद्--वाक्यों से ही होता है। शब्द से केवल परोक्ष ज्ञान ही नहीं होता, अपितु जहाँ प्रतिपाद्य पदार्थ अव्यवहित होता है, वहाँ शब्द से प्रत्यक्षज्ञान भी पैदा होता है। जैसे 'दशम तू है'—आदि स्थलों पर। ऐसे विषयों का स्पष्टीकरण विचारसागर में बहुत ही सुन्दर है।

आचार्य गौड़पाद

आचार्य शङ्कर के पूर्वकालीन अद्वैत वेदान्तियों में आचार्य गौड़पाद का विशिष्ट स्थान था। इनकी उज्ज्वल कीर्ति का ज्वलन्त आदर्श है—उनकी मांडूक्य--कारिका। इसका प्रथम प्रकरण मांडूक्य--उपनिषद् का ही अंश है—ऐसी धारणा माध्व आदि सम्प्रदायों की है। किन्तु अद्वैत सम्प्रदाय में पूर्ण कारिका--ग्रन्थ आचार्य गौड़पाद की कृति ही माना जाता है। कारिकाएँ संख्या में २१५ हैं। आचार्य गौड़पाद का समय कोई भी हो। था उस समय बौद्ध--सिद्धान्तों का प्रचुर-प्रचार। सभी विद्वान् ग्रन्थकार अपने समय की प्रचलित भाषा में कुछ लिखते हैं। यदि आचार्य गौड़पाद की भाषा महायान के ग्रन्थों की भाषा से कुछ समता रखती है; तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि ये आचार्य बौद्ध थे या बौद्ध--साहित्य से प्रभावित थे। इनके सभी सिद्धान्त औपनिषद हैं। ब्रह्माद्वैत--वाद का परिष्कृत स्वरूप इन्होंने नितान्त मनोरम ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। मांडूक्यकारिका पर आचार्य शङ्कर का भाष्य है ही। आधुनिक विद्वान् भट्टाचार्य विधुशेखर ने इस पर एक वृत्ति बनाई है। इन्होंने बौद्धों के तत्सम वाक्यों का निर्देश भी किया है। भट्टाचार्य का परिश्रम नितान्त प्रशंसनीय है।

यही संक्षिप्त कथा है पुरातन वेदांतियों की। कुछ विद्वानों की धारणा है कि उन पुरातनों के ही किसी-न-किसी मत को अपनाकर परवर्ती प्रसिद्ध आचार्यों ने अपने भाष्य रचे हैं वेदान्त-साहित्य महान् विशालकाय है। श्रीमान् अप्पयदीक्षित के शब्दों में इसके अवान्तर सिद्धान्त अनन्त हैं‡। मोटे तौर पर इन्हें पांच भागों मैं बांटा जा सकता है—(१) अद्वैतवाद, (२) विशिष्टाद्वैतवाद, (३) द्वैतवाद, (४) भेदाभेद-वाद और (५) शुद्धाद्वैतवाद। इनका संक्षिप्त परिचय देना है।

१—अद्वैतवाद

जो लोग विश्व-साहित्य में ऋक्संहिता को सब से प्राचीन मानते हैं। उन्हें यह भी मानना होगा कि अद्वैतवाद भी उतना ही पुराना है। क्योंकि ऋक्संहिता की "यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्यामहम् (ऋ० ८।४४।२३)—जैसी ऋचाएँ अति स्फुट रूप में अभेदवाद का प्रतिपादन कर रही हैं। उपनिषदों का तो हृदय है ही अद्वैतवाद में। अद्वैतवाद की जड़ हिलाने के लिए माध्यमिक और योगाचार आदि बौद्ध तत्पर हुए। किन्तु समुद्र में गिरे नमक के डले की भाँति तन्मय होकर ही रह गये। शायद बौद्धों ने सोचा था कि वेदान्तियों की सभी महत्त्व की मान्यताएँ चुरा लेने से उन्हें मिटाया जा सकेगा। किन्तु हुआ इसके विपरीत ही। यह सिद्धान्त उनको इतना रुचा कि उनकी प्रायः सभी बातें

---

† अधिगतमिदा पूर्वाचार्यानुपेत्य सहस्रधा,
सरिदिव महीभेदान् सम्प्राप्य शौरिपदोद्गता।
जयति भगवत्पादश्रीमन्मुखाम्बुजनिर्गता,
जननहरणी सूक्तिर्ब्रह्माद्वयैकपरायणा ॥
(सिद्धान्तलेश)

लेकर इन्होंने अपने रङ्ग में रङ्ग डालीं। अपने शास्ता का नाम ही रख दिया—'अद्वयवादी'। अद्वैतवादियों का "लिङ्गभङ्गो हि मोक्षः" सिद्धान्त कितने मनोरम शब्दों में रखा—"मत्प्रवचने पुनर्महामते विकल्पस्य मनोविज्ञानस्य व्यावृत्तिर्निर्वाणमुच्यते" (लङ्कावतार०)। अनिर्वचनीयवाद भी वेदान्तियों का ही अपनाया—

"दक्षिणापथवेदल्यां भिक्षुः श्रीमान् महायशाः।
नागाह्वयः स नाम्ना तु सदसत्पक्षदारकः॥"

(लङ्कावतार०)

नासदीय सूक्त से प्रेरणा लेकर नागार्जुन ने चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त तत्त्व (माध्यमिक कारिका १।७ में) स्थापित किया—

"न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥"

आचार्य गौड़पाद ने भी अपनी माण्डूक्यकारिका (४।८३) में चतुष्कोटि-रहित आत्मा का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार आवरण और विक्षेप शक्ति-समन्वित माया देखिए—

अभूतं ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते।
अविद्या जायमानेव कामलातंकवृत्तिवत्॥

(बोधिचर्यावतार०)

जब किसी ने सन्देह किया कि वेदान्तियों का अधिष्ठान सत्य है। माया उसे ढककर रूपान्तर दिखा सकती है। किन्तु आप के तो कुछ भी सत्य नहीं। किसे ढकेगी? इसके समाधान में बौद्धों ने सत्य माना, दो प्रकार का—(१) सत्य सत्य (२) झूठ सत्य। कुमारिल ने इसकी खूब खिल्ली उड़ाई—

"सत्यं चेत् मिथ्या केयम् ?" (श्लो० वा० निरालम्ब० ६) । "अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपंच्यते" का मार्ग भी लिया—

अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का ।
श्रूयते दृश्यते चार्थः समारोपादनक्षरः ॥

(माध्यमिकका०)

लङ्कावतारसूत्र ने अभानापादक और असत्त्वापादक आवरणों के नाम रखे-क्लेशावरण और ज्ञेयावरण । उन्हीं का विस्तार वसुबन्धु ने विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि में किया । समस्त उपचारों का आधार 'तज्जलानिति' औपनिषद सिद्धान्त के आधार को माना, नाम रखा 'आलय' । इस पर उनके सजातीय बहुत बिगड़े कि आपने आलय के बहाने ब्रह्म ही मान लिया ।

अद्वैतवाद का खण्डन भी तत्त्वसंग्रह में बहुत पक्के मुख से किया कि कोई अन्तस्तल का छल न समझ पाये—"नित्यज्ञान-विवर्तोऽयम्" आदि से । उनकी दृष्टि में वेदान्ती बहुत बड़े अपराधी नहीं "तेषामल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः" । अर्थात् वेदान्तियों ने माना सब कुछ वही जो हम (बौद्ध) मानते हैं । केवल विवर्ताधिष्ठान को नित्य कह मारा । योगवाशिष्ठ! के अजातवाद को तो बौद्ध, अपना ही बताते हैं । इस अद्वैत-सिद्धान्त का विस्तार से वर्णन विचार-सागर में किया गया है; कुछ ऐतिहासिक परिचयमात्र अपेक्षित है ।

(१) आचार्य शङ्कर का अवतार कब हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर निर्विवाद नहीं । ईसा की छठी शताब्दी पूर्व से लेकर ईसा की नवम शताब्दी पर्यन्त की विचारकों ने विविध कल्पनाएँ की हैं । हां, यह मत अधिक माना जाता है कि आचार्य का जीवन ७८८ ई० से ८२० ई० तक था । आचार्य के नाम से

दो सौ के लगभग ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। प्रस्थानत्रयी पर इनके महत्त्व के भाष्य हैं। जिनसे ही वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा हो सकी है। (२) आचार्य के साक्षात् शिष्य श्रीसुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य पर विपुलकाय वार्तिक की रचना की, इसी प्रकार इनकी तैत्तिरीयभाष्य वार्तिक, पंचीकरण वार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि और मानसोल्लास आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। (३) पद्मपादाचार्य ने ब्रह्मसूत्र के चतुसूःत्री भाष्य पर पंचपादिका व्याख्या लिखी। इसके अतिरिक्त प्रपंचसार टीका और विज्ञानदीपिका इन्ही के ग्रन्थ हैं। पंचपादिका पर यतिवर प्रकाशात्मा ने विवरण नाम से एक ऐसी अपूर्व व्याख्या की जिससे विवरणप्रस्थान ही पृथक् गिना जाने लगा। (४) सुरेश्वराचार्य के शिष्य सर्वज्ञात्ममुनि ने ब्रह्मसूत्र के कुछ चुने हुए अधिकरणों के आधार पर 'संक्षेपशारीरक' नाम से एक सुन्दर पद्यात्मक निबंध लिखा है। इस पर चार व्याख्याएं प्रसिद्ध हैं नृसिंह आश्रम की तत्त्वबोधिनी, मधुसूदन सरस्वती का सारसंग्रह, पुरुषोत्तम-दीक्षित की सुबोधिनी और रामतीर्थ की अन्वयार्थप्रकाशिका। (५) वाचस्पतिमिश्र (नवम शतक) ने शारीरक भाष्य पर प्रसिद्ध 'भामती' टीका लिखी। इसने अपनी विशेषता के कारण 'भामतीप्रस्थान' पृथक् ही स्थापित कर लिया। इसकी इस समय दो व्याख्याएँ प्रकाशित हैं (१) कल्पतरु (श्रीअमलानन्द कृत) और दूसरी ऋजुप्रकाशिका (तत्त्वदीपनकार अखण्डानन्द कृत) यह पूरी नहीं (६) अव्यक्तात्मा के शिष्य विमुक्तात्मा (दशम शतक) की 'इष्टसिद्धि' प्रकाशित है। इसकी व्याख्या (आचार्य ज्ञानोत्तम-कृत) बहुत प्रख्यात है। (७) महापण्डित श्रीहर्ष का 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' जैसा युगान्तक ग्रन्थ नितान्त प्रसिद्ध है। अभिनव वाचस्पति ने इसका भी खण्डन 'खण्डनोद्धार' में किया है। किन्तु खण्डन की कीर्ति

अक्षुण्ण है। खण्डन की शैली श्रीं जयराशिभट्ट-विरचित 'तत्त्वोपप्लव-सिंह' की शैली से विशेष प्रभावित है। इस पर कई प्रसिद्ध विद्वानों की टीकाएँ हैं। सबसे अच्छी आनन्दपूर्ण की 'विद्यासागरी' व्याख्या है। (८) अद्वयाश्रम के शिष्य रामाद्वय ने ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार अधिकरणों पर 'वेदान्तकौमुदी' नाम के प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की है। इसका उल्लेख सिद्धान्तलेश में हैं। अभी तक यह अप्रकाशित ही है। (९) रामानन्दतीर्थ के शिष्य अद्वैतानन्द का ब्रह्मविद्याभरण वस्तुतः भाष्य का आभरण ही है। (१०) आनन्दबोध (१२ शतक) को केवल न्यायमकरन्द ने अमर बना दिया है। (११) चित्सुखाचार्य (१३ शतक) की चित्सुखी जगद्विख्यात है। इन्होंने और भी ग्रन्थ बनाये हैं - शारीरक भाष्य पर भावप्रकाशिका (कलकत्ता से कुछ अंश मुद्रित) नैष्कर्म्यसिद्धि तथा खण्डनादि पर भी व्याख्याएँ की हैं। (१२) विद्यारण्यस्वामी (१४ शतक) ने वेदान्त को नितान्त सरल बनाकर जन-साधारण-गम्य बना दिया। उनकी पंचदशी की जन-प्रियता किसी से छिपी नहीं। इसी प्रकार विवरणप्रमेयसंग्रह, अनुभूतिप्रकाश, जीवन्मुक्तिविवेक, बृहदारण्यकवार्तिकसार, वैयासिकन्यायमाला तथा ब्रह्मगीता-टीका आदि ग्रन्थ इन्हीं के ही बनाये हैं। इनके ग्रन्थों की विशेषता यह है कि सब-के-सब खूब प्रचलित हैं। वैयासिकन्यायमाला बनाने में इन्हें अपने गुरुवर भारतीतीर्थ से पूरी सहायता मिली थी। अतः यह उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध भी है। (१३) आनन्दगिरि-(१५ शतक) ने तो अवतार ही लिया था आचार्य शङ्कर के सभी भाष्यों की सुगम व्याख्या करने के लिए। इनके ही समय के (१४) प्रकाशानन्दयति ने एकजीववाद के आधार पर 'वेदान्त-सिद्धान्त मुक्तावली' नामक प्रसिद्ध पुस्तक की रचना की है। इनका यह ग्रन्थ दृष्टि-सृष्टि-वाद का प्रतिपादक है। (१५)

अखण्डानन्द ने विवरण की गूढाभिसंधियों को अपने 'तत्त्वदीपन' व्याख्यान में खूब समझाया है। (१६) सर्वतन्त्र-स्वतंत्र अप्पयदीक्षित ने सौ से अधिक महत्त्व के ग्रंथ रचे हैं। अद्वैतवेदांत में कल्पतरु-परिमल तथा 'सिद्धांतलेशसंग्रह' खूब प्रसिद्ध हैं। (१७) मधुसूदन सरस्वती (१६ शतक) अपने समय के नितान्त उत्कृष्ट विद्वान् थे। इनकी कीर्ति अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए इनकी एक ही 'अद्वैतसिद्धि' पर्याप्त है। उसे छोड़कर इनके और ग्रंथ हैं—'गूढार्थदीपिका' (गीता-व्याख्या), सिद्धांतबिंदु (दशश्लोकी टीका), वेदान्तकल्पलतिका और अद्वैतरत्नरक्षण आदि। इनकी अद्वैतसिद्धि पर ब्रह्मानंदसरस्वती ने लघु-अद्वैतचन्द्रिका तथा गुरु-अद्वैत चन्द्रिका— दो व्याख्याएँ की हैं। दोनों पठन-पाठन में आ रही हैं। (१८) नृसिंहाश्रमसरस्वती मधुसूदनसरस्वती के समसामयिक विख्यात विद्वान् थे। इनकी संक्षेपशारीरक की व्याख्या का उल्लेख किया जा चुका है। इनके और महत्त्व के ग्रंथों में— अद्वैतदीपिका, भेदधिक्कार, पञ्चपादिका-व्याख्या, वेदान्तरत्नकोष, विवरण-टीका प्रकाशिका और तत्त्वदीपन-व्याख्या भावप्रकाशिका विशेष प्रसिद्ध हैं। (१९) महाभारत-टीकाकार नीलकण्ठ का वेदांतकतक सुन्दर ग्रन्थ है। (२०) नृसिंहाश्रम के प्रशिष्य वेलाङ्गुलि-वास्तव्य वेंकटनाथ के शिष्य धर्मराजाध्वरीन्द्र की वेदान्त-परिभाषा वेदान्तप्रमाण-विषय का एक अद्भुत ग्रन्थ है। इस पर इनके पुत्र रामकृष्ण ने वेदान्तशिखामणि नाम की विस्तृत टीका लिखी है। इस टीका पर उदासीन सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् अमरदासजी की मणिप्रभा व्याख्या बहुत ही सुन्दर है। (२१) सादानन्द यति (१६ शतक) का वेदान्तसार नितान्त स्वल्पकाय होने पर भी वेदान्त में प्रवेश के लिए पर्याप्त है। (२२) गोविन्दानन्द ने (१७ शतक) शारीरक भाष्य की प्रसिद्ध टीका रत्नप्रभा का निर्माण

किया है। (२३) नारायणतीर्थ और ब्रह्मानन्दकी सिद्धान्त-बिन्दु पर व्याख्याएँ हैं। इन्ही के शिष्य सदानन्दयति (काश्मीरी) की अद्वैत ब्रह्मसिद्धि में नितान्त सुगमता से वेदान्त के सिद्धांतों को समझाया गया है। अद्वैत वेदान्त का यह थोड़ा-सा परिचय है।

२—विशिष्टाद्वैतवाद (श्रीसम्प्रदाय)

श्री रामानुजाचार्य से पूर्व के आचार्यों में नाथमुनि (नवम शतक) तथा यामुनाचार्य (दशम शतक) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये लोग वेद-वेदान्त, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता को तो प्रमाण मानते ही हैं। इनसे अतिरिक्त तामिल भाषा के वेदों को भी प्रमाण मानते हैं, अतः ये आचार्य उभयवेदांती कहलाते हैं, लुप्तप्राय तामिल वेद के पुनरुद्धार का श्रेय नाथमुनि को है, इनके समय में तामिल आगमों को वेदों के समान ही सम्मान मिला, इनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए ही यामुनाचार्य ने 'आगम-प्रामाण्य' तथा 'महापुरुष-निर्णय' नाम के ग्रन्थों की संस्कृत में रचना की, इनका 'आलबन्दारस्तोत्र' बहुत ही लोकप्रिय है, वस्तुत; इसमें शरणागति का रहस्य इतने भावपूर्ण शब्दों में वर्णित है कि जिसे सुनने पर निर्गुण, निर्मम तथा नितांत निठुर ब्रह्म का अभ्यस्त हृदय अनंत सौंदर्य और अपार करुणा के सागर भगवान् के चरणों में लोटने-सा लग जाता है, इन्हीं यामुनाचार्य के पौत्र शैलपूर्ण के रामानुजाचार्य भागिनेय थे। इनका समय १०३७ ई० से ११३७ ई० तक माना जाता है, इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर 'श्रीभाष्य' की रचना कर विशिष्टाद्वैत को एक सुदृढ़ आधार प्रदान किया, 'वेदार्थ संग्रह' में शाङ्कर तथा भास्कर मत का खण्डन किया है, इनके और भी सुप्रसिद्ध ग्रंथ हैं—'गीताभाष्य', 'गद्यत्रय'—आदि, ये भी अद्वैतवादी हैं, किंतु इनका अद्वैत शाङ्कर अद्वैत से

विलक्षण विशिष्टाद्वैत है। विशिष्टाद्वैत का अर्थ है—"विशिष्टस्य विशिष्टरूपेणाद्वैतम्" अर्थात् अद्वितीय ब्रह्म एक विशिष्ट पदार्थ है। उसमें ईश्वर (ब्रह्म) विशेष्य है, जीव और जगत् उसके विशेषण हैं। या यूं कह दिया जाय कि ईश्वर के जीव और जगत्—दोनों शरीर हैं। अङ्गभूत जीव और जगत् अङ्गीभूत ईश्वर से भिन्न नहीं, अतः तत्त्व एक ही अद्वितीय है।

ईश्वर अपनी इच्छा से जगत् की रचना करता है। जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार, उस लीला-धाम की क्रीड़ामात्र है। सृष्टि अवस्था में उसका शरीर स्थूल और प्रलय अवस्था में शरीर सूक्ष्म रहता है। कभी वह निर्विशेष नहीं होता। ब्रह्म की निर्गुणता का तात्पर्य यह है कि उसमें हेय गुणों का अभाव है। इनके मत में ब्रह्म, सजातीय एवं विजातीय भेद से शून्य होने पर भी स्वगत भेद से शून्य नहीं होता। "बालाग्रशतभागस्य" (श्वेता० ५।९) के अनुसार जीव को अणु तो सभी वैष्णव मानते हैं। इनके मत में भी जीव देहादि से अतिरिक्त नित्य, अणु, आनन्दरूप अनेक एवं अचिन्त्य है। वह अपने समस्त व्यापार में ईश्वर-तन्त्र है। इनकी पदार्थ-मीमांसा भी अपनी विशिष्ट है—विश्व दो भागों में विभक्त किया है—(१) द्रव्य और अद्रव्य। (१) द्रव्य के दो भेद हैं—जड़ और अजड़। जड़ दो प्रकार का है—प्रकृति और काल। लोकाचार्य ने जड़ या अचित् के तीन भेद किये हैं—शुद्धसत्त्व (नित्यविभूति), मिश्रसत्त्व (प्रकृति) तथा सत्त्व-शून्य (काल)। (२) अजड़ तत्त्व दो भागों में विभक्त है—पराक् (बाह्य) और प्रत्यक् (आभ्यन्तर)। पराक् के दो प्रकार हैं—नित्यविभूति और धर्मभूत ज्ञान। प्रत्यक् दो भागों में विभक्त है—जीव तथा ईश्वर। जीव दो प्रकार के हैं—बद्ध और मुक्त। बद्ध जीवों में भी कुछ मुमुक्षु हैं और कुछ बुभुक्षु।

ईश्वर अपने भागवत भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए शुद्ध सत्त्व या नित्य विभूति की सहायता से पांच रूपों को धारण करता है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार । 'पर' का अर्थ हैं—वैकुण्ठाधिपति भगवान् । वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध--इन्हें व्यूह कहते हैं । मत्स्यादि-अवतार विभव हैं अन्तर्यामीरूप से भगवान् प्रत्येक शरीर में व्याप्त है। देव-मूर्तियाँ अर्चावतार हैं ।

ईश्वर-भक्ति का मोक्ष-साधन में एक विशिष्ट स्थान है—"भक्तिरूपापन्नानुध्यानेनैव लभ्यते न केवलं वेदनमात्रेणा" (वेदार्थ-सं० पृष्ठ १४५)। भक्ति में भी परा प्रपत्ति या शरणागति मुख्य है। यही एक मार्ग है, जिस पर चल कर यह दीन-हीन जीव अपने निखिल कल्याण गुणार्णव नारायण के चरणों तक पहुँच सकता है। मोक्ष-दशा में भी जीव के शरीर-भेद का अभाव नहीं होता। हाँ, वह शरीर नित्यविभूति की रचना होने से अप्राकृत होता है। प्राकृत शरीर के न रहने से जीव की अल्पज्ञता समाप्त हो जाती है और वह सर्वज्ञ, स्वराट्, सिद्धसङ्कल्प तथा अनन्याधिपति हो जाता है।

३—द्वैतवाद

द्वैतवाद के प्रमुख आचार्य हैं—मध्वाचार्य । दर्शन जगत् में 'आनन्द तीर्थ', 'पूर्ण बोध' तथा 'पूर्णप्रज्ञ' नामों से मध्वाचार्य का उल्लेख किया गया है। इनका समय ईसा की तेरहवीं शताब्दी माना जाता है। ये भी दक्षिण भारत के ही रहनेवाले थे। प्रस्थान-त्रयी पर इनके भाष्य हैं। इनके मत का संक्षिप्त परिचय इस श्लोक से मिल जाता है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः सत्यं जगत् तत्त्वतो
भेदो, जीवगणा हरेरनुचरा, नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनम्,
अक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

अर्थात् माध्वमत में भगवान् विष्णु, अनन्त गुण-सम्पन्न हैं। जीव और जगत् भी सत्य है। उनका वास्तविक भेद है। जीवगण भगवान् के अनुचर हैं, उनके बन्धन और मोक्ष के दाता भगवान् ही हैं। मुक्त जीवों में भी नीच-ऊँच भाव बराबर विद्यमान रहता है। उनकी आनन्दानुभूति में भी तारतम्य रहता है। हाँ, मुक्तजन "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" के अनुसार ईश्वर की समता अवश्य प्राप्त कर लेता है। मोक्ष का प्रमुख साधन भक्ति है। इसी से सालोक्य सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य नाम के मोक्ष पदों की प्राप्ति होती है। इनमें सबसे श्रेष्ठ है—सायुज्य। भगवान् के शरीर में प्रविष्ट होकर उनके आनन्द का उपभोग करना सायुज्य कहलाता है। इनके पदार्थों का वर्गीकरण बहुत कुछ वैशेषिकों से मिलता है। भगवान् वेदैक-प्रतिपाद्य हैं।

४—भेदाभेदवाद

ब्रह्मसूत्र—वर्णित आचार्य औडुलोमि और आचार्य आश्मरथ्य, भेदाभेदवादी माने जाते हैं। संसार अवस्था में जीव का ब्रह्म से भेद और मोक्ष अवस्था में अभेद होता है। भाष्यकार (शङ्कराचार्य) ने बृहदारण्यक-भाष्य में आचार्य भर्तृप्रपञ्च के भेदाभेद का निराकरण किया है। अतः यह प्राचीन मत विशेषरूप से निम्बार्काचार्य-द्वारा अपनाया गया माना जाता है। निम्बार्काचार्य के मत में जीव, ज्ञानस्वरूप भी है और ज्ञान का आश्रय भी। इसमें

सूर्य का दृष्टान्त दिया जाता है कि वह प्रकाश-स्वरूप भी है और प्रकाश का आश्रय भी। जीव में सदैव कर्तृत्व रहता है, चाहे वह संसारी हो, या मुक्त। इनके मत में भी जीव अपने भोग और मोक्ष के लिए ईश्वर पर आश्रित है। इतना ही नहीं, वह मुक्त होकर भी ईश्वर के अधीन ही रहता है।

निम्बार्काचार्य भी ईश्वर या ब्रह्म को समग्र गुणों का आगार मानते हैं। वह जीवों का नियन्ता और अनुग्राहक है। इसकी भक्ति के द्वारा इसका साक्षात्कार प्राप्त होता है। जीव अपने इस शरीर से ईश्वर भाव को नहीं पा सकता, इस शरीर का पात हो जाने पर ही उसे मुक्ति मिलती है।

५—शुद्धाद्वैतवाद

इस सिद्धान्त के प्रधान आचार्य वल्लभाचार्य माने जाते हैं। उनका समय पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी माना जाता है। इनके मत में ब्रह्म सर्वथा शुद्ध माना जाता है; क्योंकि वह माया से नितान्त अलिप्त और परिपूत है। वही एक अद्वैत तत्त्व इन्हें मान्य है; अतः इस मत को शुद्धाद्वैतवाद के नाम से पुकारते हैं। इनके भगवान् भी सकल गुण-निधान हैं। उनमें परमार्थतः कर्तृत्वादि धर्म रहते हैं। अतः जब भी उन्हें मनोविनोद की इच्छा होती है, तभी ही जीवरूप धारण कर लेते हैं। इनके यहाँ भगवान् की तीन कोटियाँ हैं-परब्रह्म, अक्षर ब्रह्म और जगद्ब्रह्म। जगद्ब्रह्म से श्रेष्ठ अक्षर ब्रह्म और अक्षर ब्रह्म से श्रेष्ठ परब्रह्म है। इसे ही गीता में पुरुषोत्तम कहा गया। जीव ज्ञान के द्वारा अक्षर ब्रह्म की और अनन्य भक्ति के द्वारा पुरुषोत्तम की प्राप्ति करता है। भगवदनुग्रहरूप पुष्टि ही मोक्ष का एक मार्ग है, अतः इस मत को पुष्टिमार्ग भी कहा जाता है।

इसी प्रकार वेदान्त में अचिन्त्य भेदाभेदादि विभिन्न अवान्तर सिद्धान्त-भेद प्रचलित हैं। इन सिद्धान्तों की ग्रन्थ सम्पत्ति भी विशाल है। उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन यहाँ समय तथा स्थान की सङ्कीर्णता के कारण नहीं किया जा सका। संस्कृत के उन ग्रंथ-रत्नों से प्रांतीय भाषा-भाषी लाभान्वित नहीं हो सकते—यह सोचकर प्रायः सभी प्रान्तों के सहृदय विद्वान् जनसाधारण तक वेदान्त के गूढ़ रहस्यों को पहुँचाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहे हैं। बँगला, गुजराती तथा मराठी-आदि का विपुल साहित्य इसका साक्षी है। अपने अनूठे विशाल साहित्य के जिन निर्माताओं का वरदान पाकर हिन्दी आज "राष्ट्रभाषा" के पद पर आसीन हुई है, उन्हीं प्रमुख विद्वानों में इस विचार-सागर के रचयिता हमारे महात्मा निश्चलदासजी हुए हैं। इनका जीवन-परिचय आगे दिया जा रहा है। आचार्य निश्चलदासजी की भाषा पुरानी है, अतः आज के युग में उसका समझना बहुत कठिन था। इस काठिन्य को दूर किया हमारे राष्ट्रभाषा-पतञ्जलि, कविकान्त स्वामी निगमानन्दजी महाराज ने। आपने आज की परिष्कृत हिन्दी में विचार-सागर का अनुवाद कर के राष्ट्रभाषा का महान् उपकार किया है। हिन्दी में आपकी आदर्श हिन्दी-जैसी मौलिक रचनाएँ बहुत उत्कृष्ट गिनी जाती हैं। संस्कृत के तो आप सुयोग्य कवि तथा लेखक हैं। मैं अपने पूरे अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि विचार-सागर का यह अनुवाद सभी दृष्टियों से सुन्दर हुआ है।

उदासीन संस्कृत विद्यालय
CK. ३६/१९ ढुण्डिराज, बनारस। }

योगीन्द्रानन्द
२५-१२-५४

—

श्री स्वामी निश्चलदास जी महाराज का संक्षिप्त जीवन–परिचय

महाराज श्री स्वामी निश्चलादासजी का जन्म सम्वत् १८४८ के आस-पास हुआ था। जन्म–स्थान 'धनाणा' ग्राम बताया जाता है, जो हिसार जिले में भिवानी से आठ कोस उत्तर की ओर है। वे जाट–कुल में उत्पन्न हुए थे, जो कि प्रमुखतया कृषि–कर्म करता है। इनके जन्म के कुछ ही समय पश्चात् इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। इनके और कोई भाई, या बहन थी ही नहीं, माता के स्वर्गस्थ होने पर अकेले पिता ही रह गये थे। केवल एक सन्तान होने से पिताजी को संसार से कुछ उपरति हो गई और वे सम्वत् १८६२ में अपने ग्राम से एक मात्र पुत्र को साथ लें देहली चले आये। देहली में खारी वावड़ी वाजार के भवानी शङ्कर छत्ते में दादूपन्थी महात्माओं का एक स्थान था। उस समय उस स्थान के अधिपति श्री स्वामी अलखराम जी थे। निश्चलदास जी के पिता, पुत्र के साथ देहली में इन्हीं महात्मा अलखराम जी के पास आकर ठहरे। निश्चलदास जी की बुद्धि अतितीव्र थी, वें जो भी बात एकबार ध्यान से सुन लेते, वह उनको सदा स्मरण रहती थी।

श्री अलखराम जी के स्थान में उस समय और भी कई महात्मा ठहरे हुए थे। साधु सुबह–शाम दादू–वाणी का पाठ, आरती, अष्टक आदि बोला करते थे। थोडे ही दिनों के इस सम्पर्क से निश्चलदास जी को वाणी, आरती अष्टक आदि याद हो गये। साधुओं तथा स्वामी अलखराम जी ने बालक की विलक्षण बुद्धि देख उसके पिता को प्रेरित किया कि वह अपने पुत्र को उनको

प्रदान कर दे। पिता ने उनके निर्देश को स्वीकार कर लिया, और स्वयं तथा पुत्र दोनों ही दीक्षा ले, साधु बन गये।

साधु बन जाने के पश्चात् निश्चलदास जी को वहीं (स्थान में ही) वाणी आदि पढाई गई। फिर देहली में ही किसी पण्डित के पास पढने को भेज दिया करते थे। कुछ समय पश्चात् देहली से उनको जालन्धर अध्ययनार्थ भेजा गया जालन्धर से फिर बनारस भेज दिये गये। वे सम्वत् १८६३-६४ में बनारस चले गये थे। जब कि उनकी आयु १५-१६ वर्ष की थी। बनारस में उन्होंने करीब बीस-बाईस वर्ष तक अध्ययन किया। उन्होंने वेद, वेदाङ्ग, व्याकरण, न्याय, वेदान्त, की अत्युच्च शिक्षा प्राप्त की।

बनारस में वे दादूपन्थियों के उसी स्थान में रहे होगें, जिस स्थान का ही अवशेष अङ्ग अस्सी घाट पर "श्री दादूमठ" नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान के साथ पहिले एक बगीचा तथा कुछ और भी जमीन थी, जो कर्ज में तथा कमजोरी में दूसरों ने दबा ली।

निश्चलदास जी महाराज की ख्याति अध्ययन-काल में ही हो गई थी। जिन पण्डित जी के पास उनने अध्ययन किया उनकी भी उन पर महती कृपा रहती थी। एक किम्वदन्ती है कि उन पण्डित जी ने निश्चल दास जी से (अध्ययनार्थ आने पर) जाति के विषय में पूछा तो उन्होंने ब्राह्मण जाति बता दी। जब पढ लिख कर वापस देश जाने की गुरु जी से आज्ञा मांगी तो गुरु जी अपनी कन्या ग्रहण करने की भी उनको आज्ञा प्रदान की। तब निश्चलदास जी अपनी वास्तविक जाति गुरु जी को बताई। इस बात को जान, (गुरु जी को) पण्डित जी को इतना कष्ट हुआ कि उनने निश्चलदास जी को अभिशाप दिया कि जाओ! तुम जन्म भर सन्तप्त रहोगे।" कहते हैं—गुरु के इस अभिशाप का यह परिणाम

निकला कि निश्चलदास जी को दिन में दो घण्टे प्रतिदिन ज्वर आता था।

निश्चलदास जी का वर्ण पक्का था, वे न तो गौरवर्ण ही थे न श्याम। कद उनका लम्बा था। शरीर इकहरा था। दांत कुछ बडे और मुह खुलने पर होठों से बाहर दिखाई देते थे। उनको तम्बाकू पीने का अभ्यास था, इसलिये वे नयदार हुक्का पीया करते थे।

३५–३६ वर्ष की आयु में वे वापस देश लौट आये। और देहली उपर्युक्त स्थान से ही सम्बन्ध एक स्थान "किहडौली" में था, उसमें रहने लगे। स्वामी जी के आने से पहिले उनकी विद्वत्ता की ख्याति देश में फैल चुकी थी। अतः उनके स्थान पर पहुँचते ही अनेकों विद्वान् उनके पास अध्ययनार्थ आने लगे थे।

बनारस में उनने किससे अध्ययन किया, यह ठीक सा ज्ञात नहीं है। एक नाम पण्डित कीकाराम जी का सुना जाता है। पता नहीं सम्वत् १८६० से १८८० तक इस नाम के कोई विशिष्ट विद्वान् बनारस में थे ? या नहीं ? इसमें तो सन्देह नहीं कि बनारस में पण्डित जी ने उहीं विद्वानों से अध्ययन किया, जो उस समय स्थानीय विद्वानों में मुख्य रहे होंगे।

देश में आने के पश्चात् वे किहडौली स्थान में रह कर अध्यनाध्यापन में ही लगे रहे। पण्डित जी के समय में राजस्थान में एक बून्दी रियासत थी, जिसके अधिपति राजा रामसिंह जी थे। ये बड़े सत्सङ्गी महाराज थे। इनकी प्रवृत्ति सदा से ही विद्वानों को आश्रय देने की रही। इनके पास अनेकों विद्वान् हर समय बने रहते थे। महाराज रामसिंह जी को जब समाचार मिला, कि हरियाणा प्रान्त के किहडौली ग्राम में एक महात्मा बड़े भारी विद्वान् हैं, तो आपने एक विद्वान् को भेज कर पण्डित जी

को बून्दी आने का आमन्त्रण दिया। पण्डित निश्चलादास जी ने आमन्त्रण स्वीकार कर लिया, और वे सम्वत् १९०० के आसपास बून्दी पधारे।

बून्दी महाराज ने वेदान्त के प्रधान-प्रधान ग्रन्थ पण्डित जी से पढ़े। उनकी विद्वत्ता से वे बहुत अधिक प्रवाहित हुए। बड़े आग्रह से कुछ समय तक पण्डित जी को बून्दी में रखा। उसी समय बून्दी महाराज ने पण्डित जी से संस्कृत भाषा न जानने वाले व्यक्ति भी वेदान्त के विचारों तथा सिद्धान्तों को ठीक समझ सकें, तदर्थ—हिन्दीभाषा में वेदान्त के सैद्धान्तिक ग्रन्थ रचना की प्रार्थना की। पण्डित जी ने राजा की प्रार्थना स्वीकार कर "वृत्तिप्रभाकर" की हिन्दी में रचना की। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह ग्रन्थ वेदान्त-सिद्धान्तों का निरूपण करने में कितना सफल माना गया है। हिन्दी भाषा में वेदान्त विषयक यह बे जोड़ ग्रन्थ है। पण्डित जी के पास कुछ साधु भी रहते थे, जो उनकी सेवा सुश्रूषा में संलग्न रहते थे। उनके सौकर्य के लिए "विचार सागर" की रचना की गई। 'वृत्तिप्रभाकर' पढनेवालों में दूल्हेराम जी, सालिग राम जी, वैरागी ईश्वरदास जी, उदासीन महात्मा त्रिलोकराम जी, तथा रामरूप जी के नाम उल्लेखनीय हैं।

शेखावाटी परगना (जो जयपुर रियासत में था) के रामगढ कसबे में पोद्दार जाति के वैश्य, दादूपन्थियों के सेवक थे। पण्डित मङ्गलदत्त जी ब्राह्मण (जो कि शेखावाटी के नगरों में घूमा करते थे) ने पोद्दारों को, दादू पन्थी साधुओं की मान्यता न रखने का आग्रह किया। पोद्दारों ने उस आग्रह पर विशेष ध्यान नहीं दिया। इससे कुपित हो ब्राह्मण ने उनकी कटु आलोचना आरम्भ की। तब पोद्दारों ने पण्डित निश्चलदास जी महाराज से रामगढ आने की प्रार्थना की, इस पर पण्डित जी महाराज सम्वत्

१९१४ में जमात उदयपुर होते हुए रामगढ पधारे । मङ्गलदत्त जी को जब पण्डित जी के आने का समाचार मिला, तो बीकानेर की तरफ भग गये। स्वामी जी कुछ दिन रामगढ ठहर कर वापस किहडौली चले आये।

बून्दी के महाराज का पण्डित जी को बराबर बून्दी आने का आमन्त्रण मिलता रहा । पर वे दुवारा बून्दी नहीं पधार सके। महाराज की दो शिष्याएँ भी थीं। जो उनकी सेवा सुश्रूषा किया करती थी। उनके नाम थे—दयाराम, मुक्तराम।

सम्वत् १९२० को श्रावणकृष्णा १४ के दिन देहली में स्वामी जी ब्रह्मलीन हुए। वे किहडौली में अस्वस्थ हो गये थे। स्वास्थ्य में किसी तरह का सुधार न देखकर उनने हरिद्वार जाने का विचार किया। किहडौली से वे पालकी में बैठकर देहली पधारे। देहली पहुचने पर उक्त तिथि को माध्यान्होत्तर वे ब्रह्मलीन हो गये।

स्वामी जी की हिन्दी-भाषा में "विचारसागर" "वृत्ति-प्रभाकर" ये दो रचनाए तो प्रसिद्ध हैं ही। उनके बनाए हुए कठोपनिषद्, तथा ईशावास्योपनिषद् पर वार्तिक भी हैं। वे अभी मुद्रित नहीं हुए है। सुनने में आता है—उन्होंने महाभारत पर विशद टिप्पणी की थी। पर उसकी कोई प्रति प्राप्त नहीं है। किहडौली में उन के स्थान में संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों का संग्रह था, जिनमें प्राचीन न्याय के कई अलभ्य ग्रंथ भी थे, ऐसी जनश्रुति है।

किडहौली में स्वामी जी का वह स्थान अब भी है, उस स्थान में इस समय उन्हीं की परम्परा में महन्त रामानन्द जी है। पण्डित जी का पुस्तकालय महन्त मनीराम जी तक तो पूर्ण सुरक्षित था, वर्तमान महन्त जी के समय वेदादि की बहुत सी पुस्तकें

पुस्तकालयों के लिए मांग कर अनेकों आर्यसमाजी महानुभाव ले गये, ऐसा सुनते हैं।

अभीतक पण्डित जी का कोई चित्र प्राप्त नहीं हैं। यह जानकारी भी पुराने महात्माओं की जानकारी के आश्रय से लिखी गयी है। उनके स्वर्गारोहण का प्रमाण एक पत्र से विदित हुआ है-जो उनके ब्रह्मलीन होने पर बून्दी के महाराज को लिखा गया था। इससे अधिक जानकारी का कोई प्रामाणिक साधन नहीं है।

२२-७-१९५५
श्री दादू महाविद्यालय
मोती डूगरी, जयपुर।

मङ्गलदास स्वामी

— —

विषयानुक्रमणिका

ॐ प्रथम तरंग ॐ

※ द्वितीय तरंग ※

* तृतीय तरंग *

* चतुर्थ तरंग *

* पंचम तरंग *

* षष्ठ तरंग *

* सप्तम तरंग *

शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
अनुवधा	अनुवन्धा	१२	१४
यहीं	नहीं	२६	१५
विज्ञायात्	विज्ञानात्	३७	१०
अतःकरण	अन्तःकरण	४२	१४
निवृत्ति	निवृत्त	४६	३
अशा	आशा	४६	५
अज्ञान	अज्ञात	५२	२०
त्रिविधि	त्रिविध	५८	६
यह आप का	आप का	६२	२५
उन का	उन की	६४	४
का	कहा	७२	६
इष्टि	दृष्टि	७९	२८
आत्मा । का	आत्मा का	८७	१४
हाता	होता	९२	१८
उम्हें	उन्हें	९४	२५
नेमित्तिक	नैमित्तिक	९५	१२
स्परूप	स्वरूप	१०२	१८
दास, दासी	दासी, दास	१०४	१
मन मन	मन	११८	२
अन्थयाख्याति	अन्यथा ख्याति	१२४	२
नास	नासै	१३७	२५
असङ्ग ह	असङ्ग है	१५३	५
कूड़े को	कूँडे को	१६९	१३
प्रत्यक्ष	वृत्ति का प्रत्यक्ष	१८७	२४

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
सिय	सिष	१९२	१२
मर्छ्ू	भर्छ्ू	१९३	१
सिय	सिष	२०३	१०
ल	लै	२०४	१
ऊपर	ऊपर के	२०७	१०
ईश्वरश्शृष्ट	ईश्वरसृष्ट	२१०	४
क्रमत	क्रम तैं	२११	२३
अभिानरूप	अभिमानरूप	२२७	५
अन्तःकर	अन्तःकरण	२४०	१३
स्पप्न	स्वप्न	२८९	२१
मुझ आदि	अस्मदादि	२९८	१२
सन्घात	सङ्घात	३१३	१४
इन्द्रियों	इन्द्रियां	३२३	५
इद्रिय	इन्द्रिय	३२४	७
विषत	विषय	३२६	७
दुखाःभाव	दुःखाभाव	३२८	२
जीवसाक्षी	ईश्वरसाक्षी	३२९	१५
और....ईश्वर साक्षी है	×	३२९	१६
कार्यभाव	भावकार्य	३३१	२६
स्वागत	स्वगत	३३२	६
स्वागत	स्वगत	३३२	७
स्वागत	,,	,,	१७
,,	,,	,,	१८
अन्यरूप	अन्यरूप	३३७	७
धन्यादि	धान्यादि	३३७	१९
यर्थार्थ	यथार्थ	३३८	१८

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्तिः
कंस्कार	संस्कार	३३९	१७
अद्दष्ठ	अदृष्ट	३४६	२१
चिन्तनादिनी	चिन्तनादि की	३५७	२२
भेदाभेदरूय	भेदाभेदरूप	३७५	११
अभद	अभेद	३७६	२५
घट	घट	३७८	१८
हीगी	होगी	३८१	२५
बाच्य	वाच्य	३८३	१५
विनिमुक्त	विनिर्मुक्त	३८८	२६
आभामाए	आभास	३९०	१८
त्याग	भागत्याग	३९१	१३
अतर्भूत	अन्तर्भूत	४२९	२
अपस्तंव	आपस्तम्ब	४३२	३
शेष का	शेष के	४३२	२६
वुद्धयति	बुद्ध्येति	४३५	२२
दीक्षिय	दीक्षित	४४५	२३
से दक्षिण	से । दक्षिण	४४९	१७
विंरुद्ध हे	विरुद्ध है	४५४	७
सस्कृत	संस्कृत	४६९	१९
द्वतापहारि	द्वैतापहारि	४७५	१९
प्रवर्तनां	प्रवर्ततां	४७५	२५
पूर्वदृष्टः	पूर्वं दृष्टः	४७९	२८
ब्रह्मनिष्ठ	ब्रह्मनिष्ठं	४८०	१९
व्यप्ति	व्याप्ति	४९०	१
ऽपि	ऊर्ध्वमल्पेऽपि	४९१	२६

विचार-सागर*

प्रथम तरङ्ग

टिप्पणी

सहस्रधारके यस्मिन्नृषयो नो मनीषिणः।
पुनन्ति स्वं वचस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

*विचार सागर—यहाँ 'विचार' का अर्थ निर्णय नहीं, निर्णय तो विचार-वृक्ष का फल होता है। 'विचार' का अर्थ है तर्कपूर्ण विश्लेषण, जैसे—विद्यारण्य स्वामीने—'विचारेण विपर्येति' (पंचमहाभूत ६६) कहकर विचार का स्वरूप दिखाया है—"भिन्ने वियत्सती शब्दभेदाद्" आकाश और सत् परस्पर भिन्न है, क्योंकि उनके वाचक भिन्न हैं। विचार की दो अवस्थाएँ होती हैं—(१) आन्तरिक और (२) बाह्य। आन्तरिक विचारको 'सोच' आदि शब्दों से तथा बाह्य विचारको 'चर्चा' आदि शब्दों से भी कहा करते हैं। मनुष्य पहले अपने मनमें कुछ विचारता या सोचता है, फिर दूसरों से विचारता या चर्चा करता है। योगवासिष्ठ में कहा है—

कोऽयं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः।
न्यायेनेति परामर्शो विचार इति कथ्यते॥ (मुमु० १४।५०)

'मैं कौन हूँ? संसार नामका कलंक मुझे कैसे लगा—इस प्रकार न्यायपूर्ण परामर्श (सोच-विचार) ही विचार कहा जाता है।' बाह्य विचार को कथा भी कहते हैं। यह तीन प्रकारकी होती है—(१) वाद, (२) जल्प और (३) वितण्डा। (१) वादी-प्रतिवादी की सात्त्विक चर्चा, जिसका उद्देश्य किसी तत्त्व-निर्णय पर पहुँचना होता है, वादकथा कहलाती है। (२) जय-पराजय के उद्देश्यसे की गई चर्चा को जल्प कहते हैं। (३) ऊपर की दोनों चर्चाओं में प्रत्येक

वादी अपने मतकी स्थापना और दूसरे के मतका खण्डन किया करता है। किन्तु जब कोई अपने मतकी स्थापना छोड़कर दूसरे के मतका खण्डन ही खण्डन करता चला जाता है, तब उस चर्चा का नाम पड़ता है—वितण्डा।

प्रत्येक दर्शन एक कथा तथा दार्शनिक कथक (कथक्कड़) है। इस प्रकार के विचार, चर्चा या कथा को मनन भी माना जा सकता है। आचार्य उदयनने कहा है—

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता॥ (कुसुमा० १।३)

'ईश्वर विषय की इस न्यायपूर्ण चर्चा को मनन पद से भी व्यवहृत किया जा सकता है। यह भी ईश्वर का विचार, श्रवणोत्तर भावी मननात्मक उपासना ही है।' दूसरे दर्शनों का विचार-विषय भले ही और-और रहे, हमारे वेदान्त में मुख्यतया आत्माऽनात्मविषयक ही विचार होता है, वही उपयोगी भी है—

शास्त्रावबोधामलया धिया परमपूतया।
कर्तव्यः कारणज्ञेन विचारोऽनिशमात्मनः॥ (यो. वा. मुमु. १४।१)

'शास्त्रीय बोधके द्वारा हुई निर्मल, परम पवित्र बुद्धि से निरन्तर आत्म-विचार करना विज्ञ पुरुष का मुख्य कर्तव्य है।'

विचारात्तीक्ष्णतामेत्य धीः पश्यति परं पदम्।
दीर्घसंसाररोगस्य विचारो हि महौषधम् (यो. वा. मुमु १४।२)

'विचार से सूक्ष्म होकर ही बुद्धि परमपद को देखती है। संसाररूपी लम्बे रोगकी अचूक चिकित्सा है—विचार।'

आत्माभासस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनि।
इति बोधो भवेद् विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात्॥
सदा विचारयेत्तस्माज्जगज्जीवपरात्मनः। (पं. द. ६।११, १२)

'यह समस्त संसार चिदाभास में है, चेतन में नहीं—इस प्रकारके बोध को विद्या कहते हैं। इसका लाभ विचारसे होता है। अतः जगत्, जीव और ब्रह्मका विचार करते रहना चाहिए।' यह आत्म-विचार बहुत विस्तृत है। इसीमें से ही तत्त्वज्ञानरूपी चिन्तामणि निकाली जाती है। अतः इसे सागर का रूपक देना नितान्त उचित है। यह ग्रन्थ भी विचारात्मक है। यह भी एक सागर है।

वस्तुनिर्देशरूप मंगलाचरण

*जो सुख नित्य प्रकास विभु, नाम रूप आधार ।

मोक्षामोक्षतटं श्रुतिश्रुतजलं सप्तप्रभङ्गोर्मिकम्,
ग्रन्थिग्राहयुतं विवेकमुखरै रत्नैः वरैरन्वितम् ।
छन्दःशुक्तिगणं निजेक्षणमणिं वर्णादिसन्मौक्तिकम्,
जिज्ञासो ! तर तं गुरूक्तदिशया शीघ्रं विचारार्णवम् ॥

*स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षणों में से पहले ब्रह्म का स्वरूपलक्षण कहते हैं:-- 'जो सुख नित्य प्रकाश विभु ।' यहाँ यदि ब्रह्म का लक्षण केवल 'सुख' करते तो न्यायसम्मत आत्माके गुणरूप सुखमें अतिव्याप्ति हो जाती । अतः लक्षणमें 'नित्य' पद भी रक्खा । न्यायमतमें जीवात्मा 'सुख' गुण अनित्य है, नित्य नहीं ।

'जो नित्य है'--इतना ही ब्रह्मका लक्षण करते तो न्याय-मतमें आकाश, काल, दिशा, मन, परमाणु--जैसे अनात्मपदार्थ भी नित्य हैं । उनमें अति-व्याप्ति होती । उस अतिव्याप्तिको हटाने के लिए कहा-प्रकाश । अर्थात् जो नित्य और प्रकाशस्वरूप है, वह ब्रह्म है--ऐसा कहनेसे आकाशादि नहीं पकड़े जा सकते, क्योंकि वे सब अप्रकाशस्वरूप (जड़) हैं । यद्यपि प्रथमविशेषण 'सुख'के रहने पर ही आकाशादिमें अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि आकाशादि न्यायमतमें नित्य होने पर भी सुखस्वरूप नहीं । तथापि जो लोग लाघव-बुद्धिसे ब्रह्मका 'नित्य'--इतना ही लक्षण करना चाहते हैं, उन्हें सुझाया जाता है कि नित्यके साथ या तो सुख कहिए या प्रकाश । 'नित्य सुख' अथवा 'नित्य प्रकाश'-दोनों ही स्वतन्त्र ब्रह्मके लक्षण हैं । प्रथम लक्षणमें 'सुख' पदका जो प्रयोजन है, वही द्वितीय लक्षणमें 'प्रकाश' पद का भी है; अर्थात् दोनों पद आकाशादि पदार्थोंसे अतिव्याप्ति हटानेके लिए रक्खे गये हैं ।

तीसरा लक्षण ब्रह्म का है-'प्रकाश विभु'-इसमें यदि प्रकाश-इतना ही कहते तो न्यायसम्मत आत्म-गुण ज्ञानरूप-प्रकाश में, सूर्यादि प्रकाश में एवं योगाचार-सम्मत क्षणिकविज्ञानरूप प्रकाश में अतिव्याप्ति होती । उसे दूर करने के लिए कहा-विभु । ऊपरके सभी अनात्म प्रकाश परिच्छिन्न हैं, विभु नहीं ।

विभुका अर्थ है-व्यापक । व्यापक वही होता है जो सदा सब कहीं हो । सूर्यादि प्रकाश सदा सब कहीं नहीं होते ।

'सुख, नित्य, प्रकाश और विभु'--इन चारों पदोंसे ब्रह्म के तीन स्वरूप-लक्षण बन जाते हैं--(१) सुख नित्य, (२) नित्य प्रकाश और (३) प्रकाश विभु ; इसी प्रकार 'सुखविभु', आदि दो-दो पदोंवाले लक्षण किये जा सकते हैं । किन्तु यह ध्यान रहे कि कोई भी दो पद जोड़ देने से पूर्ण लक्षण नहीं बन सकता । जैसे 'नित्य विभु' । न्याय-मतमें आकाशादि नित्य भी हैं और विभु भी । अतः उनमें अतिव्याप्ति होगी । इसीलिए ग्रन्थकारने ऐसे पदोंको समीप नहीं होने दिया । उन्हीं पदों को पास-पास रक्खा है जिनके मेलसे निर्दुष्ट लक्षण बनता है । इन पदोंकी योजनासे ही ग्रन्थकारकी बुद्धि अपने लक्ष्य में किस प्रकार निश्चल है-यह कहनेकी आवश्यकता नहीं ।

स्वरूप-लक्षणका दिग्दर्शन कराकर अब तटस्थलक्षण दिखाते हैं 'नाम रूप-अधार' । समस्त जगत्को दो भागों में बाँटा जा सकता है-(१) नाम (वाचक शब्द) और (२) रूप (वाच्य अर्थ) । प्रत्येक कल्पित वस्तुका एक नाम होता है । जैसे 'घट' 'पट' आदि । प्रत्येक नामका एक वाच्य अर्थ भी हुआ करता है जैसे 'घट' शब्दका अर्थ है-मिट्टी या धातुका बना एक गोल-मटोल जल-पात्र । इसे ही रूप कहते हैं । 'रूप' शब्द के अनेक अर्थ हैं-"रूपं तु श्लोक-शब्दयोः । पशावकाशे सौन्दर्ये नाणके नाटकादिके ॥ ग्रन्थावृत्तौ स्वभावे च" इति हैमः । किन्तु यहाँ 'रूप' का तात्पर्य पदार्थ से हैं; जिसका किसी वाचक शब्द से निरूपण हो । ब्रह्म किसी वाचक शब्द से निरूपित नहीं । अतः उसे रूप भी नहीं कहा जा सकता । अतः ब्रह्माधिष्ठित समस्त-प्रपंच नाम-रूप-इन दो भागोंमें विभक्त है । बौद्ध लोग भी अपने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान-इन पाँचों स्कन्धों को इन्हीं दो भागोंमें बाँटते हैं । रूपातिरिक्त चारों नाममें रक्खे जाते हैं । "नामरूपे व्याकर्वाणि" आदि श्रुतियोंमें निर्दिष्ट नाम, रूप शब्दोंपर बहुत विचार अपेक्षित है । किन्तु यहाँ उतना उपयोगी नहीं, कहीं और किया जायगा ।

आधारका अर्थ यहाँ है--अधिष्ठान (आधार और अधिष्ठानका अन्तर चतुर्थ तरंगमें आवेगा) । रूपका अधिष्ठान ब्रह्म ही है । ब्रह्ममें दोनों

अध्यस्त हैं। ब्रह्मसे ही समस्त जगत् उत्पन्न होता; ब्रह्ममें ही स्थित रह कर विलीन हो जाता है। प्रलय-सृष्टि-क्रम वैसे ही ब्रह्ममें होता रहता है। जैसे स्वतः-शान्त महासागरमें तरंगोंके उठने, चलने और विलीन हो जानेका स्वप्न आ रहा है। सभी प्रकारके भ्रमोंमें कल्पित वस्तुका अधिष्ठान वेदान्त-सिद्धान्त में चेतन ही होता है। जैसे रज्जु-सर्प-भ्रमस्थल पर सर्पका अधिष्ठान रज्जूपहित चेतन ही है। वैसे समस्त प्रपंच का अधिष्ठान मायोपहित चेतन ही है।

भगवान् शंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्यमें लिखते हैं—

"परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा" परब्रह्मसे ही भूत-प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है—यह वेदान्तमर्यादा है।,

"नामरूपयोरपि निर्वहणं निरंकुशं न ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्भवति, "तस्मात्परमेश्वरस्यैव त्रिवृत्कुर्वतः कर्म नामरूपयोर्व्याकरणम्" "आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म'—इत्येवमादीनि वाक्यानि निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि। तस्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु यथाश्रुतं निराकारमेव ब्रह्मावधारयितव्यम्" इन सब वाक्योंके आधारपर वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्यने निर्णय दिया है—

तमः प्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानः चिदात्मनाम्।
परः कारणतामेति भावना-ज्ञान-कर्मभिः॥" (वार्तिक १।४।३४२)

अर्थात् समस्त जड़चेतन विश्वका कारण शुद्ध ब्रह्म ही है। यही मत संक्षेप-शारीरककारका भी है।

किन्तु विद्यारण्य स्वामी विवरणकार का समर्थन करते हुए, जगत्का कारण बताते हैं और उक्त वार्तिक का आशय इस प्रकार कहते हैं—

अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव।
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः॥ (पं० द० ६।१९०)

अर्थात् जीव और कूटस्थ का जैसे परस्पर अध्यास होता है, वैसे ही ईश्वर और ब्रह्मका भी परस्पर अध्यास मान कर वार्तिककार सुरेश्वरचार्य ब्रह्म को जगत् का कारण बताते हैं। वस्तुतः ईश्वर ही जगत् का कारण है।

*मति न लखै जिहिं मति लखै, सो मैं सुद्ध अपार ॥१॥

जो ब्रह्म सुखरूप, नित्य, प्रकाशरूप (ज्ञानरूप,) विभु (व्यापक)

---

*मुक्तप्राप्य ब्रह्म का स्वरूप दिखाते हैं—मति न लखै जिहिं=बुद्धि नहीं लखती जिसे (यन्मनसा न मनुते) मति लखै=जो बुद्धि को प्रकाशता है (येनाहुर्मनो मतम्) परन्तु ऐसे अर्थको सुनकर अधिकारी में अनुत्साह का संचार होगा, जिससे उसकी ब्रह्मज्ञानमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी, अतः प्रथम यह अर्थ करना उचित होगा-मतिन लखै=जो बुद्धियों का साक्षी है। जिहिं मति लखै=जिसे बुद्धि देख सकती है (दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः का० १।३।१२) 'अहं ब्रह्मास्मि'—ऐसी बुद्धि–वृत्ति ब्रह्मका केवल आवरण भंग करती है, ब्रह्मका प्रकाश नहीं करती। क्योंकि ब्रह्म तो स्वयंप्रकाश है, दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता। और न उससे भिन्न कोई ऐसा प्रकाश है ही, जिससे उसका प्रकाश हो सके। अतः एव फल भी ब्रह्मका प्रकाशक नहीं हो सकता। इस बातका स्पष्टीकरण पूर्णरूपसे वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्तिकी व्याख्या के प्रसंग में चौथी तरंग में किया जायगा। यहां पर वैसे ही वृत्तिका ब्रह्म–आवरण भङ्ग करना ही प्रकाश करना माना गया है। जैसे घटस्थ मणिका प्रकाश दण्डसे घट-भङ्ग हो जाने पर होता है। अतः दण्ड मणि का प्रकाशक माना जाता है।

विरोधाभास अलङ्कार का वैचित्र्य दिखाने के लिए 'पश्चात् मति न लखै जिहिं=बुद्धि नहीं देख सकती जिसे। जिहिं मति लखै=जिसे बुद्धि देख सकती है'—ऐसा अर्थ किया करते हैं और प्रतीयमान विरोध का परिहार अशुद्ध (मलिन) बुद्धि और शुद्ध बुद्धि के भेदसे किया जाता है।

बुद्धि, ब्रह्मका प्रकाश क्यों नहीं कर सकती? इस शंका का उत्तर है—शुद्ध अपार। बुद्धि सदैव अज्ञान-मलावलिप्त और परिच्छिन्न वस्तु का प्रकाश फलाभासके द्वारा कर सकती है; किन्तु ब्रह्म नितान्त शुद्ध है अपार है। यद्यपि सांख्य-सम्मत चेतन भी शुद्ध (असंग) माना जाता है, फिर भी वह अपार नहीं। अपार का अर्थ है—देश, काल, और वस्तु-इन तीनों परिच्छेदों से रहित। सांख्यसम्मत आत्मा में विभुता तथा नित्यता के कारण देशकृत और कालकृत परिच्छेद नहीं, किन्तु अनेकता के कारण वस्तु-परिच्छेद माना जाता है।

एवं नाम और रूप का आधार है, जिसे बुद्धि प्रकाशित नहीं कर सकती किन्तु जो बुद्धि का प्रकाशक है, शुद्ध है, वह मैं हूँ ॥१॥

["मति न लखै जिहिं मति लखै" के दो अन्य अर्थः– १–शब्द की शक्तिवृत्ति से बुद्धि जिस ब्रह्म को नहीं जान सकती, पर लक्षणावृत्ति से जानती है। २–मलिन मति (बुद्धि) जिस ब्रह्म को नहीं जान सकती, पर शुद्धि मति जिसे जानती है]।

शंकाः—आस्तिक जन विष्णु, महेश आदि देवताओं को मानकर अपनी मंगलसाधना किया करते हैं। आपको भी वैसा ही करना चाहिए था ? **समाधान—**

अब्धि अपार स्वरूप मम, लहरी विष्णु महेस ।
विधि रबि चंदा वरुन यम, सक्ति धनेस गनेस ॥२॥

मेरा अपार* (अनंत) स्वरूप एक समुद्र है, जिसमें विष्णु,

---

*अपार–यहां 'अपार' का अब्धिके साथ अन्वय नहीं। अर्थात् अपने स्वरूप को एक अपार अब्धि का रूपक नहीं देना चाहते अपितु मेरा स्वरूप, अब्धि है यह अन्वय मनमें रखकर ग्रन्थकार कहना चाहता है कि पूर्व पद्यमें कहा गया मेरा अपार स्वरूप एक समुद्र है। 'अपार' का अन्वय अब्धि के साथ करने पर कहना होगा कि लौकिक व्यवहारमें समुद्र को अपार कहा जाता है; भले ही वह अपार न हो। क्योंकि जहाजों से समुद्र को लोग नित्य पार करते आये हैं। "आकाशवत् सर्वगतश्चः नित्यः" इत्यादि स्थलों पर; अनित्य और परिच्छिन्न आकाशको भी किसी प्रकार नित्य और सर्वगत मानकर जैसे उपमाका समर्थन या सामंजस्य किया जाता है उसी प्रकार यहां भी समुद्र को किसी प्रकार अपार मान कर कहा जा सकेगा–मेरा स्वरूप, अपार समुद्र है। किन्तु इस झमेले से दूर एक सुन्दर प्रशस्त मार्ग हमारे बुद्धिमान अनुवादकने निकाल लिया;–"मेरा अपार (अनन्त) स्वरूप, एक समुद्र है।" अब हमें समुद्रकी पारता या अपारता से कोई प्रयोजन ही नहीं। हमें चाहिए केवल लोलकल्लोलों का एक क्रीड़ा-प्रांगण ।

महादेव, ब्रह्मा, सूर्य चंद्र, वरुण (जलाभिमानी देव), यम, शक्ति, (दुर्गा) कुवेर, गणपति आदि देवगण तरंगें हैं। समुद्र को मना लेने से तरंगों को मनाने की आवश्यकता ही क्या ? मेरे स्वरूप का स्मरण कर लेने से विष्णु आदि पृथक् नहीं रह जाते ।

शंका–विष्णु, शिव आदि ईश्वर की (मायाविशिष्ट) चेतनकी) तरंगें हो सकती हैं । पर तुम्हारे प्रत्यक् आत्माके मंगल करने से सब देवोंके मंगल की सिद्धि नहीं हो सकती । **समाधान**—

जा कृपालु सर्वज्ञ को, हिय धारत मुनि ध्यान ।
ताको होत उपाधि तैं, मो मैं मिथ्या भान ॥३॥

जिस कृपालु सर्वज्ञ (ईश्वर) का मुनिजन हृदय में ध्यान करते हैं, उस ईश्वर का माया उपाधिसे [जैसे रस्सी में साँप आदिका और स्वप्न में नगर आदि का भान होता है वैसे] मेरे स्वरूप (प्रत्यक् आत्मतत्त्व) में मिथ्या ही भान होता है ॥३॥

शंका–ईश्वर तो शुद्ध ब्रह्म में अध्यस्त है; तुम्हारे स्वरूप= प्रत्यक् आत्मा मैं अध्यस्त नहीं। इसलिए निर्गुण ब्रह्म का मंगल करने से सब के मंगल की सिद्धि होगी; तुम्हारा मंगल करने से नहीं । **समाधान**—

ह्वै जिहिं जानै बिन जगत, मनहु जेवरी साप ।
नसै भुजग जग जिहिं लहै, सोऽहं आपे आप ॥४॥

जैसे रस्सी को जाने बिना ही साँप प्रतीत होता है; वैसे ही ब्रह्म को जाने बिना यह जगत् प्रतीत होता है। जैसे रस्सी को जान लेने से साँप निवृत्त हो जाता है; वैसे ब्रह्म को जान लेने से यह जगत् निवृत्त हो जाता है। वह अधिष्ठानरूप शुद्ध ब्रह्म मैं स्वयं ही हूँ ॥४॥

शंका–आपको अपने (श्रीदादू संप्रदाय के) इष्टदेव राम का तो

मंगलाचरण करना चाहिए ? **समाधान—**

बोध चाहि जाको सुकृति, भजत राम निष्काम ।
सो मेरो है आतमा, काकूँ करूँ प्रनाम ॥५॥

जिस राम को (ईश्वर को) ज्ञानप्राप्ति की इच्छा से सुकृति (पुण्यशाली) लोग कामनारहित होकर भजते हैं। वह राम तो मेरा आत्मा (स्वरूप) ही है । [दादूसंप्रदाय में रामका अर्थ निर्गुणब्रह्म होता है] इसलिए अब मैं किसे प्रणाम करूं ? ॥५॥

भाषाग्रन्थ लिखनेका कारण

भर्यो वेद सिद्धान्त जल, जामैं अतिगंभीर ।
अस विचार-सागर कहूँ, पेखि मुदित ह्वै धीर ॥६॥

जिसमें वेदका सिद्धांतरूपी अति गहरा जल भरा हुआ है। ऐसा यह विचार-सागर मैं (निश्चलदास) लिखता हूँ; जिसे देखकर (गुरुमुखसे समझ और विचार कर) धीर=ब्रह्मचर्य आदि साधन संपत्तिवाले पुरुष आनंदित होंगे ॥६॥

***सूत्र, †भाष्य, ‡वार्तिक प्रभृति, ग्रन्थ बहुत सुरबानि ।**

---

*सूत्र-सूत्र नाम संक्षिप्त वचन का है। महर्षिगण अपने विस्तृत एवं गम्भीर भावों को कुछ इने-गिने पदों में कह डालते हैं। जैसे आजकल तार (टेलिग्राम) की भाषा है। कम-से-कम अक्षरों के लाने की चेष्टा की जाती है। ऐसी भाषामें नितान्त अनिवार्य पदों को छोड़कर निरर्थक पदों का प्रवेश कदापि वांछनीय नहीं होता। अतएव सूत्र का लक्षण किया गया है—

स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ (परा०पु०अ०।१८)

जिस वचन में अल्प-से-अल्प अक्षर हों सन्देह की गुञ्जाइश न हो, सार-मात्र भरा हो, सर्वतोमुखी प्रवृत्ति (भावावबोधन-सामर्थ्य) हो, स्तोभ (सामगान में कभी-कभी कुछ निरर्थक अक्षरों से काम लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार

तद्यपि मै *भाषा करूं, लखि मतिमंद अजानि ।।७।।

जैसे लौकिक गानेमें 'त न न न ग' आदि-अक्षरोंसे । इन्हीं अक्षरों को स्तोभ कहते हैं । अर्थात् निरर्थक अक्षर) न हो, पुनरुक्ति आदि किसी प्रकार का दोष न हो, उस नितान्त पूत, संक्षिप्त, सार वचन को सूत्र कहते हैं ।

यह है हमारे वैदिक समाज की मर्यादा । इस मर्यादा का भी भंग करने के लिए बौद्धोंने अत्यंत उपहासास्पद झण्डा उठाया और निरर्थक पुनरुक्ति आदि-समस्त दोषों से भरी हुई लम्बी-लम्बी कथाओं (स्पीचों) को सूत्र नाम दे डाला। उनका पूरा सूत्र पिटक इस बातका साक्षी है । किन्तु हमारे सभी सूत्र-ग्रन्थ सच्चे सूत्रों के संकलन हैं । यहां पर निश्चलदासजी का महर्षि वेदव्यास-रचित ब्रह्मसूत्रों की ओर संकेत है ।

†भाष्य—सूत्रादि-ग्रन्थों की नितान्त गम्भीर प्रमेयबहुल व्याख्याविशेष को भाष्य कहते हैं—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ।। (पराशरोपपु० अ० १८)

जिस व्याख्यामें सूत्रानुरूप पदोंके द्वारा सूत्रों का अर्थ किया जाय और अपने कठिन पदोंकी भी व्याख्या की जाय, उस व्याख्या को भाष्य का नाम दिया करते हैं । सभी सूत्रों पर पृथक्-पृथक् भाष्य हैं । यहां ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य से निश्चलदासजी का अभिप्राय है ।

‡वार्तिक—भाष्य की उस व्याख्या का नाम वार्तिक हैं, जिसमें मूल के उक्त, अनुक्त और द्विरुक्त अर्थों पर विशेष विचार किया जाता है—

उक्तानुक्तद्विरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रसज्यते ।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ।। (पराशरोपपु० अ० १८)

वार्तिक सदैव श्लोक-बद्ध होता है—ऐसा कोई नियम नहीं । गद्यात्मक भी वार्तिक-ग्रथ होते हैं । जैसे-न्यायवार्तिक आदि । गद्य-पद्य-उभय रूपमें भी हैं । जैसे तंत्रवार्तिक आदि । हां, प्रकृत में जो वार्तिक अभिप्रेत है, वह है श्लोकबद्ध, श्रीसुरेश्वराचार्य-प्रणीत बृहदारण्यक-भाष्य की विस्तृत व्याख्या ।

*भाषा—कुछ लोगों की धारणा है कि भाषा ग्रन्थों से बोध नहीं होता ।

यद्यपि संस्कृतभाषा में सूत्र-भाष्य-वार्तिक-आदि अनेक ग्रन्थ हैं, तो भी मैं लोकभाषामें ही लिख रहा हूँ। क्योंकि साधारण बुद्धिवाले लोग उन ग्रन्थों से लाभ नहीं उठा सकते ॥७॥

ग्रन्थ-महिमा

कविजनकृत भाषा बहुत, ग्रन्थ जगत विख्यात ।
बिन विचार-सागर लखै, नहिं संदेह नसात ॥८॥

यद्यपि हिन्दी कवियों ने भी वेदांत–विषयक अनेक ग्रन्थ लिखे हैं और वे प्रसिद्ध भी हैं, फिर भी विचार-सागर ग्रन्थ को बिना देखे (आत्मवस्तु–विषयक) संदेह=संशय दूर नहीं हो सकता ॥८॥

इसका कारण यह है कि (१) कुछ-एक ग्रन्थ तो वेदांत के सुननेभर से लिखे गये हैं; जैसे–पञ्चभाषा (अर्थात्-मनोहरदासकृत षट्प्रश्नी, शतप्रश्नी, ज्ञानमञ्जरी, ज्ञानचूर्ण और वेदांतसार)। इनकी प्रक्रिया किसी अंशमें तो शास्त्र के अनुसार है और जहाँ कहीं सुन-सुनाकर

अपने मतका पोषण वे सिद्धान्तलेश के इस लेख से किया करते हैं––

"न च विचारविध्यसम्भवेऽपि विचार-विषयवेदान्तनियमविधिः सम्भवति, भाषाप्रबन्धादिव्यावर्त्यसत्त्वादितिशङ्क्यम्; सन्निधानादेव वेदान्तनियमस्य लब्धत्वेन विधिविषयत्वायोगात्........वेदार्थे ब्रह्मणि मोक्षाय ज्ञातव्ये भाषाप्रबन्धादीनामप्राप्तेश्च"

परन्तु यहां यह निश्चित है कि मोक्ष के लिए ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना है। वह ब्रह्मज्ञान वेदान्त-जन्य ही चाहिए अथवा भाषा-प्रबन्धों से जन्य भी काम दे सकता है? यह विचारणीय है। हम यह जानते हैं कि ब्रह्म-साक्षात्कार वेदांतांतगत महावाक्यों से ही होता है। अब ब्रह्म-साक्षात्कार कराने के उद्देश्य से कोई भी भाषा-ग्रन्थ (चाहे वह संस्कृत का हो या किसी और भाषा का) वेदान्त-निरपेक्ष बनाया नहीं जा सकता। वैसा यदि कोई बनाया जाता है तो वस्तुतः वह अपने उद्देश्य का साधन न कर सकेगा। निचोड़ यह है कि तत्त्वसाक्षात्कार तो वेदान्त-वाक्यों से ही होगा। रही अधिकारि-क्षेत्र या पृष्ठभूमि तैयार करने की बात! वह तो किसी प्रकार भी कर सकते हैं।

लिख मारा है; उस अंश में शास्त्र के विरुद्ध है। इसलिए इन श्रोता लोगों के लिखे ग्रन्थों से संदेह–रहित ज्ञान नहीं होता। (२) कई-एक भाषाग्रन्थ ऐसे भी हैं जो कुछ-कुछ शास्त्र पढ़-पढ़ाकर लिखे गये हैं। (जैसे–श्रीमाणकदासकृत 'आत्म-बोध=आत्म विचार')। इनसे भी संदेह-रहित ज्ञान नहीं होता। क्योंकि इनमें वेदांतकी प्रक्रिया संपूर्ण नहीं।

पर विचार-सागर ग्रन्थमें संपूर्ण प्रक्रिया है और वह वेदान्त शास्त्र के अनुसार है; किसी स्थान पर विरोध नहीं आता। जो आत्मज्ञानमें उपयोगी पदार्थ हैं; उनका निरूपण विस्तारपूर्वक किया है। यह ग्रन्थ ऊपर कहे ग्रन्थों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। किन्तु भाषा-ग्रन्थों में यह एक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।

अनुबंध-स्वरूप

नहीं अनुबंध पिछानै जौ लौं, ह्वै न प्रवृत्त सुघर नर तौ लौं।
जानि जिनै यह सुनै प्रबंधा, कहूँ व यातैं ते अनुबधा ॥६॥

किसी पुस्तक का अनुबंध जाने विना सुघर नर (विचारशील मनुष्य) उसके पठन-पाठनमें प्रवृत्त नहीं होते—पर अनुबंध जानने के बाद ही प्रवृत्त होते हैं। इसलिए अब मैं इस ग्रन्थ के अनुबंध कहता हूँ ॥९॥

सोरठा–अधिकारी संबंध, विषय प्रयोजन मेलि चव।
कहत सुकवि अनुबंध, तिनमैं अधिकारी सुनहु ॥१०॥

विद्वानोंका कहना है कि अधिकारी, संबंध विषय और प्रयोजन सब मिलाकर चार अनुबंध होते हैं। इनमें से पहले अधिकारी का स्वरूप सुनो ॥१०॥

अधिकारी–वर्णन

मल विछेप जाके नहीं, किन्तु एक अज्ञान।
ह्वै चव साधन-सहित नर, सो अधिकृत मतिमान ॥११॥

जिसके अन्तःकरण में मल और विक्षेप तो नहीं, पर अकेला अज्ञान है। एवं वह चारों साधन प्राप्त कर चुका है-ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य इस ग्रन्थ के पढ़ने का अधिकारी है ॥११॥

अर्थात् अन्तःकरण में तीन दोष होते हैः—मल, विक्षेप, और आवरण। निष्काम कर्मसे अन्तःकरण का मलदोष, उपासना से विक्षेपदोष और ज्ञान से आवरणदोष दूर होता है।

जो मनुष्य निष्काम कर्म और उपासना से मल और विक्षेप दोष दूर कर चुका, उसके चित्तमें केवल अज्ञान (स्वरूप का आवरण) बाकी है एवं वह साधन-चतुष्टय-संपन्न भी है, ऐसा पुरुष अधिकृत (अधिकारी) है।

साधन-चतुष्टय-निरूपण

प्रथम विवेक बिराग पुनि, शमादि षट् संपत्ति।
कही चतुर्थ मुमुच्छुता, ये चव साधन सत्ति ॥१२॥

विवेक, वैराग्य, शम आदि षट्संपत्ति और मुमुक्षुता-ये चार साधन कहलाते हैं ॥१२॥

विवेक-लक्षण

अविनासी आतम अचल, जग तातैं प्रतिकूल।
ऐसो ज्ञान विवेक है, सब साधन को मूल ॥१३॥

आत्मा अविनाशी (नाशरहित) और अचल (क्रिया रहित) है। जगत् आत्मा से प्रतिकूल (विपरीत स्वभाववाला) अर्थात् विनाशी और चल है; ऐसे ज्ञान का नाम विवेक है एवं यही सब साधनों का मूल है ॥१३॥

अर्थात् पहले विवेक हो* तभी वैराग्य,—आदि आगे के साधन,

*बहुत से विद्वानों में विवेक होने पर भी-वैराग्य आदि उत्तर साधन उत्पन्न नहीं होते। इसका यह कारण है कि निष्काम कर्मादि के अनुष्ठान से शुद्ध अन्तःकरण में उत्पन्न विवेक अपने उत्तर साधन वैराग्य को उत्पन्न करता

सम्पन्न होते हैं और विवेक न हो तो नहीं होते। इसलिए यह वैराग्य शम–आदि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता का मूल (कारण) है। (उत्तर उत्तर साधन के प्रति पूर्व–पूर्व साधन निमित्तकारण है और शुद्ध अन्तःकरण सब का उपादान कारण है)।

वैराग्य–लक्षण

ब्रह्मलोक लौं भोग जो, चहै सबन को त्याग।
वेद अर्थ ज्ञाता मुनी, कहत ताहि वैराग* ॥१४॥

है और वैराग्य अपने उत्तर को (षट् सम्पत्तिको) पैदा करता है। वह विवेक जो कि अशुद्ध अन्तस्तल पर किसी प्रकार पैदा हो गया है, वैसे ही वैराग्य आदि साधन परंपरा को पैदा नहीं नहीं कर सकता; जैसे नीरस भूमि में रोपा हुआ केला अपनी परम्परा पैदा नहीं कर सकता। किन्तु सरस भूमि में उगा केला अपने केला परिवार को खूब पैदा करता है। इसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण में पैदा हो कर विवेक वैराग्य आदि उत्तर की साधन-परंपरा का उत्पादक होता है।

*वैराग्य–वैराग्य के चार भेद कहे गये हैं–(१) यतमान-संज्ञा, (२) व्यतिरेक संज्ञा, (३) एकेन्द्रियसंज्ञा और (४) वशीकारसंज्ञा।

(१) यतमान संज्ञा–वैराग्यकी वह प्राथमिक अवस्था है, जिसमें विषयोंके त्याग की शक्ति तो नहीं आती, हाँ, विषयों के लिए सम्मानेच्छा नहीं रहती।

(२) व्यतिरेक संज्ञा–इस अवस्थामें विषय त्याग-सामर्थ्य आ जाता है। किसी-किसी विषय के (व्यतिरेक) विना भी रहा जाता है। जैसे कुछ लोग नमक मीठे के बिना भी रहते हैं। परन्तु त्यागे विषयों का राग मन से नहीं जाता।

(३) एकेन्द्रिय संज्ञा–विषय का सेवन जब केवल बाह्य इन्द्रिय से होता है; मनमें उसका राग बिलकुल नहीं रहता।

(४) वशीकार संज्ञा–सर्वथा रागकी निवृत्ति का नाम वशीकारसंज्ञा है। इनका संग्रह श्लोक है—

वैराग्यमाद्यं यतमानसंज्ञकं
कचिद्विरागो व्यतिरेकसंज्ञकम्।

ब्रह्मलोक तक के सब भोगों को छोड़ देने की इच्छा का नाम 'वैराग्य' है—ऐसा वेदके अर्थ को जाननेवाले मुनियोंका कहना है।

षट् सम्पत्ति–वर्णन

***शम दम श्रद्धा तीसरी, समाधान उपराम।**
छठी तितिच्छा जानिये, भिन्न भिन्न यह नाम ॥१५॥

१. शम, २. दम, ३. श्रद्धा, ४. समाधान, ५. उपराम और ६. तितिक्षा—ये शम आदि षट् संपत्ति के अलग अलग नाम है।

मन विषयन तैं रोकनों, सम तिहिं कहत सुधीर।
इन्द्रियगन को रोकनों, दम भाखत बुधवीर ॥१६॥

ज्ञानी लोग विषयों से मनके रोकने को 'शम' और इन्द्रिय-समूह के रोकने को 'दम' कहते हैं ॥१६॥

एकेन्द्रिययाख्यं हृदि रागमोक्तः
तस्याप्यभावं तु वशीकृताख्यम् ॥

रागकी निवृत्तिका मुख्य उपाय विषय-दोष-दर्शन है—

तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः।
देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि ॥

विषय-दोष-दर्शन वार्तिककारने अच्छा किया है—

क्षयान्ता निचयाः सर्वे पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥ (सुरेश्वरवा० २-४-८४)

इस विषयमें योगवासिष्ठकारने तो इतना कह दिया है। जिससे अधिक कहा ही नहीं जा सकता।

*शम-दम—जैसे बिना खिड़की बन्द किये दृष्टि को कमरे से बाहर जाने से रोका नहीं जा सकता, वैसे ही दम (इन्द्रियनिग्रह) के बिना शम (मनोनिरोध) नहीं हो सकता इसी प्रकार बिना शम के दम नहीं हो सकता, जैसे लगाम रोके बिना अश्व रुक नहीं सकता अतः शम और दम परस्पर एक दूसरे के कारण माने जाते हैं।

सत्य वेद-गुरु-वाक्य हैं, श्रद्धा अस विश्वास ।
समाधान ताकूं कहत, मन-विछेप को नास ॥१७॥

'गुरु और वेद के वाक्य सत्य ही हैं,—ऐसे विश्वास का नाम श्रद्धा है । मन के विक्षेप [चञ्चलता] के नाश को समाधान कहते हैं ॥१७॥

साधन-सहित कर्म सब त्यागै । लखि विखसम*विषयन तैं भागै ।
दृगनारी लखि ह्वै जिय ग्लाना । यह लच्छन उपराम बखाना ।

स्त्री, धन, जाति, अभिमान आदि सामग्री–सहित सब कर्मों का त्याग करना, शब्द आदि विषयों को विषके समान समझकर उनसे दूर रहना और नारी की तिरछी चितवन देखकर मनमें ग्लानि होनी– ये लक्षण 'उपराम' के होते हैं ॥१८॥

आतप सीत छुधा तृषा, इनको सहन स्वभाव ।
ताहि तितिच्छा कहत हैं, कोविद मुनिवर-राव ॥१९॥

विद्वन्मूर्धन्य संन्यासी पुरुष धूप, ठंड, भूख और प्यास के सहन करने के स्वभाव को 'तितिक्षा' कहते हैं ॥१९॥

समादि षट् संपत्ति को, भाखत साधन एक† ।
इम नव साधन नहिं भनै, किन्तु च्यारि सविवेक ॥२०॥

---

*"विषयनतैं भागै"—इस वाक्य से ही समस्त नारी आदि-विषयों का त्याग बताया जा चुका, फिर "नारी लखि" यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं । तथापि 'नारी'–विषय की उग्रता से श्री निश्चलदासजी खूब परिचित थे । वही परिचय देने के लिए 'नारी' का त्याग फिर कह दिया ।

†शमादि छह साधनों के समूह को एक साधन गिनने में रहस्य यह है कि इन छहों को परस्पर एक दूसरे की एकता ऐसी अपेक्षित है कि किसी एक के बिना दूसरा ठहर ही नहीं सकता ।

विवेकी (सविवेक) पुरुष इस शम दम आदि छह साधनों की संपत्ति (प्राप्ति) को एक ही साधन मानते हैं। अतः सब मिला कर चार ही साधन होते हैं, नौ साधन नहीं ॥२०॥

मुमुक्षुता-लक्षण

ब्रह्मप्राप्ति अरु बंध की, हानि मोच्छ को रूप।
ताकी चाह मुमुच्छुता, भाखत मुनिवर-भूप ॥२१॥

[क] (१) शम के बिना दम नहीं हो सकता, जैसे लगाम खींचे बिना घोड़ा नहीं रुक सकता।

(२) शम के बिना पुरुष बाह्य विषयों से आसक्ति नहीं हटा सकता। जबतक उधर से आसक्ति नहीं हटती, तबतक आन्तर आत्मविषयक शास्त्रों और गुरुओं में श्रद्धा नहीं हो सकती। अतः श्रद्धा के लिए शम अनिवार्य है।

(३) बिना शम के समाधान (चित्त की एकाग्रता) नहीं हो सकता, अतः समाधान को भी शम की अपेक्षा है।

(४) शम की लौह-शृङ्खलामें जबतक मन को न बाँधा जाय, तबतक विषयों पर झपटता ही रहेगा। फिर तो उपरति की संभावना ही कहाँ? अतः उपरति के लिए भी शम एक आवश्यक साधन है।

(५) जबतक मन वशमें नहीं, तबतक द्वन्द्वों का सहन नहीं हो सकता। कछुआ बिना अपने अङ्ग समेटे बाहर के आघातों को सहन नहीं कर सकता। अतः तितिक्षा में शम की आवश्यकता कम नहीं। इस प्रकार जैसे शम अपने पाँचों साथियों का एक अभेद्य अंग है, वैसे ही दमादि भी नितान्त आवश्यक हैं।

[ख] (१) दम के बिना शम सम्भव नहीं—यह कहा ही जा चुका है।

(२) जबतक बाहर आँखें लगी हैं तबतक अन्दर के विषयों में रुचि हो नहीं सकती उन्हें निहारना दूर रहा। गुरु-शास्त्रों पर श्रद्धा तभी हो सकती है, जब अन्यान्य विषयों से इन्द्रियों को रोक लिया गया हो। अतः श्रद्धा के लिए दम कम उपयोगी नहीं।

(३) इन्द्रियों का संघर्ष बाहर जबतक चालू है, तबतक मन को शान्ति कहाँ? अशान्त मन में समाधान फटक नहीं सकता। फिर तो समाधान अपने

ब्रह्मकी प्राप्ति और बंध (अनर्थ) की निवृत्ति ही मोक्ष का स्वरूप है। मोक्षविषयक इच्छा का नाम मुमुक्षुता है। मुमुक्षुता और मुमुक्षुत्व दोनों पर्याय (एकार्थक) हैं ॥२१॥

अंतरंग और बहिरंग साधन

ये चव साधन ज्ञानके, श्रवनादिक त्रय मेलि।
तत्पद त्वम्पद अर्थ को, *सोधन अष्टम मेलि ॥२२॥

पैर रखने और जमाने के लिए दमका आह्वान किये बिना नहीं रह सकता।

(४) उपरति भी अशान्त-अदान्त में नहीं पनप सकती; क्योंकि जिन अनुकूल विषयोंमें इन्द्रियगण दिन-रात कल्लोल कर रहे हैं, उनकी अनिच्छा कब हो सकती है ?

(५) वशीभूत इन्द्रियां ही तितिक्षा में सहायक हो सकती हैं। स्वच्छन्द इन्द्रियां क्यों किसी प्रकारका कष्ट सहन करेंगी ? तुरन्त तितिक्षा के विरुद्ध भयंकर आन्दोलन खड़ा कर देंगी। अतः तितिक्षा के लिए इन्द्रियों का वशमें होना अनिवार्य है। अतः सिद्ध हुआ कि दम की आवश्यकता शेष पाँचों रखते हैं।

[ग] इसी प्रकार श्रद्धा की सहायता नितान्त आवश्यक है, बिना श्रद्धा के वेदान्त-श्रवणमें प्रवृत्ति होगी नहीं। जब श्रवण में प्रवृत्ति ही नहीं होगी तब तो शम आदि रहकर भी क्या करेंगे ? विधवा-श्रृङ्गार की भाँति निरर्थक ही होंगे। गुरु-शास्त्रों पर जब श्रद्धा ही नहीं, तो उनके कहे शमादि का बखेड़ा ही क्यों हम मोल लेंगे ? अतः श्रद्धा परम आवश्यक है।

[घ] चित्तमें जबतक एकाग्रता (समाधान) और उपरति नहीं आती तबतक शमादि पैदा ही नहीं हो सकते। अतः समाधान और उपरति की सहकारिता अकाट्य है।

[ङ] तितिक्षा के बिना मन और इन्द्रियोंका निरोध, सच्छास्त्रों पर श्रद्धा, चित्त की एकाग्रता और उपरति कभी हो ही नहीं सकते। अतः सभी शमादि तितिक्षा की सहायता माँगते हैं। फलतः शमादि साधनों की नियत सहकारिता है। इसलिए छहों को मिलाकर एक साधन माना जाता है।

*तत्त्वम्पदार्थ-शोधन—'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के 'तत्' और

*अंतरंग ये आठ हैं, यज्ञादिक बहिरंग।
अंतरंग धारै, तजै बहिरंगन को संग ॥२३॥

पूर्वोक्त जो विवेक आदि चार ज्ञान के साधन कहे हैं, उनमें श्रवण, मनन और निदिध्यासन—ये तीन तथा तत् पद और त्वं पद के अर्थ का शोधनरूप आठवां साधन मिलाकर ये आठ अंतरंग साधन कहे जाते हैं और यज्ञ-आदि बहिरंग। मुमुक्षु को चाहिए कि बहिरंग साधनों को छोड़कर अंतरंग साधनों को अपनावे ॥२२, २३॥

जिनका श्रवण में या ज्ञान में प्रत्यक्षफल होता है; वे अंतरंग साधन हैं। क्योंकि विवेक आदि के बिना बहिर्मुख व्यक्ति श्रवण नहीं कर सकता, इसलिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन का ज्ञान में सीधा उपयोग है। जैसे श्रवण आदि के बिना ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही तत्पद का अर्थ जाने बिना अभेदज्ञान नहीं होता।

विवेक आदि चार साधनों का श्रवण में और श्रवण आदि चार साधनों का ज्ञान में सीधा उपयोग होने से ये आठ अंतरंग साधन कहे जाते हैं।

'त्वम्'—इन दोनों पदों के वाच्यार्थों का निरूपण करते हुए लक्ष्यार्थ (एक अखंड अद्वितीय तत्त्व) में अभिप्राय का अवधारण करना ही पदार्थ—शोधन है। जैसे हंस अपनी विचित्र चोंच के द्वारा नीर से क्षीर का शोधन करता है, वैसे ही साधक भागत्याग-लक्षणा के द्वारा सर्वज्ञत्व, अल्पज्ञत्वादि उपाधियों से अखण्ड चेतनतत्त्व को शुद्ध करता है। अथवा जैसे सुनार सोना शुद्ध करता है अग्नि के द्वारा, वैसे ही साधक 'तत्' 'त्वम्' पदोंके वाच्यार्थों का मल (उपाधि) भाग-त्यागलक्षणा के द्वारा हटाकर शुद्ध अखण्डार्थका लाभ किया करता हैं।

अन्तरंग—बहिरंग—जैसे कुए में गिरा हुआ मनुष्य पहले वृक्ष की जड़ का सहारा ले, पश्चात् किसी दयालु महापुरुष द्वारा लटकाई गई रस्सी का सहारा पाकर बाहर निकलता है। यहाँ उसके लिए जड़ बहिरङ्ग और रस्सी अन्तरङ्ग कही जा सकती है। ठीक इसी प्रकार संसार—कूप में यह जीव गिरा

जिनका ज्ञानमें या श्रवण में प्रत्यक्षफल (सीधा उपयोग) तो नहीं, किन्तु अंतःकरण की शुद्धि फल है ; वे ज्ञान के बहिरंग साधन होते हैं; जैसे यज्ञ आदि कर्म।

यद्यपि यज्ञ आदि कर्म संसार के ही साधन हैं, उनसे अन्तःकरण की शुद्धि भी नहीं हो सकती। फिर भी सकाम पुरुष के लिए संसार के कारण हैं और *निष्काम पुरुष के लिए अन्तःकरण की शुद्धि-द्वारा ज्ञान के कारण हैं। इसलिए ये बहिरंग साधन हैं और विवेक आदि अंतरंग साधन हैं। बहिरंग का अर्थ है दूर और अंतरंग का अर्थ है समीप। जो यज्ञ आदि कर्म और उनके साधन स्त्री-पुत्र-धन आदि को त्याग देता है; वही ज्ञानका अधिकारी है। ज्ञान के अधिकारी के लिए यज्ञ आदि संभव नहीं; इसलिए दूर हैं।

विवेक आदि अंतरंग साधन

विवेक आदि साधन ज्ञानके अधिकारी के लिए संभव हैं, अत एव समीप हैं। उनमें भी इतना भेद है कि विवेक आदि साधनों का श्रवण में उपयोग होता है और श्रवण आदि साधनों का

हुआ है। इसका प्राथमिक अवलम्बन है यज्ञ, उपासनादि; और दूसरा अवलम्बन है विवेकादि साधन। यहाँ प्रथम अवलम्बन बहिरंग और द्वितीय अन्तरंग है। अन्तरंग के मिल जाने पर ही बहिरंगका त्याग उचित है, अन्यथा रस्सी का सहारा मिलने से पहले ही यदि वृक्ष की जड़ छोड़ दी तो दुर्दशा ही होगी। विवेकादि की प्राप्ति के पूर्व ही यदि कर्मानुष्ठान छोड़ दिया तो उभय-भ्रष्ट होना होगा। अतः विवेकादि साधनोंको अपना कर ही यज्ञादि छोड़ने होंगे; पहले नहीं।

*एक ही औषध से कई रोग दूर हो जाते हैं। किन्तु प्रत्येक रोगमें अनुपान भिन्न-भिन्न रहता है। एक रोग का अनुपान दूसरे में काम न देगा। इसी प्रकार कर्मानुष्ठान से ही स्वर्गादि और अन्तःकरण की शुद्धि-ये दोनों फल मिला करते हैं। स्वर्गादि-प्रापक कर्मों के अनुष्ठान के साथ-साथ कामना चाहिए और अन्तःकरण-शुद्धि के लिए निष्कामता।

ज्ञान में। इसलिए विवेक आदि साधनों की अपेक्षा श्रवण आदि साधन अंतरंग हैं। इनकी अपेक्षा विवेक आदि बहिरंग हैं। यद्यपि सब ग्रन्थोंमें विवेक आदि साधनों को भी ज्ञान का अंतरंग साधन ही कहा गया है, बहिरंग नहीं। तो भी विवेक आदि का ज्ञान के साधन श्रवणमें प्रत्यक्ष फल है और श्रवण आदि की भाँति विवेक आदि भी जिज्ञासु के लिए उपादेय हैं, यज्ञ आदि की भाँति हेय नहीं। इसलिए अंतरंग कह दिये गये हैं। अथवा यज्ञ आदि की अपेक्षा ये अंतरंग हैं, इसलिए अंतरंग साधनों में इनकी गणना है।

ज्ञान के मुख्य अंतरंग साधन

विचार-पूर्वक देखा जाय तो ज्ञानके मुख्य अंतरंग साधन 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य ही हैं, श्रवण आदि भी नहीं। क्योंकि— ‌‌‌‌‌*युक्ति से वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य-निश्चय करना ही

---

*—युक्ति—यहाँ 'युक्ति' शब्द का अर्थ है षड्विध लिंग। जिसप्रकार छिपी हुई अग्निका निर्णायक धूम लिंग कहा जाता है, क्योंकि वह लीन (छिपी हुई अग्नि) अर्थ का गमक (निर्णायक) होता है (लीनम् अर्थं गमयतीति लिङ्गम्)। इसी प्रकार किसी ग्रन्थ के छिपे तात्पर्य की निर्णायक छह युक्तियोंको लिंग कहते हैं।

षड्विध लिंग—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये।

(१) उपक्रम—उपसंहार—किसी ग्रन्थ या प्रकरण के उपक्रम (आरम्भ) और उपसंहार (समाप्ति) इन दोनों की जिस एक अर्थ में एक—वाक्यता होगी, वही वहाँ अभिप्रेत अर्थ होगा। जैसे छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय का तात्पर्य एक अद्वितीय आत्मतत्त्व में है; क्योंकि आरम्भ में कहा—'सौम्य! पहले एक अद्वितीय तत्त्व था, और अंतमें भी कहा—'यह सब कुछ आत्मरूप है'।

(२) अभ्यास—ग्रन्थ या प्रकरण के मध्य में जिस अर्थ का अभ्यास (बारबार कथन) पाया जाय, उसमें उसका तात्पर्य होता है। जैसे उक्त स्थल पर

श्रवण है। जीव और ब्रह्म के *अभेद–साधक एवं †भेद–बाधक

नौ बार कहा—'तत्त्वमसि' (वह तू है)। अतः समूचे अध्याय का तात्पर्य अभिन्न एक तत्त्व में ही है।

(३) अपूर्वता—किसी प्रकरण में कहा जो अर्थ दूसरे प्रमाणों से जाना जाय उसे अपूर्व (अनूठा) पदार्थ कहते है। उसमें अपूर्णता मानी जाती है। जैसे छान्दोग्य के छठे अध्याय में कहा—'औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (मैं उस पुरुष के विषयमें पूछता हूँ जो और प्रमाणों का विषय नहीं, केवल उपनिषद् वाक्यों से ही जाना जाता है)। यहाँ एक अद्वितीय तत्त्व में यही अपूर्वता है कि वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं, अपि तु केवल उपनिषद् से जाना जाता है। अतः इसी अर्थ में अध्याय का तात्पर्य है।

(४) फल—जहाँ जिसके ज्ञान का कुछ फल बताया जाय, वहाँ उस अर्थ में तात्पर्य होता है। जैसे उक्त स्थान पर एक अद्वितीय तत्त्व के ज्ञान का फल बताया—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" (उस ज्ञानी की विदेहमुक्ति में उतना ही विलम्ब है जब तक शरीर नहीं छूटता। शरीर-पात होते ही वह विदेहमुक्त हो जाता है)। अतः अद्वितीय ब्रह्म में उसका तात्पर्य है।

(५) अर्थवाद्—जहाँ जिसका अर्थवाद (स्तुति या निन्दा) किया जाय वहाँ उसमें तात्पर्य माना जाता है। जैसे उक्त अध्याय में "येनाश्रुतं श्रुतं भवति" (जिस तत्त्व के जानने से अश्रुत भी श्रुत हो जाता है) आदि–आदि प्रशंसा उस एक अद्वितीय तत्त्व की की गई। अतः उसी में तात्पर्य है।

(६) उपपत्ति—जहाँ पर इस अर्थ के उपपादन में उपपत्ति (कोई युक्ति, जैसे दृष्टान्त या अनुमान आदि) दी जाय, वहां पर वही अर्थ अभिप्रेत होता है जैसे उसी स्थान पर सभी वस्तुओं का ब्रह्म से अभेद बताने के लिए मृत्तिका स्वर्णादि के दृष्टान्त दिये गये हैं; अतः उस अध्याय का हृदय एक अद्वितीय वस्तु के प्रतिपादन में ही है।

*अभेद साधक युक्तियां—तीन हैं (१) अनुमान, (२) उपमान और (३) अर्थापत्ति।

(१) अनुमान—'जीवो ब्रह्माभिन्नः सच्चिदानन्दरूपत्वाद् ईश्वरवद्

युक्तियोंसे अद्वितीय ब्रह्म का चिन्तन ही मनन है। अनात्माकार वृत्तिके व्यवधानसे रहित ब्रह्माकार वृत्तिकी स्थिति ही ॐनिदिध्यासन है। निदिध्यासन की परिपक्व-अवस्था ही समाधि

(जीव ब्रह्म से अभिन्न हैं, सच्चिदानन्द रूप होने के कारण। जैसे कि ईश्वर) यहाँ जीव पक्ष है, ब्रह्माभेद साध्य है, सच्चिदानन्दरूपता हेतु है और ईश्वर दृष्टान्त है।

(२) उपमान—जैसे घट, मठ आदि उपाधियों को छोड़ देने से घटाकाश और मठाकाशमें भेद नहीं रह जाता। वैसे ही बुद्धि और माया—इन दोनों उपाधियों को पृथक् कर देने से जीव और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं रह जाता, दोनों अभिन्न हो जाते हैं।

(३) अर्थापत्ति—"नेह नानास्ति किंचन" इत्यादि श्रुतियों ने भेद का निषेध किया। भेद-निषेध तभी बन सकेगा जब वास्तव में अभेद होगा। अतः दोनों का निश्चित अभेद है।

†भेद-बाधक युक्तियां—

(१) अनुमान—जीव ब्रह्म का भेद मिथ्या है, क्योंकि औपाधिक है, जैसे घटाकाश और मठाकाश का भेद। यहां भेद पक्ष, मिथ्यापना साध्य, औपाधिकत्व हेतु और घटाकाश-मठाकाश दृष्टान्त है।

(२) उपमान—जैसे बिम्ब-प्रतिबिम्ब का भेद, घटाकाशों का परस्पर भेद, स्वप्न के पदार्थों का भेद मिथ्या है। वैसे ही जीव-जड़ का भेद मिथ्या है। जैसे साक्षी और स्वप्नप्रपञ्च का भेद मिथ्या है। वैसे ही ईश्वर और जड़ का भेद मिथ्या है। जैसे रज्जु में कल्पित सर्प और दण्ड का भेद मिथ्या है। वैसे ही जड़ पदार्थों का परस्पर भेद मिथ्या है।

(३) अर्थापत्ति—महावाक्योंमें कहा हुवा जीवब्रह्म का अभेद, प्रतीयमान भेद के मिथ्यात्व के बिना नहीं बन सकता। अतः जीवब्रह्म का भेद मिथ्या है।

(४) अनुपलब्धि—उपाधियों के रहने पर जाग्रत् और स्वप्न में जीवब्रह्म का भेद प्रतीत होता है, उपाधियों के न होने पर सुषुप्ति में प्रतीत नहीं होता। अतः जीवब्रह्म का पारमार्थिक भेद नहीं।

ॐनिदिध्यासन में आत्माकारवृत्ति प्रयत्न-साध्य रहती है, जैसे हाथ से

है। इसलिए *समाधि का निदिध्यासन में अन्तर्भाव है वह अलग साधन नहीं।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन ये ज्ञान के साक्षात् साधन नहीं। किन्तु असंभावना और विपरीतभावना नामक जो बुद्धि के दोष हैं, उनके नाशक हैं। संशय का नाम असंभावना है और विपर्यय (उल्टा ज्ञान, जैसे शुद्ध आत्मा को कर्ता-भोक्ता समझना) का नाम विपरीतभावना।

श्रवण आदि, परंपरा से ज्ञान के साधन

श्रवण से प्रमाण का संदेह दूर होता है और मनन से प्रमेय

झुकाया धनुष। किन्तु जब साक्षात्कार होता है तब यही वृत्ति वैसे ही स्वाभाविक हो जाती है, जैसे स्वतः झुका हुआ धनुष। साक्षात्कारवान् की आत्माकारवृत्ति कदाचित् प्रारब्ध-वश न रहे, फिर भी उसे पश्चाताप नहीं रहता, किन्तु निदिध्यासन में प्रारब्ध के कारण यदि वह वृत्ति भंग हो गई तो पश्चाताप होता है—यही है निदिध्यासन और साक्षात्कार का भेद।

*समाधि की दो अवस्थाएँ होती हैं-(१) अपरिपक्व और (२) परिपक्व। अपरिपक्व अवस्था को सविकल्प समाधि या निदिध्यासन कहते हैं और परिपक्व अवस्थाको निर्विकल्प समाधि। यह समाधि किसी भी बाह्य या आन्तरिक विषय पर प्राप्त की जा सकती है। सविधि महावाक्यों के श्रवण-मनन-पूर्वक ब्रह्मात्मा की एकता पर जो समाधि प्राप्त की जाती है, उसमें अभेद का साक्षात्कार जिस क्षण में उत्पन्न होता है, उसके द्वितीय क्षण में स्थिर रह कर तृतीय क्षण में आवरण भङ्ग करता है, उसी क्षण में साधक जीवन्मुक्त हो जाया करता है।

जीवन्मुक्त अपनी जीवन्मुक्ति का उत्तरोत्तर विलक्षण आनन्द प्राप्त करने के लिए वासना–क्षय तथा मनोनाश की ओर यदि झुके तो उसकी भूमिका उत्तरोत्तर चढ़ती हुई पाई जायगी ; किन्तु वह किसी प्रकार की ऋद्धि–सिद्धि प्राप्त करने के लिए वृत्ति–निरोध नहीं करता और न आवरण भंग करनेके लिए ही। क्योंकि एक बार जब आवरण भंग हो गया फिर वृत्तिनिरोध की आवश्यकता नहीं।

का। *वेदान्तवाक्य अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादक हैं या किसी अन्य अर्थके ? यह †प्रमाणगत संदेह है, जो श्रवण से दूर होता है। जीव-ब्रह्म का अभेद सत्य है या भेद ? यह प्रमेयगत संदेह है, जो मनन से दूर होता है। देह आदि सत्य हैं और जीव-ब्रह्म का भेद सत्य है-ऐसा ज्ञान विपरीत भावना है। इसीका दूसरा नाम 'विपर्यय' है। इसे निदिध्यासन दूर करता है।

इस प्रकार श्रवण आदि तीनों, असंभावना और विपरीतभावना के नाशक है। असंभावना और विपरीतभावना ज्ञान के प्रतिबंधक हैं ; इसलिए ज्ञान का जो प्रतिबंधक, उसके नाश के द्वारा श्रवण आदि ज्ञान के कारण कहे हैं, साक्षात् कारण नहीं।

अवांतरवाक्य परोक्ष ज्ञान का और महावाक्य अपरोक्ष ज्ञान का कारण

ज्ञानके साक्षात् साधन श्रोत्रसंबंधी वेदांत-वाक्य हैं। वे दो प्रकार के हैं:—एक अवान्तर-वाक्य और दूसरे महावाक्य। (क) परमात्मा के अथवा जीव के स्वरूप का बोधक वाक्य अवान्तर वाक्य कहा जाता है। (ख) जीव और परमात्मा की एकता के बोधक वाक्य को महावाक्य कहते हैं।

अवान्तर वाक्य से परोक्ष ज्ञान होता है और महावाक्य से अपरोक्ष ज्ञान। 'ब्रह्म है' यह ज्ञान परोक्षज्ञान है और 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अपरोक्षज्ञान है।

---

*वेदान्तवाक्य—वेदका अन्त (अन्तिम भाग) 'उपनिषद्' और वेद का अन्त (निर्णय) जिसमें है, ऐसे ब्रह्मसूत्र एवं गीता—इन्हें ही वेदान्तग्रन्थ कहा करते हैं।

†प्रमाण—प्रमा का कारण। प्रकृत में मोक्षादि प्रमेय का प्रमाज्ञान वेदान्त-वाक्यों से होता है, अतः वेदान्तवाक्य प्रमाण हैं। प्रमाज्ञान का जो विषय हो उसे प्रमेय कहते हैं, जैसे यहां मोक्षादि।

जब आचार्य 'तू ब्रह्म है' यह वाक्य बोलता है तो उस का श्रोता के कान से संबंध होते ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अपरोक्ष ज्ञान श्रोता को हो जाता है। श्रोता के कान से वाक्य का संबंध हुए बिना ज्ञान नहीं होता, इसलिए श्रोत्र-संबंधी वाक्य ही ज्ञान का कारण है।

श्रोत्र-संबंधी अवान्तरवाक्य परोक्षज्ञान का और श्रोत्र-संबंधी महावाक्य अपरोक्षज्ञान का कारण है। महावाक्य से सब को अपरोक्ष ही ज्ञान होता है, परोक्ष नहीं।

वेदांत के एकदेशी का मत और उसका खंडन

*एकदेशी का मतः—श्रवण–मनन–निदिध्यासन–सहित वाक्य से अपरोक्षज्ञान होता है और केवल वाक्य से परोक्ष ज्ञान होता है, अपरोक्ष ज्ञान नहीं। यदि केवल वाक्य से अपरोक्षज्ञान मान लिया जाय तो श्रवण, मनन और निदिध्यासन निरर्थक हो जायँगे।

सिद्धांती—केवल वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होता है और श्रवण आदि से असंभावना तथा विपरीत भावना का नाश होता है। इसलिए श्रवण आदि व्यर्थ (निरर्थक) नहीं।

एकदेशी—जिस वस्तु का अपरोक्ष ज्ञान होता है; उसमें असंभावना और विपरीतभावना किसी को होती ही नहीं। इसलिए 'तत्त्वमसि' (वह तू है) आदि वाक्यों से ब्रह्म का ज्ञान होने के बाद असंभावना और विपरीतभावना हो ही नहीं सकती। इसलिए आपके मत में श्रवण आदि साधन निरर्थक ही सिद्ध होंगे।

सिद्धांती—तो आप क्या कहना चाहते हैं ?

एकदेशी—कह तो रहा हूँ कि "केवल (अकेले) वाक्य से परोक्ष ज्ञान होता है तथा श्रवण मनन और निदिध्यासन करने से अपरोक्ष ज्ञान होता है"। इसलिए हमारे मत में श्रवण आदि निरर्थक नहीं।

सिद्धांती—जैसा आप कह रहे हैं, ऐसा बहुत से ग्रन्थकारों का मत है। पर यह मत समीचीन (युक्ति-युक्त) नहीं।

---

*पञ्चदशीकार विद्यारण्यस्वामी।

एकदेशी—कारण ?

सिद्धान्ती—कारण यही कि शब्द का यह स्वभाव है कि जो वस्तु व्यवहित होती है, उसका शब्द से परोक्ष ही ज्ञान होता है। व्यवहित वस्तु का किसी प्रकार शब्द से अपरोक्ष ज्ञान हो ही नहीं सकता। जैसे व्यवहित स्वर्ग का और व्यवहित इन्द्रादि देवों का शास्त्ररूपी शब्द से परोक्ष ही ज्ञान होता है। वस्तु अव्यवहित (देशकाल-वस्तु-कृत-व्यवधान-रहित) होती है, शब्द से उसके दोनों ही ज्ञान होते हैं—परोक्ष और अपरोक्ष।

एकदेशी—प्रत्यक्ष वस्तु का अपरोक्ष ज्ञान तो होता ही है। पर परोक्ष ज्ञान भी होता है—यह कैसे ?

सिद्धांती—देखिए ! जब अव्यवहित वस्तु को शब्द 'अस्ति' (है) रूप से बोधित करता है तब अव्यवहित वस्तु का भी परोक्ष ही ज्ञान होता है। जैसे 'दसवाँ पुरुष है' इस प्रकार 'अस्ति' (है) रूप से बोधित हुआ जो अव्यवहित दसवाँ—इसका शब्द से परोक्ष ही ज्ञान हुआ है।

जब शब्द अव्यवहित वस्तु को 'है' न कहकर 'यह है' रूपसे बोधित करता है, तब उस अव्यवहित वस्तु का शब्द से अपरोक्ष ही ज्ञान होता है। जैसे *'दसवाँ तू है' इस शब्द से बोधित हुआ जो

*'दसवां तूँ है'—गाँव के रहनेवाले सीधे-साधे दस व्यक्ति कहीं जा रहे थे, मार्ग में नदी पड़ी, वे पार हुए। एक बूढ़ेने कहा—देखो कोई डूबा तो नहीं। उनमें से एक कुछ-कुछ गिनना जानता था। वह दूसरों को ही गिनता है, अपने को नहीं। गिनकर कहता है—भाइयो ! दसवाँ दिखता नहीं, डूब गया। सब रोने लगे। इतने में कोई जानकार व्यक्ति आया, रोने का कारण पूछा, उन्होंने बताया। उसने सुना और समझ लिया कि इनकी समझ का फेर है। बोला—'दसवाँ है'। यह सुनकर उन्हें ढाँढस बँधा। परोक्ष ज्ञान हुआ। समझे—डूबा नहीं, कहीं होगा। सभी ने पूछा—कहाँ है ? जानकार व्यक्ति ने कहा—गिनो ! गिननेवाला जब नव गिनकर रुक गया, तब उसने कहा—देखो ! नव तो हुए ये लोग, दसवाँ तू है। अपनेका भूल रहे हो।

दसवाँ, उसका अपरोक्ष ही ज्ञान हुआ है।

वैसे ही 'ब्रह्म' सब का आत्मा है। इसलिए अत्यन्त अव्यवहित है। जब उसे अवान्तरवाक्य 'ब्रह्म अस्ति' (ब्रह्म है) इस रूपसे बोधित करता है, तब अत्यंत अव्यवहित ब्रह्म का भी अवान्तर वाक्य से परोक्ष ही ज्ञान होता है।

'दसवां तू है' इस वाक्य के समान महावाक्य भी श्रोता को को आत्मरूपसे ब्रह्म का बोधन करता है; अर्थात्–'तत् त्वम् असि' (ब्रह्म तू ही है')। इसलिए महावाक्य से अत्यन्त अव्यवहित ब्रह्म का परोक्षज्ञान हो ही नहीं सकता। किन्तु अपरोक्ष ही ज्ञान होता है।

एकदेशी—यह तो ठीक, पर "जिस वस्तु का अपरोक्षज्ञान होता है, उसमें असंभावना और विपरीतभावना होती ही नहीं" इसलिए आपके मत में श्रवण आदि निरर्थक ही हैं— यह प्रश्न तो ज्यों–का–त्यों ही रहा।

सिद्धांती—यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि जैसे राजा को

उसकी आँख खुल गई, दसवां सबसे अधिक भासने लगा। यहां दशम पुरुष का न जानना अज्ञानावस्था है। दशम का न होना, और दशमका न भासना क्रमशः असत्वापादक और अभानापादक आवरण कहलाते हैं। रोना पीटना विक्षेप कहलाता है। जानकार व्यक्ति का 'दशम पुरुष है' ऐसा कहने से परोक्ष-ज्ञान और तू ही दशम है–ऐसा कहने से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है।

दार्ष्टान्त में यह जीव संसार की मरुमरीचिका में उलझकर अपने से भिन्न स्थूल शरीर एवम् अष्टपुरी (ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्चकर्मेन्द्रियाणि च। मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तञ्चेतिचतुष्टयम् ॥ प्राणोपानस्तथा व्यानः उदानाख्यस्तथैवच। समानश्चेति पञ्चैताः कीर्तिताः प्राणवृत्तयः ॥ खं वाय्वग्न्यब्धरित्र्यश्च भूत-सूक्ष्माणि पञ्च च। अविद्याकामकर्माणि लिङ्गं पुर्यष्टकं विदुः ॥) इन नव की गणना करके अपना अस्तित्व न जानकर जन्म-मरण-प्रवाह के विक्षेप में फंसा है। परम कारुणिक आचार्यकी शरण पाकर परोक्षज्ञान और अपरोक्ष ज्ञानके क्रमसे मोक्षतक पहुँचता है।

*भर्छु का नेत्र से अपरोक्षज्ञान तो हो गया। पर विपरीत भावना दूर नहीं हुई। वैसे महावाक्य से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान तो होता है; पर जिसकी बुद्धि में असंभावना और विपरीतभावना होती है, उसके लिए सदोष (कलङ्क-सहित) ज्ञान, फल का (परम आनंद का) कारण नहीं। वह दोष दूर करने के लिए श्रवण आदि करने चाहिए। हां! जिसकी बुद्धि में दोष नहीं, उसे श्रवण आदि करने की कुछ आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार ज्ञान के साधन महावाक्य हैं; श्रवण आदि नहीं। परन्तु ज्ञान के जो प्रतिबंधक दोष हैं; उनके ये नाशक हैं। इसीलिए श्रवण आदि ज्ञान के कारण कहे हैं। श्रवण आदि के कारण विवेक आदि हैं। विवेक आदि चार साधनों से युक्त जो पुरुष है वही इसका †अधिकारी है॥ २३॥

संबंध–वर्णन

प्रतिपादक-प्रतिपाद्यता, ग्रन्थ-ब्रह्म-संबंध।
प्राप्य-प्रापकता कहत, फल अधिकृत को फंद॥२४॥

ग्रन्थ और ब्रह्मका प्रतिपादक-प्रतिपाद्यतारूप संबंध है एवं फल (मोक्ष) और अधिकृत (अधिकारी) का प्राप्य-प्रापकता-रूप फंद (संबंध है)॥ २४॥

---

*भर्छु नामके मंत्री की कथा सर्वज्ञात्ममुनिने संक्षेपशारीरक में लिखी है, वही इस ग्रन्थ के पंचम तरंग में भी आवेगी।

† अधिकारी—कृतोपास्ति और अकृतोपास्ति भेद से अधिकारी दो प्रकार के होते हैं। ज्ञानलाभ के पूर्व जिसने सगुण ब्रह्म के साक्षात्कार पर्यन्त उपास्ति (उपासना) कर ली है, उसे कृतोपास्ति कहते हैं। ज्ञान होने के अनन्तर इस के लिए श्रवणादि का प्रयोजन नहीं रहता। ज्ञानलाभ के पूर्व जिसने उपासना पूर्ण नहीं की, उसे अकृतोपास्ति कहते हैं। इसके लिए ज्ञान के उत्तर में भी श्रवणादि का उपयोग है।

(क) अर्थात् विषय और ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव संबंध है। ग्रन्थ प्रतिपादक है और विषय प्रतिपाद्य। जो प्रतिपादन करता है उसे प्रतिपादक कहते हैं। जो प्रतिपादन करने के योग्य हो; उसे प्रतिपाद्य कहते हैं।

(ख) फल और अधिकारी का प्राप्य-प्रापकभाव संबन्ध है। फल प्राप्य है और अधिकारी प्रापक। जो वस्तु प्राप्त की जाती है; वह प्राप्य कहलाती है और जिसे वह प्राप्य होती है वह प्रापक कहा जाता है।

(ग) अधिकारी और विचार का कर्तृ-कर्तव्यभाव सम्बन्ध है। अधिकारी कर्ता है और विचार कर्तव्य है। करनेवाले को कर्ता कहते हैं और करने योग्य को कर्तव्य।

(घ) ज्ञान और ग्रन्थ का जन्य-जनकभाव सम्बन्ध है। विचार द्वारा ग्रन्थ ज्ञान का जनक है और ज्ञान जन्य है। पैदा करने वाले को जनक कहते हैं और पैदा होनेवाले को जन्य। इसी प्रकार दूसरे सम्बन्ध भी समझ लेने चाहिए।

विषय–वर्णन

जीव ब्रह्म की एकता, कहत विषय जन बुद्धि।
तिनको जे अंतर लहै, ते मतिमंद अबुद्धि ॥ २५ ॥

बुद्धिमानों का कहना है कि जीव और ब्रह्म की एकता इस ग्रन्थ का विषय है। जो जीव और ब्रह्म में भेद कहते हैं, वे लोग बुद्धि से काम नहीं लेते ॥ २५ ॥

अर्थात्–जीव और ब्रह्म की एकता इस ग्रन्थ का विषय है। जिसका प्रतिपादन किया जाय; वह विषय होता है। इस ग्रन्थमें जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए वह एकता ग्रन्थ का विषय है। सब वेदवचन इसी एकता का प्रतिपादन करते हैं। जो लोग जीव और ब्रह्म का भेद सिद्ध करते हैं; वे हठधर्मी एवं वेद-विरोधी हैं।

प्रयोजन–वर्णन

परमानंद स्वरूप की, प्राप्ति प्रयोजन जानि ।
जगत समूल अनर्थ पुनि, ह्वै ताकी अति हानि ॥२६॥

परम आनंदरूप ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति और कारण-सहित अनर्थरूप जगत् की निवृत्ति इस ग्रंथ का प्रयोजन है ॥२६॥

प्रपञ्च और उसका कारण अज्ञान जन्म मरणरूपी दुःख का हेतु होने से अनर्थ कहलाता है, इस अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष इस ग्रन्थ का परम प्रयोजन है, और ज्ञान अवान्तर प्रयोजन। जिस विषय की पुरुष को अभिलाषा होती है, उसे परम प्रयोजन कहते हैं, और पुरुषार्थ भी। पुरुषों की अभिलाषा दुःख की निवृत्तिं और सुख की प्राप्ति में स्वाभाविक होती है, अतः मोक्ष का वही स्वरूप है। परम प्रयोजन मोक्ष ही है, ज्ञान नहीं; क्यों कि ज्ञान, सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति का साधन मात्र हैं सुख या दुःख निवृत्ति स्वरूप नहीं। अतः वह अवान्तर प्रयोजन ही है।

जिस वस्तु से परम प्रयोजन की प्राप्ति होती है; वह अवान्तर प्रयोजन होता है। ग्रन्थद्वारा ज्ञान से मुक्तिरूप परम प्रयोजन की प्राप्ति होती है। अतः ज्ञान अवांतर प्रयोजन है।

प्रयोजन के विषयमें शंका–समाधान

कवित्तः–जीव को स्वरूप अति आनंद कहत वेद,
ताकूँ सुख प्राप्ति को असंभव बखानिये।
आगे जो अप्राप्त वस्तु ताकी प्राप्ति संभवत,
नित्य प्राप्त वस्तु की तो प्राप्ति किम मानिये ?
ऐसी संका लेस आनि कीजै न विस्वास हानि,
गुरु के प्रसाद तैं कुतर्क भले भानिये।

कर को कंकन खोयो ऐसो भ्रम भयो जिहिं,

ज्ञान तें मिलत इम प्राप्त-प्राप्ति जानिये ॥ २७ ॥

वेदोंने जीवका स्वरूप ※अति आनन्द बताया है। आनन्द-स्वरूप जीव को सुख की प्राप्ति असंभव ही ठहरती है। प्राप्ति तो उसी वस्तु की होती है जो पहले प्राप्त नहीं होती। नित्य-प्राप्त वस्तु की प्राप्ति कैसे मानी जा सकती है ? कहीं ऐसी शङ्का मनमें लाकर बेद और गुरु के वाक्यों परसे विश्वास न उठा वैठना ! अपि तु गुरुकृपा से ऐसी कुतर्कों की धज्जियां उड़ा देना। जैसे किसी को भ्रम हो गया कि 'मेरे हाथका कङ्कण खोया गया', पर दूसरा कोई उसके हाथ का कङ्कण दिखा देता है और कङ्कण के ज्ञान से उसका भ्रम दूर हो जाता है। वैसे ही यहां भी प्राप्त की प्राप्ति समझनी चाहिए ॥ २७ ॥

शङ्का—पहले कह चुके हैं कि "अनर्थ की निवृत्ति और परम-आनदकी प्राप्ति ग्रन्थका प्रयोजन है"। पर यह बन नहीं सकता। क्योंकि सब वेद जीव को परम-आनन्द-स्वरूप वर्णित करते हैं। आप भी स्वीकार करते ही हैं कि जो वस्तु अप्राप्त होती है उसीकी प्राप्ति हो सकती है और सदा-प्राप्त वस्तुकी प्राप्ति सर्वथा (किसी प्रकार) हो ही नहीं सकती। इसलिए 'सदा परम-आनन्द-स्वरूप आत्मा को परम-आनन्द की प्राप्ति, कहना सब प्रकारसे असंगत है।

समाधानः—प्राप्तकी भी प्राप्ति बन सकती है। जैसे किसी के हाथ में कङ्कण तो है। उसे यह भ्रम हो गया कि "मेरे हाथ का कङ्कण खोया गया"। पर कोई दूसरा उसे कङ्कण बता देता है और उसे ऐसा ज्ञान हो जाता है कि "मेरा कङ्कण मेरे हाथ में है"। वह कहता भी है कि "मेरा कङ्कण मिल गया है"। देखिए ! प्राप्त कङ्कण की भी प्राप्ति हो गई।

※ "प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (प्रज्ञानम् (जीव) आनन्द (ब्रह्मरूप) है) आदि वेदवाक्यों में जीव को परमानन्द बताया है।

इसी प्रकार परम-आनन्द-स्वरूप आत्मा में अविद्या के बलसे ऐसी भ्रांति हो जाती है—"आत्मा परम-आनन्द-स्वरूप नहीं; किन्तु परम-आनन्द-स्वरूप तो ब्रह्म है, उस ब्रह्मसे मेरा वियोग हो गया है। अतः उपासनासे उसे मैं प्राप्त करूंगा"।

ऐसी भ्रांति बहुत मूर्ख प्राणियों को होती ही रहती है। पर बड़े बड़े पंडित भी ऐसा कहते पाये जाते हैं; उन्हें भी मूर्ख ही समझना चाहिए। क्योंकि जीव और ब्रह्म का वियोग माननेवाले को मूर्ख कहते हैं। जब कभी ऐसे पुरुषों को उत्तम संस्कारों के कारण किसी ब्रह्मज्ञानी आचार्य के पास से वेदांत-ग्रन्थ के श्रवण की प्राप्ति हो जाती है। तब वे सुने अर्थ को निश्चय से कहते हैं:—"ग्रन्थ और गुरु की कृपासे हमें आनन्द प्राप्त हो गया"। उनके कहने का अभिप्राय यह होता है कि आत्मा तो परम-आनन्द-स्वरूप पहले भी था, पर 'हमारा आत्मा परम-आनन्द-रूप है' यह हमें भान नहीं होता था। अप्राप्त-सा था। आचार्य से ग्रंथ सुनने के बाद परम आनन्द का बुद्धि में भान होता है, इसलिए परम-आनन्द की प्राप्ति कह देते हैं।

इसप्रकार 'प्राप्तकी भी प्राप्ति' हो जानेसे ग्रंथ का परम आनन्द की प्राप्तिरूप प्रयोजन भी हो सकता है।

नित्य-निवृत्त की निवृत्ति कैसे ?

शंका—आप कहते हैं कि 'अनर्थ की निवृत्ति' ग्रन्थका प्रयोजन समझना। पर परम-आनन्द-स्वरूप ब्रह्म में अज्ञान और अज्ञान में से पैदा हुआ जगत्रूप अनर्थ है ही नहीं। सदाकाल निवृत्त है; फिर उसकी निवृत्ति कैसे कही ?

समाधान—यह बात भी दृष्टान्त से समझी जा सकती है। जैसे रस्सी में साँप नित्य-निवृत्त है, फिर भी रस्सी के ज्ञान से निवृत्त होता ही है। वैसे आत्मा में संसार नित्य-निवृत्त है और उसकी निवृत्ति आत्मा के ज्ञान से होती है। अतः नित्य-निवृत्त की निवृत्ति और नित्य-प्राप्त की प्राप्ति ग्रन्थ का प्रयोजन है।

एक पदार्थ (मोक्ष) में भाव और अभाव कैसे ?

शंका—"कारण–सहित जगत् की निवृत्ति और परम–आनन्द की प्राप्ति ग्रन्थ का प्रयोजन है" यह जो आपने कहा वह ठीक नहीं। क्योंकि निवृत्ति नाम है ध्वंस का। ध्वंस और नाश दोनों पर्याय शब्द हैं। नाश अभावरूप है, इसलिए मोक्ष में भावरूपता और अभावरूपता दोनों प्रतीत होती हैं। १–अनर्थ की निवृत्ति कहने से अभावरूपता प्रतीत होती है और २–परम-आनन्द की प्राप्ति कहने से भावरूपता प्रतीत होती है। ये दोनों एक ही पदार्थ में नहीं रह सकतीं। कारण; भावरूपता और अभावरूपता दोनों आपस में विरोधी हैं। जो विरोधी धर्म होते हैं; वे एक ही काल में एक ही वस्तु में रह नहीं सकते। अतः यह ग्रन्थ का प्रयोजन नहीं हो सकता।

समाधान—

अधिष्ठान तैं भिन्न नहिं, †जगतनिवृत्ति बखान।
सर्पनिवृत्ति रज्जु जिम, भये रज्जु को ज्ञान ॥ २८ ॥

---

† अविद्याकी निवृत्ति का स्वरूप क्या ? यह एक गम्भीर प्रश्न है यदि इसे अधिष्ठान-स्वरूप माना जाय, तो अधिष्ठान है–नित्य ब्रह्म। ब्रह्मस्वरूप अविद्यानिवृत्ति ज्ञान से जन्य नहीं हो सकती। यदि अधिष्ठान से भिन्न अविद्या-ध्वंस माने, तो द्वैतापत्ति होती है। इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए आचर्योंने विविध मार्गों का सहारा लिया है—

ब्रह्मसिद्धिकार का कहना है कि अविद्यानिवृत्ति को अधिष्ठान स्वरूप ही मानना चाहिए। सन्देह होगा कि वह तो सदा सिद्ध ही है, फिर ज्ञानकी आवश्यकता क्या ? इसका समाधान करते हैं-ज्ञानके न होने पर अनर्थ (संसार) का कारण अविद्या रहेगी, फिर अनर्थ भी बना रहेगा। उस अनर्थ की निवृत्ति के ज्ञान की आवश्यकता है। 'यस्मिन् सति अग्रिमक्षणे यस्य सत्त्वम्, यद्व्यतिरेके चाभावः, तत् तत्साध्यम्" इस लक्षण के अनुरोध से आत्म-

जैसे रस्सी का ज्ञान होने के बाद साँप की निवृत्ति उस रस्सी से भिन्न नहीं, वैसे जगत् की निवृत्ति अपने अधिष्ठानरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं ॥ २८ ॥

अर्थात् "सभी कल्पित वस्तुओं की निवृत्ति अपने अधिष्ठानरूप होती है; उससे अलग नहीं" यह सिद्धान्त भाष्यकार का है। इसलिए यहाँ (इस स्थान पर) अनर्थ की निवृत्ति ब्रह्मरूप ही है। क्योंकि सब अनर्थों का अधिष्ठान ब्रह्म ही है। वह भावरूप है। इसलिए अनर्थ की निवृत्ति के भावरूप से ग्रन्थ का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

स्वरूप भी अविद्या की निवृत्ति ज्ञानसाध्य होती है ; क्योंकि ज्ञान के होने पर अग्रिम क्षण में आत्मरूप अविद्या-निवृत्ति की सत्ता है और ज्ञान के न होने पर उसका प्रतियोगी अविद्यारूप अभाव रहता है।

अद्वैतविद्याचार्य का कहना है कि अविद्या की भाँति अविद्या-निवृत्ति भी अनिर्वचनीय ही है। सन्देह होता है कि मोक्ष-अवस्थामें अविद्यानिवृत्ति है। अविद्यानिवृत्ति है अनिर्वचनीय और अनिर्वचनीय जगत् अविद्या का कार्य है तो कार्य के होने पर कारण एवं अविद्या भी रहेगी, फिर मोक्ष ही क्या ? उत्तर दिया गया है कि मोक्ष अवस्था में अविद्या की अनुवृत्ति में कोई प्रमाण नहीं।

आनन्द बोधचार्य ने तो न्यायमकरन्द में कहा है कि अविद्या-निवृत्ति सत् नहीं हो सकती; क्योंकि उसके सत् होनेपर अद्वैत की हानि होगी, असत् भी नहीं अन्यथा ज्ञानसाध्य नहीं बन सकेगी। सद् असद्-उभयरूप भी नहीं मान सकते। क्योंकि दोनों का परस्पर इतना विरोध है कि दोनों एकत्र हो ही नहीं सकते। अनिर्वचनीय भी नहीं कह सकते, क्योंकि तमाम अनिर्वचनीय जगत् अविद्या का कार्य है. मोक्ष-अवस्था में अविद्या की भी प्राप्ति होगी। किन्तु उक्त प्रकारों से विलक्षण पञ्चम प्रकार मानेंगे--

न सन्नासन्न सदसन्नानिर्वाच्योऽपि तत्तमः।
यद्वानुरूपो हि बलिरित्याचार्या व्यचीचरन् ॥

इस प्रकार अविद्या-निवृत्ति का विषय लम्बा-सा है। आगे चलकर स्पष्ट किया जायगा। यहाँ ग्रन्थकार अधिष्ठानरूप ही अनर्थ की निवृत्ति मानता है।

जो जन प्रथम तरंग यह, पढै ताहि तत्काल ।
करहु मुक्त गुरु-मूर्ति ह्वै, दादू दीन दयाल ॥ २६ ॥

जो लोग इस प्रथम तरंग को पढ़ते हैं; उन्हें दीनों पर दया करनेवाले श्रीदादूजी महाराज गुरुरूप होकर तत्काल मुक्त करें ॥ २९ ॥

अनुबन्ध–सामान्य–निरूपण नामक प्रथम तरङ्ग सम्पूर्ण ।

द्वितीय तरंग

अनुबंध–विशेष–निरूपण

याके प्रथम तरंग मैं, किय अनुबंध विचार ।
कहूँ व द्वितीय तरंग मैं, तिनही को विस्तार ॥ १ ॥

इसकी पहली तरङ्ग में अनुबन्धों का विचार किया गया है । अब दूसरी तरङ्गमें उन्हीं का ही विस्तार–पूर्वक विचार करता हूँ ॥ १ ॥

पूर्वपक्ष

चार साधनों से युक्त अधिकारी कहा है । उन चार साधनों में मुमुक्षुता भी आती है । मोक्ष की इच्छा का नाम मुमुक्षुता है । कारण–सहित जगत् की निवृत्ति और ब्रह्म की प्राप्ति ही मोक्ष है । उसमें जो 'कारणसहित जगत्–निवृत्ति रूप' मोक्ष का एक अंश है, उसकी कोई इच्छा नहीं करता ।

मूलसहित जगध्वंस की, कोउ करत नहिं आस ।
किन्तु †विवेकी चहत है, त्रिविध दुखन को नास ॥ २ ॥

---

†विवेकी–ग्रन्थकारने मार्के का विवेकी पद दे कर स्पष्ट कर दिया कि यह

मूल अविद्या-सहित जगत् की निवृत्ति की कोई इच्छा नहीं करता। विवेकी पुरुष केवल तीन प्रकार के दुःखों का नाश चाहते हैं॥ २ ॥

किसका मत है ? विवेकी (प्रकृति पुरुषका विवेक (भेद) करनेवाले) सांख्याचार्योंका सिद्धान्त है कि--

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्॥
दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञायात्॥ (सांख्यका० १, २)

अर्थात् आध्यात्मिक आदि तीन प्रकार के दुःखों के प्रबल आघात के कारण प्रत्येक प्राणी में उन दुःखों के नाशक उपाय की प्रबल जिज्ञासा होती है। उस जिज्ञासाकी शान्ति यदि दृष्ट (लौकिक औषधादि) उपायों को दिखाकर करना चाहें, तो कभी न कर सकेंगे। कारण कि ज्वरादि रोगों को हटाने के लिए जो औषध खाते हैं, उसमें महान् दो दोष बैठे हैं- (१) उस औषध से अवश्य ही ज्वर दूर होगा-यह नियम नहीं। (२) उस औषध से सदा के लिए ज्वर दूर हो जायगा--यह भी नहीं कह सकते। इन दोषों को क्रमशः 'अनैकान्तता' और 'अत्यन्तता' कहते हैं। ये दोनों दोष तथा आनुश्राविक (वैदिक) यज्ञादिजन्य पुण्यों में तीन और दोष हैं-(१) अविशुद्धि (२) नश्वरता (३) अतिशयता।

अविशुद्धि--यज्ञ करते समय पुण्य के साथ पशु-हिंसादि से कुछ-कुछ पाप भी अवश्य कमाया जाता है। अतः वह पुण्य नितान्त शुद्ध न होकर पापमिश्रित रहेगा। जब पुण्य अपना फल देगा तब पाप भी पीछे क्यों रहेगा ? फिर तो स्वर्ग में भी सुख के साथ-साथ दुःख भी झेलना होगा। दुःख-नाश के इस कठोर लम्बे रास्ते पर भागते-भागते दूर निकल गये। सोचा था अब यहाँ तक दुःख न पहुंच सकेगा, किन्तु आगे देखा तो वही महाशय तैयार खड़े हैं।

दुःख तीन प्रकार के होते हैं—*अध्यात्म, †अधिभूत, और ‡अधिदैव

नश्वरता—यज्ञादि-जन्य पुण्य भी परिमित ही होता है—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति"। किन्तु हम चाहते थे सदा स्वर्ग में रहना। ऐसा स्वर्ग किस काम का? जहां से फिर नरक में जाना पड़े।

अतिशय—हम लोग जानते थे कि स्वर्ग में सब विस्तरे एक ही मंजिल में बराबर लगते होंगे। किन्तु जाकर देखा। यहाँ ऊँचा-नीचा संसार वहां भी है। कई याज्ञिकों के विस्तरे ऐसी जगह लगे थे जहाँ ऊपरी मंज़िल के लोग थूक-थूक कर ढेर लगा देते थे। फिर वहाँ कोई किसी की सुनने वाला नहीं। अंग्रेज या रूसी-रासी वहाँ पहुँचते नही, नहीं तो कुछ-न-कुछ व्यवस्था हो जाती।

इस प्रकार सभी लौकिक-अलौकिक उपायों से दुःख दूर न होता देखकर सांख्याचार्यों ने दोनों हाथ उठाकर दुःखी जीवों को जोर से पुकारा—सज्जनो! आपके उन दोनों उपायों से हमारा उपाय विलक्षण है। इस में किसी प्रकार का दोष नहीं, इसे आप अवश्य अपनावें। अवश्य ही आपके सब दुःख दूर होंगे और सदा के लिए विदा हो जायंगे। हमारा उपाय है—"व्यक्ताव्यक्तज्ञ-विज्ञानात्" (व्यक्त=स्थूल, अव्यक्त=सूक्ष्म प्रकृति और ज्ञ=पुरुष का विवेकज्ञान) कुछ लोग संसार का समूल विनाश करके दुःख दूर करना चाहते हैं। किन्तु हम अपने स्वार्थ के लिए इतने हरे-भरे महान् विश्व को उजाड़ना नहीं पसन्द करते। इसे जैसे-का तैसा बना रहने दें। केवल विवेकज्ञान प्राप्त करके (प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः) तटस्थ, अनासक्त बन जायँ।

*अध्यात्म—आत्म-सम्बन्धी दुःख। यहाँ 'आत्मा' शब्द का अर्थ है—शरीर और मन। अतः शरीर के ज्वरादि और मन के काम क्रोधादि दुःखों को अध्यात्म दुःख कहते हैं।

†अधिभूत—भूतों (प्राणियों) से होनेवाले दुःख। जैसे चोरों, डाकुओं हिंसक जानवरों से होनेवाले दुःख अधिभूत दुःख कहे जाते हैं।

‡अधिदैव—देवसृष्टि से प्राप्त दुःखों को अधिदैव कहा जाता है। जैसे भूत, प्रेत, राक्षसों, वर्षा धूप आदि से होनेवाले दुःख।

१. रोग, भूख आदि से जो दुःख होता है वह अध्यात्म दुःख है।
२. चोर, बाघ, साँप आदि से जो दुःख होता है, वह अधिभूत दुःख है
३. यक्ष, राक्षस, प्रेत, ग्रह आदि से तथा ठंड, धूप, वायु आदि से जो दुःख होता है; वह अधिदैव दुःख है।

इन तीन प्रकार के दुःखों के नाश की सब को इच्छा होती है। दुःख से भिन्न जो पदार्थ हैं, उनके नाश की इच्छा विवेकी पुरुष नहीं करते। इसलिए अज्ञान-सहित सकल जगत् की निवृत्ति की इच्छा किसी को भी नहीं हो सकती?

सिद्धान्ती—यह ठीक है कि सब लोग दुःख-निवृत्ति की ही इच्छा करते हैं, पर अज्ञान-सहित अखिल जगत की निवृत्ति बिना दुःख की निवृत्ति के हो ही नहीं सकती। अतएव मानना पड़ेगा कि वे दुःख-निवृत्ति के लिए अज्ञान-सहित जगत की निवृत्ति भी चाहते हैं।

पूर्वपक्षी—यह भी आपका कहना ठीक नहीं। क्योंकि आयुर्वेद में कही हुई औषधियों के सेवन से रोगजन्य दुःख निवृत्ति हो जाता है। और भोजन खाने से क्षुधाजन्य दुःख (भूख) निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार अपने अपने उपायों से सब दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। जब अज्ञान-सहित जगत् की निवृत्ति के बिना भी दुःखों की निवृत्ति हो ही जाती है; तो दुःखों की निवृत्ति के लिए अज्ञान-सहित जगत् की निवृति की †इच्छा किसी को क्यों होगी? इसलिए कारण-सहित जगत् की निवृत्तिरूप मोक्ष के अंश की भी किसी को इच्छा नहीं हो सकती। किञ्च—

किय अनुभव जा वस्तु को, ताकि इच्छा होय।
ब्रह्म नहीं अनुभूत इम, चहै न ताकूं कोय ॥ ३ ॥

---

†इच्छा सदैव अनुभूत विषय की ही हुआ करती है; अननुभूत विषय की नहीं। कारण-सहित जगत् की निवृत्ति का अनुभव न होने के कारण उसकी इच्छा क्यों कर होगी?

जिस वस्तु का पहले अनुभव किया गया हो उसी वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा होती है। पर ब्रह्म का तो अभी तक किसी ने अनुभव किया ही नहीं। अतः उनके लिए किसी की इच्छा नहीं हो सकती ॥ ३ ॥

मोक्ष के ब्रह्म-प्राप्तिरूप अंश की इच्छा भी नहीं हो सकती

क्योंकि जिस वस्तु का ज्ञान होता है; उसी वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा होती है। जिस वस्तु का ज्ञान नहीं होता, उस वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा भी नहीं होती। जैसे दूसरे देश के अनन्त पदार्थ अज्ञात हैं; उनके प्राप्त करने की इच्छा किसी को नहीं होती। वैसे ही अधिकारी पुरुष को ब्रह्म का ज्ञान नहीं (ब्रह्म अज्ञात है) अतः उसे ब्रह्म-प्राप्ति की इच्छा नहीं हो सकती। अतः जिसे ब्रह्म का ज्ञान है; वह अधिकारी नहीं, किन्तु मुक्त है। इसलिए वेदांत-श्रवण से पहले अज्ञात जो ब्रह्म, उसे प्राप्त करने की इच्छा सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार अज्ञान-सहित जगत् की निवृत्ति और ब्रह्म की प्राप्तिरूप जो मोक्ष; उसकी इच्छा किसी को नहीं हो सकती। अतः जब कोई मुमुक्षु ही नहीं मिलेगा तो अधिकारी कहां ?

दूसरा प्रकार

चहत विषय-सुख सकल जन, नहीं मोच्छ को पंथ।
अधिकारी यातैं नहीं, पढै सुनै जो ग्रंथ ॥ ४ ॥

सब लोग विषय-सुख की ही इच्छा करते हैं, मोक्ष (मुक्ति) के मार्ग की नहीं। कोई अधिकारी ही नहीं सिद्ध होता जो आपके इस ग्रन्थ को पढ़े और सुने ॥ ४ ॥

वैराग्य आदि भी नहीं बन सकते; क्योंकि सभी लोग विषय-सुख चाहते हैं। जो कोई सब विषयों को छोड़कर तपश्चर्या में लगा हुआ है, वह भी परलोक के उत्तम भोगों की इच्छा से ही

अनेक प्रकार के कष्ट सह रहा है। इस लोक के या परलोक के विषय-सुख सभी चाहते हैं, पर विषय-सुख मोक्ष में है नहीं। इसलिए मोक्ष के मार्ग (साधन) को कोई नहीं चाहता। इसप्रकार मोक्ष की इच्छारूप मुमुक्षुता सिद्ध नहीं होती। सब को विषयसुख की इच्छा होती है। वैराग्य-शम-दम और उपरति ये किसी में नहीं। अतः चार साधन सहित अधिकारी का अभाव होने से इस ग्रन्थ का आरम्भ करना ही निष्फल (निरर्थक) है।

विषय—खण्डन

जीव ब्रह्म की एकता, कह्यो विषय सो कूर।
क्लेश-रहित विभु ब्रह्म इक, जीव क्लेस को मूर ॥ ५ ॥

आपने जो पहले 'जीव ब्रह्म की एकता' इस ग्रन्थ का विषय कहा है, वह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि ब्रह्म तो क्लेश-सहित, विभु और एक है, पर जीव क्लेश-सहित, परिच्छिन्न और अनेक हैं ॥ ५ ॥

पूर्वपक्षी—आपने जो पहले कहा कि 'जीव ब्रह्म की एकता' इस ग्रन्थ का विषय है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि ब्रह्म तो ‡अविद्या,

‡अविद्या—अविद्या के दो भेद हैं-(१) मूलाविद्या और (२) तूलाविद्या।
(१) मूलाविद्या—शुद्ध चैतन्य के आच्छादक अज्ञान का नाम है।
(२) तूलाविद्या—शुक्ति आदि विषयावच्छिन्न चेतन को ढँकनेवाले अज्ञान का नाम है। इनमें मूलविद्या कारण और कार्य रूपसे दो प्रकार की है—आवरण और विक्षेपशक्तिवाली अनादि भावरूप कारण अविद्या है और अन्य विषय में अन्यरूप की प्रतीति, कार्य अविद्या है। इसके ही चार भेद योगसूत्र में दिखाये हैं। अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (२।५) अर्थात्—१. आकाशादि अनित्य पदार्थों में नित्यता-बुद्धि। २. शरीरादि अशुचि पदार्थों में शुचि-बुद्धि। ३. दुःखमय संसार में सुख-प्रतीति। ४. देहादि अनात्म वस्तुओं में आत्मत्व-बुद्धि। प्रकृत क्लेशों में इसी अविद्या का ग्रहण है।

†अस्मिता, राग, द्वेष और ‡अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों से रहित है, विभु (व्यापक) है और एक (सजातीय-भेद-रहित) है। ब्रह्म का सजातीय दूसरा ब्रह्म है ही नहीं। जीव में सब क्लेश हैं, वे परिच्छिन्न हैं और वे नाना (अनेक) हैं। जितने शरीर हैं, उतने ही जीव हैं। यदि सब शरीरों में एक ही जीव हो तो एक शरीर में सुख और दुःख होने पर सब शरीरों में सुख और दुःख होने चाहिए।

सिद्धान्ती—सुख आदि सब अन्तःकरण के धर्म हैं। अन्तःकरण नाना हैं। एक के सुखी और दुःखी होने पर सब सुखी और दुःखी नहीं होते। साक्षी सुख दुःख रहित है और एक है। उसकी ब्रह्म के साथ एकता बन सकती है।

पूर्वपक्षी--कर्ता और भोक्ता जीव है, उस से भिन्न साक्षी बंध्यापुत्र के समान है। यदि साक्षी मान भी लिया जाय तो भी वह एक नहीं हो सकता; अनेक साक्षी मानने होंगे। क्योंकि वेदांत का सिद्धान्त है—अतः करण और इसके धर्म सुख दुःख आदि इन्द्रियों तथा 'अन्तःकरण के विषय नहीं। इन्द्रियां तो पंचीकृत भूतों को ही विषय

---

†अस्मिता--आत्मा और बुद्धि की एकस्वरूपता--दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता (यो. सू २।६) दृक्शक्ति (आत्मा) दर्शनशक्ति=बुद्धि।

‡अभिनिवेश--भयका नाम अभिनिवेश है। जैसे-मरण भय--'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।, (यो. सू २।९) जैसे अविद्वान् को स्वाभाविक मरणत्रास होता है-वैसे विद्वान् को भी मरणत्रास होता है यही अभिनिवेश है। सांख्यतत्वकौमुदी में वाचस्पति ने लिखा है—"देवाः खल्वणिमादिकमष्टविधमैश्वर्यमासाद्य दशशब्दादीन् विषयान् भुञ्जानाः शब्दादयो भोग्यास्तदुपायाश्चाणिमादयोऽस्माकमसुरादिभिर्मा स्मोपघानिषत-इति बिभ्यति, तदिदं भयमभिनिवेशः।" अर्थात् देवगण अपनी अणिमादि सिद्धियों की सहायता से विविध विषयों का उपभोग करते हैं और डरते रहते हैं कि कहीं उनके भोगों पर असुर आदि आघात न पहुँचा बैठें। इस भय का नाम अभिनिवेश है।

करती हैं। उनमें भी नेत्र-इन्द्रिय रूप और उस का आश्रय दोनों को विषय करती हैं। जैसे नीला-पीला आदि घट का रूप और उसका (रूपका) आश्रय घट नेत्र-इन्द्रिय का विषय है। त्वक्-इन्द्रिय भी स्पर्श और उसका आश्रय दोनों को विषय करती है। परन्तु रसना (जीभ) घ्राण (नाक) श्रवण (कान) ये तीनों क्रमशः केवल रस, गन्ध और शब्द को विषय करती है, इनके आश्रय को नहीं। इन तीनों से तो अन्तःकरण का ज्ञान नहीं हो सकता। नेत्र और त्वचा से भी अन्तःकरण का ज्ञान संभव नहीं। क्योंकि पंचीकृतभूत या पंचीकृत भूतों के जो कार्य रूपवान्-स्पर्शवान् (रूप-स्पर्शवाले) होते हैं। वही नेत्र और त्वचा के विषय होते हैं। पर अन्तःकरण अपंचीकृत भूतों का कार्य है; इसलिए नेत्र और त्वचा का भी विषय नहीं। बाह्य वस्तु ही इन्द्रियों का विषय होती है। अन्तःकरण इन्द्रियों की अपेक्षा अंदर है, इस कारणसे भी इन्द्रियों का विषय नहीं।

अन्तःकरण अपनी वृत्ति का भी विषय नहीं; क्योंकि अन्तःकरण वृत्तिका †आश्रय है। जैसे अग्नि दाह का आश्रय है; दाह का विषय नहीं। पर जो अग्नि से भिन्न काठ आदि वस्तुएँ होती हैं; वही दाहका विषय होती हैं वैसे ही अन्तःकरण से भिन्न जो जो वस्तुएँ हैं, वही अन्तःकरणजन्य वृत्ति के विषय हैं, अन्तःकरण नहीं।

अन्तःकरण के धर्म भी अन्तःकरण वृत्ति के विषय नहीं; क्योंकि

---

†आश्रय अपने आश्रित का विषय भी होता है। जैसे—गृहाश्रित अन्धकार का विषय गृह, ब्रह्माश्रित अज्ञान का विषय ब्रह्म (आश्रयत्वविषयत्व-भागिनी निर्विभागा चितिरेव केवला।) किन्तु आश्रय के स्वरूप से अतिरिक्त जो आश्रित है, उसीका ही विषय आश्रय होता है। जैसे—गृह से भिन्न अन्धकार का विषय गृह। जो आश्रित अपने आश्रय से भिन्न नहीं होता, उसका विषय आश्रय नहीं हुआ करता। जैसे प्रकृत में अन्तःकरण आश्रय है और उसके आश्रित है उसकी वृत्ति। वह वृत्ति उपादान अन्तःकरण से भिन्न नहीं; अतः वह वृत्ति अपने आश्रय अन्तःकरण को विषय नहीं कर सकती।

यदि अन्तःकरण की वृत्ति अन्तःकरण को विषय करती तो उस के धर्म सुख–दुःख आदि को भी विषय करती, पर अन्तःकरण को विषय करने वाली वृत्ति तो अन्तःकरण के सम्मुख ही नहीं होती। इसलिए अन्तःकरण के धर्म भी अन्तःकरण की वृत्ति के विषय नहीं। यह नियम है कि जो वस्तु वृत्ति के आश्रय से कुछ दूरी पर होती है, वही वृत्ति का विषय हो सकती है और जो वस्तु वृत्ति के अत्यन्त समीप होती है; वह वृत्ति का विषय नहीं हो सकती। जैसे नेत्र की वृत्ति का आश्रय नेत्र है और उसके अत्यन्त समीप अंजन है, वह नेत्र की वृत्ति का विषय नहीं। वैसे ही अन्तःकरण की वृत्ति का आश्रय अंतःकरण है और उसके अत्यन्त समीप सुख दुःख आदि धर्म हैं; वे अन्तःकरण के विषय नहीं। इसप्रकार धर्म–सहित अन्तःकरण का इन्द्रिय से या स्वयं–अपने से भान नहीं हो सकता, किन्तु साक्षी से भान होता होता है।

यदि साक्षी एक ही मान लिया जाय तो जैसे एक अन्तःकरण के सुख–दुःख का साक्षी से भान होता है, वैसे सभी के सुख दुःखों का भान होना चाहिए। पर होता नही, इसलिए साक्षी नाना (अनेक) हैं। जब अनेक साक्षी मान लेते हैं तो यह दोष नहीं आता। क्योंकि जिस साक्षी की उपाधि जो अंतःकरण है, उस साक्षी से अपनी उस उपाधि के धर्म का भान होता है और सब के सुख दुःखों का भान नहीं होता। अतः नाना साक्षियों की एक ब्रह्म के साथ एकता नहीं हो सकती।

प्रयोजन-खंडन

पूर्वपक्षी—जब बंध की सामग्री ही नहीं तो उसकी निवृत्ति कैसी ?

बंध-निवृत्ति ज्ञान तैं, बनै न बिन अध्यास।

सामग्री ताकी नहीं, तजो ज्ञान की आस ॥६॥

यदि बंध, अध्यास रूप हो तभी ज्ञान से उसकी निवृत्ति हो सकती है। पर यहाँ अध्यास की सामग्री ही नहीं, इसलिये ज्ञान की आशा छोड़ दीजिये ॥ ६ ॥

अहंकार आदि जितनी अनात्मवस्तुएँ हैं, वे बंध कहलाती हैं। यदि वह बंध अध्यासरूप हो तो ज्ञान से उसकी निवृत्ति हो सकती है और अध्यासरूप न हो तो निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि ज्ञान का स्वभाव है–जिस वस्तु का ज्ञान होता है, वह ज्ञान उस वस्तु में के अध्यास और अज्ञान को दूर करता है। जैसे रस्सी का ज्ञान रस्सीमें के साँप के अध्यास और रस्सी के अज्ञान को दूर करता है। भ्राँति–ज्ञान का विषय जो मिथ्या वस्तु और भ्राँतिज्ञान दोनों का नाम †अध्यास है।

---

†अध्यास—अपने अभाव के अधिकरण में प्रतीयमान विषय और उसका ज्ञान अध्यास है। जैसे यद्यपि रज्जु में व्यावहारिक या पारमार्थिक सर्प नहीं फिर भी वहाँ प्रतीत होता है। अतः वह सर्प और उसका ज्ञान, अथवा अधिष्ठान से विषम-सत्तावाला जो अवभास वही अध्यास है। जैसे सर्प-भ्रमका अधिष्ठान है रज्जु या रज्जु-अवच्छिन्न चेतन, उसकी सत्ता है व्यावहारिक या पारमार्थिक और वहां सर्प है प्रातिभासिक। अतः सर्प और उसका ज्ञान दोनों अध्यास हैं। अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास रूप से अध्यास के दो भेद हैं।

भ्रान्तिज्ञान का विषय सर्प आदि वस्तु का नाम अर्थाध्यास हैं और उस वस्तु का मिथ्याज्ञान ज्ञानाध्यास कहलाता है। ज्ञानाध्यास के दो ही भेद हैं—परोक्ष और अपरोक्ष। किन्तु अर्थाध्यास छह प्रकार का है—(१) केवल-सम्बन्ध अध्यास (२) सम्बन्ध-विशिष्ट-सम्बन्धी-अध्यास (३) केवल-धर्माध्यास धर्मविशिष्ट धर्मीअध्यास (५) अन्योन्याऽध्यास और (६) अन्यतराध्यास।

अथवा–अर्थाध्यास के दो ही भेद कहे जा सकते हैं—(१) स्वरूपाध्यास और (२) संसर्गाध्यास। केवल सम्बन्धाध्यास ही संसर्गाध्यास है और सम्बन्ध-विशिष्ट-स्वरूपाध्यास है। अन्योन्याऽध्यास भी यही है। स्वरूप और संसर्ग में से केवल एक का अध्यास अन्यतराध्यास है। सत्य में मिथ्या वस्तु का अध्यास स्वरूपाध्यास कहलाता है। क्योंकि मिथ्यावस्तु स्वरूपतः ही अध्यस्त होती है। किन्तु जहाँ अनात्म वस्तु में आत्मा का अध्यास होता है वहाँ सम्बन्धाध्यास होता है। (१) स्वरूपाध्यास के कतिपय उदाहरण:—

जिससे जो वस्तु मिथ्या नहीं, सत्य होती है, उसकी ज्ञानसे निवृत्ति नहीं हो सकती। वैसे ही यदि आत्मा में अहंकार आदि बंध अध्यास रूप (मिथ्या) हो तो वह ज्ञान से निवृत्ति हो सकता है। आत्मामें मिथ्याबंध की समग्री है ही नहीं। पर बंध प्रतीत होता है। इसलिये बंध सत्य है। उस सत्य बंध की ज्ञान से निवृत्ति की अशा रखना व्यर्थ है ॥ ६ ॥

अध्यास की सामग्री।

सत्य वस्तु के ज्ञानतैं, संसकार इक जान।
त्रिविध दोष अज्ञान पुनि, सामग्री पहचान ॥ ७ ॥

(क) "मैं अज्ञानी हूँ"—इस प्रकार का अज्ञानाध्यास शुद्ध चेतन में होता है।
(ख) "मैं हूँ"—इस प्रकारका अहङ्काराध्यास अज्ञानोपहित चेतन में होता है।
(ग) "मैं खुशी हूं दुःखी हूं"—इस प्रकार का अन्तःकरण के सुखादि धर्मों का अध्यास अन्तःकरण-उपहित चेतन में होता है।

(घ) "मैं अन्धा हूँ, बधिर हूँ"—ऐसा इन्द्रिय–धर्मों का अध्यास अन्तः–करण-उपहित चेतन में होता है।

(ङ) "मैं मनुष्य "—इत्यादि धर्मसहित शरीर का अध्यास अन्तःकरण और इन्द्रिय–धर्मोपहित चेतन में होता है।

(च) "मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ"—इत्यादि शरीरधर्मों का अध्यास देहोपहित चेतन में होता है। इसी प्रकार स्त्री–पुत्रादिक के सुख-दुःखादि–धर्मों का अध्यास देह धर्मोपहित चेतन में होता है।

(२) संसर्गाध्यासः—जहाँ पर पदार्थ का स्वरूप अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है, वहाँ स्वरूपाध्यास होता है। किन्तु जहाँ पदाथ का स्वरूप व्यावहारिक या पार-मार्थिक होता है। केवल उनका अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न होता है, वहाँ संसर्गाध्यास होता है। जैसे आनन्दादि–धर्मविशिष्ट चेतन का अज्ञानादि में अध्यास संसर्गाध्यास कहलाता है।

सत्य वस्तु के ज्ञान से उत्पन्न संस्कार, तीन प्रकार के दोष और अज्ञान, ये अध्यास की सामग्री हैं ॥ ७ ॥

१–सत्यवस्तु के ज्ञान से जन्य संसकार; २–तीन प्रकार के दोष (प्रमेयदोष, प्रमातादोष और प्रमाणदोष) ३. अधिष्ठान के विशेषरूप का अज्ञान और समान्यरूपका ज्ञान इतनी अध्यासकी सामग्री है, इसके बिना अध्यास नहीं हो सकता। जैसे कि सीपीमें चाँदी का और रस्सी में साँप का अध्यास होता है। जिसने सच्ची चाँदी और सच्चा साँप देखा होता है, उसे ही अध्यास होता है और जिसने नहीं देखा होता उसे अध्यास नहीं होता। इसलिये सत्यवस्तु के ज्ञान के संस्कार अध्यास के कारण हैं।

२–सीपी में साँप का और रस्सी में चाँदी का अध्यास नहीं होता। इसलिये †प्रमेयमें सादृश्यदोष अध्यास का कारण है। ३–इसी प्रकार प्रमातामें भय–लोभ आदि अध्यासके कारण हैं (लोभी को सीपी में चाँदी का और डरपोक को रस्सी में साँपका अध्यास जल्दी हो जाताहै। ४–नेत्र आदि प्रमाणगत पित्त कामला–आदि दोष भी अध्यास के कारण है।

जब सीपी का 'इदम्' (यह) ऐसा सामान्य ज्ञान तो होता है और 'इयं शुक्तिका, (यह सीपी है) ऐसा विशेषज्ञान नहीं होता तभी अध्यास होता है। यदि 'सीपी है' ऐसा विशेषज्ञान हो और 'यह' ऐसा सामान्यज्ञान न हो तो भी अध्यास नहीं होता। इसलिये अधिष्ठान का विशेषरूपसे अज्ञान और सामान्यरूपसे ज्ञान अध्यास का कारण है।

यदि अध्यास की इस सामग्रीमें से कोई–एक न हो तो भी अध्यास नहीं होता। जैसे—कुम्हार, चाक, डंडा, और मिट्टी घट की सामग्री

---

†प्रमेयदोष—प्रमाज्ञान के विषय को प्रमेय कहते है। जैसे शुक्ति के प्रमाज्ञान का विषय शुक्ति प्रमेय है। शुक्ति में रहनेवाला चाँदी के समान चमकीलापन ही यहाँ प्रमेय दोष है।

है। इनमें से कोई-एक न हो तो घट नहीं बन सकता। वैसे अध्यास भी पूरी सामग्री से ही होता है।

पूर्वपक्ष—(क) बंध के अध्यासमें एक भी कारण सिद्ध नहीं होता। यदि बंध सत्य हो तभी उसके ज्ञान-जन्य संस्कार से आत्मा में मिथ्याबंध प्रतीत हो। पर सिद्धान्त में †तो आत्मासे भिन्न कोई वस्तु सत्य है ही नहीं। इसलिये सत्यबंध के ज्ञान जन्य-संस्कार का अभाव होनेसे आत्मा में बंधका अध्यास बन नहीं सकता।

(ख) आत्मा और बंधका सादृश्य भी नहीं। उलटे अंधकार और प्रकाशकी भाँति विपरीत स्वभाव है। आत्मा प्रत्यक् है और बंध पराक् है। प्रत्यक् नाम अन्दर का है और पराक् नाम बाह्य (बाहर) का। आत्मा विषयी है और बंध विषय। जो प्रकाशित करे वह विषयी और जो प्रकाशित हो वह विषय। प्रत्यक्में पराक् का और पराक्में प्रत्यक् का अध्यास नहीं होता। जैसे पुत्र आदि की अपेक्षा अपनी देह प्रत्यक् है। उसमें पुत्र आदि का और पुत्र आदिमें देहका अध्यास नहीं होता।

(ग) विषयमें विषयी का और विषयी में विषयका अध्यास नहीं होता। जैसे विषय घट आदि में विषयी दीपक आदि का और विषयी दीपक आदि में विषय घट आदि का अध्यास नहीं होता। वैसे सादृश्य के न होने से प्रत्यक् विषयी आत्मा में पराक् विषयरूप बंधका अध्यास नहीं हो सकता। प्रत्यक् और पराक् का विरोध है। विषय और विषयी का विरोध है, सादृश्य नहीं। इसलिए बन्धका अध्यास आत्मामें सिद्ध नहीं हो सकता।

अध्यास में प्रमाता आदि के दोष की असिद्धि

(घ) प्रमाता और प्रमाण के दोष का भी अभाव है। क्योंकि

---

†"अतोऽन्यदार्तम्" (बृ० उ० ३। ४। २) आत्मा से भिन्न सब कुछ बाधित (असत्य) है—ऐसी श्रुतियों के आधार पर वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि आत्मासे भिन्न कोई वस्तु सत्य नहीं।

"प्रमाता आदि अखिल प्रपंच अध्यासरूप है, वही बंध है" यह वेदांत का सिद्धांत है। इसके अनुसार जब बंध के अध्यास से पहले प्रमाता और प्रमाण का स्वरूप ही असिद्ध है तो तद्गत दोष होंगे ही कहाँ ? इसलिये बंध का अध्यास सिद्ध नहीं होता।

[ङ] बंध के अधिष्ठान ब्रह्मका विशेषरूपसे अज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि बंधका अधिष्ठान जो ब्रह्म है, वह स्वयंप्रकाश ज्ञानरूप है। उस स्वयम्प्रकाश ज्ञानरूप ब्रह्म में अज्ञान नहीं हो सकता; जैसे सूर्य में अंधकार। जैसे प्रकाशवान् सूर्य से अंधकार का विरोध है। वैसे प्रकाशरूप चेतन और तमरूप अज्ञान का परस्पर विरोध है।

यदि अधिष्ठानका अज्ञान मान भी लिया जाय तो भी अध्यास नहीं बन सकता। क्योंकि अत्यंत अज्ञातमें और अत्यंत ज्ञात में अध्यास नहीं हुआ करता। किन्तु विशेषरूप से अज्ञात और सामान्य-रूपसे ज्ञातमें ही अध्यास हुआ करता है। परन्तु ब्रह्म सामान्य-विशेषभाव से रहित है—निर्विशेष है—यह सिद्धान्त है। इसलिए विशेषरूप से अज्ञात और सामान्यरूप से ज्ञात ब्रह्म बन नहीं सकता। यदि आप अध्यास के लोभ से ब्रह्म में भी सामान्य-विशेष भाव मान लेंगे तो आपको अपना सिद्धान्त ही छोड़ना पड़ेगा। इस प्रकार निर्विशेष प्रकाशरूप का विशेषरूपसे अज्ञान और सामान्यरूपसे ज्ञान न होने से उसमें अध्यास नहीं बन सकता। यह कहना भी नहीं बनता कि "ब्रह्म में बन्ध अध्यासरूप है"। क्योंकि बंध सत्य है। उस सत्य बन्ध की निवृत्ति ज्ञानसे होनी असम्भव है। इसलिए इस ग्रन्थ का ज्ञानद्वारा मोक्षरूप प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता। 'ज्ञानसे मोक्ष होता है' ऐसा प्रतिपादन करनेवाले सिद्धान्त ठीक नहीं। किन्तु 'कर्म से मोक्ष होता है' यह † एकभविकवाद का ही सिद्धान्त ठीक है।

† एकभविकवाद—योग-भाष्य में आया है—"अंत एकभविकः कर्माशयः उक्तः" (२।१३) इसकी व्याख्या करते हुए श्री वाचस्पति मिश्र लिखते है—

एकभविकवाद

(एक ही जन्म में अकेले कर्मसे मोक्षकी सिद्धि)

सत्य बंधका ज्ञान ते, नहीं निवृत्ति सयुक्त ।
नित्यकर्म संतत करै, भयो चहै जो मुक्त ॥ ८ ॥

बन्ध सत्य है। उसकी निवृत्ति ज्ञानसे माननी युक्तियुक्त नहीं। इसलिए जो मनुष्य मुक्ति की इच्छा रखता हो उसे निरन्तर नित्य-कर्म करते रहना चाहिए॥ ८॥

अर्थात्–कर्म दो प्रकारके हैं; एक विहित और दूसरे निषिद्ध। १–पुरुषकी प्रवृत्तिके लिए जिसका स्वरूप वेद ने बोधित किया है उसे विहितकर्म कहते हैं। २–जिन कर्मों से वेदने पुरुषकी निवृत्ति बोधित

"एको भव एकभवः। 'पूर्वकालैक' इत्यादिना समासः। एकभवोऽस्यास्ति मत्वर्थीयष्ठन्। कचित्पाठ ऐकभविकः' इति। तत्रैकभवशब्दाद् भवार्थे ठक् प्रत्ययः। एकजन्मावच्छिन्नमस्यभवनमित्यर्थः।"

अर्थात् एक जन्म में उपभोग्य कर्मराशि का नाम एकभविक है और इसके द्वारा मोक्ष–प्रतिपादक सिद्धान्त को एकभविकवाद कहते हैं।

इनका सिद्धान्त यह है:—

निषिद्धकाम्यकर्मभ्यः सम्यग्व्यावृत्तचेतसः।
नित्यनैमितिकप्रायश्चित्तप्रध्वस्तदुष्कृतेः॥
सुखदुःखानुभूतिभ्यां क्षीणप्रारब्धकर्मणः॥

अर्थात् निषिद्ध और काम्य कर्मों का परित्याग कर देने से आगे के लिए कोई संचितकर्मराशि तैयार होती नहीं। नित्य, नैमित्तिक तथा प्रायश्चित्त के अनुष्ठान से पाप होने नहीं पाता। प्रारब्ध का उपभोग से क्षय हो जाता है। बस मोक्ष में कोई सन्देह नहीं रह जाता। ऐसे मुमुक्षु को केवल एक जन्म और ग्रहण करना पड़ता है, फिर नहीं। इस प्रकार का मुमुक्षु बौद्ध सिद्धान्त सकदागामी (सकृदागामी) के समकक्ष प्रतीत होता है।

की है वे निषिद्धकर्म कहलाते हैं। उदासीन क्रिया (विधिनिषेध-रहित स्वाभाविक गमन-शौचादि) कर्म नहीं। इसलिए कर्म दो ही प्रकार के हैं; तीन प्रकार के नहीं।

विहितकर्म चार प्रकारका है—१ प्रायश्चित्त, २ काम्य, ३ नैमित्तिक, और ४ नित्य।

१-पापनाश के लिए जिस कर्मका विधान किया गया हो, वह प्रायश्चित्तकर्म है। जैसे प्रमाद (भूल) से द्रव्यग्रहण करने से यति को पाप लगता है। उस पापको नष्ट करनेके लिए 'द्रव्यका त्याग और तीन उपवास विहित हैं'।

२-किसी फलके लिए जिस कर्मका विधान किया गया हो वह काम्य कर्म है। जैसे-वर्षा चाहनेवाले के लिए †कारीरीयाग और स्वर्ग चाहनेवाले के लिए अग्निहोत्र-सोमयाग आदि विहित हैं।

३—जिस कर्म के न करने से पाप लगता हो और करने से पुण्य-पाप-रूप कुछ फल न होता हो एवं सदा के लिए जिसका विधान न किया हो किंतु किसी निमित्तसे विहित हो; वह नैमित्तिक कर्म है। जैसे ग्रहण-श्राद्ध; अवस्थावृद्ध, जातिवृद्ध, आश्रमवृद्ध, विद्यावृद्ध, धर्मवृद्ध, और ज्ञानवृद्ध, के आनेपर उठ खड़ा होना रूप कर्म। यहाँ विद्याशब्द से शास्त्र और ज्ञानशब्द से अपरोक्षविद्या का ग्रहण है। पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ समझना चाहिए।

४—जिस कर्म के न करने से पाप होता हो और करनेसे फल न मिलता हो एवं जिसका सदाके लिए विधान हो, वह नित्यकर्म कहा जाता है—जैसे स्नान, संध्या आदि कर्म।

इस प्रकार चार प्रकार के विहित कर्म और एक प्रकार का निषिद्ध कर्म सब मिलकर पाँच प्रकार के कर्म होते हैं। मोक्ष की इच्छावाला

---

† "कारीर्या वृष्टिकामो यजेत्"– इस वाक्य से विहित, वृष्टि-कामना से की जानेवाली इष्टि। इसका विशेष उल्लेख आश्वल० सूत्र, आपस्तम्ब सूत्र और तै० संहिता ११। ४। ७–८ में आया है।

काम्य और निषिद्ध कर्म तो करेगा ही नहीं। क्योंकि काम्य कर्म से उत्ताम लोक की प्राप्ति होती है और निषिद्ध कर्म से नीच लोक की। इसलिए ये दोनों कर्म छोड़कर सदा नित्यकर्म करता रहे और जब कभी नैमित्तिक कर्म आजाय वह भी करता रहे, क्योंकि नित्य-नैमित्तिक कर्म न करने से पाप लगेगा और उस पापसे नीच योनि मिलेगी। अतएव पापको रोकने के लिये नित्य-नैमित्ताक कर्म अवश्य करता रहे। इन दोनों कर्मों का और तो कुछ फल नहीं। पर जो इनके न करने से पाप होता है; वह इनके कर लेने पर नहीं होगा। इसलिए मुमुक्षु को नित्य-नैमित्ताक कर्म जरूर करते रहना चाहिए।

यदि कभी भूलसे निषिद्ध कर्म बन ही जाय तो उसका दोष दूर करने के लिए प्रायश्चित्त कर्म भी कर सकता है और न भी बना हो तो भी दूसरे जन्म के पाप दूर करने के लिए प्रायश्चित्त कर्म कर सकता है। पर इसमें इतना भेद रहेगा कि जो किसी पाप विशेष को दूर करने के लिए शास्त्रसे विहित है, वह असाधारण प्रायश्चित्त कहा जायगा—जैसे पहले कहा हुआ उपवास। जो सब पापों को दूर करने के लिए शास्त्र से विहित है, वह कहलावेगा साधारण प्रायश्चित्त; जैसे गंगा स्नान, ईश्वर-नामोच्चारण आदि। इस प्रकार प्रायश्चित्त के दो भेद हो गये-साधारण प्रायश्चित्त और असाधारण प्रायश्चित्त। ज्ञातपाप की निवृत्ति के लिए शास्त्र ने असाधारण प्रायश्चित्त कहा है और जन्मान्तरके अज्ञान पाप की निवृत्ति के लिए साधारण प्रायश्चित्त। असाधारण प्रायश्चित्त का यह स्वभाव है कि जिस पापके नाशके लिए जो प्रायश्चित्त शास्त्र ने विहित किया है वही पाप उस प्रायश्चित्त से दूर होगा, दूसरा नहीं। पर जन्मान्तर के पापका तो ऐसा ज्ञान नहीं कि कौन सा पाप है ? और वह किस प्रायश्चित्त से दूर होगा ? इसलिए साधारण प्रायश्चित्त करते रहना चाहिए।

साधारण प्रायश्चित्त से सब पाप दूर होते हैं। पर जो गङ्गा-स्नान आदि साधारण प्रायश्चित्त कह आये हैं, वे केवल

प्रायश्चित-रूप ही नहीं, अपितु काम्यरूप भी है। क्योंकि गंगा-स्नान से और ईश्वर के नामोच्चारण से उत्तम लोक की प्राप्ति शास्त्र में कही है। इस लिए काम्यरूप हैं और पाप के नाशक होने से प्रायश्चित्तरूप हैं और पाप के नाशक होने से प्रायश्चित्तरूप भी हैं। जैसे अश्वमेध ब्रह्महत्या-आदि पाप का नाशक भी है और स्वर्ग-प्राप्तिरूप फल का कारण भी। वैसे गंगास्नान आदि भी हैं, केवल प्रायश्चित नहीं। क्योंकि गंगा-स्नान आदिसे उत्तम लोक की प्राप्ति होती है, पर मुमुक्षु उसे चाहता नहीं। जिसे उत्तम लोक की वांछा होती है; उसे तो गंगास्नान आदि उसका पाप नष्ट करके उत्तम लोकमें पहुँचाते हैं और जिसे लोक की कामना नहीं होती उसके केवल पाप नष्ट करते हैं। इसलिए कामना-सहित इनका अनुष्ठान काम्यरूप प्रायश्चित है और लोककामना-रहित इनका अनुष्ठान केवल प्रायश्चित रूप है। जैसे वेदान्त-मत में सम्पूर्ण कर्म सकाम पुरुष के लिए संसार के हेतु और निष्काम के लिए अन्तःकरण की शुद्धि-द्वारा मोक्ष के कारण हैं, वैसे एक ही गंगास्नान तथा ईश्वर का नामोच्चारण सकाम के लिए काम्य प्रायश्चित तथा निष्काम के लिए केवल प्रायश्चित हैं। इसलिए मुमुक्षु साधारण प्रायश्चित कर्म करता रहे। इस प्रकार जन्मान्तर के सब पापों का नाश बिना ही ज्ञान के हो जाता है।

निष्काम कर्म वंध्य होते हैं

मुमुक्षु के जन्मान्तरीय काम्यकर्म भी वंध्य हैं (फल के कारण नहीं)। क्योंकि वेदांत का सिद्धान्त है:- "कर्म के अनुष्ठान के समय पुरुष की इच्छा फल का कारण है। इच्छासहित कर्मों का अनुष्ठान स्वर्गादि फल का कारण है और निष्कामभाव से कर्मों का अनुष्ठान स्वर्गादिफल का कारण नहीं"। (हमारे एकभविक वाद में भी) कर्म की सिद्धि के बाद भी पुरुष की इच्छा ही फलका कारण है। जब पुरुष मुमुक्षु बन जाता है तब वह इच्छा दूर हो जाती है। इसलिए

जन्मान्तर के काम्य कर्म भी फल के कारण नहीं रहते। जैसे किसी मनुष्यने धनप्राप्ति की इच्छा से धनी पुरुष की आराधना की, पर यदि आराधना के बाद भी धन की इच्छा दूर हो जाय तो धनप्राप्तिरूप फल नहीं मिलता। इस प्रकार केवल कर्म से ही मोक्ष मिल जाता है।

कर्म से मोक्ष मिलने के प्रकार

(१) इस जन्म में काम्य और निषिद्ध कर्म तो किये ही नहीं; जिससे ऊर्ध्व लोक और अधोलोक मिल सके। दूसरे जन्म के प्रारब्ध, काम्य और निषिद्ध कर्मों का भोग से नाश हो ही गया। नित्य-नैमित्तिक के न करने से जो पाप होता है, वह उनके करने से नहीं होगा। जन्मान्तर के संचित निषिद्ध कर्मों का साधारण प्रायश्चित्त से नाश हो जायगा। जन्मान्तर का संचित काम्य कर्म भी इच्छा न होने से मुमुक्षु को फल नहीं देगा। इसलिए मुमुक्षु नित्य-नैमित्तिक एवं साधारण प्रायश्चितरूप कर्म करता ही रहे। यदि इस जन्म में कहीं ज्ञात निषिद्ध कर्म भी बन जाय तो असाधारण प्रायश्चित भी कर लिया करे।

(२) †अथवा नित्य-नैमित्तिक ही कर्म करता रहे और प्रायश्चित कर्म न करे। क्योंकि मुमुक्षु के संचित निषिद्ध कर्म और काम्य कर्म नष्ट हो जाते हैं। जैसे वेदांतमत में ज्ञानवान् के संचित कर्म का नाश माना है, वैसे ही हमारे एकभविक मतमें भी निषिद्ध और काम्यकर्मों का त्याग करके नित्यनैमित्तिक कर्म करनेवाले मुमुक्षु के संचित कर्मों का नाश माना है।

(३) ‡अथवा संचित काम्य और निषिद्ध सब मिलकर के एकही जन्म देते हैं, इसलिए मुमुक्षु का एक जन्म और होगा।

---

† अथवा—साधारण और असाधारण प्रायश्चित्त बहुत श्रम साध्य है। अतः उस की अपेक्षा सुगम मार्ग बताते हैं 'अथवा' से।

‡ अथवा—सञ्चित कर्म का बिना भोग के क्षय होना असम्भव है—

(४) §अथवा योगी के †कायव्यूह की भाँति एक ही समय सब संचित कर्म अनंत शरीरों का निर्माण करेंगे। उनसे मुमुक्षु अपने उत्तर (अगले) एक जन्ममें सब का फल भोग लेगा।

(५) ‡अथवा नित्य और नैमित्तिक कर्म करने से जो क्लेश होता है; वही जन्मान्तर के संचित निषिद्ध कर्मों का फल है, इसलिए जन्मान्तर के संचित निषिद्ध कर्म दूसरा जन्म नहीं देंगे। जो संचित काम्य हैं, वे एक जन्म अथवा एक ही समय अनंत शरीर देंगे। जिससे मुमुक्षु को उत्तर (अगले) जन्ममें दुःखका लेश भी नहीं होगा; केवल सुख का भोग होगा। क्योंकि जन्मान्तरके संचित

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥ (ब्रह्म, ३, ४। ८१।५५)

'सञ्चित कर्म बिना भोगे करोड़ों वर्षों तक भी क्षीण नहीं हो सकता। पूर्व जन्मों में किया हुआ पुण्य-पाप अवश्य भोगना ही होगा।' अतः मुमुक्षु के सञ्चित कर्म कदापि नष्ट नहीं हो सकते। इसलिए पक्षान्तर कहते हैं।

§ अथवा—प्रत्येक कर्म अपना भोग एक विशेष देश और काल में दिया करता है। सभी कर्मों का फल एक समय या एक देश में हो ही नहीं सकता। अतः अनन्त विचित्र कर्म-राशि मिलकर एक जन्म देगी—यह आशा ही नहीं की जा सकती। इसलिए कायव्यूह का सिद्धान्त मान कर अपना मत पुष्ट करते हैं।

† कायव्यूह—कायों (शरीरों) का व्यूह (रचना या समूह)। योगी अपने विविध कर्मों के अनुरूप विविध शरीरों की रचना करके कर्मों का उपभोग करता है, इसी प्रकार मुमुक्षु के कर्मों का उपभोग भी हो सकेगा।

‡ अथवा—अनन्त कर्म यदि एक साथ अपना उपभोग कायव्यूह की रीति से देंगे, तो उनमें पाप-राशि अनन्त दुःख भी देगी। फिर तो अगले (अनन्तर) जन्म में दुःखों के डर से कोई मुमुक्षु इस मार्ग पर पैर ही न धरेगा। इस भय को दूर करने के लिए कहते हैं—'अथवा'।

विहित कर्मों से शरीर मिला है और संचित निषिद्ध कर्म नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान-जन्म क्लेशसे पहले जन्म में ही भोग लिये गये।

इसप्रकार प्रायश्चित्त कर्म के बिना भी केवल नित्य और नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से ही मोक्ष मिल जाता है। नैमित्तिक कर्म के समय‡ नैमित्तिक कर्म करे और नित्यकर्म निरंतर करे, यह हुआ शास्त्रोक्त एकभविकवाद।

'ज्ञानसे बंधनिवृत्ति' ग्रन्थ का प्रयोजन नहीं

क्योंकि जो वस्तु दूसरेसे न हो सके वह मुख्य प्रयोजन होती है। जैसे रूप का ज्ञान नेत्र के बिना किसी दूसरे से नहीं हो सकता। अतः वह नेत्र का मुख्य प्रयोजन है। परन्तु बंधकी निवृत्ति ग्रंथके बिना भी कर्मसे हो जाती है। इसलिए बंधकी निवृत्ति ग्रंथका प्रयोजन नहीं। इसप्रकार ग्रंथ के अधिकारी, विषय और प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकते।

सम्बन्ध-खण्डन

अधिकारी आदिके न होनेसे संबंध भी नहीं बन सकता। क्योंकि—(क) विषय के अभावसे ग्रंथ और विषयका प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव संबंध नहीं बन सकता। (ख) अधिकारी और फलके अभावसे उनका प्राप्य-प्रापकभाव संबंध नहीं बन सकता। (ग) अधिकारी के न होने से उसका और विचार का कर्तृ-कर्तव्यभाव संबंध नहीं बन सकता। (घ) ज्ञान निष्फल होने से ग्रन्थ का और ज्ञान का जन्य-जनकभाव संबंध नहीं बन सकता। सफल वस्तुको जन्म देना ही सार्थक होता है। ज्ञान सफल नहीं, यह पहले दिखा ही दिया गया है। (ङ) ज्ञान के स्वरूप का भी अभाव है, इसलिए भी ज्ञान और ग्रन्थ का सम्बन्ध नहीं बन सकता; क्योंकि आपके सिद्धान्त में जीव

‡ समय—ग्रहणादि-काल और गया आदि देश ही निमित्त हैं। इन निमित्तों के उपस्थित होने पर श्राद्धादि नैमित्तिक कर्म किये जाते हैं।

और ब्रह्मके अभेद-निश्चयका नाम ज्ञान है। वह अभेद-निश्चय सिद्ध नहीं हो सकता। जीव और ब्रह्म का अभेद है ही नहीं—यह बात हम विषय-खंडन के समय कह आये हैं। इसलिए अभेद-निश्चय-रूप ज्ञान सिद्ध नहीं होता। अधिकारी आदि अनुबंधों के न होने से ग्रन्थ का आरंभ ही निरर्थक है।

उत्तर पक्ष

अधिकारीमंडन—पूर्वपक्षी ने कहा था कि "मोक्ष में दो अंश हैं—(१) कारणसहित जगत् की निवृत्ति और (२) ब्रह्म की प्राप्ति। पहले अंश की इच्छा किसी को नहीं होती। किन्तु त्रिविध-दुःख-निवृत्ति की इच्छा सब को होती है। वह दुःख-निवृत्ति अपने अपने उपायों से हो ही जाती है। दूसरे अंश की निवृत्ति की इच्छावाला कोई मुमुक्षु अधिकारी आप को मिलेगा ही नहीं ?" उसका समाधान करते हैं—

मूल-सहित जग-हानि बिन, ह्वै न त्रिविध दुःख-ध्वंस।
यातैं जन चाहत ‡सकल, प्रथम मोच्छ को अंस ॥६॥

कारणसहित जगत् की निवृत्ति हुए बिना तीन प्रकार के दुःखों

‡ सकल—ग्रन्थकारने यहाँ सकल पद देकर एक मार्मिक बात कह दी। पहले शंका के समय कहा था—विवेकी (सांख्याचार्य) मोक्ष के प्रथम अंश को नहीं चाहते और अब कहा कि सकल जन चाहते हैं। इसका आशय हुआ कि विकल जन भले ही न चाहें, सकल तो चाहते हैं। सांख्य, तेरस का चाँद है। उसमें दो कलाएँ कम हैं (५) पुरुष की एकता और प्रकृति की अनिर्वचनीयता। ये दोनों कलाएँ पूर्ण हो जाती हैं—वेदान्त में। अतः वेदान्त और वेदान्तिजन हैं सकल (सम्पूर्णकलावाले) इनका ज्ञान अधूरा कैसे रहेगा ? वे भलीभाँति जानते हैं कि रोग-निदान समझ लेने मात्र से रोग दूर नहीं होता, अपितु उसे मिटाना होगा।

का नाश नहीं हो सकता। इसलिए सब लोग मोक्ष के पहले अंश की इच्छा करते हैं ॥ ९ ॥

अर्थात् जगत् का मूल कारण अज्ञान और जगत् दोनों के नाश के बिना त्रिविध दुःखों का नाश नहीं होता। मूल अविद्या के नष्ट होते ही सब दुःख, दुःखों के कारण रोग आदि और रोग आदि के आश्रय शरीर आदि का नाश हो जाता है। इसलिए त्रिविधि दुःख-नाश के निमित्त कारण सहित जगत की निवृत्ति रूप मोक्ष के प्रथम अंश को सभी पुरुष चाहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो लोग दवा-दारू करने में समर्थ हैं, उनके भी दुःख निश्चित रूप से दूर नहीं होते। कितनों के रोगादिजन्य दुःख औषधादि उपायों से मिट भी जाते हैं और कितनों के नहीं भी मिटते। मिटने पर दुबारा भी हो ही जाते हैं। इसलिए औषधादि उपायों से दुःख की नियम से निवृत्ति नहीं होती। जो एकवार मिट जाने पर दुबारा उत्पन्न न हो, वह अत्यंत-निवृत्ति है। औषध आदि उपायों से नियमतः दुःख निवृत नहीं होता। निवृत्त हुआ भी पुनः उत्पन्न हो जाता है। अतः इन उपायों से अत्यंत निवृत्ति नहीं होती। दुःख के सब साधनों का नाश होने पर ही सब दुःखों की नियमतः निवृत्ति हो सकती है। जव कारण ही नहीं रहा तो दुःख कहाँ ?। अतः दुःख-निवृत्ति के लिए दुःख के साधन की निवृत्ति की इच्छा भी सब को होती है। दुःख का साधन; अज्ञान और प्रपंच है। यह बात छांदोग्य-उपनिषद् के भूमाविद्या प्रकरण में कही है।

वहाँ का प्रसंग यह है—एकबार सनत्कुमारजी के यहाँ नारदजी पहुँचे। उन्होंने कहाः—"भगवन्! जो आत्मज्ञानी होते हैं; उन्हें शोक नहीं होता और मुझे शोक हो रहा है। इसलिए मैं अज्ञानी हूँ। मुझे उपदेश दीजिए; जिससे मेरा अज्ञान दूर हो।"

सनत्कुमारजी बोले—"नारद! भूमा (ब्रह्म) शोकरहित है-सुखरूप है और भूमा से भिन्न सब तुच्छ है, दुःख का साधन है"।

इस प्रकार ब्रह्म से भिन्न जो जो वस्तु है वह सब दुःखों का कारण (साधन) कही है। अज्ञान और उसका कार्य प्रपंच ब्रह्म से भिन्न है अतः दुःख के साधन हैं। इनकी निवृत्ति से ही सब दुःखों की नियमतः और अत्यंत निवृत्ति होगी। अतएव सकल दुःख-निवृत्ति के लिए अज्ञान सहित प्रपंच की निवृत्तिरूप मोक्ष के प्रथम अंश की इच्छा सिद्ध हो जाती है।

पूर्वपक्षीने कहा था कि "जिस वस्तु का अनुभव किया हो उसे ही प्राप्त करने की इच्छा होती है। ब्रह्म का किसी ने अनुभव किया नहीं। अतः ब्रह्म-प्राप्ति-रूप मोक्ष के दूसरे अंश की इच्छा किसी को नहीं हो सकती।" उसका समाधान यह है—

किय अनुभव सुखको सबहि, ब्रह्म सुन्यो सुखरूप।
ब्रह्मप्राप्ति या हेतु तैं, चहत विवेकी-भूप ॥ १० ॥

सब लोगोंने सुखका अनुभव किया ही है और उसकी इच्छा भी सब को होती है। "ब्रह्म नित्य सुखरूप है" यह सत्-शास्त्रों से सुना है, इसलिए उत्तम विवेकी सुख-स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति चाहते हैं ॥ १०॥

केवल सुख सब जन चहैं, नहीं विषय की चाह।
अधिकारी यातैं बनै, ह्वै जु विवेकी-नाह‡ ॥ ११ ॥

सब लोग केवल सुख चाहते हैं, विषय कोई नहीं चाहता, इसलिए उत्तम विवेकी पुरुष इस ग्रन्थ के अधिकारी हो सकते हैं। ११।

सिद्धान्ती—आपने कहा कि "सब लोग विषय-जन्य-सुख की इच्छा करते हैं और मोक्ष में विषय-जन्य-सुख होता नहीं। किन्तु जगत् में प्राप्त होता है। अतः मोक्ष की इच्छावाले अधिकारी के न होने से ग्रन्थारम्भ निष्फल है।" हम आपसे पूछते हैं कि (क) मुमुक्षु ही नहीं? या (ख) मुमुक्षु तो है, पर उसकी ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होती?

---

‡ नाह = नाथ (उत्तम)

वादी—मुमुक्षु ही नहीं।

सिद्धान्ती—सफेद झूठ ! क्यों कि सब लोग सभी दुःखों का नाश और नित्य-सुख की प्राप्ति चाहते हैं, यही मोक्ष है। अतः सब ‡मुमुक्षु हैं।

वादी—पर मेरा कहना तो यह है कि 'सब लोग विषय-सुख चाहते हैं'।

सिद्धान्ती—सुख-मात्र चाहते हैं; ऐसा कहना चाहिए। फिर चाहे वह सुख विषयों से मिलता हो, चाहे विषयों के बिना। यदि सब लोग विषय-जन्य ही सुख चाहते हों, तो सुषुप्ति के सुख की इच्छा नहीं होनी चाहिए। क्योंकि सुषुप्ति का सुख विषय-जन्य नहीं।

---

‡ यद्यपि मुमुक्षुओं ने अभीतक ब्रह्म का अनुभव नहीं किया, फिर भी ब्रह्मप्राप्ति की उन्हें इच्छा हो सकती है। क्योंकि इच्छा सदैव अनुभूत विषय में ही होता है—ऐसा कोई नियम नहीं। तो भोजन की इच्छा भी कैसे बनेगी? क्योंकि जिस भोजन में इच्छा हो रही है, वह अभीतक खाया नहीं गया, रसना से उसका अनुभव नहीं किया गया। अत कहना होगा कि अनुभूत पदार्थ के सजातीय पदार्थ में इच्छा होती है। अब नये भोजन में इच्छा बन जायगी; क्योंकि यह भोजन पहले अनुभूत भोजन का सजातीय (सदृश) है। इसी प्रकार अनुभूत ब्रह्मरूप महान् सुख की प्राप्ति में भी इच्छा हो सकेगी। क्योंकि पहले जो विषयावच्छिन्न चेतन रूप सुख अनुभव में आचुके हैं, उनका सजातीय यह ब्रह्मरूप सुख है।

अधिष्ठानतादि साजात्य को लेकर भी कहा जा सकता है कि यद्यपि ब्रह्मरूप अधिष्ठान का अनुभव नहीं हुआ; क्योंकि उसका अनुभव हो जाने से मुक्त ही हो जाता, मुमुक्षु ही न रहता। फिर भी शुक्तिरूप या शुक्त्यवच्छिन्न चेतन-रूप अधिष्ठान का अनुभव करके मुमुक्षु ने देख लिया है कि सर्पादि भ्रमों की निवृत्ति होती है। उस अधिष्ठान के सदृश शुद्ध ब्रह्म भी अधिष्ठान है। अतः इसके ज्ञान में इच्छा क्यों न होगी? उसके ज्ञान ही से तो जगद् भ्रम दूर होगा।

इसलिए सुख-मात्र को चाहते हैं; केवल विषय-जन्य सुख को नहीं। वस्तुतः देखा जाय तो सब लोग आत्म-सुख ही चाहते हैं; विषय-जन्य-सुख नहीं चाहते; क्यों कि विषय-जन्य-सुख तो सब को थोड़ा-बहुत प्राप्त है ही। फिर भी ऐसी इच्छा सदा बनी ही रहती है कि "हमें ऐसा सुख प्राप्त हो जो कभी नष्ट न हो।' ऐसा सुख आत्म-स्वरूप मोक्ष है। अतः सब मुमुक्षु हैं। 'कोई मुमुक्षु नहीं''— यह कहना सफेद झूठ नहीं तो और क्या है ?

ग्रंथारंभ की सफलता

वादी—सब मुमुक्षु तो सिद्ध हो गये। पर उनकी प्रवृत्ति ग्रन्थ में सिद्ध नहीं होती। इसलिए ग्रन्थारम्भ निष्फल है ?

सिद्धान्ती—अच्छा बताइए:—(क) ग्रन्थ मोक्ष का साधन नहीं; इसलिए ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होती ? अथवा (ख) ग्रन्थ से भिन्न कोई दूसरा साधन है; जिनमें प्रवृत्ति होनेसे ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होती ? अथवा (ग) जिन शम-दम आदि से ग्रन्थ में अधिकार प्राप्त होता है ; ऐसा शमदम-आदिवाला ज्ञान के योग्य कोई अधिकारी नहीं ?

वादी—ग्रन्थ मोक्ष का साधन नहीं।

सिद्धान्ती—यह कहना गलत है। क्योंकि ज्ञान से मोक्ष अवश्य-मेव मिलता है , यह वेदों का सिद्धान्त है। ज्ञान श्रवण से होता है। श्रवण दो प्रकार का है-पहला वेदान्त-वाक्यों का श्रोत्र के साथ संयोग-रूप, और वेदान्त-वाक्यों का विचार रूप। पहला श्रवण ही ज्ञान का कारण है ‡ दूसरा नहीं ; क्योंकि शब्दजन्य ज्ञान में इन्द्रिय के साथ शब्द का संयोग ही सर्वत्र कारण होता है। इसलिए वेदान्त-

‡ दूसरा विचारात्मक श्रवण अंग श्रवण कह जाता है। क्योंकि यह प्रथम श्रवण का उपकारक है। अतः द्वितीय श्रवण का प्रथम श्रवण में और प्रथम श्रवण का साक्षात्कार में उपयोग है।

वाक्य और श्रोत्र का संयोग रूप श्रवण ब्रह्मज्ञान का कारण है। अवान्तर-वाक्य का श्रवण परोक्ष-वाक्य का श्रवण परोक्ष-ज्ञान का कारण है और महावाक्य का श्रवण अपरोक्ष-ज्ञान का कारण है यह बात पहले कह आये हैं। जिसे ज्ञान होने पर भी असंभावना और विपरीतभावना होती हो। वह दूसरा श्रवण, मनन और निदिध्यासन करे।

(क) वेदान्त-वाक्य के विचार रूप श्रवण से वेदान्त-वाक्य-गत असम्भावना दूर होती है। 'वेदान्त-वाक्य ब्रह्म के प्रतिपादक हैं या किसी दूसरे अर्थ के ? 'ऐसा संशय वेदान्त-वाक्य-गत असम्भावना कहलाती है। जो वेदान्त-वाक्यों के विचार से दूर होती है।

(ख) मनन से प्रमेयगत असम्भावना दूर होती है। जीव और ब्रह्म की एकता वेदान्त का प्रमेय है। 'वह एकता सत्य है ? या जीव और ब्रह्म का भेद सत्य है' ? ऐसा संशय प्रमेयगत असम्भावना है; जो मनन से दूर होती है।

(ग) विपरीत भावना निदिध्यासन से दूर होती है। इस प्रकार प्रथम श्रवण तो ज्ञान-द्वारा मोक्ष का कारण है। विचाररूप श्रवण मनन, और निदिध्यासन ये असम्भावना तथा विपरीतभावना की निवृत्ति द्वारा मोक्ष के कारण हैं।

वेदान्त नाम उपनिषद् का है। यद्यपि इस ग्रन्थ से वे भिन्न हैं तो भी उनके वाक्यों के समान अर्थवाले हिन्दी-वाक्य इस ग्रन्थ में हैं। इनके श्रवण से भी ज्ञान होता है। यह बात तीसरी तरङ्ग में कहेंगे। अतः ज्ञान-द्वारा ग्रन्थ मोक्ष का कारण है। विचार-रूप और मनन-रूप यह ग्रन्थ है। इसलिए असम्भावना-दोष की निवृत्ति-द्वारा मोक्ष का कारण है। यह आपका यह कहना कि 'ग्रन्थ से मोक्ष नहीं मिलता' केवल हठ है।

हिन्दी-ग्रंथ की सफलता

वादी--ग्रन्थ से मोक्ष मिलता होगा, पर जब दूसरे साधनों से ही मोक्ष मिल जाता है तो यह ग्रन्थ बनाने की क्या जरूरत है ?

सिद्धान्ती—वे दूसरे साधन कौन से हैं, जिनसे मोक्ष मिल जाता है ?

वादी--उपनिषद्, सूत्रभाष्य, आदि बहुत से संस्कृत ग्रन्थ जीव-ब्रह्म की एकता के प्रतिपादक हैं। उसके ज्ञान से ही मोक्ष मिल जायगा, फिर इस ग्रंथकी क्या आवश्यकता ?।

सिद्धान्ती—यद्यपि यह बात सत्य है, तो भी जिन मुमुक्षुओं की बुद्धि उन ग्रंथों का अर्थ समझने में समर्थ नहीं; उन्हें ज्ञान कैसे होगा ? इसलिए मंदबुद्धि मुमुक्षुओं की इस ग्रंथ में प्रवृत्ति होगी।

वादी--मान लो कि ग्रंथ से मोक्ष भी मिल सकता है, संस्कृत ग्रन्थों से मंदबुद्धि को बोध भी नहीं होता और मुमुक्षु भी हैं। फिरभी ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होसकेगी। क्योंकि जैसा विवेक, वैराग्य आदिसे सम्पन्न अधिकारी कहा है; वैसा मिलना कठिन है। अपने में साधनों का अभाव देखकर कोई भी मनुष्य ग्रन्थ पढ़ने में प्रवृत्त नहीं होगा।

सिद्धान्ती--अच्छा, कहिए ! बहुत अधिकारी नहीं ? या कोई भी अधिकारी नहीं ?

वादी—बहुत अधिकारी नहीं।

सिद्धान्ती—यह तो हम भी मानते हैं।

वादी—अरे भाई ! कोई भी ज्ञान के योग्य अधिकारी नहीं; ऐसा कहता हूँ।

सिद्धान्ती--यह आप का कहना ठीक नहीं; क्योंकि अन्तःकरण में तीन दोष होते हैं १-मल, २-विक्षेप, और ३-स्वरूप का आवरण। मल नाम पाप का, विक्षेप नाम चञ्चलता का और आवरण नाम अज्ञान का है। शुभ कर्मों से मल-दोष, उपासना से विक्षेप-दोष

और ज्ञान से आवरण-दोष दूर होते हैं। जिनके अंतःकरण में मल और विक्षेप दोष हैं; वे अधिकारी नहीं। पर इस जन्म में अथवा पूर्व जन्म में शुभकर्म और उपासना करने से जिनके मल-विक्षेप नष्ट हो चुके हैं, वे ज्ञान के योग्य अधिकारी हैं। उनका ग्रन्थ में प्रवृत्ति हो सकेगी।

विषयी और पामर पुरुषों के लक्षण

वादी--संसारमें देखते हैं कि सब लोग विषय-सुखमें हीं रचे-पचे रहते हैं और आप के इस नित्य सुख को तो कोई नहीं चाहता।

सिद्धान्ती—यह कैसे मानें; क्यों कि चार प्रकार के लोग होते हैं, †विषयी, ‡पामर; जिज्ञासु और मुक्त।

१–शास्त्र के अनुसार विषय भोगता हुआ परलोक या इस लोक के भोगों के लिए जो कर्म करता रहता है, वह विषयी है।

---

† विषयी—विषयी तीन प्रकार के होते हैं--(१) उत्तम, (२) मध्यम, (३) कनिष्ठ। इनमें जो ब्रह्मलोक की लिप्सा से सकाम कर्मों में प्रवृत्त होता है, वह उत्तम विषयी कहलाता है। जो केवल स्वर्ग की इच्छा से सकाम कर्मों को करता है; वह मध्यम विषयी है। जो इस लोक के ही राज्य आदि विषयों की चाह में उन के साधन सकाम कर्मों का अनुष्ठान करते हैं उन्हें कनिष्ठ विषयी कहा करते हैं।

‡ पामर के तीन भेद हैं--(१) उत्तम, (२) मध्यम, और (३) कनिष्ठ।

(१) उत्तम पामर—जो शास्त्र-वेत्ता होकर इस लोक के तुच्छ भोगों में ही आसक्त रहता है।

(२) मध्यम पामर—जिसने अन्य मुख से शास्त्रों को सुना है, परन्तु उनमें विश्वास नहीं रखता और लौकिक भोगों में तल्लीन रहता है।

(३) कनिष्ठ पामर—जिसे शास्त्र-संस्कार बिलकुल नहीं। केवल सांसारिक भोगों में फंसा रहता है।

२—इस लोक के निषिद्ध तथा विहित भोगों में आसक्त संस्कार-रहित जो पुरुष, वह पामर है।

जिज्ञासु का लक्षण

जो पुरुष उत्तम संस्कारों के कारण सत्–शास्त्र का श्रवण करता रहता है; वह जिज्ञासु है। उसे ऐसा विवेक होता है कि 'विषय-सुख अनित्य है' । जब विषय भोगते हैं तब भी उसमें कुछ–न–कुछ दुःख अवश्य रहता है। परिणाम में विनाशी सुख, दुःखका कारण है और वर्तमान में भी नष्ट हो जाने के भय से दुःख का कारण है। विषय–सुख दुःखसे खाली नहीं, इसलिए दुःखरूप है।

दुःख की निवृत्ति लौकिक उपायोंसे नहीं होती। क्योंकि जो जो उपाय किये जाते हैं, उनसे भी सब दुःख निवृत्त नहीं होते और एकबार निवृत्त हो जाने पर भी दुबारा आ खड़े होते हैं। जबतक शरीर है, तबतक दुःख की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती। क्योंकि शरीर-मात्र पुण्य और पाप के मसालेसे बनता है। मनुष्य-शरीर तो मिश्रित कर्मों का फल प्रसिद्ध ही है। देव-शरीर भी मिश्रित कर्मों का ही फल है। यदि देव-शरीर अकेले पुण्य का ही फल होता तो उसे अपनी विभूतिसे अधिक दूसरे देवकी विभूति देखकर ताप (जलन) नहीं होना चाहिए। देवों की तो बात ही क्या; देव–शिरोमणि इन्द्र को भी दैत्य-दानवों के भयका दुःख बना ही रहता है–शास्त्र उठाकर देखिए ! यदि देव–शरीर अकेले पुण्य का ही फल होता तो देवताओं को दुःख नहीं होना चाहिए था। इसलिए देव–शरीर भी पुण्य-पाप (दोनों) का फल है। श्रुतिमें जो कहा है कि "देवता पाप–रहित हैं" उसका इतना ही मतलब है कि 'कर्म का † अधिकार केवल मनुष्य

---

† परमेश्वर की भक्ति में तो सभी को अधिकार है, किन्तु वर्ण-आश्रमोचित कर्मों में यथा-योग्य वर्ण-आश्रमवाले मनुष्यों को ही अधिकार है, सबको नहीं। जिस में वर्ण आश्रम का अभिमान नहीं, उसका उन कर्मों में अधि-

शरीरमें है, दूसरों में नहीं'। देव-शरीरमें किये हुए शुभाशुभ का फल तो देवताओं को नहीं होता, परन्तु देव-शरीर से पूर्व शरीर में किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल देव-शरीर में भी भोगना ही पड़ता है। इसलिए देव-शरीर भी मिश्रित कर्मों का फल है।

तिर्यक् (रेंगकर चलनेवाले) पशु-पक्षियों का शरीर भी मिश्रित कर्मों का फल है। क्योंकि जो उन्हें प्रसिद्ध दुःख होता है, वह पाप का फल है और जो मैथुन (रतिक्रीडा) आदि का सुख होता है, वह पुण्य का फल है।

पेट के बल चलनेवाले को तिर्यक्, पांखों से उड़ने वाले को पक्षी और चार पैरों से चलनेवाले को पशु कहते हैं। कहीं कहीं तीनों ही तिर्यक् शब्द से कहे गये हैं। इस रीति से सब-के-सब शरीर पुण्य-पाप के मसाले से बने हुए हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि कुछ शरीर कम पाप और अधिक पुण्य से बने होते हैं, जैसे देव-शरीर। देवों के पुण्य की अपेक्षा उन में पाप कम है। इसलिए कम पाप और अधिक पुण्य से बने शरीर देव-शरीर कहे जाते हैं। इसी अभिप्राय से शास्त्रों में देव-शरीर को केवल पुण्य का फल कहा है। इसलिए विरोध नहीं आता। जैसे किसी गांव में बहुत ब्राह्मण रहते हों तो उसे 'ब्राह्मण ग्राम' कह देते हैं। वैसे ही बहुत पुण्य होने के कारण देव-शरीर को भी केवल पुण्य का फल कह दिया गया है, पर केवल पुण्य का फल नहीं है।

कार नहीं। जैसे ज्ञानी और बालक। ज्ञानी के समान सर्वज्ञ देवताओं का, एवं बालक के समान अज्ञ पशु-पक्षियों का कर्म में कदापि अधिकार नहीं। अतः उनके किये कर्मों से किसी प्रकार का शुभ या अशुभ फल नहीं मिला करता। वर्तमान शरीरों में जो उन्हें फल मिल रहा है; वह उनके पूर्व जन्म के कर्मों का है।

† तिर्यक—चलते या उड़ते समय जिनका मेरुदण्ड पृथिवी के समानान्तर रहे, उसे तिर्यक् कहते हैं।

तिर्यक्-पशु-पक्षियों का शरीर अधिक पाप और कम पुण्य से बना है। उत्तम पुरुषों का शरीर देवों के समान विशेष पुण्य से और नीच पुरुषों का शरीर साँप आदि के समान विशेष पाप से बना हुआ होता है। इस प्रकार सब शरीर पुण्य-पाप-रचित हैं। पाप का फल दुःख है। इसलिए जब तक शरीर है तबतक दुःख से छुटकारा नहीं हो सकता।

यह शरीर धर्म और अधर्म का फल है। इनकी निवृत्ति के बिना शरीर की निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि इस शरीर का पात हो जाने पर भी पुण्य-पाप से कोई-न-कोई दूसरा शरीर मिलेगा। इसलिए पुण्य-पाप की निवृत्ति के बिना शरीर की निवृत्ति नहीं हो सकती।

ये पुण्य और पाप राग और द्वेष को नष्ट किये बिना दूर नहीं हो सकते ; क्योंकि वर्तमान पुण्य-पाप की भोगसे निवृत्ति होने पर भी राग और द्वेष से दूसरे पुण्य और पाप बनते रहते हैं। इसलिए राग-द्वेष की निवृत्ति के बिना पुण्य-पाप दूर नहीं हो सकते।

ये राग और द्वेष अनुकूल ज्ञान और प्रतिकूल ज्ञान से होते हैं। जिसके सम्बन्ध में अनुकूल ज्ञान होता है, उसमें राग हो जाता है और जिसके सम्बन्ध में प्रतिकूल ज्ञान होता है, उससे द्वेष हो जाता है। इसलिए अनुकूल-ज्ञान और प्रतिकूल-ज्ञान की निवृत्ति के बिना राग और द्वेष की निवृत्ति नहीं हो सकती।

यह अनुकूल-ज्ञान और प्रतिकूल-ज्ञान भेद-ज्ञान से होता है, क्योंकि जिस वस्तु को अपने स्वरूप से भिन्न जानते हैं, उसी के सम्बन्ध में अनुकूल या प्रतिकूल ज्ञान होता है। सुख के साधन का नाम अनुकूल है और दुःख के साधन का नाम प्रतिकूल।

अपना स्वरूप सुख का या दुःख का साधन नहीं। इसलिए स्वरूप से भिन्न जो जो वस्तु जानते हैं, उसी के सम्बन्ध में अनुकूल और प्रतिकूल ज्ञान होता है। इस प्रकार पदार्थों के सम्बन्धमें अपने से भिन्न

जो ज्ञान है; वही अनुकूल और प्रतिकूल ज्ञान का कारण है। इस भेद-ज्ञान की निवृत्ति के बिना अनुकूल-ज्ञान और प्रतिकूल-ज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकी।

यह भेद-ज्ञान अविद्या-जन्य है। क्योंकि "अखिल प्रपञ्च और उसका ज्ञान; स्व-रूप के अज्ञान-कालमें है" यह सब वेद और सब शास्त्रों का ढिंढोरा है। अखिल दुःखों का कारण, स्वरूप का अज्ञान है। स्वरूप का अज्ञान स्वरूप-ज्ञान के बिना दूर नहीं होता। जैसे रस्सी का अज्ञान रस्सी के ज्ञान से दूर होता है; दूसरे किसी के ज्ञान से नहीं। इसलिए स्वरूप का ज्ञान ही अज्ञान की निवृत्ति के द्वारा दुःख की निवृत्ति का कारण है।

स्वरूप-ज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। वह ब्रह्म नित्य है, आनंद स्वरूप-ज्ञान से नित्य दुःख-सम्बन्ध-रहित ब्रह्मस्वरूप आनन्द की प्राप्ति होते ही दुःख की निवृत्ति और परम-आनन्द की प्राप्ति का कारण स्वरूपज्ञान है। इसलिए स्वरूप जानने के योग्य है। ऐसा जिसे विवेक हो जाता है वह ‡ जिज्ञासु है स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से भिन्न जो अपना स्वरूप उसका ब्रह्मरूप से अपरोक्षज्ञान जिसे हो, वह मुक्त कहा जाता है।

जिज्ञासु की ग्रन्थ में प्रवृत्ति और अधिकार

पामर और विषयी पुरुष को तो विषय-सुख में ही अलम्बुद्धि है, अर्थात् इससे बढ़कर कुछ नहीं ऐसा वे समझते हैं। यद्यपि किसी-किसी विषयी पुरुष को भी कभी-कभी परम सुख की इच्छा तो होती है, पर वह जो वस्तुतः परम सुख के उपाय नहीं; उन्हीं में उपाय-बुद्धि

‡ जिज्ञासु--तीन प्रकार के होते हैं--उत्तम, मध्यम, और कनिष्ठ।
(१) उत्तम--जिसमें तीव्र जिज्ञासा है और जो विवेकादि चार साधनोंसे सम्पन्न है
(२) मध्यम--जो मन्द जिज्ञासा से वेदान्त-श्रवण में प्रवृत्त हो।
(३) कनिष्ठ--जिस में जिज्ञासा बहुत मन्द हो और निष्काम कर्म, उपासना में प्रवृत्त हो।

से प्रवृत्त होता है; क्योंकि उपाय का ज्ञान सत्सङ्ग और सत्–शास्त्र के श्रवण (सुनने) से होता है। ये इसे मिलते ही नहीं। इसलिए पामर और विषयी पुरुष की परम-सुख की प्राप्ति के लिए ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होती। दूसरा भी एक कारण है कि ये बेचारे दुःख की निवृत्ति करने के लिए और और उपायों में ही लगे रहते हैं। इसलिए भी ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होती।

परन्तु जिज्ञासु पुरुष की विषय–सुखमें अलंबुद्धि (यही पर्याप्त है) नहीं होती। उसे परम सुख की तथा अत्यन्त दुःख–निवृत्ति की इच्छा होती है। पर 'परम सुख की प्राप्ति और दुःख की अत्यन्त निवृत्ति ज्ञान के बिना नहीं होती ? ऐसा जिसे सत्सङ्ग से विवेक हो चुका है; उस की ग्रन्थ में प्रवृत्ति हो सकती है।

मुक्त पुरुष की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञानवान् को मुक्त कहते हैं। वह ज्ञानी कृतकृत्य है, विदित–वेदितव्य है। उस के कुछ कर्तव्य (करणीय) बाकी नहीं रहता यह बात आगे कहेंगे। यदि मुक्त पुरुष लीला से (खेल समझ कर) प्रवृत्त हो भी जाय तो भी प्रवृत्ति से उसका कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतएव मुक्त पुरुष के लिए भी ग्रन्थ नहीं। इस प्रकार मोक्ष की इच्छा वाला जिज्ञासु अधिकारी सिद्ध हो जाता है।

विषय का मण्डन

साच्छी ब्रह्मस्वरूप इक, नहीं भेद को गंध।
राग–द्वेष मति के धरम, तामैं मानत अन्ध॥ १२॥

साक्षी ब्रह्मस्वरूप है और एक है। (ब्रह्म और साक्षी में) कुछ भी भेद नहीं। राग और द्वेष ये बुद्धि के धर्म हैं। पर अज्ञान से अन्धा हुआ मनुष्य साक्षी में ही मान बैठता है॥ १२॥

सिद्धान्ती—आपने जो कहा कि "जीव रागादि–क्लेश-सहित है और ब्रह्म क्लेश–रहित है। इसलिए इनकी एकता ग्रन्थ का विषय

नहीं", यह बात ठीक है। पर राग-द्वेष-रहित साक्षी की ब्रह्म के साथ एकता बन सकती है।

वादी—मैंने यह भी तो कहा है कि "कर्ता-भोक्ता से भिन्न साक्षी बंध्या पुत्र के समान असत् है"।

सिद्धान्ती—सुनिए तो सही! कर्ता-भोक्ता जो संसारी, उसके विशेष भाग का नाम साक्षी है। यदि साक्षी का ही निषेध कर देंगे तो संसारी के विशेष भाग का निषेध होने से कर्ता-भोक्ता से ही हाथ धो बैठेंगे (कर्ता का ही निषेध हो जायगा)।

वादी—साक्षी है क्या वस्तु?

सिद्धान्ती—एक ही अन्तः करण विवेकी की दृष्टि से चेतन की उपाधि है और अविवेकी की दृष्टि से चेतन का विशेषण है। इसलिए एक ही चेतन विवेकी को साक्षी-रूप से भासता है और अविवेकी को जीव-रूपसे भासता है।

वादी—विशेषण और उपाधि का क्या मतलब?

सिद्धान्ती—जो वस्तु जितने देश में स्वयं हो, उतने देश में स्थित दूसरी वस्तु को जतावे (बोधित करे) और आप अलग रहे वह उपाधि होती है। जैसे नैयायिक-मतमें ‡ कर्ण-गोलक-वृत्ति आकाश को श्रोत्र कहते हैं। यह कर्णगोलक श्रोत्र की उपाधि है। क्योंकि कर्णगोलक जितने देश में स्वयं है; उतने देश में स्थित आकाश को श्रोत्र रूप से जताता है और आप अलग रहता है। इसलिए कर्णगोलक श्रोत्र की उपाधि है।

वैसे ही अन्तःकरण भी जितने देश में स्वयं है, उतने देश में स्थित चेतन को साक्षी-संज्ञा से जताता है और आप अलग रहता है। इसलिए अन्तःकरण साक्षी की उपाधि है। उपाधि वाले को

---

‡ कर्ण-गोलक-वृत्ति— (कर्णगोलके वृत्तिर्यस्य) कर्ण-गोलक में रहना है जिसका, ऐसा जो आकाश, वही श्रोत्र इन्द्रिय कहा जाता है।

उपहित कहते हैं। मतलब यह है कि †अन्तःकरण-वृत्ति जो चेतन-मात्र, वह साक्षी है।

जो अपने सहित वस्तु को जतावे वह विशेषण होता है। जैसे "कुण्डलवाला पुरुष आया है" में पुरुष का कुण्डल विशेषण है। क्योंकि अपने सहित पुरुषका आना कुण्डल जता रहा है। इसलिए विशेषण है। "नीलरूपवाले घटको मैं देखता हूँ।" में भी 'नीलरूप' घटका विशेषण है। विशेषण-सहित को विशिष्ट कहते हैं। वैसे ही अन्तः करण भी कर्ता-भोक्ता जो जो जीव, चेतन उसका विशेषण है। क्योंकि अन्तःकरण-सहित चेतन को कर्ता-भोक्ता-रूप से अन्तःकरण जताता है। इसलिए संसारी का अन्तःकरण विशेषण है। यह मतलब हुआ कि "अन्तःकरण में वृत्ति चेतन और अन्तःकरण को संसारी कहते हैं' यह बात आगे चतुर्थ तरङ्ग में विस्तार-पूर्वक कही जायगी।

राग-द्वेष आदि क्लेश संसारी में हैं, साक्षी में नहीं। संसारी का भी जो विशेषण अन्तःकरण है उसमें हैं और जो विशेष्य चैतन्य है उसमें नहीं; क्योंकि संसारी के विशेष्य चैतन्य-भाग का साक्षी से भेद नहीं। एक ही चैतन्य अन्तःकरण-सहित संसारी है और अन्तःकरण भाग को छोड़कर साक्षी है। साक्षी में और संसारी के विशेष-भाग में कुछ भेद नहीं। यदि विशेष्य भाग में भी क्लेश मान लेंगे तो साक्षी में भी माननें पड़ेंगे। वेद का सिद्धान्त है कि "साक्षी

---

† अन्तःकरण-वृत्ति चेतन-मात्र--इन दो पदों में से यदि पहला न रखकर साक्षी का 'चेतन-मात्र' इतना ही लक्षण करें तो शुद्ध ब्रह्म में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि चेतन--मात्र वह भी है। अन्तःकरण--वृत्ति कहने से शुद्ध ब्रह्म नहीं लिया जा सकता। क्योंकि वह अन्तःकरण-वृत्ति नहीं।

चेतन-मात्र न कहकर अन्तःकरण-वृत्ति---इतनी ही लक्षण करने से आभास में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि आभास भी अतःकरण-वृत्ति है। चेतन-मात्र कहने से आभास का ग्रहण नहीं होगा। क्योंकि आभास चेतन-मात्र नहीं।

क्लेश रहित है"। इसलिए संसारी के विशेष्य-भाग में क्लेश नहीं, किन्तु विशेषण-मात्र अन्तःकरण में हैं। इसी अभिप्राय से दोहे के तीसरे पाद में राग-द्वेष बुद्धि के धर्म कहे हैं; जीव के नहीं।

अन्तःकरण विशिष्ट की ब्रह्म से एकता न भी बने, पर अन्तःकरण उपहित साक्षी की ब्रह्म से †एकता बनने में क्या बाधा है ?

जो आपने यह का था कि "साक्षी नाना है और ब्रह्म एक है। इसलिए नाना साक्षियों की एक ब्रह्म से एकता बन नहीं सकती। यदि व्यापक एक ब्रह्म से साक्षी का अभेद स्वीकार करेंगे तो साक्षी भी सब शरीरों में व्यापक एक ही होगा। इसलिए उसे सब शरीरों के सुख-दुःख का भान होना चाहिए। यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यद्यपि ईश्वर-साक्षी एक है। जीव-साक्षी नाना और अपरिच्छिन्न हैं। तो भी व्यापक ब्रह्म से भिन्न नहीं। जैसे घटाकाश नाना है और अपरिच्छिन्न हैं। तो भी महाकाश से भिन्न नहीं। प्रत्युत महाकाश रूप ही घटाकाश हैं। वैसे ही नाना और परिच्छिन्न साक्षी भी ब्रह्म रूप ही हैं।

आप का यह कथन भी असङ्गत है कि "सुख-दुख अन्तःकरण की वृत्ति के विषय नहीं"। क्योंकि यद्यपि सुख-दुःख साक्षी भास्य हैं और साक्षी नाना हैं। तो भी जब अन्तःकरण का परिणाम सुखरूप या दुःखरूप होता है; उसी समय अन्तःकरण की ज्ञानरूप वृत्ति सुख-दुःख को विषय करती है। वृत्ति में आरूढ साक्षी उन्हें प्रकाशित करते हैं। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकारोंने सुख दुःख

---

† किसी सफेद सादे कागज पर बीच में किसी एक अक्षर के आकार की जगह छोड़ते हुए चारों ओर स्याही फैला दें। बीच में जो सफेद अक्षर प्रतीत होता है, उसका अपने आधार सफेद कागज़ से जितना भेद है, उतना ही भेद ब्रह्म और साक्षी में है। अर्थात् स्याही-रूप उपाधि को हटा देने से अक्षर कागज़-रूप हो जाता है, कागज़ से भिन्न प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार अन्तःकरण-रूप उपाधि हटा देने से ब्रह्म से भिन्न साक्षी नाम नहीं रह जाता शुद्ध ब्रह्म ही हो जाता है।

साक्षी के विषय कहे हैं, वृत्ति के बिना केवल साक्षी के विषय नहीं।

रहस्य यह है—जैसे आकाश में 'घटाकाश' यह नाम और 'जल लाना' रूप कार्य प्रतीत होते हैं। वे घटरूप उपाधि की दृष्टि से ही प्रतीत होते हैं। घटरूप उपाधि की दृष्टि के बिना घटाकाश यह नाम और 'जल लाना' रूप कार्य प्रतीत नहीं हो सकते। किन्तु आकाश-मात्र ही प्रतीत होगा। इसलिए घटाकाश महाकाश रूप है। वैसे ही चेतन में 'साक्षी' यह नाम और 'धर्म-सहित अन्तःकरण का प्रकाश-रूप कार्य अन्तःकरणरूप उपाधि की दृष्टि से ही प्रतीत होते हैं। अन्तःकरणरूप उपाधि की दृष्टि के बिना 'साक्षी' यह नाम और धर्म सहित अन्तःकरण का प्रकाश-रूप कार्य प्रतीत नहीं हो सकते। किन्तु चैतन्य-मात्र ब्रह्म ही प्रतीत होगा। इसलिए साक्षी ब्रह्मरूप है।

इसी अभिप्राय से दोहे के पहले चरण में साक्षी एक कहा है। क्योंकि उपाधि की दृष्टि के बिना साक्षी में नानापन और परिच्छिन्न भाव प्रतीत नहीं हो सकते। वह साक्षी जीवपद का लक्ष्य है-यह आगे षष्ठ तरङ्ग में कहेंगे।

इस प्रकार जीव-ब्रह्म की एकता ग्रन्थ का विषय सिद्ध हो जाता है।

प्रयोजन का मण्डन

‡ कार्याध्यास-निरूपण

सजातीय ज्ञान संसकार तैं अध्यास होत,
सत्य-ज्ञान-जन्य संसकार को न नेम हैं।
दोष को न हेतुता अध्यासविषै देखियत,
पट विषै हेतु जैसे तुरी-तंतु-वेम है॥

‡ अज्ञान-कृत स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च कार्याध्यास कहलाता है।

आतमा द्विजाति, सङ्ख पीत, सिता कटु भासै,
सीप मैं विरागी रूप देखै बिन प्रेम है।
नभ नील रूपवान भासत कटाह तम्बू,
जिनके न कोउ पित्त प्रभृति अछेम हैं ॥ १३ ॥

सजातीय वस्तु के ज्ञान के संस्कारों से अध्यास होता है। अध्यास होने से सच्ची वस्तु के ही ज्ञान-जन्य-संस्कार हों, ऐसा कोई नियम नहीं। जैसे वस्त्र के कारण तुरी-तन्तु-वेम हैं वैसे, अध्यास का कारण नेत्र आदि का दोष है-यह भी तो देखने में नहीं आता। आत्मा जाति-रहित है फिर भी उसे ब्राह्मण आदि कह दिया जाता है। शङ्ख सफेद होने पर भी आँख के दोष से पीला दीखने लग जाता है। मिसरी मीठी होने पर भी पित्त आदि दोषों से कटु लगने लगती है। दोष को अध्यास का कारण बताने वाले ऐसे उदाहरणों के होने पर भी इनके विपरीत उदाहरण भी मिल ही जाते हैं। जैसे राग-रहित संन्यासी को चाँदी में प्रीति न होने पर भी सीपि में उसे चाँदी दिखाई दे जाती है। जिसे पित्त आदि कोई रोग नहीं उसे भी आकाश नीले रङ्ग का, कड़ाहे और तम्बू के से आकार का दीखता ही है। इसलिए दोष भी अध्यास का कारण नहीं ॥ १३ ॥

जो आपने कहा कि "बन्ध सत्य है; उसकी ज्ञान से निवृत्ति नहीं होगी। मिथ्या वस्तु ही ज्ञान से निवृत्त होती है। आत्मा में मिथ्या बन्ध की सामग्री देखने में नहीं आती। इसलिए बन्ध सत्य है। अतः उसकी ज्ञान से निवृत्ति नहीं होगी।'

यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि बन्ध मिथ्या है; उसकी ज्ञान से निवृत्ति होती है।

वादी—सत्य वस्तु का ज्ञान ही संस्कारद्वारा अध्यास का कारण है। जैसे सच्चे साँप का ज्ञान संस्कारद्वारा साँप के अध्यास का कारण

है। वैसे ही यदि बंध सत्य हो तभी सत्य बंध का ज्ञान हो। पर सिद्धान्त में कोई भी अनात्म वस्तु सत्य है ही नहीं। इसलिए जो सत्य वस्तु का ज्ञान संस्कारद्वारा अध्यास की सामग्री थी, उसका अभाव होने से बंध अध्यास नहीं, किन्तु सत्य है।

सिद्धान्ती—आप का यह कहना भी संगत नहीं। क्योंकि हम तो कहते हैं कि अध्यास में संस्कार द्वारा सत्य वस्तु का ज्ञान कारण नहीं; किन्तु वस्तु का ज्ञान कारण है। फिर चाहे वह वस्तु सत्य हो चाहे असत्य। यदि आपके कथनानुसार सत्य वस्तु का ज्ञान ही अध्यास में कारण मान लें तो जिसने सच्चे छुहारे का वृक्ष तो कभी नहीं देखा। पर कई–बार मदारी का बनाया हुआ झूठा छुहारे का वृत्त देखा है और मदारी को यह कहते हुए भी सुना है कि 'यह छुहारे का वृत्त है' तो उसे खजूर का वृत्त देखकर छुहारे का अध्यास नहीं होना चाहिए; क्योंकि सत्य छुहारे का उसे ज्ञान ही नहीं। हमारे कथनानुसार तो मदारी के मिथ्या छुहारे का उसे ज्ञान है; अध्यास हो सकता है। इसलिए सजातीय वस्तु के ज्ञान-जन्य-संस्कार ही अध्यास के कारण हैं। यह आपको मानना ही पड़ेगा। संस्कार के जनक ज्ञान का विषय चाहे मिथ्या हो चाहे सत्य, वह ज्ञान संस्कारद्वारा अध्यास का कारण है।

"ज्ञान-जन्य-संस्कार कारण है" कहने में भी कुछ अर्थभेद नहीं। क्योंकि "संस्कारद्वारा अध्यास का कारण है। इसलिए संस्कारद्वारा ज्ञान को कारणता कहने से भी ज्ञान–जन्य–संस्कार ही अध्यास में कारणता सिद्ध होती है।

वादी—"सजातीय वस्तु के ज्ञान का संस्कार अध्यास का कारण है"। ऐसा कहने की अपेक्षा 'केवल वस्तु का ज्ञान ही अध्यास में कारण हैं' कहने में क्या बाधा है ?

सिद्धान्ती—केवल वस्तु के ज्ञान को अध्यास में कारण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह नियम है "जो कारण होता है वह कार्य के

अव्यवहित पूर्वकाल में होता है"। जैसे घट का कारण डण्डा है। वह घट के अव्यवहित पूर्वकाल में ही होता है। वैसे ही जो अध्यास का कारण ज्ञान को मान लिया जाय तो वह भी अध्यास के अव्यवहित पूर्वकाल में होना चाहिए।

वादी—यह नियम ठीक नहीं। क्योंकि जिसे साँप का ज्ञान होता है उसे महीनों बाद भी रस्सी में साँप का अध्यास हो जाता है। वह नहीं होना चाहिए। क्योंकि रस्सी में साँप के अध्यास का कारण जो साँप का ज्ञान था, वह नष्ट हो चुका। माना ! यह पूर्व काल में तो है ही, तो भी अव्यवहित पूर्व-काल में नहीं।

अन्तराय (व्यवधान) रहित का नाम अव्यवहित है और अन्तराय (व्यवधान) सहित का नाम व्यवहित है।

आप ऐसा कहें कि "कार्य के पूर्व काल में कारण होना चाहिए। चाहे वह व्यवहित पूर्वकाल में हो चाहे अव्यवहित पूर्वकाल में। 'कार्य के अव्यहित पूर्वकाल में ही कारण होना चाहिए' यदि यह नियम मान लेंगे। तो "विहित कर्म स्वर्ग-प्राप्ति का कारण है और निषिद्धि कर्म नरक–प्राप्ति का" यह शास्त्रीय वचन अप्रमाणित हो जायगा। क्योंकि कायिक-वाचिक-मानसिक क्रिया का नाम कर्म है। प्रत्येक क्रिया अनुष्ठान के बाद ही नष्ट हो जाती है। स्वर्ग–नरक कालान्तर में मिलते हैं। स्वर्ग–नरक–प्राप्ति के अव्यवहित पूर्व–काल में विहित कर्म और निषिद्ध कर्म है ही नहीं। जैसे व्यवहित काल के शुभकर्म और अशुभ कर्म स्वर्ग–प्राप्ति और नरक-प्राप्ति के कारण हैं, वैसे ही "व्यवहित पौर्वकालिक साँप का ज्ञान रस्सी में साँप के अध्यास का कारण है"।

सिद्धान्ती—आप का यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि आपने नष्ट-ज्ञान और नष्ट कर्म से अध्यास और स्वर्गादि की प्राप्ति स्वीकार करली, वैसे ही मृत कुम्हार और नष्ट दण्ड से भी घट की उत्पत्ति आप को स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि जैसे रस्सी में सर्पाध्यास के व्यवहित

पूर्वकाल में सर्प का ज्ञान है और स्वर्ग-नरक-प्राप्ति के व्यवहित पूर्वकाल में शुभाशुभ कर्म हैं। वैसे ही घड़े के व्यवहित पूर्वकाल में नष्ट दण्ड और मृत कुम्हार भी है। इनसे भी घट होना चाहिए; पर होता नहीं। इसलिए व्यवहित पूर्वकाल में जो वस्तु होती है; वह कारण नहीं। किन्तु अव्यवहित पौर्वकालिक वस्तु ही कारण है।

शुभ-अशुभ कर्म भी कालान्तर में होनेवाले स्वर्ग-नरक की प्राप्ति के कारण नहीं। किन्तु शुभ कर्म अपने अव्यवहित उत्तर काल में धर्म की उत्पत्ति करते हैं और अशुभ कर्म अधर्म की उत्पत्ति करते हैं। ये धर्म और अधर्म अन्तःकरण में रहते हैं। इनसे कालान्तर में स्वर्ग-नरक की प्राप्ति होती है। प्राप्ति के बाद ही धर्म-अधर्म का नाश होता है। इसी अभिप्राय से शास्त्रों में शुभ कर्म और अशुभ कर्म अपूर्वद्वारा फल के कारण कहे हैं; साक्षात् नहीं।

अपूर्व नाम धर्म अधर्म का है। अदृष्ट तथा-पुण्य-पाप भी उन्हीं के नाम हैं कहीं कहीं धर्म-अधर्म की जनक क्रिया को भी धर्म-अधर्म कह देते हैं। जैसे कोई शुभ क्रिया करता हो उसे लोग कहते हैं 'यह धर्म करता है' और अशुभ क्रिया करनेवाले को कहते हैं 'यह अधर्म करता है'।• इन शुभ-अशुभ क्रियाओं का नाम धर्म नहीं, किन्तु ये धर्म-अधर्म की जनक हैं। ‡ यहां क्रिया को वैसे ही धर्म-अधर्म कह दिया गया है, जैसे आयु के वर्धक घी को शास्त्र में आयु कहा है। निष्कर्ष यह है कि अव्यवहित पूर्वकाल में ही कारण होना चाहिए।

सजातीय वस्तु के ज्ञान का संस्कार ही अध्यास का कारण है

रस्सी में सर्पाध्यास के अव्यवहित पूर्वकाल में सर्पका ज्ञान होता नहीं, इसलिए साँप का ज्ञान रस्सी में साँप के अध्यास का

---

† मीमांसा-भाष्य में शबर स्वामी ने कहा है—

यो यागमनु तिष्ठति, तं धार्मिकः इति समाचक्षते।
यजति शब्दवाच्यमेव धर्मं समामनन्ति॥

कारण नहीं। किन्तु सर्प–ज्ञान जन्य संस्कार ही रस्सी में सर्पाध्यास का कारण है। वैसे सीपी में चाँदी के अध्यास का चांदी–ज्ञान-जन्य संम्कार है। सब जगह संस्कार ही अध्यास के कारण हैं।

वस्तु का ज्ञान संस्कार का कारण है। और जैसे जैसे शुभाशुभ-कर्म जन्य धर्माधर्म अन्तःकरण में रहते हैं, वैसे वस्तु के ज्ञान जन्य संस्कार भी अन्तःकरण में रहते हैं, इसीलिए जिस मनुष्य को पहले कभी साँप का ज्ञान तो हुआ नहीं और दूसरी वस्तुओं के ज्ञान-जन्य संस्कार हैं। उसे रस्सी में साँप का अध्यास नहीं होता। जिस वस्तु का अध्यास होता है, उसकी सजातीय वस्तु के ज्ञान का संस्कार अध्यास का कारण है, विजातीय वस्तु के ज्ञान का संस्कार कारण नहीं साँप का सजातीय साँप होता है, दूसरा नहीं। साँप का जिसे पहले ज्ञान नहीं, पर दूसरी वस्तु का ज्ञान है; उसे सजातीय वस्तु के ज्ञान-जन्य संस्कार नहीं। इसलिए रस्सी में साँप का अध्यास उसे नहीं होता। सूक्ष्म अवस्था का नाम संस्कार है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अध्यास से पहले जो सजातीय वस्तु का ज्ञान उसके संस्कार ही ही अध्यास के कारण हैं।

वादी–पर सच्ची वस्तु के ज्ञान का संस्कार ही अध्यास का कारण है और झूठी वस्तु के ज्ञान-संस्कार कारण नहीं। यह बात तो ठीक है न ?

सिद्धान्ती--इसका उत्तर तो हम छुहारे का दृष्टांत देकर साफ कर आये हैं। इसलिए मिथ्या वस्तु के ज्ञान-जन्य-संस्कार भी अध्यास के कारण हैं। वही बन्ध के अध्यास में भी होते हैं। क्योंकि अहंकार आदि अनात्म वस्तुएँ और उनका ज्ञान, बंध कहलाता है। 'यह अनात्म वस्तु रस्सी के साँप की भाँति जब प्रतीत होती है तब है और जब प्रतीत नहीं होती तब नहीं' यह हमारा वेद-सम्मत सिद्धान्त है। यही कारण है कि सुषुप्ति में अखिल प्रपञ्च का अभाव कहा गया है। सुषुप्ति में कोई पदार्थ प्रतीत नहीं होता। इसलिए

अखिल प्रपञ्च का सुषुप्ति में लय हो जाता है। इसे शास्त्र में † दृष्टि-सृष्टि-वाद कहते हैं। यह बात आगे षष्ठ-तरङ्ग में समझावेंगे।

इस प्रकार अनन्त अहङ्कार आदि और इनके ज्ञान उत्पन्न और लीन (लय) होते रहते हैं। अहङ्कार आदि के उत्पत्ति-लय अपने ज्ञान के साथ ही होते रहते हैं। जब अहङ्कार आदि की प्रतीति की उत्पत्ति होती है तब अहङ्कार आदि की उत्पत्ति होती है और जब प्रतीति का लय होता है तब अहङ्कार आदि का लय हो जाता है। अहङ्कार आदि और उनके ज्ञान का अध्यास है। यह बात अनिर्वचनीय ख्याति के वर्णन (चतुर्थ तरङ्ग) में कहेंगे। यद्यपि अहङ्कार साक्षी-भास्य है। यह बात विषय-प्रतिपादन के अवसर पर कह दी गई है। अतः अहङ्कार की प्रतीति साक्षीरूप है। उसके उत्पत्ति और लय बन नहीं सकते। तो भी साक्षी अहङ्कार का प्रकाशन भी वृत्ति से ही करता है, साक्षात् नहीं। उस वृत्ति के ही उत्पत्ति-लय होते हैं। अतएव अहङ्कार की प्रतीति के उत्पत्ति-लय कह दिये जाते हैं। इस रीति से उत्तर-उत्तर अहङ्कार आदि और इनके ज्ञान की जो उत्पत्ति उसके कारण, पूर्व पूर्व मिथ्या अहङ्कार आदि के ज्ञान-जन्य-संस्कार बन जाते हैं।

वादी—आप के कथनानुसार पूर्व पूर्व अध्यास का संस्कार उत्तर-उत्तर अध्यास का कारण हो सकता है। पर सबसे पहले उत्पन्न हुआ जो अहङ्कार और उसका ज्ञान, उनका कारण तो पूर्व अध्यास का संस्कार हो नहीं सकता, क्योंकि यदि प्रथम अध्यास के पहले भी कोई अध्यास होता तो उसका संस्कार उस प्रथम अध्यास का कारण बन सकता ; पर प्रथम अध्यास के पहले कोई अध्यास है ही नहीं। इसलिए अखिल वस्तुओं के प्रथम अध्यास का कारण सिद्ध नहीं होता।

सिद्धान्ती—आपको यह शङ्का सिद्धान्त के न जानने से ही हो

† दृष्टि-सृष्टि-वाद-दृष्टि (अविद्या) वृत्ति के समय सृष्टि पदार्थों की उत्पत्ति।

रही है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि १-ब्रह्म, २-ईश्वर, ३-जीव, ४-अविद्या, ५-अविद्या और चैतन्य का सम्बन्ध और ६-इन पांचों का पारस्परिक भेद; ये छह वस्तुएँ स्वरूप से अनादि हैं। जिस वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती वह स्वरूप से अनादि कही जाती है। इन †छहों की उत्पत्ति नहीं होती। इसीलिए ये स्वरूप से अनादि हैं।

वादी-अहंकार आदि की तो श्रुति (वेद) में उत्पत्ति कही है ?

सिद्धान्ती—हम अहंकार को स्वरूप से कब अनादि कह रहे हैं। अहंकार आदि सब वस्तुएँ प्रवाहरूप से अनादिहैं। क्योंकि

---

† छहों की उत्पत्ति नहीं होती--क्यों नहीं होती ? क्योंकि उनमें से किसी की भी उत्पत्ति बन ही नहीं सकती--

(१) ब्रह्म--इसे कौन उत्पन्न करेगा ? अविद्या, ईश्वर या जीव ? अविद्या तो उसी के सहारे टिकी है। वह अविद्या का अधिष्ठान है। फिर भला अविद्या से कैसे उत्पन्न होगा ? यदि अविद्या से उत्पन्न होगा, तो अविद्या से पहले वह नहीं रहेगा। फिर तो अविद्या किस के सहारे टिकेगी ? अतः अविद्या से पहले उसे मानना होगा। इसी प्रकार ईश्वर और जीव भी ब्रह्म के बिना सिद्ध ही नहीं हो सकते। उनसे भी पूर्व सिद्ध ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं बन सकती, अतः ब्रह्म अनादि है।

(२) अविद्या--इस की भी ब्रह्म से उत्पत्ति नहीं बन सकती। क्योंकि ब्रह्म अविकारी है। इस रूप से बन ही न सकेगा। ईश्वर और जीव की तो सिद्धि ही अविद्या की सिद्धि के अनन्तर होती है। अतः अविद्या भी किसी से उत्पन्न न होने के कारण अनादि है।

(३) ईश्वर--जगत्-स्रष्टा की सृष्टि कौन करेगा ? केवल ब्रह्म तो किसी का उत्पादक ही नहीं और न केवल अविद्या ही। दोनों मिलकर तो ईश्वर ही बन जाते हैं अपने आप को कैसे पैदा कर सकेंगे। जीव की सिद्धि अन्तःकरण उपाधि के अधीन है। अन्तःकरणादि की उत्पत्ति ईश्वर करता है, फिर तो जीव भी उसे उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः ईश्वर भी अनादि है।

सब वस्तुओं का प्रवाह कभी नहीं टूटता। अनादि काल में ऐसा कोई समय नहीं था; जिसमें घट न हुआ हो। इसलिए घट का प्रवाह

---

(४) जीव--जीव को कौन उत्पन्न करेगा ? ईश्वर या माया ? जीव यदि नहीं तो उसके अदृष्ट भी नहीं होंगे। फिर ईश्वर किसकी प्रेरणा से जीव की सृष्टि करेगा ? माया का भी यही हाल है। अतः जीव भी अनादि है।

(५) अविद्या और चेतन का सम्बन्ध--यह सम्बन्ध यदि अनादि नहीं तो किस से उत्पन्न होगा ? अनादि-पदार्थों का सम्बन्ध सादि नहीं हो सकता। यदि वह सादि होगा; तो उसकी उत्पत्ति से पूर्व उसके सम्बन्धी का या तो अभाव मानना होगा, या असम्बन्ध। उसका अभाव तो कह नहीं सकते। क्योंकि दोनों अनादि हैं। उनका असम्बन्ध भी नहीं। क्योंकि अधिष्ठान भी हो और अध्यस्त भी हो और उनका सम्बन्ध न हो ऐसा हो ही नहीं सकता। जीव और ईश्वर की सिद्धि तो उक्त सम्बन्ध की सिद्धि के अधीन ही है। अतः वे भी उसके उत्पादक नहीं बन सकते। अगत्या उक्त सम्बन्ध को अनादि मानना पड़ता है।

(६) उक्त पांचों अनादि वस्तुओं का भेद भी अनादि मानना होगा। अन्यथा पांचों का यदि भेद नहीं तो पांचों अभिन्न होंगे। उनकी अभिन्न अवस्था बन नहीं सकती। क्योंकि जड़-चेतन का अभेद कैसा ? यदि उनका अभेद किसी प्रकार मान भी लें; तो अभिन्न एक तत्त्व होगा, उससे किसका और किस से भेद बताया जायगा ? प्रतियोगी और अनुयोगी का नाम ही नहीं और उनका भेद सिद्ध हो जाय--यह नितान्त असम्भव है। अतः पांचों का भेद भी अनादि है।

जीव ईशो विशुद्धा चित्, तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः, षडस्माकमनादयः॥

इन छह अनादि वस्तुओं में ब्रह्म अनादि और अनन्त है। क्योंकि वह तीनों कालों में भी अबाधित है। अविद्यादि-पांच पदार्थ तो अनादि और सान्त हैं; क्योंकि-उनका ज्ञान से बाध होता है।

अनादि है। इसी प्रकार सब वस्तुओं का प्रवाह अनादि है। प्रलय काल में भी सुषुप्ति की भाँति सब वस्तुएँ संस्काररूप होकर रहती हैं। प्रपञ्च का प्रवाह अनादि होने से †प्रपञ्च अनादि है। ऐसा ज्ञान जिसे नहीं; वही ऐसी शंका करेगा कि "प्रथम अध्यास के कारण संस्कार सिद्ध नहीं हो सकते"। सिद्धान्त में किसी अहङ्कार आदि वस्तु का अध्यास सबसे प्रथम है ही नहीं। अपने-अपने पूर्व-पूर्व अध्यास से सभी उत्तर हैं।

इस प्रकार सजातीय के पूर्व-ज्ञान-जन्य संस्कार से अहंकार आदि बन्ध का अध्यास सिद्ध हो जाता है। यह कवित्त के पहले पाद का अर्थ है।

प्रमेय-दोष का खण्डन

वादी—अच्छा! सजातीय पूर्वज्ञान-जन्य संस्कार से अध्यास आपने सिद्ध किया। पर बन्ध के अध्यास होने में तीन प्रकार के (प्रमेय-गत, प्रमाण-गत, प्रमाता-गत) दोष होने चाहिए। आपने तो कोई ऐसा दोष बताया नहीं। इसलिए बन्ध अध्यासरूप नहीं, किन्तु सत्य है?

सिद्धान्ती—आप की यह शंका बन नहीं सकती। क्योंकि यदि दोष के बिना अध्यास न हो सकता हो, तभी दोष अध्यास का कारण माना जा सकता है। जैसे तुरी-तंतु-वेम पट के कारण हैं। उनमें से

---

† प्रपञ्च अनादि होने से सत्य भी होगा—यह सन्देह नहीं कर बैठना चाहिए। क्योंकि—नैयायिकों का प्रागभाव अनादि होने पर भी नश्वर होता है; सत्य नहीं। सत्य वही वस्तु है, जिसकी उत्पत्ति और नाश—दोनों न होते हों। स्वप्न या भ्रम काल में उनके पदार्थ अनादि प्रतीत होते हैं। फिर भी प्रबोध अवस्था में उनका बाध होता है, वे सत्य नहीं रह जाते। वैसे ही प्रपञ्च अनादि भी है फिर भी अधिष्ठान-ज्ञान से उसका बाध होता है। सत्य कदापि नहीं हो सकता।

कोई एकाध न हो तो पट नहीं होता। वैसे दोष अध्यास के कारण नहीं। क्योंकि सादृश्य दोष के बिना भी आत्मा में जाति का अध्यास हो जाता है।

ब्राह्मणत्व आदि जातियां स्थूल शरीर के धर्म हैं, आत्मा और सूक्ष्म शरीर के नहीं। क्योंकि जब दूसरा शरीर प्राप्त होता है तब आत्मा और सूक्ष्म शरीर तो वही-के-वही-(जो पूर्व शरीर में थे) रहते हैं। पर जाति बदलती रहती है। यह नियम नहीं कि 'जो जाति पूर्व शरीर में है; वही उत्तर (आगे के) शरीर में भी हो"। यदि आत्मा या सूक्ष्म शरीर का धर्म जाति हो, तो उत्तर शरीर में दूसरी जाति नहीं होनी चाहिए ; पर होती है। इसलिए आत्मा और सूक्ष्म शरीर का धर्म जाति नहीं ; किन्तु स्थूल शरीर का धर्म है। "मैं द्विजाति हूँ" इस प्रकार ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व और वैश्यत्व जाति का आत्मा में भान होता है। अतः आत्मा में जाति का अध्यास है। जैसे रस्सी में साँप परमार्थतः नहीं, पर भान होता है। अतः रस्सी में साँप का अध्यास है। वैसे ही आत्मा में जाति नहीं, पर भान होता है। अतः आत्मा में जाति का अध्यास है। आत्मा के साथ जाति का सादृश्य नहीं। क्यों कि आत्मा व्यापक है और जाति परिच्छिन्न है। आत्मा प्रत्यक् है और जाति पराक् है। आत्मा विषयी है और जाति विषय है। इस प्रकार आत्मा में विरोधी जाति का भी अध्यास होता है। तीन वर्णों का नाम द्विजाति है।

जैसे आत्मा में सादृश्य के बिना भी जाति का अध्यास होता है। वैसे ही सादृश्य के बिना अहंकार आदि बन्ध का अध्यास भी आत्मा में हो जाता है। सादृश्य दोष अध्यास का कारण नहीं। यदि सादृश्य दोष अध्यास का कारण हो तो (क) आत्मा में जाति का अध्यास नहीं होना चाहिए। ‡(ख) शंख में पीतता का अध्यास नहीं

‡ न्याय-मत में जाति नित्य मानी जाती है। अतः आत्मा में उसके

होना चाहिए और †(ग) मिसरी में कटुता का अध्यास नहीं होना चाहिए। क्यों कि श्वेतता और पीतता का विरोध है; सादृश्य नहीं। एवं मधुरता और कटुता का विरोध है; सादृश्य नहीं। इसलिए अधिष्ठान में मिथ्या वस्तु का सादृश्य दोष अध्यास का कारण नहीं।

प्रमाता–दोष का खण्डन

इसी प्रकार प्रमाता के लोभ-भय आदि दोष भी अध्यास के कारण

नित्यत्वादि से सदृशता मिल जाने के कारण अध्यास बन जायगा—इन आशय से अध्यासानुपपत्ति का दूसरा उदाहरण देते—शङ्ख में.... ।

† कोई कह सकता है कि 'शङ्ख में पीतता का अध्यास नहीं; अपितु कामला—दोषवाले नेत्रों का पीत रङ्ग शंख पर चढ़ जाता है। रंगे वस्त्र के समान शङ्ख भी पीला ही हो गया है; अध्यास नहीं।' किन्तु यह कहना भी उचित नहीं। क्योंकि यदि शङ्ख पर वस्तुतः पीला रग चढ़ गया हो तो दूसरों के दोष–रहित नेत्र भी उस पीलेपन को क्यों नहीं देखते? जैसे रंगे वस्त्र को सभी पीला देखते हैं। अतः शङ्ख वस्तुतः पीला नहीं हुआ; किन्तु अध्यास–मात्र है और अध्यास जिस व्यक्ति को है उसी को दीखता है; औरों को नहीं।

यहाँ यह सन्देह कर सकते हैं कि 'कुछ वास्तविक पदार्थ भी किसी किसी को ही दीखते हैं, सब को नहीं। जैसे जिस व्यक्ति के सामने उड़ता हुआ पक्षी आकाश में बहुत दूर निकल गया हो, उस पक्षी को वह व्यक्ति तो देख रहा है किन्तु दूसरों को वह नहीं दिखाई देता। इसी प्रकार शंख का पीलापन भी सभी नहीं देख सकते। कोई कोई ही देखेगा।' किन्तु यह सन्देह भी ठीक नहीं। क्योंकि आकाश के पक्षी को जो व्यक्ति देख रहा है, यदि वह अपनी अँगुली के इशारे से दूसरों को दिखावे तो दूसरे भी देख लेते हैं। ऐसे ही यदि शङ्ख वस्तुतः पीला है तो उसे देखने वाले व्यक्ति के दिखाने से और लोग भी क्यों न देख सकेंगे? अतः निश्चित है कि शङ्ख में पीतिमा का अध्यास ही है। किन्तु यह अध्यास विवादास्पद अवश्य है। निर्विवाद अध्यास उदाहरण देते हैं—मिसरी में कटुता....... ।

नहीं। क्यों कि जो लोभरहित वैराग्य-संपन्न पुरुष है उसे भी सीपी में चांदी का अध्यास होता है। वह न होना चाहिए। इसलिए प्रमाता का दोष भी अध्यास का कारण नहीं।

प्रमाण-दोष का खण्डन

प्रमाणदोष भी अध्यास का कारण नहीं। क्योंकि सब को रूप-रहित आकाश नील रूप वाला और कटाह-तम्बू-के-से आकार वाला प्रतीत होता है। इसलिए सभी को आकाश में नील रूप और कटाह तम्बू के आकार का अध्यास है। सब के नेत्ररूप प्रमाण में दोष ही है, ऐसा नहीं कह सकते। अतः प्रमाण का दोष अध्यास का कारण नहीं।

आकाश में नील आदि का जो अध्यास है, उसमें अकेले प्रमाण दोष का ही अभाव नहीं। किन्तु †सब दोषों का अभाव है। सादृश्य भी नहीं और प्रमाता का दोष भी नहीं। जैसे सब दोषों के अभाव से भी आकाश में नील आदि का अध्यास होता है। वैसे-आत्मा में भी बन्ध का दोषों के बिना ही अध्यास हो जाता है। इसलिए "दोष के अभाव से बन्ध अध्यासरूप नहीं" यह शङ्का निरर्थक है। क्योंकि सब दोषों का अभाव होने पर भी आकाश में नील आदि का अध्यास सब को होता है। अतः दोष अध्यास का कारण नहीं।

कवित्त के चौथे पाद का यह अर्थ है कि जिन के पित्त प्रभृति (आदि) अच्चेम (दोष) नहीं, उन्हें भी आकाश नील रूप वाला और तम्बू-कटाहाकारवाला भासता है। अतः प्रमाण दोष अध्यास का

---

† 'आकाश नीला है'—इस अध्यास के नेत्ररूप प्रमाण में तिमिर आदि आदि दोष हेतु हो सकते हैं। किन्तु संसार के सभी मनुष्यों को यह रोग हो जायगा—ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती। अतः इसमें प्रमाण-दोष का अभाव है। प्रमेय-दोष का भी अभाव है। क्योंकि नील और आकाश की कुछ भी सदृशता नहीं। प्रमातृदोष का भी अभाव ही है, क्योंकि आकाश में नीलतादि देखने का लोभ किसी को नहीं।

कारण नहीं। क्षेम नाम कुशल का है। उसका विरोधी प्रमाण दोष अक्षेम कहलाता है। ज्ञान की साधन इन्द्रियों को प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार दोष अध्यास के †कारण नहीं। अतः बन्ध के अध्यास में दोष नहीं की अपेक्षा नहीं।

‡संक्षेपशारीरक में बंध के अध्यास में दोषों का भी निरूपण

---

† अध्यास सकारण है; अकारण नहीं। बिना कारण के अध्यास या तो किसी को होगा ही नहीं, या सबको सदा होगा। किन्तु कभी कभी किसी को अध्यास होता है। अतः अध्यास के हेतु दोष मानने ही होंगे। जहाँ और कोई दोष न मिले, वहाँ अविद्या दोष है ही। अध्यास में सादृश्य को हेतु न मानकर सादृश्यज्ञान को हेतु माना करते हैं। ज्ञान तो असदृश पदार्थ में भी हो सकता है। इस प्रकार आकाश–नीलिमा के अध्यास की भी सभी सामग्री है। "रक्तः स्फटिकः"—जैसा ही यह भ्रम है। आकाश में भरे पार्थिव कणों से विश्लिष्ट सूर्य–रश्मियों का नील रंग आकाश में प्रतीत होता है। कटाहाकारता की प्रतीति भी दृष्टि के पथ की सीमा सब ओर एक जैसी रहने से होती है। मधुसूदन सरस्वती-जैसे धुरन्धर विद्वानों ने भ्रम के लक्षण में ही दोष–जन्यता का निवेश किया है। अतः अध्यास सकारण है। फिर भी यहाँ ग्रन्थकार ने जो कारण का निराकरण किया है, वह प्रौढिवादमात्र है। अपना उत्कर्ष प्रदर्शित करना ही इसका प्रयोजन है। ऐसा पं० पीताम्बरजी का कहना है।

‡ संक्षेपशारीरक में अध्यास–हेतु दोषों का वर्णन इस प्रकार है—

(१) प्रमातृदोष—अन्तःकरण देश–गत अज्ञान की विक्षेपहेतु शक्ति में स्थित शुभाशुभ कर्मों के संस्कार ही प्रमाता के दोष हैं।

(२) प्रमाणदोष—चेतन में और कोई प्रमाण नहीं; अपना स्वरूप ही प्रमाण है। उसमें स्थित अविद्या ही प्रमाणदोष है।

(३) प्रमेयदोष—चेतन में प्रपंच की आन्तरता, और वस्तुता को लेकर सदृशता है। अर्थात् चेतन में भी आन्तरता (निरपेक्ष) है और प्रपञ्च में आन्तरता (सापेक्ष) है। चेतन में भी वस्तुता (पारमार्थिक) है और प्रपञ्च में भी वस्तुता (व्यावहारिक) है। यही सदृशता प्रमेयदोष है।

किया है। पर हम नहीं करेंगे। क्योंकि एक तो ग्रन्थ का कलेवर बढ़ जायगा दूसरे जब दोष कारण ही नहीं तो क्यों निरूपण किया जाय।

† कारण—अध्यास का निरूपण

चित् सामान्य प्रकाशतैं, नहीं नसै अज्ञान।
लहै प्रकाश सुषुप्ति में, चेतन तैं अज्ञान ॥ १४ ॥

चैतन्य के सामान्य प्रकाश से अज्ञात का नाश होता नहीं। क्योंकि सुषुप्ति में चैतन्य से अज्ञान प्रकाश पाता है ॥ १४ ॥

सिद्धान्ती—आपने कहा कि "विशेष रूप से अज्ञात वस्तु में ही अध्यास होता है। पर आत्मा स्वयं प्रकाश है। उसमें अज्ञान बन नहीं सकता; क्योंकि तम और प्रकाश का परस्पर विरोध है। जैसे अत्यन्त प्रकाश में पड़ी हुई रस्सी में साँप का अध्यास नहीं होता। वैसे ही स्वयं प्रकाश आत्मा में बन्ध का अध्यास नहीं हो सकता।" यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यद्यपि आत्मा प्रकाशरूप है, तो भी आत्मा का स्वरूप-प्रकाश अज्ञान का ‡ विरोधी नहीं। यदि आत्मा।

† कारण-अध्यास-प्रपंच का कारण अधिष्ठान के विशेषरूप का अज्ञा नहै उसके अध्यास का नाम कारण-अध्यास है। यद्यपि सभी अध्यासों में अज्ञान कारण रहता है। अज्ञान के अध्यास में दूसरा कोई अज्ञान है नहीं, जो कारण बन सके। तथापि जैसे दीपक आप अपना प्रकाशक है, न्यायमत में भेद स्वयं अपना भेदक है। उसी प्रकार अज्ञान अपने और दूसरे अध्यास का स्वयं निर्वाहक है। उसका भी अध्यास हो सकता है।

‡ जैसे अन्धकार आकाशादि के शब्दादि गुणों का विरोधी नहीं, अपितु तेज के रूप का ही विरोधी है। अतः अन्धकार तेज के सामान्य रूप के आश्रित हो कर उसके विशेष रूप को ढकता है। इसलिए सामान्य तेज अन्धकार का विरोधी नहीं। वैसे ही अज्ञान भी चेतन के सामान्य प्रकाश के आश्रित रह कर उसके विशेष प्रकाश को ढँकता है। अतः सामान्य चेतन अज्ञान का विरोधी नहीं।

का स्वरूप प्रकाश अज्ञान का विरोधी होता, तो सुषुप्ति के समय प्रकाशरूप आत्मा में अज्ञान प्रतीत होता है; वह नहीं होना चाहिए।

घोर नींद में से जाग उठने पर पुरुष को ऐसा ज्ञान होता है कि "मैं सुखपूर्वक सोया और मुझे कुछ भान नहीं रहा" इस ज्ञान के विषय, सुख और अज्ञान हैं। जागृत में जो इनका ज्ञान हो रहा है, वह प्रत्यक्षरूप नहीं। क्योंकि जिस ज्ञान का विषय सामने होता है, वही ज्ञान प्रत्यक्षरूप कहा जाता है। जागृतकाल में सुख और अज्ञान है ही नहीं। इसलिए जागृत में सुख और दुःख का ज्ञान प्रत्यक्षरूप नहीं; किन्तु स्मृति रूप है। अज्ञात वस्तु की कभी स्मृति नहीं होती, किन्तु ज्ञात की होती है। सुख और अज्ञान का ज्ञान तो सुषुप्ति में है। वह सुषुप्ति अवस्था का ज्ञान अन्तःकरण और इन्द्रियजन्य भी नहीं; क्योंकि सुषुप्ति में अन्तःकरण और इन्द्रियों का अभाव होता है। इसलिए सुषुप्ति में आत्मस्वरूप ही ज्ञान है। ज्ञान कहिए या प्रकाश; दोनों का मतलब एक ही है।

सुषुप्ति में आत्मा प्रकाशरूप है। उस प्रकाश रूप आत्मा से स्वरूप सुख और अज्ञान की प्रतीत होती है। यदि आत्मस्वरूप प्रकाश अज्ञान का विरोधी होता तो सुषुप्ति में अज्ञान की प्रतीति नहीं होनी चाहिए थी। अतः आत्मा प्रकाशरूप तो है, पर आत्मा का स्वरूप प्रकाश अज्ञान का विरोधी नहीं। उलटा आत्मा का स्वरूप प्रकाश अज्ञान का साधक है। इसी अभिप्राय से वेदान्त-शास्त्र में कहा है कि "सामान्य चैतन्य अज्ञान का विरोधी नहीं" किन्तु विशेष चैतन्य ही अज्ञान का विरोधी है। व्यापक चैतन्य का नाम सामान्य चैतन्य है और वृत्ति में स्थित चैतन्य का विशेष-चैतन्य। जैसे काष्ठान्तर्गत सामान्य अग्नि अन्धकार की विरोधी नहीं। किन्तु घिस कर के प्रकट की हुई अग्नि (बाती आदि में स्थित) अन्धकार की विरोधी है। वैसे ही व्यापक चैतन्य अज्ञान का विरोधी नहीं, किन्तु वेदान्त विचार से अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्तिमें स्थित

चैतन्य अज्ञान का विरोधी है; इस प्रकार (क) वृत्ति-सहित चैतन्य अज्ञान का विरोधी है। अथवा (ख) चैतन्यसहित वृत्ति अज्ञान की विरोधिनी है। पहले पक्ष में अज्ञान के नाश का कारण चैतन्य है और वृत्ति सहायक है, दूसरे पक्ष में अज्ञान के नाश का कारण वृत्ति है और चैतन्य सहायक है। यह **अवच्छेद-वाद** का प्रकार है।

आभासवाद में तो सामान्य चैतन्य की भाँति विशेष चैतन्य भी अज्ञान का विरोधी नहीं। किन्तु वृत्तिसहित आभास या आभास सहित वृत्ति अज्ञान की विरोधी है। प्रकाशरूप चैतन्य अज्ञान का विरोधी नहीं। इसलिए † चैतन्य के आश्रित अज्ञान है, उस अज्ञान से आवृत आत्मा है; उसमें बन्ध का अध्यास बन सकता है।

आप ने कहा था कि "सामान्य रूप से ज्ञात और विशेष रूप से अज्ञात वस्तु में ही अध्यास होता है। आत्मा में सामान्य-विशेष-भाव है नहीं। इस लिए निर्विशेष आत्मा ज्ञात और अज्ञात हो नहीं सकता। उस में अध्यास बन नहीं सकता"।

यह भी ठीक नहीं। क्योंकि 'आत्मा है' यह सब को प्रतीति होती है, आत्मा नाम है अपने स्वरूप का। 'मैं नहीं हूँ' ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती। किन्तु 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीति सब को होती है। इसलिए सत्‌रूप से आत्मा का सब को भान होता है। 'चैतन्य, आनन्द, व्यापक नित्य शुद्ध, नित्य मुक्तरूप आत्मा है' ऐसा सब को प्रतीत नहीं होता। अतः चैतन्य-आनन्द-व्यापक-नित्य शुद्ध-नित्य मुक्त रूप से आत्मा अज्ञात है और सत् रूप से ज्ञात है। इस अनुभव-सिद्ध बात को युक्तिसे उड़ा नहीं सकते।

---

† सूर्य के आश्रित अन्धकार का रहना जैसे असम्भव है, वैसे चेतन के आश्रित अज्ञान का रहना असम्भव है--यह सन्देह नहीं करना चाहिए। क्योंकि सूर्य एक विशेष प्रकाश है। विशेष के आश्रित अन्धकार या अज्ञान नहीं माना जाता। किन्तु यहाँ अज्ञान चेतन के सामान्य रूप के आश्रित माना गया है।

(क) सब को प्रतीत होनेवाला आत्मा सत्रूप सामान्य रूप है। और (ख) केवल ज्ञानी को प्रतीत होनेवाला चेतन आनन्द आदि विशेषरूप है। जो अधिक काल और अधिक देश में हो वह सामान्यरूप तथा जो न्यून देश और न्यून काल में हो वह विशेषरूप।

यद्यपि आत्मा का स्वरूप ही चेतन आनन्द आदि है। इसलिए सत् की भाँति चेतन-आनन्द आदि भी सर्वत्र व्यापक हैं। सत् की अपेक्षा चेतन-आनन्द आदि को न्यून-देशवृत्ति और चेतन आनन्द आदि की अपेक्षा सत् रूप को अधिक देशवृत्ति कहना बनता नहीं। अतः सत् रूप आत्मा का सामान्य अंश है और चेतन-आनन्द आदि विष अंश हैं; यह भी कहते नहीं बनता। तो भी सत् की प्रतीति सबको अविद्याकाल में भी होती है और चेतन-आनन्द-रूप आत्मा है' यह प्रतीति सब को अविद्या काल में नहीं होती, केवल ज्ञानी को ही होती है। अविद्याकाल में चेतन-आनन्द-मुक्तता शुद्धता भी है। परन्तु प्रतीति नहीं होती। इसलिए होते हुए भी न हुए के समान है। इसी अभिप्राय से (क) चैतन्य-आनन्द आदि को न्यून कालवृत्ति कहा है और (ख) सत् रूप को अधिक कालवृत्ति कहा है।

सत्रूप का और चेतन-आनन्द-आदि का सामान्य-विशेष भाव नहीं। परन्तु अल्पकाल और अधिक काल में प्रतीति होने से सामान्य-विशेषभाव-सा है। अतः—आत्मा का सत्रूप सामान्य अंश और चेतन-आनन्द आदि विशेष कहा है।

'आत्मा निर्विशेष है' इस सिद्धान्त की भी हानि नहीं हुई। यदि आत्मा में सामान्य-विशेष भाव स्वीकार करें; तभी इस सिद्धान्त की हानि हो; पर सामान्य-विशेष भाव तो हम स्वीकार करते ही नहीं। किन्तु अविद्या से सामान्य-विशेष-भाव की-सी प्रतीति होती है, इसलिए सामान्य-विशेष-भाव कह दिये गये हैं। तात्पर्य यह है कि

सत्यरूप से ज्ञात और चेतन-आनन्द-नित्यशुद्ध, नित्यमुक्त ब्रह्म-रूप से अज्ञात आत्मा में बन्ध का अध्यास हो सकता है। अध्यास-रूप बन्ध की निवृत्ति भी हो सकती है। यों ग्रन्थ का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

एकभविकवाद का खण्डन

पूर्वपक्षी—मैं ने कहा था कि "निषिद्ध और काम्य कर्म छोड़ कर नित्य नैमित्तिक एवं प्रायश्चित्त कर्म करने चाहिए। निषिद्ध कर्म के अभाव से नीच लोक और काम्य कर्म के अभाव से उत्तम लोक नहीं मिलेगा। नित्य नैमित्तिक कर्म न करने से जो पाप होता है, वह इनके करने से नहीं होगा। अथवा पूर्व-जन्म में जो पाप हो गये हैं, वे साधारण और असाधारण प्रायश्चित्त से नष्ट हो जायँगे। पूर्वकृत काम्यकर्मों के फल की इच्छा न होने से मुमुक्षु को उनका फल नहीं मिलेगा। इसलिए मुमुक्षु को ज्ञान के बिना ही जन्म का अभावरूप मोक्ष मिल जायगा।"

सिद्धान्ती—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि नित्य नैमित्तिक कर्म का भी स्वर्गरूप फल है। यह बात भाष्यकार ने युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध कर दी है। इसलिए नित्य नैमित्तिक कर्म से उत्तम लोक अवश्य मिलेगा। जन्म का अभाव होगा नहीं। यदि नित्य नैमित्तिक कर्म का फल न स्वीकार करें तो नित्य नैमित्तिक कर्म का बोधक वेद निष्फल हो जायगा। क्योंकि यदि नित्य नैमित्तिक कर्म न करने से पाप होता है, तो उस 'पाप का न होना' ही इन कर्मों का फल बनता है। अब तो नित्य नैमित्तिक कर्म न करने से पाप होगा ही नहीं। क्योंकि नित्य नैमित्तिक कर्म का 'न करना' अभाव रूप है और पाप भाव रूप है। अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए "नित्य नैमित्तिक कर्म न करने से पाप होता है" यह कह नहीं सकते। यदि नित्य नैमित्तिक कर्म न करने से

पाप की उत्पत्ति मानें तो "अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती" इस ‡ गीता के दूसरे अध्याय में कहे भगवद् वचन से विरोध आवेगा। अतः मानना होगा कि नित्य नैमित्तिक कर्म के अभाव से भावरूप पाप की उत्पत्ति नहीं होती। नित्य नैमित्तिक कर्म का पाप की अनुत्पत्ति फल नहीं। किन्तु नित्य नैमित्तिक कर्म के बिना भी पाप की स्वयं ही अनुत्पत्ति सिद्ध है। यदि नित्य नैमित्तिक कर्म का स्वर्गरूप फल न स्वीकार करें तो कर्म निष्फल होगा और निष्फल कर्म का बोधक वेद भी निष्फल होगा। अतः मानना पड़ता है कि नित्य नैमित्तिक कर्म का भी स्वर्ग फल है।

अब लीजिए दूसरी बात कि "जन्मान्तर के काम्य कर्मों की इच्छा के अभाव से फल नहीं होगा।"

यह भी ठीक नहीं। क्योंकि कर्मरूपी बीज में से दो अंकुर पैदा होते हैं—एक वासना और दूसरा अदृष्ट। धर्माधर्म का नाम अदृष्ट है। शुभ कर्म से शुभ वासना और धर्मरूप अंकुर पैदा होता है एवं अशुभ कर्म से अशुभ वासना और अधर्मरूप अंकुर पैदा होता है। शुभ वासना से आगे भी शुभ कर्म में प्रवृत्ति होती है और धर्म से सुख का भोग होता हैं। अशुभ वासना से अशुभ-कर्म में प्रवृत्ति होती है और अधर्म से दुःख का भोग हाता है। इस प्रकार वासनारूप और अदृष्टरूप दो अंकुर कर्मरूपी बीजमें से फूटते हैं। उनमें से (क) वासनारूप अंकुर उपाय से नष्ट होता है और (ख) अदृष्टरूप अंकुर बिना फल दिये कभी नष्ट नहीं होता। यह शास्त्र का निर्णय है। अशुभ कर्म से उत्पन्न अशुभ वासनारूप अंकुर सत्सङ्ग आदि उपायों से नष्ट होता है और शुभ कर्म से उत्पन्न शुभ वासना, कुसङ्ग आदि से नष्ट हो जाती है।

‡ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि ॥ (२। १६)

शास्त्र में जो पुरुषार्थ (पुरुष को करने योग्य) कहा है; उससे प्रवृत्ति की कारणीभूत वासना का ही नाश होता है। अतः पुरुषार्थ भी सफल है। भोग के कारण अदृष्ट का नाश नहीं होता। 'बिना फल दिये कर्म निवृत्त नहीं होता' § इस शास्त्रोक्त बात से भी विरोध नहीं हुआ। इस प्रकार अज्ञानी के लिए फलभोग के बिना कर्म की निवृत्ति नहीं होती।

ज्ञानी के लिए तो † भोग के बिना भी कर्म निवृत्त हो जाता है। क्योंकि कर्म, कर्ता और फल परमार्थ से तो हैं ही नहीं, किन्तु अविद्या से कल्पित हैं। उस अविद्या का ज्ञान विरोधी है। इसलिए अविद्या से कल्पित कर्म आदि का भी ज्ञान से नाश होता है। जैसे स्वप्न में नींद से जो जो पदार्थ प्रतीत होते हैं, उनका जाग्रत् में नींद की निवृत्ति से अभाव हो जाता है। वैसे ही अविद्यारूप नींद से प्रतीत होने वाले कर्ता, कर्म और फल का भी ज्ञानदशा-रूप जाग्रत् में अविद्या की निवृत्ति से अभाव हो जाता है। बिना ज्ञान के अभाव हो नहीं सकता।

यदि "इच्छा के अभाव से कर्म के फल का भोग नहीं होता" ऐसा मान लेंगे तो ईश्वर का सङ्कल्प मिथ्या (झूठा) हो जायगा। क्योंकि "फलभोग के बिना अज्ञानी के कर्म की निवृत्ति नहीं होती" यह ईश्वर का सङ्कल्प है। यदि इच्छा के अभाव से किये कर्म का फल नहीं होता तो ईश्वर का सङ्कल्प झूठा ही ठहरेगा और "सत्य-सङ्कल्प ईश्वर है" ‡ यह बात शास्त्र में प्रसिद्ध है। "इच्छा के अभाव से पहले किये काम्य कर्म का फल नहीं होता" यह कहना सङ्गत नहीं; क्योंकि यदि इच्छा के अभाव से ही काम्य

§ "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" (ब्रह्मवै० पु० उत्तर-४-८१-५५)

† "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" (मु० उ० २-२-८)

‡ "सत्यकामः सत्यसंकल्पः" (छां० उ० ८-१-५)

कर्म का फल नहीं होता तो किसी को भी अशुभ कर्म का फल नहीं होना चाहिए। क्योंकि अशुभ कर्म का जो फल दुःख; उसकी इच्छा किसी को भी नहीं होती। इसलिए ज्ञान के बिना कर्म के फल का अभाव नहीं होता।

यह जो आपने कहा कि 'जैसे कर्म के अनुष्ठान काल में इच्छा रहित पुरुष को कर्म का फल वेदान्त मत में नहीं स्वीकार किया ; वैसे कर्म के अनुष्ठान के बाद भी यदि पुरुष की इच्छा दूर हो जाय तो कर्म का फल नहीं होता।' आप वेदान्त-सिद्धान्त का पूरा परिचय न होने के कारण ही ऐसा कह रहे हैं। क्योंकि चाहे कर्म इच्छा सहित किया जाय चाहे इच्छा रहित, उसके फल का भोग तो निश्चित मिलता है। हाँ, इच्छा-रहित कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होता है। इच्छा-सहित कर्म करने से भोग तो मिलता है; पर अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता।

(क) "यदि इच्छा रहित कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध हो कर श्रवण से ज्ञान हो जाय तब तो कर्म का फल नहीं होता।" (ख) "जिसने कर्म तो फल की इच्छा रहित किये हैं, परन्तु श्रवण के अभाव से या किसी दूसरे कारण से ज्ञान नहीं हो सका, इसके लिए कर्मफल का भोग टल नहीं सकता।" यह वेदान्त सिद्धान्त है। इसलिए ज्ञान के बिना कर्मफलोपभोग मिट नहीं सकता।

आप ने यह कहा कि "प्रायश्चित्त से अखिल अशुभ कर्मो का नाश होता है।" पर यह भी ठीक नहीं ; क्योंकि अनन्त कल्पों के अनन्त अशुभ कर्मों का प्रायश्चित्त एक ही जन्म में नहीं हो सकता। गंगास्नान और ईश्वरनामोच्चारण आदि जो सर्व पापनाशक साधारण प्रायश्चित्त कहे हैं, वे भी ज्ञान के ही साधन हैं। ज्ञान से ही सब पापों का नाश होता है। इसीलिए उन्हें सर्व-पाप-नाशक कहा है।

आप का यह कथन कि "नित्यनैमित्तिक कर्म करने से जो क्लेश होता है, वह पूर्वसंचित निषिद्ध कर्मों का फल है। इसलिए संचित

निषिद्ध कर्मों का दूसरा कोई फल नहीं हो सकता।" यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अनन्त प्रकार के संचित निषिद्ध कर्मोंका फल भी अनन्त प्रकार का दुःख होगा। केवल कर्मानुष्ठान का क्लेश ही उनका फल नहीं हो सकता।

आपने कहा कि "अखिल संचित काम्य कर्मों से एक ही शरीर मिलता है"। यह भी ठीक नहीं। क्योंकि संचित काम्य कर्म अनन्त हैं। उनका एक ही जन्म में भोग नहीं बन सकता। सिद्धयोगी के बिना कोई भी एक ही समय में नाना शरीर बनाकर फलोपभोग नहीं कर सकता। सिद्धयोगी में भी बाकी सब सामर्थ्य है; पर ज्ञान के बिना मोक्ष तो उसका भी नहीं होता-यह वेदांत-सिद्धान्त है। इस प्रकार काम्य कर्म और निषिद्ध कर्म छोड़ कर जो अज्ञानी केवल नित्य-नैमित्तिक कर्म करता है; उसे इनका फल भोगने के लिए और पहले जो शुभाशुभ कर्म किये हैं; उनका फल भोगने के लिए अनंत शरीर धारण करने पड़ते हैं; मोक्ष नहीं होता। इसलिए ज्ञानद्वारा बन्ध की निवृत्ति ग्रन्थ का प्रयोजन है। जैसे स्वप्न में प्रतीत होनेवाले मिथ्या पदार्थों की निवृत्ति जाग्रत् के बिना नहीं हो सकती, वैसे ही बन्ध की मिथ्या प्रतीति की निवृत्ति भी ज्ञानरूपी जाग्रत् बिना नहीं हो सकती। इस प्रकार ग्रन्थ के अधिकारी, विषय और प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। इनके सिद्ध होने से सम्बन्ध भी सिद्ध हो गया। इसलिए ग्रन्थ का आरंभ हो सकता है।

दादू दीनदयाल जू, सत सुख परम प्रकास।
जा मैं मति की गति नहीं, सोई निश्चलदास ॥१५॥

दीनों पर दया करनेवाले श्रीदादू जी सत्रूप, आनंदरूप और परम प्रकाश (चिद्रूप) हैं। जिन सच्चिदानन्द-रूप श्रीदादू जी को बुद्धि विषय नहीं कर सकती, मैं ही तो वह निश्चलदास हूँ ॥१५॥

विचारसागर की अनुबन्ध-विशेष-निरूपणनामक दूसरी तरंग सम्पूर्ण।

तृतीय तरंग

गुरु-शिष्य-लक्षण और गुरुभक्ति-निरूपण

पेखि च्यारि अनुबंध-युत, पढ़ै सुनै यह ग्रंथ।
ज्ञानसहित गुरु सैं जु नर, लहै मोच्छ को पंथ ॥१॥

जो मनुष्य चार अनुबन्धों सहित इस ग्रन्थ को ज्ञानवान्† गुरु से पढ़ता और एकाग्र चित्त से सुनता है; उसे मोक्ष के मार्ग (ज्ञान) की प्राप्ति होती है ॥१॥

अनायास मति-भूमि मैं, ज्ञान चिमन आवाद।
ह्वै, इँहि कारन कहत हूँ, गुरू-शिष्य-संवाद ॥२॥

श्रोता की बुद्धिरूपी भूमि में ज्ञानरूपी बगीचा बिना ही प्रयास के फूले-फले; इसलिए गुरु-शिष्य के सम्वादरूप में इस तरंग का आरम्भ करते हैं ॥२॥

गुरु-लक्षण

वेद अर्थकूं भलै पिछानैं। आतम ब्रह्मरूप इक जानैं।
भेद ‡पंच की बुद्धि नसावै। अद्वय अमल ब्रह्म दरसावै ॥३॥

---

† हिन्दी-भाषा जाननेवाले यद्यपि इस ग्रन्थ को अपने-आप पढ़ सकते हैं, तथापि गुरु की सहायता के बिना बोध प्राप्त नहीं कर सकते। शास्त्र में कहा है—"आचार्यवान् पुरुषो वेद" (छा० उ० ६-१४-२)। अतः आचार्य की सहायता लेनी आवश्यक है।

‡ पाँच भेदों का निराकरण इस प्रकार किया जाता है—

(१) जीव-ईश्वर का भेद—माया और अविद्या इन दोनों उपाधियों ने एक ही चेतन में ईश्वरभाव और जीवभाव बना रक्खा है। इन दोनों उपाधियों को पृथक् करके देखें तो कोई भेद ही नहीं। जैसे घटाकाश और मठाकाश का भेद उपाधियों से है; स्वाभाविक नहीं।

भव मिथ्या मृगतृषा समाना । अनुलव इम भाखत नहिं आनां ।
सो गुरु दे अद्भुत उपदेसा । छेदक सिखा न लुञ्चित केशा ॥४॥

जो गुरु वेद के अर्थ को भलीभाँति जानता हो, आत्मा और ब्रह्म को एकरूप से पहचानता हो; पाँच-प्रकार के भेद की बुद्धि का नाश कर डालता हो; द्वैतरहित निर्मल ब्रह्म का साक्षात्कार करा देता हो, एवं "संसार मृगतृष्णा की भाँति झूठा है और ब्रह्म के

---

(२) जीवों का परस्पर भेद—यह भी अन्तःकरणरूप विभिन्न उपाधियों से प्रतीत होता है। वस्तुतः चेतन में किसी प्रकार का भेद है ही नहीं। जैसे विभिन्न घटों में रहनेवाले आकाश का भेद घटरूप उपाधियों से ही होता है; स्वरूपतः आकाश में कोई भेद नहीं। वैसे चेतन में किसी प्रकार का भेद नहीं; भेद की कल्पना मात्र है।

(३) जीव-जड़ का भेद—स्वप्न में अनन्त जड़-चेतन जगत् प्रतीत होता है। उसका भेद भी उसी प्रकार कल्पित है। इसी प्रकार समस्त नाम-रूप, उस एक ही चेतन में अध्यस्त हैं। अधिष्ठान के अतिरिक्त उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। अतः जो वस्तु है ही नहीं उसका भेद कैसे सत्य होगा?

(४) ईश्वर-जड़-भेद—भी काल्पनिक ही है। जैसे रस्सी में सांप, मालादि की कल्पना होने से उनका भेद भी काल्पनिक है। ऐसे ईश्वर और जड़ सब-कुछ अज्ञान की देन है। उनका भेद बन ही नहीं सकता।

(५) जड़-जगत् का परस्पर भेद—तमाम जड़ जगत् एक कल्पना है। इनका भेद कैसे सत्य होगा? इस प्रकार पाँचों भेदों का निराकरण किया जाता है। पाँचों के निराकरण में पाँच अनुमानरूपी युक्तियां दी जाती हैं—

(१) जीवेश्वरयोर्भेदः, कल्पितः, औपाधिकत्वात्,
घटाकाश-मठाकाश-भेदवत्।

(२) जीवानां मिथो भेदः कल्पितः, औपाधिकत्वात्,
घटाकाश-भेदवद्।

इसी प्रकार सभी भेदों की कल्पितता सिद्ध करनेके लिए अनुमान किये जाते हैं।

अतिरिक्त कुछ नहीं" ऐसे सदा-सर्वदा कहता रहता हो; वही गुरु अद्भुत उपदेश देने के योग्य है। केवल शिखा काटने वाला या बाल उखाड़नेवाला गुरु उपदेष्टा नहीं हो सकता ॥३-४॥

अर्थात् "वेद अर्थकूं भलै पिछानै" से अधीतवेद, और "आतम ब्रह्मरूप इक जानै" से आत्मज्ञान में स्थितिवाला ही आचार्य हो सकता है। जिसने वेद तो पढ़ लिया है; पर ज्ञान में निष्ठा नहीं; वह आचार्य नहीं हो सकता और जिसकी ज्ञान में निष्ठा है; पर वेद नहीं पढ़ा, वह भी आचार्य नहीं हो सकता। क्योंकि वह स्वयं मुक्त होते हुए भी जिज्ञासु की शंका का निराकरण नहीं कर सकेगा। हाँ, जिसके मन में शंका ही नहीं उठती ऐसे उत्तम संस्कारवाले जिज्ञासु को उपदेश भी कर सकता है। पर सबको उपदेश करने के योग्य नहीं। इसलिए आचार्य नहीं। "अधीतवेद और ज्ञाननिष्ठ आचार्य होता है" वही शिष्य की बुद्धि में प्रतीयमान पाँच प्रकार के भेद को मिटाने में समर्थ होता है।

१-जीव-ईश का भेद, २-जीवों का परस्पर भेद, ३-जीव-जड़ का भेद, ४-ईश-ईश-जड़ का भेद, ५-जड़ जड़ का भेद; यह पाँच प्रकार का भेद है। जो इस भेद के निराकरण से अद्वय-अमल (अविद्यादि मलरहित) ब्रह्म का आत्मरूप से साक्षात्कार कराता है और अखिल संसार को मिथ्यारूप से बताता है। वही अद्भुत उपदेश देनेवाला आचार्य है। स्वयं मूण्ड-मुंडाकर किसी दूसरे को मूण्ड-डालनेवाला या किसी संप्रदाय के चिह्नमात्र से अंकित कर देनेवाला आचार्य नहीं।

करत मोछ भव-ग्राहतैं, दे असि निज उपदेस।

सो दैसिक बुधजन कहत, नहिं कृत-गैरिक-बेस ॥५॥

जो अपनी उपदेशरूपी असि (तलवार) से शिष्य को संसार-रूपी मगर से छुड़ा लेता है पण्डित लोग उसे ही दैशिक (गुरु)

कहते हैं; केवल दण्ड-कमण्डलु धारण करनेवालों या भगवें वेश-वालों को नहीं ॥५॥

दैसिक के लच्छन कहे, श्रुति-मुनि-वच अनुसार।
सो लच्छन हैं शिष्य के, ह्वै जिनतैं अधिकार ॥६॥

वेदशास्त्रानुसार गुरु के लक्षण तो कह दिये गये और शिष्य के वही लक्षण जानने चाहिए जो अधिकारी के हैं ॥६॥

गुरुभक्ति का फल

ईश्वरतैं गुरु मैं अधिक, धारै भक्ति सुजान।
बिन गुरुभक्ति प्रवीनहू, लहै न आतमज्ञान ॥७॥

शिष्य को चाहिए कि गुरु की ईश्वरभक्ति से भी अधिक (बढ़कर) भक्ति करे। क्योंकि सब शास्त्रों में प्रवीण व्यक्ति भी बिना गुरुभक्ति के आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता ॥७॥

वेद-उदधि बिन गुरु लखै, लागै लौन समान।
बादर गुरुमुख द्वार ह्वै, अमृत से अधिकान ॥८॥

बिना गुरु के वेदरूपी समुद्र नमक-सा खारा लगता है वही गुरुमुख रूप बादल के द्वारा आया हुआ अमृत-सा मधुर लगता है ॥८॥

अर्थात् वेदरूपी समुद्र, गुरु के बिना लवण (नमक) के समान खारा-खारा लगता है। जैसे कोई समुद्र में घुसकर उसका जल पीवे तो उसे क्लेश और खारेपन के बिना क्या मिलने का? वैसे ही गुरु के बिना जो वेद के अर्थों का विचार करते हैं; वे भेदरूपी खारेपन का अनुभव करके जन्म-मरणरूप खेद को प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि रामानुज, मध्व आदि ने वेद के अर्थ का विचार तो किया; पर गुरु-मुख से नहीं। इसीलिए भेद में ही निश्चय करके

वे जन्म-मरणरूप खेद को प्राप्त हुए, किन्तु मुक्तिरूप आनन्द प्राप्त न कर सके।

यद्यपि रामानुज आदि ने भी वेद अपने अपने गुरुओं से ही पढ़ा और विचारा होगा। स्वयं भी विचार करके व्याख्यान किया है। तो भी जिनसे वे वेद पढ़े थे, उनमें गुरु का लक्षण नहीं घटता-(चरितार्थ होता) क्योंकि "जो जीव-ब्रह्म की एकता का उपदेश करे; वह गुरु है" यह गुरु-लक्षण के अवसर पर कह ही आये हैं। इनके जो पढ़ानेवाले थे; वे जीव-ब्रह्म के भेद का उपदेश देनेवाले थे। उनके सम्बन्ध में गुरुशब्द का प्रयोग अर्हत के समान है। जैसे अर्हत के शिष्य अर्हत को गुरु कहते हैं। पर अर्हत गुरु-पदका विषय (अर्थ) नहीं। वैसे ही भेदवादी पुरुषों के शिष्य जो अपने अपने पढ़ानेवालों को गुरु कहते हैं, वे भी गुरु कहलाने के योग्य नहीं। इसलिए रामानुज आदि भेदवादियों ने गुरुमुख-द्वारा विचार नहीं किया। अतः वे भेद में ही अभिनिवेश कर बैठे, जिससे जन्म-मरण के चक्र में पड़, क्लेश के पात्र बने।

ऐसे ही जो कोई पूर्व लक्षणों से युक्त गुरु के बिना अपने-आप वेद का अर्थ विचारता है, या भेदवादी पुरुषों से पढ़कर विचारता है। वह भी भेदरूपी क्षार को अनुभव करके जन्म-मरणरूपी क्लेश को ही अनुभव करता है। दोहे के पूर्वार्ध का यह अर्थ है। बादलरूपी ब्रह्मवेत्ता गुरु के मुख से सुनकर जो विचार करता है। उसे अमृत से भी अधिक आनंद का कारण वेद होता है। जैसे समुद्र का जल स्वरूप से क्षार है। पर बादल द्वारा मधुर (मीठा) हो जाता है। वैसे ही वेद का अर्थ ब्रह्मज्ञानी गुरुमुख-द्वारा आनन्द का कारण है।

पहले दोहे में यह बात कही कि "गुरु से पढ़े हुए वेद के अर्थ के विचार से मुक्तिरूपी फल मिलता है। "गुरु ज्ञानी हो या अज्ञानी; ऐसा विशेष नहीं कहा, अब कहते हैं। यद्यपि 'ज्ञान-हीन गुरु नहीं

होता' यह भी कह ही दिया है। तो भी पहली बात को ही दृष्टान्त से समझाते हैं--

दृतिपुट घट सम अज्ञ-जन, मेघ समान सुजान।
पढ़ै वेद इहि हेतु तैं, ज्ञानी पै तजि आन ॥९॥

अज्ञानी पुरुष चमड़े की मशक या घट के समान होते हैं और ज्ञानी मेघ के समान। इसलिए दूसरों को छोड़कर ज्ञानी से ही वेद पढ़ना चाहिए ॥९॥

अर्थात् जैसे दृतिपुट (मशक, चरस, मोट आदि) चमड़े की चीजों में या घड़े में भरा हुआ पानी विलक्षण स्वाद का कारण नहीं। वैसे ही अज्ञानी पुरुष से ग्रहण किया वेदरूपी समुद्र का अर्थरूपी जल विलक्षण आनन्द का कारण नहीं अज्ञानी अध्यापक चमड़े के पात्र और घड़े के समान हैं। सुजान (ज्ञानी) मेघ के समान हैं। इसलिए चर्मपात्र और घट के तुल्य अज्ञानी अध्यापक का त्याग करके मेघसमान ज्ञानी से वेद का अर्थ पढ़ना और सुनना चाहिए।

"ज्ञानवान् से वेद पढ़े" कहने से यह शंका हो सकती है कि वेद की श्रुतियों से ही जीव-ब्रह्म के स्वरूप का विचार करने से ज्ञान होता है। दूसरे संस्कृत-ग्रन्थों और हिन्दीग्रन्थों से ज्ञान नहीं हो सकता। अतः हिन्दी-ग्रन्थ का आरंभ निष्फल होगा? **समाधान–**

ब्रह्मरूप अहि ब्रह्मवित, ताकी बानी वेद।
भाषा अथवा संस्कृत, करत भेद-भ्रम-छेद ॥१०॥

ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्मरूप ही होते हैं और उनकी वाणी वेदरूप होती है। चाहे वह वाणी हिन्दी हो चाहे संस्कृत; पर भेदरूप भ्रम को दूर कर ही देती है ॥१०॥

"ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्मरूप ही होते हैं" यह बात श्रुति में प्रसिद्ध है।

जो लोग कहते हैं कि "वेद-वचन के बिना ज्ञान नहीं होता"। उनसे पूछना चाहिएः- आयुर्वेद में कहे हुए रोग, निदान और औषध का अन्य संस्कृत-ग्रंथों एवं हिन्दी, फारसी आदि ग्रंथों से ज्ञान क्यों हो जाता है ? जैसे वह ज्ञान हो जाता है, वैसे ही सब के आत्मा (ब्रह्म) का ज्ञान हिन्दी आदि के ग्रंथों से भी हो जायगा।

इसलिए सर्वज्ञ ऋषि-मुनियों ने स्मृति-पुराण-इतिहास आदि ग्रंथों में ब्रह्मविद्या के प्रकरण कहे हैं। यदि वेद-वचन के बिना ज्ञान न होता हो तो सब-के-सब वे प्रकरण निष्फल हो जायँगे। इसलिए आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादक वाक्य से ज्ञान होता है। भले ही वह वाक्य वेद का हो या अन्य किसी ग्रंथ का। अतः हिन्दी-ग्रन्थ से भी ज्ञान हो सकता है—यह बात सिद्ध हो गई।

गुरु सेवा की अवश्यकरणीयता

बानी जाकी वेद-सम, कीजै ता की सेव।
ह्वै प्रसन्न जब सेव तैं, तब जानै निज भेव ॥११॥

ब्रह्मवेत्ता आचार्य की वाणी वेद के समान होती है। इसलिए जिज्ञासु को उसकी सेवा करनी चाहिए। क्योंकि जब सेवा से आचार्य प्रसन्न हो जायगा तब जिज्ञासु शिष्य निजभेव (अपने स्वरूप को) जान सकेगा ॥११॥

अर्थात् इससे यह भाव निकला कि आचार्य की सेवा की महिमा ईश्वर की सेवा की महिमा से भी बढ़कर है। क्योंकि (क) ईश्वरसेवा अदृष्ट फल का कारण है और (ख) आचार्य-सेवा अदृष्ट फल एवं दृष्ट फल दोनों का कारण है। जो वस्तु धर्माधर्म की उत्पत्ति-द्वारा फल का कारण होती है; वह अदृष्ट फल का कारण कहलाती है और जो धर्माधर्म की उत्पत्ति के बिना साक्षात् फल का कारण हो; वह दृष्ट फल का कारण कही जाती है। (१) ईश्वर की सेवा धर्म की उत्पत्ति द्वारा अन्तःकरण की शुद्धिरूप फल का कारण है। अतः ईश्वर-सेवा

अदृष्ट फल का कारण है। (२) आचार्य-सेवा धर्म की अपेक्षा के बिना ही आचार्य की प्रसन्नता से उपदेशरूप फल का कारण है। आचार्य की सेवा ईश्वर की सेवा से भी उत्तम है। अतः जिज्ञासु सर्वतोभावेन ब्रह्मवेत्ता आचार्य की सेवा करे।

गुरु-सेवा-विधि

सोरठा--ह्वै जब ही गुरुसंग, करै दण्ड जिमि दंडवत्।
धारै उत्तम अंग, पावन पाद-सरोज-रज ॥१२॥

जब कभी गुरुजी मिलें तो शिष्य उन्हें दण्ड की भाँति (लंबा लेटकर) †साष्टांग प्रणाम करे और उनके पावन (पवित्रचरण) कमलों की रज उत्तमांग (सिर) पर धारण करे ॥१२॥

गुरु समीप पुनि करिये वासा, जो अति उत्कट ह्वै जिज्ञासा।
तन मन धन वच अर्पी देवै- जो चाहै हिय बन्धन छेवै ॥१३॥

चौपाई—

तन करि बहु सेवा विस्तारे। आज्ञा गुरु की कबहू नहिं टारै।
मन मैं प्रेम राम--सम राखै। ह्वै प्रसन्न गुरु इम अभिलाखै ॥१४॥
दोष-दृष्टि स्वपनै नहिं आनै। हरि हर ब्रह्म गंग रवि जानै।
गुरु-मूरति को हिय मैं ध्याना। धारै जो चाहै कल्याना ॥१५॥

यदि शिष्य की जिज्ञासा अत्यंत ही उत्कट हो तो गुरु के ही समीप रहना चाहिए। यदि हृदय में पड़ी गांठ (संसाररूपी बंधन) काट डालनी हो तो तन, मन, धन और वचन सब गुरु के समर्पित कर देने चाहिए ॥१३॥

---

†दो पाद, दो जानु, दो हाथ, सिर और हृदय—इन आठ अंगों से भूमि स्पर्श करते हुए जो प्रणाम किया जाता है, वह साष्टांग प्रणाम कहलाता है।

पत्नी पुत्र भूमि पसु दास, दासी द्रव्य ग्रह व्रीहि विनासी ।
धन पद इन सबहिन कूं भाखै , ह्वै गुरुसरन दूरि तिंहि नाखै ॥

शरीर से गुरु की सेवा करते रहना और उनकी आज्ञा का कभी उल्लङ्घन न करना–यह शरीर का अर्पण है । अपने मन में जितनी प्रीति †भगवान पर है उतनी ही गुरु पर भी रखनी उनकी प्रसन्नता की अभिलाषा जागृत रखनी उनके आचरण पर भूल कर भी दोषदृष्टि न करनी उन्हें ‡ब्रह्मा-विष्णु-महेश-गङ्गा और सूर्य का स्वरूप समझना और उनकी मूर्ति का हृदय में ध्यान बनाये रखना; कल्याण-कामुक शिष्य के यह मन का अर्पण है , स्त्री, पुत्र, भूमि, पशु, दास, दासी, द्रव्य, घर, व्रीहि (अनाज) यह सब नाशवान् चीजें धन कहलाती हैं , इन सबका त्याग करके गुरु की शरण में रहना–यह धन का अर्पण है , यद्यपि त्यागी गुरु इन वस्तुओं को स्वीकार करेगा नहीं फिर भी उनकी प्राप्ति के लिए त्याग किया है , अतः उन्हीं के अर्पित कहा जायगा ॥ १४, १५, १६ ॥

सोरठा—धन अर्पन को भेव, एक कह्यो सुन दूसरो ।
ह्वै गृहस्थ गुरुदेव, याज्ञवल्क्य सम देह तिहिं ॥ १७ ॥

---

† यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

जिस की भगवान् में परा भक्ति है । भगवान् के समान ही गुरु में भक्ति है । उस महापुरुष के हृदय में गुरु–उपदेश अपना प्रकाश किया करता है ।

‡ गुरु को विष्णुरूप समझे जब वह शिष्य पर वात्सल्य प्रेम करे । जब गुरु क्रोध करे तब रुद्ररूप, जब राजस व्यवहार करे तब ब्रह्मा, जब शान्त व्यवहार करे तब गङ्गा, जब अज्ञान दूर करे तब रविरूप गुरु को समझे ।

धन समर्पित करने का एक प्रकार तो कह दिया, अब दूसरा सुन, यदि गुरु गृहस्थ हो तो उसे सारा चढ़ावा दे देना चाहिए, ऐसी शङ्का मन में न करना कि ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा गृहस्थ नहीं हो सकते, कारण; याज्ञवल्क्य उद्दालक आदि कितने ही गृहस्थ ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा वेदों में सुने जाते हैं, अतः गृहस्थ भी आचार्य हो सकते हैं॥ १७॥

छन्द—भाखत गुन गन गुरु के वानी सुद्ध।
दोष न कबहु अर्पन करि इम बुद्धि॥ १८॥

वाणी से सदा गुरु के गुणों का वर्णन करता रहे और दोष कभी न कहे-यह वाणी का अर्पण है ॥१८॥

सोरठा—जो चाहै कल्यान, तन मन धन वच अरपि इम।
बसै बहुत गुरु स्थान, भिच्छातैं जीवन करे॥ १९॥

जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता हो, वह इस प्रकार तन आदि को अर्पित करके लम्बे समय तक गुरु के यहाँ या उनकी सन्निधि में रहे और स्वयं भिक्षावृत्ति से आजीविका चलावे॥ १९॥

सोभिच्छा धरि दैसिक आगै। निज भोजन कूं नहिं पुनि मांगै।
जो गुरु देइ तु जाठर डारै। नहिं दूजे दिन वृत्ति सँभारै ॥२०॥

शिष्य जो भिक्षा लावे, वह सब-की-सब दैसिक (गुरु) के आगे रख दे और फिर उसमें से अपने खाने के लिए कुछ न मांगे, यदि गुरुदेव दें तो जठर (पेट) में डाले; नहीं तो खाली पेट ही रहे, न दे तो दुबारा गाँव में जाकर मिक्षा भी न मांगे (परीक्षा के लिए गुरु ऐसा कर सकते हैं) दूसरे दिन भी यही क्रम चालू रखे॥ २०॥

पुनि गुरु के आगे धरै, भिच्छा शिष्य सुजान।
निर्वेद न जिय मैं करै, जो निज चहै कल्यान॥ २१॥

धर्मज्ञ शिष्य को चाहिए कि दूसरे दिन भी भिक्षा लाकर उसी प्रकार गुरु के आगे रखे और कल्याण की कामना के कारण मन में निर्वेद (झुंझलाना) नहीं करना चाहिए ॥ २१ ॥

इमि व्यवहृत अवसर जब पेखै । मुख प्रसन्न गुरु सन्मुख लेखै ।
विनती करै दोउ कर जोरी । गुरु आज्ञातैं प्रश्न विहोरी ॥ २२॥

इस प्रकार व्यवहार करते करते जब गुरु को अवसर (अवकाश) हो और वे शिष्य की ओर प्रसन्नता-पूर्वक देखें तब दोनों हाथ जोड़ कर शिष्य प्रार्थना करे कि 'भगवन्! मुझे कुछ पूछना है', यदि गुरु पूछने की आज्ञा दे तो पूछना चाहिए ॥ २२ ॥

हो सकता है—गुरुदेव जन्मान्तर के उत्तम कर्मों के कारण बिना ही तन अर्पण आदि के उपदेश देने की कृपा कर डालें, उससे भी उत्तम अधिकारी का कल्याण हो जाता है, क्योंकि गुरुसेवा के दो फल हैं—एक तो गुरु की प्रसन्नता और दूसरा अन्तःकरण की शुद्धि, ये दोनों ही उस शिष्य के सिद्ध समझने चाहिए ॥

तन मन धन बानी अरपि, जिहिं सेवत चित लाय ।
सकल रूप सो आप हैं, दादू सदा सहाय ॥ २३ ॥

जो मनुष्य उक्त प्रकार से तन मन धन और वाणी का अर्पण करके गुरु को सच्चे भाव से भजते हैं, वे स्वयमेव सर्वात्मरूप है और उनकी श्रीदादूजी सदा सहायता करते हैं ॥ २३ ॥

गुरु-शिष्य-लक्षण एवं गुरुभक्ति-निरूपण नामक तृतीय तरङ्ग ॥

चतुर्थ तरंग

उत्तम अधिकारी को उपदेश

गुरु सिषके सम्वादकी, कहूँ ब गाथ नवीन।
पेखि जाहि जिज्ञासु जन, होत विचार प्रवीन ॥ १ ॥
तीन सहोदर बाल सुभ, चक्रवर्ति सन्तान।
सुभसन्तति पितु तिहिं नमै, स्वर्ग पताल जहान ॥ २ ॥
तत्त्वदृष्टि इक नाम अहि, दूजो कहत † अदृष्ट।
तर्कदृष्टि पुनि तीसरो, उत्तम मध्य कनिष्ठ ॥ ३ ॥
बालपनो सब खेलत खोयो। तरुन पाय पुनि मदन विगोयो।
धारि नारि गृह ‡ मार प्रकासी। भोग लहै तिहुँ सब सुखरासी ॥
स्वर्ग-भूमि-पाताल के, भोगहि स्वर्ग समाज।
सुभसन्तति निज तेजबल, करत राज के काज ॥ ५ ॥
लहि अवसर इम तिहिं पिता, निज हिय रच्यो विचार।
सुख-स्वरूप अज आतमा, तासूं भिन्न असार ॥ ६ ॥
इहिं कारन तजि राज यह, जानूं आतमरूप।
स्वर्ग-भूमि-पातालके, तिहुँ पुत्रहुँ करि भूप ॥ ७ ॥
अस विचार सुभसन्तति कीना। मन्त्र पेखि तिहुं पुत्र प्रवीना।
देस इकन्त समीप बुलाये। निजविराग के वचन सुनाये ॥८॥
भाख्यो पुनि यह राज सँभारहु। इक पताल इक स्वर्ग सिधारहु।
अपर वसहु कासीभुवि स्वामी। रहत जहां सिव अन्तरजामी ॥

---

† अदृष्टि के स्थान पर अदृष्ट रखा है आगे के कनिष्ठ पद से तुक मिड़ाने के लिए। ‡ मार–कामदेव।

जिंहि मरतहि सुनि सिव उपदेसा । अनायास तिहि लोकप्रवेसा ॥
गङ्ग अङ्ग मनु कीर्ति प्रकासै । उत्तरवाहनि अधिक उजासै ॥१०॥

करहु राज इम भिन्न तिहुँ । पालहु निज निज देस ।
बिन विभाग भ्रातानको । भूमिकाज है क्लेस ॥ ११ ॥

इन्द्व छन्द

राज-समाज तजौं अब मैं सब,
जानि ‡हिये दुख ताहि असारा ।
और तु लोक दुखी अपनै दुख-
मैं भुगत्यो जग क्लेस अपारा ॥
जे भगवान् प्रधान अजान-
समान दरिद्रन ते जन सारा ।
हेतु विचार हिये जगके *भग-
त्यागि लखूं निजरूप †सुखारा ॥ १२ ॥
वाक्य अनन्त कहे इम तात-
सुनै तिहुँ भ्रात सुबुद्धि-निधाना ।
बैठि इकन्त विचार अपार-
भनै पुनि आपस मांहि सुजाना ॥
दे दुखमूल समाज हमैं यह-
आप भयो चह ब्रह्म-समाना ।
सो जन नागर बुद्धि क सागर-
आगर दुःख तजै जु जहाना ॥ १३ ॥

‡ हृदय में । * ऐश्वर्य । † आनन्दरूप ।

यातैं तजि दुखमूल यह, राज करौ निजकाज।
करि विचार इम गेहतैं, निकस्यो भ्रात-समाज ॥ १४ ॥
तिहुँ खोजत सत्‌गुरु चले, धारि मोच्छ हिय काम।
अर्थसहित किय तातको, सुभसन्तति यह नाम ॥ १५ ॥
खोजत खोजत देस बहु, सुरसरि तीर इकन्त।
तरु-†पल्लव-साखा सघन, बन तामैं इक सन्त ॥ १७ ॥
बैठ्यो बट विटपहिं तरै, भद्रा मुद्रा धारि।
जीवब्रह्म की एकता, उपदेसत गुन टारि ॥ १७ ॥
दोषरहित एकाग्रचित, सिष्य-संघ परिवार।
लखि दैसिक उपदेस हिय, चहुधा करत विचार ॥ १८ ॥
मनहूँ सम्भु कैलासमैं, उपदेसत सनकादि।
पेखि ताहि तिहिं लहि सरन, करी दण्डवत आदि ॥१९॥
कियो वास षट्‌मास पुनि, शिष्य-रीति-अनुसार।
करी अधिक गुरुसेव तिहुं, मोच्छकाम हिय धार ॥२०॥
ह्वै प्रसन्न श्रीगुरु तबै, ते पूछै मृदु-बानि।
किहि कारन तुम तात तिहुँ, बसहु कौन कह आनि ॥२१॥
तत्त्वदृष्टि तब लखि हिये, निज अनुजन की सैन।
कहै उभय कर जोरि निज, अभिप्राय के बैन ॥ २२ ॥
भो भगवन ! हम भ्रात तिहुँ, सुभ-सन्तति-सन्तान।
लख्यो चहैं बहु भेव हिय, दीन नवीन अजान ॥ २३ ॥

† तरु की सफलता से बन की शोभा, शाखाओं की सघनता से वृक्षों की शोभा और पल्लवों की सघनता से शाखा की शोभा थी।

जो आज्ञा ह्वै रावरी, तौ ह्वै पूछि प्रवीन ।
आप दयानिधि कल्पतरु, हम अति दुखित अधीन ॥ २४ ॥

गुरुजी बोले

सोरठा—सुनहु सिष्य मम बात, जो पूछहु तुम सों कहूँ ।
लहो हिये कुसलात, संसय कोऊ ना रहै ॥२५॥

गुरु की लखी दयालुता, सिष्य हिये भौ चैन ।
काज सिद्ध निज मानि हिय, भाखे सविनय बैन ॥ २६ ॥

भो भगवन ! तुम कृपानिधाना । हौ सर्वज्ञ महेस–समाना ।
हम अजानमति कछू न जानै, जन्मादिक संसृति–भय मानैं ॥
कर्म उपासन कीने भारी , और अधिक जगपासी डारी ।
आप उपाय कहौ गुरुदेवा , ह्वै जातैं भवदुख को छेवा ॥ २८ ॥
पुनि चाहत हम परमानन्दा , ताको कहो उपाय सुछन्दा ।
जब किरपा करि कहिहौ ताता, तब ह्वै है हमरे कुसलाता ॥२९॥

मोच्छ काम गुरु सिष्य लखि, ताको साधन ज्ञान ।
वेद उक्त भाखन लगे, जीव--ब्रह्म--भिद भान ॥ ३० ॥

अब मैं गुरुशिष्य के सम्वादरूप में एक नवीन कथा सुनाता हूँ, जिसे सुनकर जिज्ञासु जन विचार करने में अवश्यमेव प्रवीण हो जायँगे । सुनोः—

एक शुभसन्तति नामक चक्रवर्ती राजा था । उसका प्रभाव स्वर्ग, पाताल और मृत्युलोक तीनों में छाया हुआ था । उसके तीन पुत्र थे । जिनका नाम तत्त्वदृष्टि, अदृष्टि और तर्कदृष्टि था । ये क्रमशः उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ अधिकारी थे । इनके पिता ने अपना बालकपन खेल कूद में ही बिता दिया था । जब जवानी

का मद चढ़ा तो विवाह कर लिया। अब संसारी बन कर सब प्रकार के सांसारिक सुख भोगने लगा। यह तीनों लोकों के राज्य, वैभव और अच्छी सन्तान का सुख भोगता भोगता अपने तेज-बल से राज-काज चलाता था। एकदिन शुभसन्तति के मन में विचार उठा कि सुखरूप तो एक आत्मा ही है। इससे भिन्न सब सांसारिक वस्तुएँ तुच्छ (असार)। इसलिए मुझे चाहिए कि मैं तीनों पुत्रों को राज्य सौंप कर जङ्गल में चला जाऊँ और आत्मा का अनुभव करूं। ऐसा विचार करके अपने मन्त्री से परामर्श किया। फिर अपने तीनों पुत्रों को एकान्त में बुला कर उनसे कहा कि देखो! अब तुम सयाने हो गये हो और मैं भी बूढ़ा हो चला हूँ। अब तुम यह सब राज-काज सम्भालो। एक स्वर्ग का एक पाताल का और एक काशी में रह कर इस लोक का राज्य करे। काशी पुरी की बहुत ही महिमा है। यहाँ सदा शिव सदा निवास करते हैं। इस पुरी में जिसकी मृत्यु हो जाती है उसे महादेव जी मृत्यु के समय तारक मन्त्र का उपदेश करते हैं। इसलिए वह अनायास ही शिवलोक को प्राप्त हो जाता है। उत्तर की ओर बहती हुई गङ्गा की सफेद धारा मानो साक्षात् काशी पुरी की कीर्ति का प्रकाश ही बह रहा है। इस प्रकार तुम अलग अलग राज्य करो और अपने अपने देश की रक्षा करो। बिना राज्य का विभाग किये सगे भाइयों में भी झगड़ा छिड़ जाता है। इसीलिये मैंने विभाग कर दिये हैं। अब मुझे राजकाज आदि में दुःख के अतिरिक्त कुछ सार दिखाई नहीं देता। मैं इन्हें छोड़ देना चाहता हूँ। दूसरे लोग तो अपने दुःख से ही दुःखी होते हैं। पर मैं तो अपने दुःख तथा दुनिया भर के दुःख से दबा जा रहा हूँ। ऐश्वर्य के सब साधन होने पर भी जो मनुष्य अज्ञानी है; उसकी गणना भी दूसरे दरिद्रियों में ही की गई है। इसी विचार से मैं सारे जगत् का (भग) ऐश्वर्य छोड़कर सुखरूप आत्मा का अनुभव करना चाहता हूँ।

इस प्रकार की पिताजी की बहुत–सी बातें सुनकर तीनों भाइयों ने (जो सद्बुद्धि के निधान थे) एकान्त में बैठकर विचार किया। फिर आपस में कहने लगे कि पूज्य पिताजी दुःख और झगड़े की जड़ इस संसार को हमें सौंपकर स्वयं ब्रह्मरूप हो जाना चाहते हैं। वही मनुष्य चतुर और बुद्धिमान् है जो दुःखों के घर इस संसार को छोड़ देता है, इसलिए हमें भी दुःख के मूलरूप इस राज्य को छोड़कर अपना कार्य सिद्ध करना चाहिए।

ऐसा विचार कर तीनों भाई घर से भाग निकले। मोक्ष की अभिलाषा से किसी सद्गुरु की खोज करने लगे। सचमुच इन्होंने अपने इस कार्यों से पिता के †'शुभसन्तति' नामको सार्थक बना दिया।

बहुत–से प्रदेशों की छान–बीन करने के बाद वे गङ्गा–किनारे जा निकले जहाँ एक विशाल वन था, उनमें घने–वृक्ष और झाड़ थे। वहाँ एक बरगद के वृक्ष के नीचे एक महात्मा ज्ञान–मुद्रा में बैठे हुए अपने शिष्यों को त्रिगुणात्मक संसार का मिथ्यापन समझाकर जीव–ब्रह्म की एकता का उपदेश कर रहे थे।

वे सब-के-सब शिष्य ‡ दोष-रहित और एकाग्र-चित्त थे। उन्हें देख कर राजपुत्रों को लगा कि मानो कैलास पर दक्षिणामूर्ति महादेवजी बैठे हुए सनक आदि को उपदेश कर रहे। सब कुछ देखभाल कर राजपुत्रों ने इन्हीं की शरण ली। दण्डवत् प्रणाम कर छह महीनों तक शिष्यों की भाँति वहीं रहे। मोक्ष–प्राप्ति की अभिलाषा से इन्होंने गुरुजी की खूब सेवा की। गुरुजी उनपर प्रसन्न होकर पूछने लगे—"सौम्य! तुम कौन हो? तुम्हारे पिता का क्या नाम है? यहां किसलिए आये हो?"

---

† शुभ सन्तति = अच्छी है सन्तान जिसकी।

‡ नृसिंह-तापिनी उपनिषद् में शिष्य के ये दस दोष बतलाये हैं:—शरीर के तीन-चोरी, जारी और हिंसा। वाणी के चार—निंदा, झूठ, कठोरता और वाचालता। मन के तीन—तृष्णा, चिन्ता और बुद्धि की मन्दता।

यह पूछने पर उत्तर देने के लिए दोनों छोटे भाइयों ने बड़े भाई को संकेत किया। तत्त्वदृष्टि हाथ जोड़कर बोला—

भगवन्! हम तीनो सगे भाई हैं। शुभसन्तति नामक राजा के पुत्र हैं। हम विल्कुल नये (अपरिचित) दीन और अज्ञानी हैं। ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से यहाँ आये हैं। यदि आपकी आज्ञा हो जायगी तो हम भी आपसे उपदेश पा कुछ समझ सकेंगे। आप दया के सागर हैं और कल्पवृक्ष के समान हैं। हम अत्यन्त दया के पात्र और पराधीन हैं।

गुरुजी बोले—सौम्य! जो भी कुछ तुम पूछना चाहते हो सहर्ष पूछ सकते हो। मैं उसका सस्नेह उत्तर दूंगा। जिससे तुम्हारे मन में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहेगा और शान्ति प्राप्त होगी।

तत्त्वदृष्टि बोलाः—आप तो कृपा के भण्डार हैं और महादेव जी के समान सर्वज्ञ हैं। हम अज्ञ हैं, कुछ नहीं जानते और संसार से भयभीत रहते हैं। हम ने बहुत-से कर्म और उपासनाएँ कीं, पर उनसे संसार से छूटने के स्थान पर और भी अधिकाधिक बँधते ही गये। आप ऐसा उपाय बताने की कृपा कीजिए; जिससे हमारा सांसारिक दुःख छिन्न-भिन्न हो जाय और परम आनन्द की प्राप्ति हो?

दुःख की निवृत्ति और परम आनन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष की कामना इनके हृदय में जानकर मोक्ष का वेदोक्त साधन कहने लगे। यद्यपि अनेक शास्त्रों में ज्ञान के स्वरूप का भिन्न भिन्न वर्णन किया है तो भी जीव-ब्रह्म की भिद (भेद) को दूर करने वाला ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। इसलिए उसी का उपदेश करने लगे ॥ १, ३० ॥

गुरुजी बोले

परमानन्द मिलाप तूं, जो सिष चहै सुजान।

जन्मादिक दुख नास पुनि, भ्रान्ति-जन्य तिहिं मान ॥ ३१ ॥

परमानन्द स्वरूप तूं, नहिं तो मैं दुख-लेस ।

अज अविनाशी ब्रह्म चित्, जिन आनै हिय क्लेस ॥ ३२ ॥

सौम्य ! परम आनन्द की प्राप्ति के लिए तथा जन्म-मरण आदि संसार की निवृत्ति के लिए जो तुम्हें इच्छा हुई है। वह भ्रान्ति के कारण हुई है-ऐसा समझो। तुम स्वयं परम-आनन्द-स्वरूप हो। तुम में दुःख का लेश भी नहीं। न तुम्हारा जन्म है और न मरण। पर तुम तो केवल चेतन ब्रह्म हो ॥ ३१-३२ ॥

अर्थात् अप्राप्त वस्तु को ही प्राप्त करने की इच्छा होती है। अपना स्वरूप सदा प्राप्त है। उसकी प्राप्ति-विषयक इच्छा बिना भ्रान्ति के बन ही नहीं सकती।

यदि जन्म-मरण आदि संसार कदाचित् होता तो उसकी निवृत्ति की इच्छा बन सकती थी। पर जन्म आदि संसार का तुम में लेश भी नहीं। न होनेवाले दुःख की निवृत्ति में भी भ्रान्ति के बिना इच्छा नहीं हो सकती। तुम जन्म और नाश से रहित चेतनरूप ब्रह्म हो, इसलिए अपने हृदय में जन्म, मरण आदि खेद मत मानो।

तत्त्वदृष्टि बोलाः—

विषय सङ्ग क्यूं भान ह्वै, जो मैं आनन्द-रूप ।

अब उत्तर याको कहो, श्रीगुरु मुनिवर-भूप ॥ ३३ ॥

मैं (आत्मा) यदि आनन्दरूप होऊँ तो मुझे विषय के सङ्ग से आनन्द क्यों भासता है ? गुरुदेव ! कृपया इसका उत्तर दीजिए।

अर्थात् यदि मेरा आत्मा आनन्दरूप हो तो विषय के सम्बन्ध से उसमें आनन्द का भान नहीं होना चाहिए। इसलिए आत्मा आनन्दरूप नहीं; किन्तु विषय के सम्बन्ध से उसमें आनन्द होता है।

गुरुजी बोले

आतम-विमुख-बुद्धि जन जोई। इच्छा ताहि विषय की होई।
तासूं चञ्चल बुद्धि बखानी। सुख-आभास होय तहँ हानी॥३४॥
जब अभिलषित पदारथ पावै। तब मति छन विच्छेप नसावै।
तामें ह्वै अनन्द प्रतिबिंबा। पुनि छन मैं बहु चाह विडंबा॥३५॥
तातैं ह्वै थिरता की हानी। सो अनन्द प्रतिबिंब नसानी।
विषय-सङ्ग इम आनंद होई। बिन सतुगुरु यह लखै न कोई॥

जिस मनुष्य की बुद्धि आत्मा से विमुख हो जाती है; उसे ही विषय की इच्छा होती है। इच्छा से उसकी बुद्धि चञ्चल हो जाती है। इस चञ्चल बुद्धिमें से सुखरूप आभास नष्ट हो जाता है। ॥ ३४ ॥ जब वह मनुष्य अपना इष्ट (इच्छित) पदार्थ प्राप्त करता है तो क्षणभर के लिए उसकी बुद्धि में से विक्षेप (चञ्चलता) नष्ट हो जाने से बुद्धि स्थिर हो जाती है और उसमें आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उसे विषय-सुख मिल गया हो ऐसी भ्रान्ति होती है। अतः वह विषय की इच्छा करता रहता है ॥ ३५ ॥ करने से उसकी बुद्धि की स्थिरता नष्ट हो जाती है और उसी समय वह आनन्द का प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाता है। इसलिए विषय के सङ्ग से आनन्द किस प्रकार प्राप्त होता है—यह सद्गुरु के बिना कोई नहीं जानता ॥ ३६ ॥

अर्थात् आत्म-विमुख बुद्धिवाले मनुष्य को ही विषय की इच्छा होती है। उस समय जो भोग का साधन है-वह विषय है। इस लिए धन-पुत्र आदि का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। विषय की इच्छा से बुद्धि चञ्चल रहती है। उस चञ्चल बुद्धि में आत्म स्वरूप आनन्द का आभास (प्रतिबिम्ब) नहीं पड़ता। इष्ट विषय प्राप्त हो जाने पर उस पुरुष की बुद्धि क्षण-मात्र स्थिर हो कर अन्तर्मुख

बुद्धि की वृत्ति हो जाती है। उस अन्तर्मुख वृत्ति में आत्मा के स्वरूप आनन्द का प्रतिबिंब पड़ता है। उस आत्म-स्वरूप आनन्द के प्रतिबिंब का अनुभव करके पुरुष को भ्रांति हो जाती है कि "मुझे विषय से आनन्द मिला है" परन्तु विषय में आनन्द नहीं।

यदि कदाचित् विषय में ही आनन्द होता हो तो एक विषय से तृप्त मनुष्य को जब दूसरे विषय की इच्छा होती है तब भी पहले विषय से आनन्द होना (मिलना) चाहिए। पर वह तो होता ही नहीं। हमारी रीति से तो स्वरूप आनन्द का भाव नहीं हो सकता। क्योंकि दूसरे विषय की इच्छा से बुद्धि चञ्चल हो उठी है; उसमें प्रतिबिम्ब पड़ नहीं सकता।

†अथवा—यदि विषय में ही आनन्द मान लिया जाय तो जब किसी पुरुष का प्राण-प्रिय पुत्र या कोई दूसरा अत्यन्त-प्रिय बंधु बहुत समय के बाद एका-एक मिल जाता है तब उसे देखते ही पहली बार जो आनन्द आता है। फिर वह सदा के लिए क्यों नहीं आता ? वह सदा आना चाहिए। क्योंकि आनन्द का कारण वह पुरुष उसके समीप (पास) ही है। हमारे सिद्धान्तानुसार एकबार ही आनन्द हो सकता है; सदा नहीं। क्योंकि पहली बार प्रिय को देखकर वृत्ति स्थिर हो जाती है और फिर दूसरे पदार्थों में लग जाती है। चञ्चल है। अतः पदार्थों में आनन्द नहीं।

†अथवा—प्रत्येक विषय आनन्द देता है। किन्तु उसका अपना विशेष समय होता है। जैसे ग्रीष्म में जल जितना आनन्द देता है; उतना सरदी में नहीं। सरदी में अग्नि आनन्द देती है ; गरमी में नहीं। इसी प्रकार अभीष्ट वस्तु आनन्द देती है तबतक, जबतक कि उससे बढ़कर कोई अभीष्टतर वस्तु न मिले। अभीष्टतर दूसरी वस्तु के मिल जाने पर पहली वस्तु आनन्द नहीं दे सकती। क्योंकि उसका समय चला गया। इस बात को हृदय में रखकर दूसरा ऐसा दृष्टान्त देते हैं जहाँ विषयान्तर की उपस्थिति नहीं हुई है।

† किंवा—यदि बिषय में ही आनन्द होता हो तो समाधि के समय जो योग—आनन्द का भान होता है; वह न होना चाहिए। क्योंकि समाधि में किसी विषय का सम्बन्ध नहीं। ‡ यद्वा—यदि विषय में ही आनन्द होता तो सुषुप्ति में आनन्द का भान नहीं होना चाहिए। क्योंकि सुषुप्ति में भी किसी विषय से सम्बन्ध नहीं। इसलिए विषय में आनन्द नहीं। किन्तु आत्मस्वरूप आनन्द ही सब जगह भासित हो रहा है। वेद में लिखा है:— "आत्मस्वरूप आनन्द से ही सब आनन्द वाले कहलाते हैं"।

विषय-संग ते ह्वै प्रगट, आतम आनन्द-रूप।
सिष्य सुनायो तोहि मैं, यह सिद्धान्त अनूप ॥३७॥
सोरठा—सो तूँ मोहि व भाख, जो यामैं संका रही।
निजमति मैं मति राख, मैं ताको उत्तर कहूँ ॥३८॥

हे शिष्य! विषय के संग से आत्मा का आनन्दरूप किस प्रकार प्रगट होता है, इसका अनुपम सिद्धान्त मैंने तुझे सुनाया ॥३७॥

---

† किंवा विषय आनन्द देने में अपनी अवस्था की भी अपेक्षा रखता है। बालक अपनी शैशव अवस्था में, अधिक विषय अपनी युवा अवस्था में और फलादि परिपक्व अवस्था में आनन्द देते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक विषय अपनी नूतन अवस्था में विशेष आनन्द देता है। जब पुत्र बहुत दिनों के पश्चात् मिलता है, तब उसमें एक नूतनता होती है। दूसरी बात यह कि दुःख के अनन्तर होनेवाला अल्प भी सुख महान् आनन्द देता है। पुत्र के चिर विरह से दुःख मिला था। उसके अनन्तर पुत्र का मिलना विशेष आनन्दप्रद था। सदा वही अवस्था नहीं रहती। अतः कोई विषय सदैव आनन्द नहीं देता। इस आशय से ऐसी अवस्था दिखाते हैं। जहाँ नया या पुराना विषय कोई भी नहीं, फिर भी आनन्द आता है। वह आनन्द आत्मा का ही हो सकता है।

‡ यद्वा—समाधि एक ऐसी अवस्था है, जिसका सर्वसाधारण अनुभव नहीं हो सकता। अतः दूसरा सुषुप्ति का दृष्टान्त देते हैं।

यदि तुझे इसमें कुछ और शंका हो तो वह भी अब कह डाल। मन-ही-मन मत रख छोड़ना। लगे हाथ मैं उसका भी उत्तर दे डालूं ॥३८॥

तत्त्वदृष्टि बोला

भो भगवन् ! तुम दीनदयाला। मेट्यो मम संसय तत्काला।
यामैं कछुक रही आसंका। सो भाखूं अब ह्वै निबंका ॥३६॥
आतम--विमुख बुद्धि अज्ञानी। ताकी यह सब रीति बखानी।
ज्ञानी जन को कहौ विचारा। कोऊ न तुम सम और उदारा ॥४०॥

भगवन् ! आप दीन-दयालु हैं, इसीलिए आपने मेरा संशय तत्काल दूर कर दिया। इसमें मुझे कुछ शंका है, वह मैं आप से नम्रतापूर्वक कहता हूँ ॥३९॥ जो लोग आत्मा को जानते नहीं; जिनकी बुद्धि आत्मविमुख (बाह्य विषयों में ही रची-पची) है; उनके आनन्द का यह प्रकार बताया। अब आप यह बताइए कि ज्ञानी को विषय की इच्छा होती है या नहीं ? उन्हें विषयों से आनन्द मिलता है या नहीं ? हे भगवन् ! आप के समान दूसरा कौन उदार है ? जिससे मैं पूछूँ ॥४०॥

गुरुजी बोले

सुनहु शिष्य इक बात मम, सावधान मन कान।
हैं द्वै-विध आतम--विमुख, अज्ञानी रु सुजान ॥४१॥
ह्वै विस्मृत व्यवहार मैं, कबहुँक ज्ञानी संत।
अज्ञानी विमुख ही रहै, यह तू जान सिधंत ॥४२॥

हे शिष्य ! मन और कान सावधान करके मेरी बात सुन। आत्म-विमुख दो प्रकार के होते हैं-एक अज्ञानी और दूसरा ज्ञानी ज्ञानी संत भी किसी समय व्यवहार में आत्मरूप को भूल जाता

है। अज्ञानी तो सदा-सर्वदा आत्म-स्वरूप से विमुख रहता है। यह सिद्धान्त समझ लो ॥४१-४२॥

अर्थात् आत्म-विमुख केवल अज्ञानी ही नहीं होता ज्ञानी भी होता है। जब ज्ञानवान् की वुद्धि व्यवहार में चली जाती है तब वह तत्त्व को †भूल जाता है। उस समय वह आत्म-विमुख ही होता है। यदि ज्ञानी की वुद्धि सदा आत्माकार ही रहे तो भोजन आदि का व्यवहार कैसे चले। अतः आत्म-विमुख वुद्धि दोनों की है।

इतना अन्तर है कि अज्ञानी की वुद्धि तो सदा आत्म-विमुख रहती है और ज्ञानी की व्यवहार काल में। आत्म-विमुखता के समय ज्ञानी को भी इच्छा और विषय के सम्बन्ध से आत्मस्वरूप आनंद का भान अज्ञानी के ही समान होता है। परन्तु इतना भेद है कि विषय के सम्बध से आनंद का जो भान होता है, उसे ज्ञानी तो जानता है कि "जो यह आनंद है, वह मेरे स्वरूप से अलग नहीं; किन्तु उसी का आभास है" अतः ज्ञानी को विषयभोग में भी समाधि है और अज्ञानी नहीं जानता कि यह मेरा स्वरूप है। है तो दोनों का ही स्वरूप आनंद। पर विषय से अकेले अज्ञानी को ही भ्रांति होती है।

---

† एक ही अन्तःकरण में एक समय सामान्यविशेषाकार की दो वृत्तियाँ तो होती हैं। जैसे 'इदं रजतम्'। किन्तु विशेषाकार की दो वृत्तियाँ नहीं हुआ करतीं। जैसे कि जब जाग्रदाकार वृत्ति होती है; तब स्वप्नाकार नहीं और जब स्वप्नाकार वृत्ति होती है; तब जाग्रदाकार नहीं। इसीप्रकार ज्ञानी की जब आत्माकार वृत्ति होती है; तब अनात्माकार नहीं और जब अनात्माकार होती है; तब आत्माकार नहीं। अतः ज्ञानवान् की बुद्धि जब व्यवहार में संलग्न हो; तब तत्त्व का विस्मरण हो जाता है। फिर जब वह व्यवहार से उपरत होकर अन्तर्मुख होता है; तब उसे जैसे-का-तैसा स्मरण हो जाता है। आचार्य शंकर भगवान् ने भी अपने शारीरक भाष्य में कहा है—'पश्वादिभिश्चाविशेषात्।' अर्थात् व्यवहार काल में ज्ञानी भी अज्ञानी की भाँति व्यवहार करता है।

शिष्य बोला

हे प्रभु परमानंद बखान्यो । मेरो रूप सु मैं पहचान्यो ।
नहिं तो मैं भव-बंधन-लेसा । कह्यो आप पुनि यह उपदेसा ।।४३।।
यामैं शङ्का मुहिं यह आवै । जातैं तव वच हिय न सुहावै ।
नहिं मो मैं यह बन्ध पसारो । कहो कौन तो आश्रय न्यारो ।।४४।।

भगवन्! आपने कहा कि 'तू परम-आनन्द स्वरूप है'। यह मैं भलीभाति समझ गया। परन्तु आपने जो यह कहा कि "जन्म-मरण आदि सांसारिक दुःख तुझ में नहीं; उनकी निवृत्ति का प्रश्न ही नहीं बनता" यह आपका वचन मेरे हृदय में नहीं बैठता। यदि मुझ (आत्मा में) जन्म आदि दुःख नहीं, तो किसमें रहते हैं? समझाने की कृपा करें, जिससे मैं अपने से भिन्न आश्रय में दुःख समझ कर अपने में न मानूं।। ४३-४४ ।।

गुरुजी बोले

सोरठा—सुनहु सिष्य मम बानि, जातैं तव सङ्का मिटै ।
है जग की ‡अतिहानि, तो मो मैं नहिं और मैं ।। ४५ ।।

हे शिष्य! मेरी बात सुन; जिससे तेरी शङ्का दूर हो सके 'जगत् हुआ नहीं और है भी नहीं' फिर तुझ में मुझ में या किसी और में दुःखरूप जगत् कैसे? ।। ४५ ।।

तत्त्वदृष्टि बोला

जो भगवन कहुँ है नहीं, जन्म-मरन जग-खेद ।
ह्वै प्रत्यच्छ प्रतीति क्यूं ? कहो आप यह भेद ।। ४६ ।।

---

‡अतिहानि—जैसे कल्पित सर्प का रज्जु में व्यावहारिक सत्ता से अत्यन्ताभाव है। वैसे ब्रह्म में कल्पित प्रपञ्च का पारमार्थिक सत्ता से ब्रह्म अत्यन्ताभाव है। इसी का नाम अतिहानि है।

भगवन् ! यदि जन्म-मरण आदि सांसारिक दुःख मुझ में या किसी दूसरे में नहीं तो इनकी प्रत्यक्ष प्रतीति क्यों होती है ? जो वस्तु नहीं; उसकी प्रतीति कैसे ? जैसे वन्ध्या के पुत्र और आकाश में फूल नहीं उनकी प्रतीति नहीं होती। वैसे ही संसार भी नहीं; उसकी प्रतीति क्यों होती है ? जन्म आदि संसार प्रतीत होता है, इसलिए "जन्म आदि संसार-दुःख नहीं" यह आपने कैसे कहा ? इसका रहस्य समझाइए ।

गुरुजी बोले

आत्मरूप अज्ञानतैं, ह्वै मिथ्या परतीति ।
जगत स्वप्न नभ--नीलता, रज्जु--भुजग की रीति ॥ ४७ ॥

यद्यपि जन्म आदि जगत् परमार्थतः नहीं; तो भी आत्मा का ब्रह्मरूप न जानने के कारण मिथ्या प्रतीत होता है। जैसे स्वप्न के पदार्थ आकाश का नीलापन और रस्सी का साँप परमार्थतः नहीं; तो भी प्रतीत होते हैं ॥ ४७ ॥

तत्त्वदृष्टि बोला

मिथ्या सर्प रज्जु मैं जैसैं । भाख्यो भव आतम मैं तैसैं ।
कैसैं सर्प रज्जुमैं भासै । यह संसय मन बुद्धि विनासै ॥ ४८ ॥

जैसे रस्सी में साँप मिथ्या है वैसे आत्मा में भव (संसार) दुःख मिथ्या है—ऐसा आपने कहा। पर दृष्टान्त के ज्ञान के बिना दार्ष्टान्त का ज्ञान नहीं होता। इसलिए "रस्सी में साँप कैसे भासता है" यह समझाइए ?। यह संशय मेरे मन और बुद्धि को उलझन में डाल रहा है ॥ ४८ ॥

प्रश्न का भाव

असतख्याति पुनि आतमख्याती ।
ख्याति अन्यथा अरु अख्याती ।

सुनै चारि मत भ्रमको ठौरा ।

मानूं कौन ? कहउ यह ब्यौरा ॥ ४६ ॥

जहाँ रस्सी में साँप और सीपी में चाँदी आदि का भ्रम होता है। वहाँ चार ख्यातियाँ (मत) हैं। शून्य-वादी असत् ख्याति, क्षणिक-विज्ञानवादी आत्मख्याति, न्याय–वैशेषिक अन्यथाख्याति और सांख्य–प्राभाकर अख्याति मानते हैं।

१—असत्ख्याति

शून्यवादी का यह अभिप्राय है कि जैसे रस्सी–देश में साँप अत्यन्त असत् है। वैसे दूसरे देश में भी अत्यन्त असत् है। अत्यन्त असत् साँप की रस्सी–देश में प्रतीति होती है। यहाँ अत्यन्त असत् साँप की ख्याति (भान) और कथन है। अतः असत्ख्याति है।

२—आत्मख्याति

विज्ञानवादी का यह अभिप्राय है कि रस्सी–देश में तथा अन्य-देश में बुद्धि के बाहर कहीं साँप नहीं। सब पदार्थ बुद्धि से भिन्न नहीं। बुद्धि ही सब पदार्थों के आकार धारण करती रहती है। बुद्धि क्षणिक–विज्ञान–रूप है। क्षण क्षण में जो उत्पन्न और नष्ट होता रहे; वह है विज्ञान। वही सब रूपों से प्रतीत होता है। आत्मा= क्षणिक–विज्ञान–रूप बुद्धि, उसकी साँप–रूप से ख्याति (भान) और कथन है। अतः आत्मख्याति है।

३— अन्यथाख्याति

नैयायिक और वैशेषिक का यह अभिप्राय है कि बाँवी आदि स्थानों में सच्चा साँप है। वह नेत्र से दिखाई देता है। क्योंकि नेत्र में दोष है। उसी के बल से सन्मुख (समीप) प्रतीत होता है। यद्यपि सच्चे साँप और नेत्र के मध्य (बीच) भीत (दीवार) आदि का अन्तराय (व्यवधान, रुकावट, ओट) है, तो भी दोष–सहित नेत्र

में ऐसा सामर्थ्य आ जाता है कि जिससे अन्तराय-सहित (व्यव-हित) साँप भी दीखने लग जाता है।

इसमें ऐसी शङ्का हो सकती है कि दोष से तो सामर्थ्य बढ़ता नहीं; प्रत्युत (वल्कि) घटता है। जैसे जठराग्नि का पाचन-सामर्थ्य वात-पित्त-कफ दोष से घट जाता है। वैसे ही नेत्र में भी तिमिर आदि दोष से सामर्थ्य घटना (कम होना) चाहिए। बाँबी आदि में स्थित साँप का दोष-सहित नेत्र से ज्ञान हो जाता है-ऐसा आपने कहा। पर जब शुद्ध नेत्र से अन्य देश में स्थित साँप का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता तब दोष-सहित नेत्र से कैसे होगा? इसलिए "दोष से नेत्र का सामर्थ्य अधिक हो जाता है" यह मानने में कोई दृष्टान्त नहीं। इसके उत्तर में कहते हैं, दृष्टान्त है। देखिए; जैसे किसी किसी को पित्त-दोष से ऐसा रोग हो जाता है कि चार-गुना भोजन करने पर भी तृप्ति नहीं होती। यहाँ पित्त-दोष से जठराग्निमें पाचन-सामर्थ्य बढ़ गया है। वैसे नेत्र में भी तिमिर आदि दोष से अन्य-देश में स्थित साँप को प्रत्यक्ष करने का सामर्थ्य बढ़ जाता है। इस प्रकार बाँबी आदि देश में स्थित साँप का अन्यथा (दूसरी तरह) सामने के रस्सी-देश में, ख्याति (भान) और कथन है। अतः यह अन्यथा-ख्याति है।

चिन्तामणिकार का मत

इनका कहना है कि यदि दोष-सहित नेत्र में बाँवी में स्थित साँप का ज्ञान होता हो तो बीच में आने वाले अन्य पदार्थों का ज्ञान भी होना चाहिए। इसलिए अन्य देश में स्थित वस्तु का नेत्र से ज्ञान नहीं होता। किन्तु दोष-सहित नेत्र से रस्सी का निज रूप से भान नहीं होता; साँप-रूप से होता है। अतः रस्सी का ही अन्यथा

† "न्याय-तत्त्व-चिन्तामणि" नामक ग्रन्थ के रचयिता श्रीगंगेश उपाध्याय ने न्याय में नवीन युग की सृष्टि की है। उन्हीं का यह मत है।

(और प्रकार से साँप-रूप से) ख्याति (भान) और कथन है। यह अन्थयाख्याति है।

४—अख्याति और उक्त तीनों मतों का खण्डन

१-अख्यातिवादी का यह अभिप्राय है कि यदि असत् की प्रतीति हो सकती हो तो वन्ध्यापुत्र और शशश्रृङ्ग की भी प्रतीति होनी चाहिए। इसलिए असत्ख्याति ठीक नहीं।

२—यदि क्षणिक-विज्ञान का ही आकार साँप आदि को मान मान लिया जाय तो क्षणमात्र से अधिक समय तक स्थिर प्रतीति नहीं होनी चाहिए। इसलिए आत्मख्याति भी ठीक नहीं।

३—अन्यथाख्याति तो चिन्तामणि के कथनानुसार ही दूषित हो चुकी है और चिन्तामणि का कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि ज्ञेय के अनुसार ज्ञान होता है "ज्ञेय रस्सी और साँप का ज्ञान" यह कहना अत्यन्त विरुद्ध है। इसलिए ऐसा मानिए कि जहाँ रस्सी में साँप का भ्रम है; वहाँ नेत्र का अपनी वृत्तिद्वारा रस्सी से सम्बन्ध होने से रस्सी का इदं (यह) रूप से सामान्य ज्ञान होता है और साँप की स्मृति होती है।

'यह साँप है' में दो ज्ञान हैं। 'यह' अंश तो रस्सी का सामान्य प्रत्यक्षज्ञान है। 'साँप है' यह साँप का स्मृतिरूप ज्ञान है। इस प्रकार 'यह साँप है' में दो ज्ञान हैं। पर प्रभाता में भय दोष है और प्रमाण (नेत्र) में तिमिर (अन्धेरा) दोष है। इनके बल से मनुष्य को ऐसा विवेक नहीं होता कि "मुझे दो ज्ञान हुए हैं"। यद्यपि 'यह' अंश रस्सी का सामान्य-ज्ञान यथार्थ है और पहले देखे साँप का स्मृतिज्ञान भी यथार्थ ही है। तो भी "मुझे दो ज्ञान हुए हैं; उनमें रस्सी का सामान्य प्रत्यक्षज्ञान है और साँप का स्मृतिज्ञान है-यह विवेक नहीं होता। दो ज्ञानों के इस अविवेक को ही सांख्य-प्रभाकर-मत में भ्रम कहा है। यही प्रकार सभी भ्रम-स्थलों में समझना चाहिए

रस्सी आदि में साँप आदि के भ्रम के सम्बन्ध में चार मत सुने जाते हैं। उनमें जो ठीक हो वह कहें। उसे ही मैं मानूंगा। यह शिष्य के प्रश्न का आशय है।

गुरुजी बोले

ख्याति अनिर्वचनीय लखि, पञ्चम तिनतैं और।
युक्तिहीन मत चारि ये, मनहु भ्रमकी ठौर॥ ५० ॥

हे शिष्य! पूर्वोक्त चार ख्यातियों के अतिरिक्त एक पाञ्चवीं अनिर्वचनीय ख्याति है। सभी भ्रम के स्थानों पर वही समझनी चाहिए। ये चारों मत युक्तियुक्त नहीं ॥ ५० ॥

अर्थात् जैसे उत्तर-उत्तर मत के निरूपण में पूर्व-पूर्व मत को असङ्गत ठहराया गया है। वैसे अख्याति मत भी असङ्गत है। क्योंकि "यह सर्प है' इस ज्ञान में (१) 'यह' अंश तो रस्सी का सामान्यज्ञान प्रत्यक्ष है और (२) 'सर्प है' इतना अंश पहले देखे हुए साँप का स्मरणज्ञान है। यह अख्यातिवादी का मत है। यदि यहाँ पूर्वदृष्ट साँप का स्मरण ही मानें और सामने पड़ी रस्सी में साँप का ज्ञान न मानें तो सम्मुखस्थ रस्सी से मनुष्य भयभीत होकर जो पीछे की ओर भागता है। यह भय और भागना नहीं होना चाहिए। इसलिए मानना पड़ेगा कि सामने के रस्सी देश में ही साँप की प्रतीति होती है। पूर्वदृष्ट सर्प की स्मृति नहीं।

अथवा—रस्सी का विशेषरूप से यथार्थ ज्ञान हो जाने के बाद यह बाध होता है कि "मुझे रस्सी में साँप की मिथ्या प्रतीति हो गई थी" इस बाध से भी रस्सी में ही सर्प की प्रतीति होती है; पूर्वदृष्ट सर्प की स्मृति नहीं। "सर्प है" में ज्ञान एक ही प्रतीत होता है; दो नहीं। एक ही काल में अन्तःकरण से स्मृतिरूप और दो ज्ञान होते भी नहीं। इसलिए अख्यातिमत भी अत्यन्त असङ्गत है।

इन चारों मतों का प्रतिपादन और खण्डन 'विवरण', 'इष्ट सिद्धि'

आदि ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक किया है। प्रतिपादन और खण्डन की युक्तियां कठिन हैं। इसलिए संक्षेप से हमने जिज्ञासुओं को रीति समझाई है; विस्तार से नहीं लिखा।

५—अनिर्वचनीय-ख्याति

सिद्धान्त में अनिर्वचनीय-ख्याति है। उसका यह प्रकार है कि अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र आदि के द्वारा निकल कर विषय के समान आकारको प्राप्त हो जाती है। जिससे विषय के आवरण का भंग होने पर उसकी प्रतीति होती है। उसमें प्रकाश भी सहायक होता है। प्रकाश के बिना पदार्थ की प्रतीति नहीं होती।

जहाँ रस्सी में साँप का भ्रम होता है वहाँ अंतःकरण की वृत्ति नेत्रद्वारा निकलती भी है और रस्सी से उसका सम्बन्ध भी होता है। परन्तु † तिमिरादि दोष प्रतिबन्धक हैं। इसलिए रस्सी के समानाकार वृत्ति का स्वरूप नहीं होता। अतः रस्सी का आवरण दूर नहीं करती। इस रीति से आवरण के भंग का निमित्त वृत्ति का सम्बन्ध होने पर भी जब रस्सी के आवरण का भंग नहीं होता; तब रस्सीचेतन में स्थित जो अविद्या उसमें क्षोभ होता है; वही अविद्या सर्पाकार-परिणाम को प्राप्त हो जाती है।

१—यदि यह अविद्या-कार्य साँप सत् हो तो रस्सी के ज्ञान से इसका बाध नहीं होना चाहिए; पर बाध होता है। इसलिए सत् नहीं और २-यदि असत् हो तो बंध्या-पुत्र की भाँति उसकी प्रतीती नहीं होनी चाहिए; पर होती है। इसलिए असत् भी नहीं। किन्तु सत्-असत् से विलक्षण ‡ अनिर्वनीय है। सीपी आदि में चांदी आदि

† तिमिर—अन्धकार या नेत्रगत तिमिर दोष।

‡ सद्-असद् से विलक्षण—यद्यपि सत् से भिन्न असत् और असत् से भिन्न सत् होता है। दोनों से भिन्न तीसरा पदार्थ संसार में है ही नहीं। अतः दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय की स्थापना बनती नहींपि तथा यहां।

भी इसी प्रकार अनिर्वचनीय उत्पन्न होते हैं। उस अनिर्वचनीय की ख्याति (प्रतीति) और कथन ही अनिर्वचनीयख्याति है। भ्रम-स्थल में अन्तः करण से भिन्न अविद्या का परिणाम साँप आदि विषय और उनका ज्ञान एक ही समय में उत्पन्न और लीन होता है। वह साक्षी भास्य है। जैसे साँप अविद्या का परिणाम है। वैसे उसकी ज्ञानरूप वृत्ति भी अविद्या का ही परिणाम है; अन्तःकरण का नहीं क्योंकि जैसे रस्सी के ज्ञान से सर्प का बाध हो जाता है, वैसे उसके ज्ञान का भी बाध हो जाता है। यदि अंतःकरण का ज्ञान हो तो बाध नहीं होना चाहिए। इसलिए ज्ञान भी साँप की अविद्या का कार्य सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है। परन्तु—

(क) रस्सी-उपहित चेतन में स्थित तमोगुण-प्रधान अविद्या अंश का परिणाम साँप है। और (ख) साक्षी चेतन में स्थित अविद्या के सत्त्वगुण का परिणाम वृत्तिज्ञान है।

रस्सी-चेतन की अविद्या का जिस समय सर्पाकार परिणाम होता है। उसी समय साक्षी–आश्रित अविद्या का ज्ञानाकार परिणाम होता है। क्योंकि रस्सी–चेतन-आश्रित अविद्या में क्षोभ का जो निमित्त है; उसी निमित्त से ही साक्षी–आश्रित–अविद्या अंश में क्षोभ होता है। इसलिए भ्रम–स्थल में साँप आदि का विषय और उनका ज्ञान एक ही समय में उत्पन्न होता है एवं रस्सी आदि अधिष्ठान के ज्ञान से एक ही समय में लीन हो जाता है। इस रीति से सर्पादिक के भ्रम में— (क) बाह्य अविद्या का अंश, साँप आदि

'सत्' का अर्थ है–तीनों कालों में अबाध्य ब्रह्म। उससे विलक्षण—बाधयोग्य। एवं 'असत्' का अर्थ है—स्वरूपहीन वन्ध्यापुत्रादि; जिनकी प्रतीति ही नही होती। उससे विलक्षण—स्वरूपवान् पदार्थ जिसकी प्रतिति होती है। अतः बाधयोग्य स्वरूपवान् पदार्थ अनिर्वचनीय या सद्असद्–उभय–विलक्षण कहा जाता है। ऐसा ही है—प्रपंच और रज्जुसर्पादि।

विषय का उपादान कारण है और (ख) साक्षी-चेतन के आश्रित आंतर अविद्या का अंश, उनकी ज्ञानरूप वृत्ति का उपादान कारण है। और स्वप्न में (क) साक्षी-आश्रित अविद्या का ही तमोगुण-अंश विषयरूप परिणाम को प्राप्त होता है और (ख) उस अविद्या में का सत्त्वगुण-अंश ज्ञानरूप परिणाम को प्राप्त होता है। इसलिए स्वप्न में आंतर अविद्या ही विषय और ज्ञान दोनों का उपादान कारण है। अतः बाह्य (रस्सी-साँप आदि) और आंतर (स्वप्न के) पदार्थ साक्षीभास्य माने जाते हैं। अविद्या की वृत्तिद्वारा जिसे साक्षी भासित प्रकासित करता है; वह साक्षीभास्य है।

रज्जु-सर्पादि अविद्या के परिणाम और चेतन विवर्त हैं।

रस्सी आदि में अनिर्वचनीय साँप आदि और उनका ज्ञान भ्रम (अध्यास) कहा जाता है। वह भ्रम अविद्या का परिणाम है और चेतन का विवर्त है।

(क) उपादान-कारण के समानस्वभाववाला अन्यथारूप परिणाम होता है और (ख) अधिष्ठान से विपरीत स्वभाववाला अन्यथास्वरूप विवर्त होता है।

जैसे उपादान कारण अविद्या अनिर्वचनीय है। वैसे ही रस्सी में सांप और उसका ज्ञान भी अनिर्वचनीय है। इसलिए रज्जु सर्प और उसका ज्ञान अविद्या के समान स्वभाववाला है; अन्यथा-स्वरूप (अविद्या से अलग प्रकार का आकार) है। यह अविद्या का परिणाम है।

वैसे रज्जु-अवच्छिन्न अधिष्ठान चेतन सत्-रूप है। सर्प और उसका ज्ञान सत् से विलक्षण है। इसलिए रज्जु-सर्प और उसका ज्ञान, अधिष्ठान चेतन से विपरीत स्वभाववाला अन्यथा-स्वरूप (चेतन से अलग प्रकार का आकार) है।

सर्प और उसके ज्ञान का अधिष्ठान

मिथ्याज्ञान का अधिष्ठान रज्जु–उपहित चेतन है, रज्जु नहीं। क्योंकि साँप की भाँति रज्जु भी कल्पित है। एक कल्पित वस्तु दूसरी कल्पित वस्तु का अधिष्ठान बन नहीं सकती। इसलिए रज्जु–उपहित चेतन ही अधिष्ठान है, रज्जु नहीं। रज्जु-विशिष्ट को अधिष्ठान कहें तो भी रज्जु और चेतन दोनों अधिष्ठान होंगे। पर रज्जु–भाग में अधिष्ठानपन बाधित है। अतः रज्जु–उपहित चेतन ही अधिष्ठान है, रज्जु–विशिष्ट चेतन नहीं, वैसे ही साँप के ज्ञान का अधिष्ठान साक्षी-चेतन है। इस प्रकार भ्रमस्थल में विषय और विषय–ज्ञान का उपाधि–भेद से अधिष्ठान भिन्न है; एक नहीं। विशेषरूप से रज्जु की अप्रतीति की कारण अविद्या में क्षोभ हो करके साँप और सर्पज्ञान उत्पन्न होता है। विशेषरूप से रज्जु का ज्ञान सर्प और सर्पज्ञान की निवृत्ति में भी निमित्त है।

शंका—रज्जु के ज्ञान से साँप की निवृत्ति हो नहीं सकती। क्योंकि "मिथ्या वस्तु के अधिष्ठान के ज्ञान से मिथ्या वस्तु की निवृत्ति होती है" यह अद्वैतवाद का सिद्धान्त है। मिथ्या सर्प का अधिष्ठान रज्जु-उपहित चेतन है, रज्जु नहीं। इसलिए रज्जु के ज्ञान से साँप की निवृत्ति नहीं हो सकती।

समाधान–रज्जु आदि जड़–पदार्थों का ज्ञान अंतःकरण की वृत्तिरूप होता है। वहां आवरणभंग वृत्तिका प्रयोजन है। वह आवरण अज्ञान की शक्ति है। इसलिए आवरण जड़ के आश्रित नहीं; किन्तु जड़ के अधिष्ठान चेतन के आश्रित है। अतः (क) रज्जु–समानाकार अंतःकरण की वृत्ति से रज्जु–अवच्छिन्न चेतन के ही आवरण का भंग होता है। (ख) वृत्ति में जो चिदाभास है; उससे रज्जु का प्रकाश होता है।

(ग) चेतन स्वयं-प्रकाश है; उसमें आभास का उपयोग नहीं। यह सारी प्रक्रिया आगे इसी तरंग में कही जायगी।

इस प्रकार (१) चिदाभास–सहित अंतःकरण की वृत्तिरूप ज्ञान में वृत्तिभाग है; उसके आवरण का भंगरूप फल चेतन में होता है। (२) चिदाभास–भाग का प्रकाशरूप फल रज्जु में होता है। इसलिए वृत्तिज्ञान का विषय केवल जड–रज्जु नहीं, किन्तु अधिष्ठान-चेतन–सहित रज्जु साभासवृत्ति का विषय है। अतएव सिद्धान्तग्रन्थों में लिखा रहता है कि "अन्तःकरण–जन्य वृत्तिज्ञान सर्वत्र ब्रह्म को विषय करता है"। इस रीति से रज्जुज्ञान से निरावरण हो जाने के कारण सर्प के अधिष्ठान रज्जु–अवच्छिन्न चेतन का भी निज–प्रकाश से भान होता है। अतः रज्जु का ज्ञान ही सर्प के अधिष्ठान का ज्ञान है। जिससे सर्प की निवृत्ति हो सकती है।

दूसरी शंका—यद्यपि इस प्रकार सर्प की निवृत्ति तो रज्जु के ज्ञान से हो सकती है, तो भी सर्प के ज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि सर्प का अधिष्ठान रज्जु–अवछिन्न चेतन है और सर्प के ज्ञान का अधिष्ठान साक्षी चेतन है। पूर्वोक्त प्रकार से रज्जु-ज्ञान से रज्जु–अवच्छिन्न चेतन का ही भान होता है; साक्षी चेतन का नहीं। इसलिए रज्जु का ज्ञान होने पर भी सर्प–ज्ञान का अधिष्ठान्न साक्षी चेतन अज्ञात है। अज्ञात अधिष्ठान में से ही कल्पित की निवृत्ति होती है। अतः रज्जु–ज्ञान से सर्प–ज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती।

समाधान—विषय के अधीन ज्ञान होता है। विषय सर्प है, उसकी निवृत्ति होते ही साँप के ज्ञानकी निवृत्ति विषय के अभाव से स्वयमेव हो जाती है।

हाँ! इसमें यह प्रश्न उठ सकता है कि कल्पित की निवृत्ति अधिष्ठान ज्ञान के बिना हो नहीं सकती और सर्प का ज्ञान भी कल्पित है। उसका अधिष्ठान साक्षी चेतन है। उसके ज्ञान के बिना कल्पित सर्प के ज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती? उसका उत्तर यह है निवृत्ति दो प्रकार की होती है। एक अत्यंत–निवृत्ति और

दूसरी कारण में लयरूप-निवृत्ति। कारण-सहित कार्य की निवृत्ति अत्यंत-निवृत्ति कहलाती है। सर्वत्र कल्पित वस्तु का कारण अधिष्ठान के आश्रित अज्ञान है। अज्ञान-सहित उस कल्पित कार्य की निवृत्ति तो अधिष्ठान के ज्ञान से ही होती है, परन्तु कारण में लयरूप जो निवृत्ति वह अधिष्ठान के बिना भी हो जाती है।

जैसे सुषुप्ति और प्रलय में सब पदार्थों का अज्ञान में लय अधिष्ठान-ज्ञान के बिना ही होता है। वहाँ सब पदार्थों के लय में कारण भोग के सम्मुख कर्म का अभाव ही है। वैसे ही अधिष्ठान साक्षी के ज्ञान के बिना ही सर्प ज्ञान का विषय जो साँप है; उसका अभाव सर्प-ज्ञान के लय में निमित्त है इस प्रकार सर्प की निवृत्ति रज्जु के ज्ञान से होती है और सर्प के ज्ञान का लय सर्प ज्ञान के विषयरूप सर्प के अभाव से होता है।

(दूसरी प्रक्रिया)

अथवा—सर्प और उसका ज्ञान इन दोनों की निवृत्ति रज्जु-ज्ञान से ही होती है। क्योंकि जब रज्जु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है; तब अंतःकरण की वृत्ति नेत्रद्वारा निकलकर रज्जु-देश में जाती है। रज्जु के समान वृत्ति का आकार हो जाता है। इसलिए रज्जु के प्रत्यक्ष के समय वृत्ति-उपहित चेतन और रज्जु-उपहित चेतन दोनों एक हो जाते हैं। उनमें भेद नहीं रहता। कारण कि चेतन का स्वरूप से तो भेद कहीं भी नहीं। किन्तु उपाधि के भेद से चेतन का भेद होता है।

वृत्ति-उपहित चेतन और रज्जु-उपहित चेतन की भेदक उपाधि वृत्ति और रज्जु है। जब ये वृत्ति और रज्जु भिन्न-भिन्न देश में रहती हैं; तब उपाधिवाले चेतन का भेद होता है। जब दोनों उपाधियां एक देश में रहती हों; तब उपहित चेतन का भेद नहीं होता। यह बात वेदांत-परिभाषा आदि ग्रन्थों में लिखी हैं।

भिन्न देश में स्थित उपाधि से ही उपहित चेतन का भेद होता है

और जब दोनो उपाधियां भी एक ही देश में हों ; तब दोनो उपाधियों में उपहित चेतन भी एक ही होता है।

इस प्रकार रज्जु के प्रत्यक्ष-ज्ञान के समय रज्जु-उपहित चेतन और वृत्ति-उपहित चेतन एक हैं। वहाँ साक्षी चेतन ही वृत्ति-उपहित चेतन है। क्योंकि अन्तःकरण और उसकी वृत्ति में स्थित जो उनका प्रकाशक चेतनमात्र, वह साक्षी कहलाता है। इस प्रकार रज्जु-ज्ञान के समय साक्षी चेतन और रज्जु-उपहित चेतन का अभेद होता है। और रज्जु-उपहित चेतन का रज्जु के ज्ञान से भान होता है और रज्जु-उपहित चेतन से अभिन्न साक्षी का भी रज्जु के ज्ञान से भान होता है। इस प्रकार रज्जु-ज्ञान के समय अधिष्ठान साक्षी का भान होने से कल्पित सर्प के ज्ञान की निवृत्ति हो सकती है।

(तीसरी प्रक्रिया)

कूटस्थ–दीप में विद्यारण्य-स्वामी ने कहा है कि (क) आभास-सहित अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रियों द्वारा निकल कर घट आदि विषयों को प्रकाशित करती है। (ख) घट आदि विषय, एवं उनका आभास–सहित वृत्तिरूप ज्ञान तथा आभास-सहित अन्तःकरणरूप ज्ञाता इन तीनों को ही साक्षी प्रकाशित करता है। (क) "यह घट है" इसमें आभास–सहित वृत्ति से घट मात्र का प्रकाश होता है। (ख) "मैं घट जानता हूँ" इसमें त्रिपुटी का साक्षी से प्रकाश होता है। [मैं=ज्ञाता, घट=ज्ञेय और उसका ज्ञान, यह त्रिपुटी] इस प्रकार सब त्रिपुटियों का प्रकाशक साक्षी है।

यदि साक्षी स्वयं अज्ञात हो तो त्रिपुटी का ज्ञान वह कैसे करावे ? इसलिए सब त्रिपुटियों के ज्ञान में साक्षी का ज्ञान अवश्यमेव होता है। उस साक्षी के ज्ञान से साँप के ज्ञान की निवृत्ति हो सकती है। जो सर्प और सर्पज्ञान का अधिष्ठान भिन्न भिन्न कहा था; उसके सम्बन्ध में ये शङ्का–समाधान है। इस पक्ष में और भी बहुत विवाद है।

अन्य पक्ष—"सर्प और उसके ज्ञान का अधिष्ठान एक ही है"। इसमें जो बाह्य रज्जु-चेतन है, उसे सर्प और सर्प ज्ञान का अधिष्ठान कहा नहीं जा सकता। क्योंकि जितने ज्ञान होते हैं; वे प्रमाता या या साक्षी के आश्रित होते हैं। बाह्य (बाहर का) जो रज्जु-चेतन उसके आश्रित नहीं हो सकते।

यदि सर्प और सर्पज्ञान का अधिष्ठान अन्तःकरण-उपहित साक्षी चेतन को मानें तो शरीर के अन्दर अन्तःकरण-देश में साँप की प्रतीति चाहिए। रज्जु देश में सर्प की प्रतीति नहीं चाहिए। अन्दर पैदा हुए साँप की माया के बल से बाहर प्रतीति मानें तो आत्म-ख्याति मत की सिद्धि होगी।

यद्यपि इस प्रकार (क) रज्जु-उपहित चेतन ज्ञान का अधिष्ठान नहीं बन सकता। (ख) अन्तःकरण-उपहित चेतन सर्प का अधिष्ठान नहीं बन सकता। इसलिए सर्प और उसके ज्ञान का अधिष्ठान एक सिद्ध नहीं होता, तो भी रज्जु के समीप आई हुई अन्तःकरण की इदमाकार वृत्ति में स्थित चेतन के आश्रित अविद्या ही सर्पाकार और ज्ञानाकार परिणाम को प्राप्त होती है।

(क) वृत्ति-उपहित चेतन में अविद्या का तमोगुण अंश सर्प का उपादान कारण है और (ख) उसीमें विद्यमान सत्त्वगुण अंश सर्प के ज्ञान का उपादान कारण है। सर्प और सर्पज्ञान का वृत्ति-उपहित चेतन अधिष्ठान है।

वृत्ति बाहर रज्जु-देश में गई। इसलिए वृत्ति-उपहित चेतन भी भी बाहर है, अतः सर्प का आश्रय बन सकता है। जितना अन्तःकरण का स्वरूप होता है; उतना ही साक्षी का स्वरूप होता है। शरीर के अन्दर विद्यमान जो अन्तःकरण, वही वृत्तिरूप परिणाम को प्राप्त होता है। इसलिए वृत्ति-उपहित चेतन साक्षी है। अतः ज्ञान का आश्रय है। जब रज्जु का साक्षात्कार होता है; तब रज्जु-चेतन और

वृत्ति-चेतन दोनो एक हो जाते हैं। जिस के कारण रज्जु के ज्ञान से सर्प और सर्पज्ञान की निवृत्ति भी बन सकती है।

जहाँ एक ही रस्सी में दस मनुष्यों को किसी को साँप, किसी को डण्डा, किसी को माला, किसी को पृथ्वी की दरार, किसी को जल की रेखा आदि भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीति होती है। उनमें से जिस मनुष्य को रस्सी का साक्षात्कार होता है; उसी के वृत्ति-चेतन में कल्पित अध्यास की निवृत्ति होती है । जिनको रज्जु ज्ञान नहीं होता ; उनके अध्यास की निवृत्ति नहीं होती । इसलिए वृत्ति चेतन ही कल्पित का अधिष्ठान है । रज्जु-आदि विषय-उपहित चेतन नहीं ।

यदि रज्जु-उपहित चेतन को सर्प-दण्डे-आदि का अधिष्ठान मानें तो दस मनुष्यों को जो दस पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं; वे सब-के-सब हर-एक को प्रतीत होने चाकिए। हमारी रीतिसे (पद्धति से) तो जिस के बृत्ति-चेतन में जो पदार्थ कल्पित है; वह उसी को प्रतीत होता है; दूसरे को नहीं। इस प्रकार बाह्य सर्प आदि और उनके ज्ञान का अधिष्ठान वृत्ति-उपहित साक्षी है। स्वप्न के पदार्थ और उनके ज्ञान का भी अधिष्ठान अन्तःकरण-उपहित साक्षी ही है। इस प्रकार सत् और असत् से बिलक्षण जो अनिर्वचनीय अविद्या, उसका परिणाम जो अनिर्वचनीय सर्प आदि; उनकी ख्याति (प्रतीति) और कथन। यह अनिर्वचनीय ख्याति है।

शिष्य बोला

यह मिथ्या परतीत ह्वै, जामैं जगत अधार ।

सो भगवन् मोकूं कहौ, को याको आधार ॥ ५१ ॥

हे भगवन् ! जिसमें यह अपार मिथ्या जगत् प्रतीत होता है । वह आधार कौन है , मुझसे कहिए ? ॥ ५१ ॥

गुरुजी बोले

तव निज–रूप–अज्ञानतैं, ह्वै मिथ्या जग भान।
अधिष्ठान आधार तूं, रज्जु–भुजङ्ग–समान॥ ५२॥

हे शिष्य ! निज को ब्रह्मरूप से न जानने के कारण ही यह मिथ्या जगत् प्रतीत हो रहा है। तू ही इस जगत् का आधार है और तू ही अधिष्ठान है। जैसे रज्जु के अज्ञान से मिथ्या भुजङ्ग प्रतीत होता है। उस मिथ्या भुजङ्ग का आधार और अधिष्ठान रज्जु ही है॥ ५२॥

यद्यपि (दूसरे) मुख्य पक्ष में मिथ्या सर्प का अधिष्ठान वृत्ति–उपहित चेतन है और प्रथम पक्ष में रज्जु–उपहित चेतन है। दोनों पक्षों में रज्जु अधिष्ठान नहीं। यो भी प्रथम पक्ष में अधिष्ठान पनकी उपाधि रज्जु है। इस कारण स्थूल दृष्टि से रज्जु को अधिष्ठान कह दिया गया है। जैसे मिथ्या भुजङ्ग का आधार तथा अधिष्ठान रज्जु है। वैसे मिथ्या जगत् का अधिष्ठान तथा आधार तू ही है।

सामान्यरूप आधार और विशेषरूप अधिष्ठान

जैसे रस्सी के दो स्वरूप हैं। एक सामान्यरूप और दूसरा विशेष रूप। सामान्यरूप 'इदम्' (यह) है और विशेषरूप रज्जु है। 'यह सर्प है' में मिथ्या सर्प से अभिन्न हो करके भ्रान्तिकाल में भी प्रतीत होनेवाला 'इदम्रूप' सामान्यरूप है और जो सर्प की भ्रान्ति–काल में प्रतीत नहीं होता। किन्तु जिसकी प्रतीति होने पर सर्प की भ्रान्ति दूर हो जाती है, वह रज्जु का विशेषरूप है।

वैसे ही आत्मा के भी दो स्वरूप हैं। एक सामान्यरूप और दूसरा विशेषरूप। (क) सत्रूप सामान्यरूप है और (ख) असङ्गता, कूटस्थता, नित्यमुक्तता आदि विशेषरूप हैं। क्योंकि "स्थूल-सूक्ष्म सङ्घात है" में स्थूल-सूक्ष्म सङ्घात की भ्रान्ति के समय भी मिथ्या सङ्घात से अभिन्न हो करके सत्रूप प्रतीत होता है। यह

आत्मा का सत्स्वरूप सामान्यस्वरूप है और स्थूल-सूक्ष्म सङ्घात की भ्रान्ति के समय आत्मा का असङ्ग, कूटस्थ, नित्यमुक्त, स्वरूप प्रतीत होता नहीं। किन्तु असङ्ग आदि स्वरूप आदि की प्रतीति हो जाने पर सङ्घात भ्रान्ति दूर हो जाती है। इसलिए असङ्गता, कूटस्थता, नित्यमुक्तता, व्यापकता आदि विशेषरूप है।

सब भ्रान्तियों में सामान्यरूप आधार विशेषरूप अधिष्ठान है। जैसे सर्प की आश्रय-रज्जु का सामान्य 'इदं' स्वरूप सर्प का आधार है और विशेष रज्जु-स्वरूप अधिष्ठान है। वैसे ही मिथ्या प्रपञ्च के आश्रय आत्मा का सामान्य सत्रूप प्रपञ्च का आधार है और असङ्गता आदि विशेषरूप अधिष्ठान है।

इस प्रकार आधार और अधिष्ठान का †सर्वज्ञात्ममुनि ने किञ्चित् भेद प्रतिपादन किया है।

शिष्य बोला

भगवन् ! मिथ्या जगत को, द्रष्टा कहिये कौन ?
अधिष्ठान आधार जो, द्रष्टा होय न तौन ॥ ५३ ॥

भगवन्! मिथ्या जगत् का देखनेवाला कौन होगा? क्योंकि आधार और अधिष्ठान तो द्रष्टा नहीं हो सकते ॥ ५३ ॥

भाव यह है—जैसे सर्प का आधार और अधिष्ठान रज्जु है, उससे भिन्न मनुष्य सर्प का द्रष्टा है। वैसे ही जगत् का आधार और अधिष्ठान आत्मा है। उससे भिन्न जगत् का द्रष्टा होना चाहिए।

गुरुजी बोले

मिथ्या वस्तु जगत मैं जे हैं। अधिष्ठान मैं कल्पित ते हैं।
अधिष्ठान सो द्विविध पिछानहु। इक चेतन दूजो जड जानहु॥५४॥

---

† सर्वज्ञात्ममुनि = संक्षेप-शारीरिक के कर्ता सुरेश्वराचार्य के शिष्य और श्रीशङ्कराचार्य के प्रशिष्य।

अधिष्ठान जड वस्तु जहां है। द्रष्टा तातैं भिन्न तहां हैं।
जहां होय चेतन आधारा। तहां न द्रष्टा होवै न्यारा ॥ ५५ ॥

चेतन मिथ्या स्वप्न को, अधिष्ठान निर्धार।
सोई द्रष्टा भिन्न नहिं, तैसें जगत विचार ॥ ५६ ॥

जगत् में जो जो मिथ्या वस्तुएँ हैं। वे सभी अधिष्ठान में कल्पित होती हैं। अधिष्ठान दो प्रकार का होता है; एक चेतन और दूसरा जड़। जहाँ जड़ वस्तु अधिष्ठान होती है; वहीं द्रष्टा अधिष्ठान से भिन्न होता है। जहाँ अधिष्ठान चेतन होता है, वहाँ अधिष्ठान ही द्रष्टा होता है। अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता। जैसे स्वप्न का अधिष्ठान साक्षी चेतन है। वही स्वप्न का द्रष्टा है। वैसे ही जगत् का अधिष्ठान आत्मा है वही जगत् का द्रष्टा है ॥ ५४–५६ ॥

यह शङ्का समाधान स्थूलदृष्टि से रस्सी को सर्प अधिष्ठान मान करके किया गया है। पर सिद्धांत-मत तो सर्प का अधिष्ठान साक्षी चेतन है, वही द्रष्टा है। इसलिए सभी कल्पितों का अधिष्ठान ही द्रष्टा है। अतः सिद्धान्त मतके यह शङ्का और समाधान नहीं बनते।

इम मिथ्या संसार दुःख, ह्वै तो मैं भ्रम--भान।
ताकी कहा निवृत्ति तू, चाहै सिष्य सुजान ॥ ५७ ॥

हे शिष्य ! तुझ में इस प्रकार संसाररूपी दुःख मिथ्या ही भ्रान्ति से प्रतीत हो रहा है। उस मिथ्या की निवृत्ति की इच्छा बन नहीं सकती। जैसे मदारी किसी को मन्त्र के बल से झूँठा शत्रु दिखा देता है, पर वह मनुष्य उसे मारने को उद्यत नहीं होता। वैसे ही मिथ्या संसार की निवृत्ति की चाह भी नहीं बन सकती ॥ ५७ ॥

शिष्य बोला

जग यद्यपि मिथ्या गुरुदेवा। तथापि मैं चाहूँ तिहि छेवा।
स्वप्न भयानक जाकूं भासै। करि साधन जन जिम तिहि नासै ॥

यातैं ह्वै जातैं जग हाना। सो उपाय भाखो भगवाना ?
तुम समान सतगुरु नहिं आना। श्रवन फूंकदे वंचक नाना॥५९॥

भगवन्! आप ने कहा कि "संसार तुझमें मिथ्यारूप से प्रतीत हो रहा है; सत्यरूप से नहीं" यद्यपि यह बात सत्य है; तो भी मिथ्यारूप से भी जिस उपाय से मरण आदि संसार मुझमें प्रतीत न हों, वह उपाय बताने की आप कृपा कीजिए। आप ने कहा कि "मिथ्या की निवृत्ति के लिए साधन की आवश्यकता नहीं" यह भी बात सत्य है। पर जिसे मिथ्या पदार्थ भी दुःख का कारण हैं, उसे वे झूठे भी दूर करने चाहिए। जैसे किसी मनुष्य को प्रतिदिन भयानक स्वप्न आते रहते हैं। वे मिथ्या भी हैं, पर उन्हें भी दूर करने के लिए जप, आदि अनेक साधन किये जाते हैं। वैसे ही यह संसार मिथ्या है। पर जन्म आदि दुःखों का कारण मुझे प्रतीत हो रहा है। इसीलिए संसार की निवृत्ति चाहता हूँ॥ ५८-५९॥

गुरुजी बोले

सोरठा--सो मैं कह्यो बखानि, जो साधन तैं पूछियो।
निज-हिय निश्चय आनि, रहै न रंचक खेद जग॥६०॥

सौम्य! जगत्‌रूपी दुःख की निवृत्ति का उपाय तो मैं पहले ही कह चुका हूँ। उसी का तू दृढ़ निश्चय कर। जिससे तेरे मन में संसाररूप दुःख नहीं रहेगा॥६०॥

निज आतम अज्ञान तैं, ह्वै प्रतीत जग खेद।
नसै सु ताके बोधतैं, यह भाखत मुनि-वेद॥ ६१ ॥
जग मोमैं नहिं, ब्रह्म मैं, 'अहंब्रह्म' यह ज्ञान।
सो तोकूँ सिष मैं कह्यो, नहिं उपाय को आन॥६२॥

अपने स्वरूप के अज्ञान से यह जगत्‌रूपी दुःख प्रतीत होता है और आत्मा के ज्ञान से दूर हो जाता है। जो वस्तु जिसके अज्ञान से प्रतीत होती है वह उसके ज्ञान से दूर हो जाती है यह नियम है। जैसे रस्सी के अज्ञान से साँप प्रतीत होता है और उसके ज्ञान से दूर हो जाता है। वैसे ही आत्मा के अज्ञान से जगत् प्रतीत होता है और उसके ज्ञान से दूर हो जाता हैं। यह आत्मज्ञान मैंने तुझ से कह ही दिया। इसके बिना कोई दूसरा उपाय नहीं ॥ ६१-६२ ॥

अर्थात्—संसार तो तुझमें तीन-काल में नहीं, क्योंकि वह मिथ्या है। जो वस्तु मिथ्या होती है, वह अधिष्ठान की कुछ हानि नहीं कर सकती। जैसे मरीचिका-जल पृथ्वी को भिगो नहीं सकता, वैसे ही संसार प्रतीत होने पर भी मिथ्या है। इसलिए वह तेरा कुछ विगाड़ नहीं सकता। "मैं सत्-चित् आनंद-रूप ब्रह्म हूँ" यह निश्चय ज्ञान है। यही मोक्ष का साधन है; दूसरा कोई नहीं। यह ज्ञान मैं तुझसे पहले ही कह चुका हूँ।

कर्म-उपासन तैं नहिं, जग-निदान तम-नास।
अंधकार जिम गेह मैं, नसै न बिन परकास ॥६३॥

हे शिष्य ! जगत् का निदान (उपादान कारण) तम (अज्ञान) है। उस अज्ञान के नष्ट होते ही यह जगत् स्वयमेव नष्ट हो जाता है। क्योंकि उपादान के नष्ट हो जाने पर कार्य नहीं रहा करता। उस अज्ञान का नाश अकेले ज्ञान से ही होता है, कर्म और उपासना से नहीं। क्योंकि अज्ञान का विरोधी ज्ञान है, कर्म और उपासना विरोधी नहीं, जैसे घर में का अन्धकार अन्य किसी क्रिया से दूर नहीं होता। परन्तु अकेले प्रकाश से दूर होता है। वैसे ही अज्ञानरूपी अन्धकार ज्ञानरूपी प्रकाश से दूर होता है; दूसरे किसी साधन से नहीं ॥ ६३ ॥

भाख्यो सिष उपदेस मैं, जग–भञ्जक हिय धारि ।
जो यामैं संसय रह्यो, सो तू पूछ विचारि ॥ ६४ ॥

हे शिष्य ! जगत् को नष्ट करनेवाला उपाय मैंने तुझसे कहा। तू इसे हृदय में धारण कर ले, जो कुछ इसमें शङ्का हो तो वह मुझसे पूछ ले ॥ ६४ ॥

भो भगवन जो कछु तुम भाख्यो। सो सब सत्य जानि हिय राख्यो।
जग-निदान अज्ञान बखान्यो। ताको भंजक ज्ञान पिछान्यो॥६५॥
ज्ञानरूप वर्नन पुनि कीना। जग मिथ्या सो मैं भल चीना।
सुखस्वरूप आतम परकास्यो। दया तिहारी सो मोहिं भास्यो॥६६॥
पुनि भाख्यो 'तू ब्रह्म स्वरूपं' यह मैं लख्यो न भेद अनूपं।
यामैं मोहिं सङ्का इक आवै। जीव-ब्रह्म को भेद जनावै ॥ ६७ ॥

भगवन् ! जो जो आपने कहा; मैं उसे सत्य मानता हूँ, जगत् का कारण अज्ञान है, अज्ञान के नाशक ज्ञान से जगत् की निवृत्ति होती है, "जगत् मिथ्या है और जीव आनन्द स्वरूप है, वह ब्रह्म से भिन्न नहीं, किन्तु ब्रह्मरूप ही है" ऐसे निश्चय का नाम ज्ञान है, यह भी समझ लिया, पर "जीव और ब्रह्म दोनो एक हैं" यह बात समझ में नहीं आई, क्योंकि जीव और ब्रह्म के भेद को बतानेवाली शङ्का मेरे मन में उठ रही है ॥ ६५–६७ ॥

पुन्नि-पाप का हूँ मैं कर्ता, जन्म-मरन औ सुख-दुख-धर्ता ।
और अनेक भांति जग भासै । चहूँ ज्ञान अज्ञान जु नासै॥६८॥
जो यातैं विपरीत स्वरूपा । ताको ब्रह्म कहत मुनि-भूपा ।
कहो एकता कैसे जानूं । रूपविरुद्ध हिये पहचानूं ॥ ६९ ॥

भगवन्! मैं पुण्य और पाप के करनेवाला हूँ, उनका जो फल (जन्म-मरण और सुख-दुःख रूप) उसका मैं भोगने वाला हूँ, अनेक प्रकार का संसार मुझ में प्रतीत होता है, जगत् का कारण अज्ञान है, उसे दूर करने के लिए मैं ज्ञान चाहता हूँ, पर ब्रह्म में न पुण्य है, न पाप है, न जन्म है, न मरण है, न सुख है, न दुःख है, न कोई क्लेश है, और न ज्ञान की इच्छा है। मेरा और ब्रह्म का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है। इसलिए दोनों की एकता बन नहीं सकती।

यद्यपि मुझ में भी जन्म आदि संसार परमार्थतः नहीं; तो भी मिथ्या जन्म आदि मुझे भ्रान्ति में प्रतीत होते हैं और ब्रह्म कोनहीं-इतना भेद है। अतः एकता सिद्ध नहीं हो † सकती ॥ ६८, ६९ ॥

सुनहु गुरू दूजो पुनि संसै। जीव-ब्रह्म-एकत्व प्रनंसै।
एक वृच्छ मैं सम द्वै पच्छी। फल भोगै इक दूजो स्वच्छी ॥७०॥
भोग-रहित परकास असंगा। वेद वचन यह कहत प्रसंगा।
कर्म उपासन पुनि बहु भाखै। जीव-ब्रह्म-यातैं द्वय राखै ॥७१॥

भगवन्! दूसरा एक संशय है, वह भी सुनिए! जिससे जीव और ब्रह्म की एकता रह नहीं सकती। एक वृक्ष पर एक-से दो पक्षी रहते हैं। एक फल भोगता है और दूसरा निर्मल है। वह भोग-रहित, प्रकाशरूप, और असङ्ग है; यह वेदवचन है। दूसरे, वेद में कितने कर्म और उपासना के भेद कहे हैं। उनसे भी जीव और ब्रह्म का भेद ही सिद्ध ‡ रखा है ॥ ७०–७१ ॥

अर्थात् वेद में लिखा है कि बुद्धिरूपी वृक्ष पर दो पक्षी रहते हैं दोनो समान हैं। एक कर्म-फल का भोक्ता हैं और दूसरा स्वच्छ

† यह प्रमेय गत संशय का स्वरूप है।

‡ यह प्रमाण गत संशय का स्वरूप हैं।

(शुद्ध) भोगरहित है, असङ्ग है एवं भोक्ता को प्रकाशित करता है। भोगनेवाला जीव और दूसरा परमात्मा प्रतीत होता है। इसलिए इनकी एकता कैसी ?। और वेद में कर्म और उपासना के बहुत-से प्रकार कहे हैं। वे जीव और ब्रह्म की एकता मान लेने पर निष्फल हो जायँगे। क्योंकि यदि आप जीव और ब्रह्म की एकता मानेंगे तो ब्रह्म में जीव के स्वरूप का अन्तर्भाव मानना होगा या जीव में ब्रह्म के स्वरूप का अन्तर्भाव मानना होगा।

कदाचित् आप ब्रह्म में जीव के स्वरूप का अन्तर्भाव करें तो जीव के ब्रह्मस्वरूप होने के कारण अधिकारी का आभाव हो जायगा। इसलिए कर्म और उपासना निष्फल हो जायँगे। यदि जीव में ब्रह्म के स्वरूप का अन्तर्भाव करें तो ब्रह्म के जीवरूप होने के कारण जिसकी उपासना करनी है उस उपास्य का अभाव हो जायगा और कर्म के फल देनेवाले परमात्मा के अभाव से कर्म निष्फल हो जायगा।

मीमांसकों का जो यह कहना है कि "कर्म ही ईश्वर है, उन्हीं से फल होगा" ठीक नहीं। क्योंकि कर्म जड़ है। जड़ में फल देने का सामर्थ्य नहीं होता। अतः कर्म फा फल ईश्वर ही देता है। इस प्रकार जीव और परमात्मा की एकता नहीं बन सकती।

गुरुजी बोले

सुनहु सिष्य इक कहूँ विचारा। ह्वै जातैं संका निस्तारा।
घटाकास इक जल-आकासा। मेघाकास महा-आकासा ॥ ७२ ॥
चारि भेद ये नभके जानहु। पुनि चेतनके तथा विछानहु।
इक कूटस्थ जीव पुनि कहिये। इस ब्रह्म हिय जानै रहिये ॥७३॥
जब इनको तूं रूप पछानै। निज संका तब ही सब भानै।
यातैं सुन इनको अब भेदा। नसै सुनत जन्मादिक खेदा ॥७४॥

हे शिष्य ! तुझे जो शङ्का हुई है। उसका निस्तार (निराकरण) जिससे हो जाय वह विचार मैं तुझसे कहता हूँ; तू सुन। जैसे एक ही आकाश के चार भेद हैं १—घटाकाश, २—जलाकाश ३—मेघाकाश, और ४—महाकाश। वैसे ही एक ही चेतन के चार भेद हैं १—कूटस्थ, २—जीव, ३—ईश्वर और ४—ब्रह्म। ये चारों भेद आकाश की भाँति चेतन में हैं। जब तू इन के स्वरूप को भलीभाँति पहचान जायगा तब तेरी शङ्का का स्वयमेव समाधान हो जायगा। इसलिए मैं इनके स्वरूप का वर्णन करता हूँ। जिसके सुनने से संशय-रहित ज्ञान होगा और उससे जन्म आदि दुःखों का नाश होगा ॥ ७२-७४ ॥

जलपूरित घटकूं जु दे, जितनो नभ अवकास।
युक्ति-निपुन पण्डित कहै, ‡ताकूं घट-आकास ॥ ७५ ॥

जल से भरा घड़ा आकाश का जितना भाग रोकता है, उतने आकाश को युक्ति-कुशल पन्डित ‡ घटाकाश कहते हैं ॥ ७५ ॥

जल-पूरित घटमैं जु पुनि, है नभ को आभास।
घटाकास-युत विज्ञ जन, भाखत जल-आकास ॥७६॥

---

‡ घटाकाश—श्रीविद्यारण्यस्वामी का श्लोक है—

"घटावच्छिन्नखे नीरं यत्तत्र प्रतिबिम्बितः।
साभ्रनक्षत्र आकाशो जलाकाश उदीर्यते ॥" (चित्रदीप १९)

इसका अवतरण देते हुए व्याख्याताने कहा है—"घटाद्यवच्छिन्नस्य घटाकाशस्य तदनवच्छिन्नस्य च महाकाशस्य प्रसिद्धत्वात्तौ विहायाप्रसिद्धं जलाकाशं व्युत्पादयति-घटावच्छिन्नेति।"

अर्थात् घटाकाश, जलाकाश, मेघाकाश और महाकाश—इन चारों में दो घटाकाश और महाकाश नितान्त प्रसिद्ध हैं—घटावच्छिन्न (घट से या घट के भीतर भरे) आकाश को घटाकाश और घट के बाहर वाले विस्तृत आकाश को महाकाश कहते हैं।

जल से भरे घड़े में (नक्षत्र आदि सहित) आकाश का प्रतिबिंब पड़ता है। आकाश का यह प्रतिबिंब और घटाकाश दोनों मिल कर जलाकाश कहलाते हैं ॥७६॥

इस लेख से स्पष्ट हो जाता है कि घटाकाश का अर्थ है--घट के अन्दर भरा आकाश, जहाँ जल भरा जाता है। "घटावच्छिन्नखे नीरं यत्" कहकर स्वयं विद्यारण्यस्वामी स्पष्ट कर देते हैं कि घटावच्छिन्न आकाश (घटाकाश) में जल है। आगे दार्ष्टान्त में स्पष्ट किया है--

"कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः।" अर्थात् जैसे घटाकाश में जल और जल में आकाश का प्रतिबिम्ब है। वैसे कूटस्थ में कल्पित है बुद्धि और बुद्धि में जो प्रतिबिम्ब या आभास वह जीव है। यहाँ से भी यही दृढ़ होता है कि घट में भरे आकाश को ही घटाकाश कहा जाता है। और भी आगे के श्लोक में एक बात कही है—

जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः।
तथा जीवेन कूटस्थः सोन्योऽन्याध्यास उच्यते ॥

अर्थात् "जैसे जलाकाश से पूरा घटाकाश छिपा दिया जाता है, वैसे ही जीव से कूटस्थ तिरोहित है।" इससे भी यही स्पष्ट है कि जल जिस घटके अन्दर के आकाश में भर दिया गया है, वही घटाकाश है। घट के बाहर का आकाश घटाकाश नहीं!

किन्तु यहाँ महात्माजी कहते हैं--जल से भरे घट को महाकाश जितना अवकाश देता है। अर्थात् घट के बाहर का वह आकाश जिसमें घट रखा है। उसे घटाकाश कहते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि घटाकाश में है घट और घट में जल एवं जल में जलाकाश। दार्ष्टान्त से मिलाने पर घटाकाश = कूटस्थ, घट = बुद्धि, जल = जीव और जलाकाश = कुछ नहीं। यों सब चौपट हो गया। बुद्धि के स्थान में कोई स्वच्छ जल-जैसी वस्तु चाहिए थी, पर पड़ा क्या? घट। जीव के स्थान पर कोई प्रतिबिम्ब पड़ना चाहिए था। किन्तु वहाँ भर गया जल। अतः घट के अंदर का आकाश घटाकाश माना जाना उचिततर है।

शंका—आकाश का प्रतिबिंब नहीं पड़ता; किन्तु नक्षत्र आदि का ही प्रतिबिंब पड़ता है। क्योंकि आकाश रूपरहित है। नीरूप का प्रतिबिंब नहीं होता। पर रूपवाले का प्रतिबिंब होता है। इसलिए आकाश का प्रतिबिंब सिद्ध नहीं होता। समाधान—

जो जलमैं आकाश को, नहिं प्रतिबिंब लखाइ।
थोरै मैं गंभीरता, ह्वै प्रतीत किंहि भाइ ॥ ७७ ॥
यातैं जल मैं व्योम को, लखि आभास सुजान।
रूपरहित जिमि शब्द तैं, ह्वै प्रतिधुनि को भान ॥७८॥

यदि जल में आकाश का प्रतिबिंब न पड़ता हो तो घुटनों तक परिमाणवाले जल में मनुष्य के-से परिमाण की गहराई नहीं दिखाई देनी चाहिए। इसलिए आकाश का प्रतिबिंब मानना पड़ेगा। यदि कहें कि—"रूपरहित पदार्थ का प्रतिबिंब नहीं पड़ता"। यह कोई नियम नहीं। क्योंकि ‡रूपरहित शब्द की प्रतिध्वनि होती

---

‡ रूपरहित शब्द—न्याय, वैशेषिक का सिद्धान्त है कि गुणों में गुण नहीं माने जाते। अर्थात् गुण सदैव द्रव्य के ही आश्रित रहते हैं; गुण के आश्रित नहीं। इस प्रकार रूप गुण द्रव्य में रह सकता है; गुणों में नहीं। शब्द भी गुण है। अतः शब्द में रूप नहीं रहता; शब्द नीरूप (रूप-रहित) है। फिर भी शब्द का प्रतिबिम्ब आकाश में प्रतिध्वनि के रूप में पड़ता है। फिर तो यह नियम भंग हो गया कि 'रूपरहित पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं होता।

यद्यपि रूपरहित रूप (नीलादि) का प्रतिबिम्ब दिखाकर उक्त नियम भंग किया जा सकता था। फिर भी नैयायिक एक नया नियम बना सकता था कि 'रूप-रहित द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं होता। नीरूप शब्द का प्रतिबिम्ब दिखाकर यह नियम भी टूट जाता है। क्योंकि शब्द को मीमांसक द्रव्य मानते हैं। अथवा "रूपहित का रूपरहित में प्रतिबिम्ब नहीं होता"—ऐसा नियम बनाने पर एकमात्र उदाहरण 'आकाश में नीरूप शब्द का प्रतिबिम्ब'

है। वही शब्द का प्रतिबिंब है। इसलिए रूपरहित आकाश का भी प्रतिबिंब मानना पड़ता है ॥७७-७८॥

जो मेघहि अवकास दै, पुनि तामैं आभास।
तिन दोनों कूं कहत हैं, बुधजन मेघाकास ॥७६॥

बादल आकाश के जितने भाग को रोकते हैं; उतना आकाश तथा मेघ में जो आकाश का प्रतिबिंब पड़ता है-ये दोनों मेघाकाश कहलाते हैं ॥७९॥

शंका—मेघ तो आकाश में है। उसमें जल और आकाश का प्रतिबिंब बिना देखे कैसे जान सकते हैं ?। समाधान—

वर्षत मेघ अनंत जल, उदक सहित इहिं हेत।
दक नहिं नभ आभास बिन, इम प्रतिबिंब समेत ॥८०॥

यद्यपि मेघ में जल और आकाश का प्रतिबिंब प्रत्यक्ष नहीं; फिर भी अनुमान से जान सकते हैं। मेघ जल की वर्षा करते हैं। यदि मेघों में जल न होता तो वृष्टि कहां से होती ? अतः मेघों में जल है। जो मेघों में जल है; वह आकाश के प्रतिबिंब-सहित है। क्योंकि जल आकाश के प्रतिबिंब बिना नहीं होता। इसलिए मेघों में जो जल है; वह भी आकाश के प्रतिबिंबवाळा है। इस प्रकार जल और आकाश के प्रतिबिंब का अनुमान होता है। दक, उदक दोनों जल के नाम है ॥८०॥

दिखाकर ही उस नियम का भंग किया जा सकता है। वस्तुतः न्याय की परिभाषा ही वेदान्त में पंगु हो जाती है। क्योंकि न्याय का आत्मा सगुण और सक्रिय होने से द्रव्य है। किन्तु वेदान्त में निर्गुण और निष्क्रिय है। न्याय-मत में बुद्धि गुण है। किन्तु वेदान्त में सूक्ष्मभूतों के मिलित सत्त्व का कार्य एवं 'सत्त्वं लघु प्रकाशकम्' के अनुसार प्रकाशक स्वच्छ द्रव्य है।

बाहर-भीतर एकरस, व्यापक जो नभरूप।
महाकास ताकूं कहैं, कोविद बुद्धि अनूप ॥ ८१ ॥

बाहर और भीतर सर्वत्र एकरस व्यापक नभ (आकाश) के स्वरूप को अनूप (अद्भुत) बुद्धिवाले पण्डित महाकाश कहते हैं ॥८१॥

चतुर्भांति नभ के कहे, लच्छन श्रुति-अनुसार।
अब चेतन के शिष्य सुन, जासूं लहै विचार ॥८२॥

हे शिष्य! वेदानुसार चार प्रकार के आकाश के लक्षण कहे। अब चार प्रकार के चेतन के लक्षण सुन! जिनके सुनने से विचार (विचार का फल ज्ञान) प्राप्त होता है ॥८२॥

कूटस्थ-स्वरूप-वर्णन

मति वा व्यष्टि अज्ञान को, अधिष्ठान चैतन्य।
घटाकास सम मानिये, सो कूटस्थ अजन्य ॥८३॥

बुद्धि अथवा व्यष्टि अज्ञान का जो अधिष्ठान चेतन है; उसे घटाकाश की भांति अजन्य (नित्य) कूटस्थ समझना चाहिए ॥८३॥

अर्थात्—(क) जिस पक्ष में बुद्धि-सहित चेतन को जीव मानते हैं। उस पक्षमें बुद्धि का अधिष्ठान कूटस्थ कहलाता है। (ख) जिस पक्ष में व्यष्टि अज्ञान-सहित चेतन जीव माना जाता है। उस पक्ष में व्यष्टि अधिष्ठान का जो अज्ञान है, वह कूटस्थ है।

यहां यह सिद्धांत है कि जीवपन का जो विशेषण है; उसके अधिष्ठान का नाम कूटस्थ है। वह कूटस्थ अजन्य (उत्पत्ति रहित) हैं। तात्पर्य यह कि जैसे ब्रह्म से अलग चिदाभास उत्पन्न होता है, वैसे यह उत्पन्न नहीं होता। किन्तु ब्रह्मरूप ही है। जैसे घटाकाश महाकाश से पृथक् नहीं होता; किन्तु महाकाशरूप है। यही कूटस्थ आत्मपद का लक्ष्यार्थ है। यही प्रत्यक्, निजरूप और जीवसाक्षी कहा जाता है।

जीव स्वरूप वर्णन

काम–कर्म–युत बुद्धि मैं, जो चेतन प्रतिबिंब ।
जीव कहै विद्वान तिहिं, जलनभ तुल्य सबिंब ।।८४।।

नाना प्रकार की कामनाओं और कर्मों सहित जो बुद्धि, उस बुद्धि में पड़े हुए चेतन के प्रतिबिंब को जीव कहते हैं। अकेले प्रतिबिम्ब-मात्र को जीव नहीं कहते। जैसे घटाकाश-सहित आकाश के प्रतिबिम्ब को जलाकाश कहते हैं। वैसे ही कूटस्थ-सहित चिदाभास को जीव कहते हैं। सिद्धान्त में बुद्धि में स्थित चिदाभास और बुद्धिका-अधिष्ठान चेतन दोनों का ही नाम जीव है ।। ८४ ।।

अधिष्ठान कूटस्थसैं, ह्वै आभास बहाल ।
रक्त पुष्प ऊपर धरयो, स्फटिक होय जिमि लाल ।। ८५ ।।

जैसे लाल फूल पर रखी हुई स्फटिकमणि लाल दिखाई देती है। वैसे ही कूटस्थ में आरोपित बुद्धि में कूटस्थ का आभास पड़ता है। वही जीव है ।। ८५ ।।

अर्थात् पहले दोहे में बिम्ब (कूटस्थ के सहित आभास) को जीव कहा है) इससे यह प्रतीत होता है कि बुद्धि में जो प्रतिबिम्ब है वह कूटस्थ का है, बाहर के ब्रह्म चेतन का नहीं। क्योंकि जिसका प्रतिबिम्ब होता है वह बिम्ब कहलाता है। कूटस्थ को बिम्ब कहा है, इसलिए यह उसीका प्रतिबिम्ब है–ऐसी प्रतीति होती है। यह इस दोहे में कहा। जैसे बढ़िया लाल फूल पर रखी हुई सफेद स्फटिक मणि में फूल की लाली की दमक पड़ती है, वैसे ही कूटस्थ के आश्रित बुद्धि में कूटस्थ के प्रकाश की दमक पड़ती है, जैसे स्फटिक अत्यन्त उज्ज्वल है। वैसे बुद्धि भी अत्यन्त शुद्ध है। क्योंकि बुद्धि सत्त्वगुण का कार्य है। इसीलिए कूटस्थ की दमन का नाम प्रतिबिम्ब है।

अथवा--ब्रह्म-चेतन का प्रतिबिम्ब है। जैसे महाकाश का घट

के जल में प्रतिबिम्ब होता है। पर अन्दर के आकाश का नहीं। क्योंकि जीतनी गहराई जल में प्रतीत होती है; उतनी गहराई अन्दर आकाश में है नहीं। वही गहराई आकाश का प्रतिबिम्ब है। अतः वह बाहर के आकाश का प्रतिबिम्ब है।

जिनको यह शङ्का है कि "व्यापक चेतन का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता" वह आकाश के दृष्टान्त से साफ हो जाती है। क्योंकि जैसे व्यापक आकाश का प्रतिबिम्ब होता है, वैसे व्यापक चेतन का भी प्रतिबिम्ब बन सकता है।

जिनका कहना है कि "रूपवाले पदार्थ का रूपवाले पदार्थ में प्रतिबिम्ब पड़ता है"। यह कोई नियम नहीं। क्योंकि रूपरहित आकाश में रूपरहित शब्द का प्रतिबिम्ब होता है। यह पहले कह ही चुके हैं। चेतन का भी प्रतिविम्ब पड़ सकता है।

इस प्रकार बुद्धि में के आभास और बुद्धि के अधिष्ठान चेतन-दोनों का ही नाम जीव है। यह जीव 'त्वं' पद का वाच्य है। इसमें के चिदाभास को छोड़कर केवल जो कूटस्थ है; वह 'त्वं' पद का लक्ष्य है। अहं शब्द का वाच्य भी जीव है और केवल कूटस्थ अहं शब्द का लक्ष्य है।

बुद्धि माँहि आभास जो, पुन्य-पाप-फल भोग।
गमन आगमन सो करै, नहीं चेतनमैं जोग ॥ ८६ ॥
मिथ्या नभ घटसङ्ग ज्यूं, लहै क्रिया बहु भाँति।
घटाकास अक्रिय सदा, रहै एकरस सान्ति ॥ ८७ ॥

बुद्धि में जो चेतन का आभास है। वही पुण्य-पाप का फल भोगने के लिए लोक और परलोक में आता-जाता रहता है। चेतन का इससे कुछ सम्बन्ध नहीं। जैसे जलाकाश रूप मिथ्या आकाश घड़े की क्रिया के साथ-साथ अनेक क्रियाएँ करता रहता है। पर घटाकाश

सदैव क्रिया-रहित एकरस और शान्त है। यही भेद आभास और कूटस्थ में भी समझना चाहिए ॥ ८६–८७ ॥

अर्थात्—यद्यपि चिदाभास और कूटस्थ दोनों का नाम जीव है। तो भी जीवपन के जो धर्म हैं वे सब के सब आभास में हैं। पुण्य–पाप, पुण्य–पाप के फल सुख-दुःख, लोकान्तर में जाना, इस लोक में आना आदि सभी आभास-सहित बुद्धि के धर्म हैं, कूटस्थ के नहीं। कूटस्थ में तो केवल भ्रान्ति से प्रतीत होते हैं। वह ‡ भ्रान्ति भी बुद्धि-सहित आभास को ही होती है कूटस्थ को नहीं। क्योंकि कूट (एरन) उसकी भांति जो निर्विकार रूप से स्थित हो वह कूटस्थ। अथवा कूट (मिथ्या) जो बुद्धि और चिदा-भास, उनमें असङ्गरूप से रहनेवाला कूटस्थ। इसलिए कूटस्थ में भ्रांति आदि नहीं हो सकते किन्तु चिदाभास में हैं।

अत्यन्त विचार-पूर्वक देखा जाय तो पुण्य-पाप, सुख-दुःख लोकान्तर-गमनागमन आदि केवल बुद्धि में हैं; आभास में भी नहीं। बुद्धि के संयोग से आभास में हैं। जैसे जल-सहित घट कभी टेढ़ा होता है, कभी सीधा होता है, कभी आता है और कभी जाता है। उसमें के आकाश का आभास सम्पूर्ण क्रियाएँ करता है, पर स्वतंत्र कुछ नहीं करता। वैसे ही कर्मरूपी जल से भरा हुआ बुद्धिरूपी घट पुण्य-पाप आदि समस्त बिकार धारण करता है। उसके सम्बन्ध से चिदाभास धारण करता है। पर कूटस्थ सब विकारों से रहित है। जैसे जल से भरे घट के विकार से रहित घटाकाश है। वैसे ही कूटस्थ को भी समझिए। अतः जीवपन के धर्म चिदाभास में होने पर भी अज्ञान से कूटस्थ में प्रतीत होते हैं। इसीसे बुद्धि में के कूटस्थ-सहित चिदाभास को जीव कहते हैं।

‡ भ्रान्ति—भ्रान्ति, अध्यास, विक्षेप, शोक ये सब यहाँ समानार्थक हैं।

यह जो जीव के स्वरूप का वर्णन किया गया। वह प्राज्ञ में नहीं घटता। क्योंकि सुषुप्ति के अभिमानी जीव का नाम प्राज्ञ है। पर सुषुप्ति में बुद्धि का अभाव होता है। इसलिए बुद्धि में आभास भी नहीं बन सकता। अतः प्राज्ञ के स्वरूप के प्रतिपादक शास्त्र से विरोध होता है। अब अन्य प्रकार से जीव के स्वरूप का प्रतिपादन किया जाता है।

अथवा व्यष्टि अज्ञानमैं, जो चेतन आभास।
अधिष्टान कूटस्थ-युत, कहैं जीव पद तास ॥ ८८ ॥

अथवा व्यष्टि अज्ञान में जो चेतन का आभास पड़ता है। वह आभास और अधिष्ठान कूटस्थ दोनों मिलकर जीव कहलाते हैं ॥८८॥

अर्थात् अज्ञान के अंश का नाम व्यष्टि अज्ञान है और सम्पूर्ण अज्ञान का नाम समष्टि अज्ञान है। अज्ञान के अंश में जो चेतन का आभास है और अज्ञान के अंश का अधिष्ठान जो कूटस्थ है; उन दोनों को ही 'जीव' पद कहता है। इसलिए प्राज्ञ का अभाव नहीं होता। क्योंकि सुषुप्ति में भी अज्ञान रहता है। सुषुप्ति में जो चेतन के प्रतिबिम्ब-सहित अज्ञान का अंश है, वही बुद्धिरूप को प्राप्त होता है। चेतन का प्रतिविम्ब भी साथ ही रहता है। उस चिदाभास-सहित बुद्धि में पुण्य-पाप आदि संसार प्रतीत होता है। इसी अभिप्राय से कहीं-कहीं बुद्धि को ही शास्त्र ने जीवपन की उपाधि कह दिया है। वस्तुतः जीवपन की उपाधि अज्ञान है, बुद्धि नहीं।

ईश-स्वरूप-वर्णन

चित्-छाया माया-विषै, अधिष्ठान संयुक्त।
मेघ-व्योम-सम ईस सो, अन्तरयामी मुक्त ॥ ८९ ॥

माया में चेतन का आभास और माया का अधिष्ठान चेतन ये दोनो मिलकर ईश्वर हैं। ईश्वर मेघाकाश के समान अन्तर्यामी और मुक्त है ॥ ८९ ॥

अर्थात् यह ईश्वर सबके अन्दर रहा कर प्रेरणा देता है। अतः वह अन्तर्यामी है। ईश्वर को अपने स्वरूप में आवरण नहीं; जिससे उसे जन्म-मरण आदि बन्ध की प्रतीति नहीं। अतः ईश्वर नित्यमुक्त है। वह सर्वज्ञ (सब पदार्थों को जाननेवाला) है। कारण कि माया का शुद्ध सत्त्वगुण है । शुद्ध-सत्त्वगुण तमोगुण और रजोगुण से न दबकर स्वयं उन्हें दबाये रहता है। अतः शुद्ध सत्त्वगुण कहलाता है। सत्त्वगुण से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जिससे सत्त्वगुण प्रकाशस्वभाव वाला है। ऐसे सत्त्वगुणवाली माया में जो चेतन का आभास; उसे अपने स्वरूप में या दूसरे पदार्थों में आवरण नहीं। अतः मुक्त है और सर्वज्ञ है।

अधिष्ठान चेतन तो जीव और ईश्वर दोनों में बन्ध-मोक्ष-भेद से रहित है। आकाश की भांति एकरस है। पर आभास अंश में बन्ध और मोक्ष है। अधिष्ठान में आभास को भ्रान्ति से प्रतीत होती है। इसलिए अकेले आभास में ही बन्ध-मोक्ष है। इसमें भी इतना भेद है कि (क) जिस आभास में आवरण है; उसमें बन्ध है। (ख) जिसमें स्वरूप का आवरण नहीं; वह मुक्त है। ईश्वर में आवरण नहीं; वह सदामुक्त है। जीव में आवरण है; वह बद्ध (बँधा हुआ) है। क्योंकि जिस अविद्या के अंश में चेतन के आभास को जीव कहा है, उस अविद्या का स्वभाव ही आवरण करना है। यद्यपि अविद्या, अज्ञान और माया एक ही वस्तु के नाम हैं, तो भी शुद्ध सत्त्वगुण की प्रधानता से माया कही जाती है और मलिन सत्त्वगुण की प्रधानता से अज्ञान एवं अविद्या कहलाती है। रजोगुण और तमोगुण से दबे हुए सत्वगुण को मलिन-सत्वगुण कहते हैं। इसलिए रजोगुण और तमोगुण की अधिकता के कारण अविद्या में जो जीव का आभास अंश है, उसे अविद्या स्वरूप का भान नहीं होने देती (आवरण कर देती है) अतः जीव में बन्धन है, ईश्वर में नहीं।

(ख) माया में अधिष्ठान चेतन-सहित जो आभास-रूप ईश्वर है, वह तत्पद का वाच्य है। (ख) केवल अधिष्ठान चेतन तत्पद का लक्ष्य है। "जो ईश्वर है, वही संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार करता है" यह सब शास्त्रों में कहा है। इसका यही अभिप्राय है कि चेतन अंश तो आकाश की भांति असङ्ग है और आभास अंश जगत् की उत्पत्ति आदि करता है। उसीमें सर्वज्ञता है और वही भक्तों पर अनुग्रह करता है। जो कुछ ऐश्वर्य हैं; सब आभास में है और चेतन अंश एकरस है। इसमें सत्ता-स्फूर्ति देने के अतिरिक्त दूसरा ऐश्वर्य नहीं बन सकता।

ब्रह्म-स्वरूप-वर्णन

अन्तर बाहर एकरस, जो चेतन भरपूर।
विभु नभ-सम सो ब्रह्म है, नहिं नेरे नहिं दूर॥ ९० ॥

ब्रह्माण्ड के अन्दर और बाहर महाकाश की भांति जो भरपूर चेतन है, उसे ब्रह्म कहते हैं। वह दूर भी नहीं और वह पास भी नहीं॥ ९० ॥

अर्थात् जो वस्तु अपने से भिन्न होती है और देशरूप उपाधि-वाली होती है, वही समीप और दूर कही जा सकती है। ब्रह्म भिन्न नहीं, किन्तु सब का आत्मा है और देश आदि सब उपाधियों से रहित है। अतः नजदीक और दूर नहीं कहा जा सकता।

यद्यपि ब्रह्म-शब्द का वाच्य भी सोपाधिक है। क्योंकि व्यापक वस्तु का नाम ब्रह्म है। वह व्यापकता दो प्रकार की होती है। एक आपेक्षिक व्यापकता और दूसरी निरपेक्षिक व्यापकता। जो वस्तु किसी पदार्थ की अपेक्षा से व्यापक हो और किसी की अपेक्षा से व्यापक न हो; उसमें आपेक्षिक व्यापकता रहती है। जैसे पृथ्वी आदि की अपेक्षा से माया व्यापक है और चेतन की अपेक्षा से व्यापक नहीं। इसलिए माया में आपेक्षिक व्यापकता है। जो वस्तु

सब की अपेक्षा से व्यापक हो, उसमें जो व्यापकता है वह निरपेक्ष व्यापकता कहलाती है। वह निरपेक्ष व्यापकता चेतन में है। क्योंकि चेतन के समान या चेतन से अधिक दूसरा कोई व्यापक नहीं। किन्तु चेतन ही सबसे व्यापक है, इसलिए चेतन में निरपेक्ष व्यापकता है।

इन दोनों प्रकार की व्यापकता के सहित जो वस्तु है, वह ब्रह्म शब्द का वाच्य है। यह दोनो प्रकार की व्यापकता मायाविशिष्ट चेतन में है। विशिष्ट में जो माया अंश है, उसमें आपेक्षिक व्यापकता है और चेतन अंश में अनापेक्षिक व्यापकता है।

यद्यपि माया-विशिष्ट चेतन में निरपेक्षक व्यापकता बन नहीं सकती। क्योंकि माया चेतन के एक देश में है। उस मायाविशिष्ट चेतन से शुद्ध चेतन की व्यापकता अधिक है। इसलिए शुद्ध चेतन में निरपेक्ष व्यापकता है। तो भी मायाविशिष्ट चेतन पारमार्थिक दृष्टि से शुद्ध से भिन्न नहीं, किन्तु शुद्ध रूप ही है। अतः मायाविशिष्ट में भी जो चेतन अंश है; उसमें निरपेक्ष व्यापकता ही है। इस प्रकार मायाविशिष्ट ही ब्रह्म शब्द का वाच्य हो सकता है और शुद्ध चेतन ब्रह्म शब्द का लक्ष्य है। यद्यपि ईश्वर शब्द और ब्रह्म शब्द दोनों का ही समान अर्थ प्रतीत होता है, भिन्न अर्थ नहीं। तो भी (क) ब्रह्म शब्द का यह स्वभाव है कि बहुत से स्थानों पर लक्ष्य अर्थ का बोधन करता है किसी-किसी स्थान पर वाच्य अर्थ का भी। (ख) ईश्वर शब्द का यह स्वभाव है कि बहुत से स्थानों पर वाच्य अर्थ का बोधन करता है और किसी-किसी स्थान पर लक्ष्य अर्थ का। दोनों में इतना भेद है, इसलिए लक्ष्य अर्थ के कारण ब्रह्म शब्द का अर्थ भिन्न निरूपित किया है।

चतुर्भांति चेतन कह्यो, तामैं मिथ्या जीव।

पुन्य–पाप–फल भोगवै, चित कूटस्थ सु सीव ॥ ६१ ॥

हे शिष्य ! चार प्रकार का चेतन कहा । उसमें जीव मिथ्या है । वह पुण्य–पाप का फल भोगता है और कूटस्थ चेतन शिवरूप है ॥ ९१ ॥

अर्थात् (क) जीव के स्वरूप में जो मिथ्या आभास-अंश है; वह पुण्य-पाप करता है और उनके फल को भोगता है । (ख) कूटस्थ चेतन सीव (शिवरूप) है । शिव नाम कल्याण का है । हे शिष्य ! यह तुम्हारी पूर्व शङ्का का कि "बुद्धिरूपी वृत्त पर दो पक्षी रहते हैं; एक परमात्मा और दूसरा जीव" उसका उत्तर हुआ परमात्मा और जीव का ग्रहण नहीं करना; किन्तु कूटस्थ और आभास का । उनमें कूटस्थ केवल प्रकाशमान है और आभास कर्त्ता भोक्ता है ।

कर्मी छाया देत फल, नहीं चेतन में जोग ।
सो असंग इकरूप है, जानै भिन्न कुलोग ॥९२॥

जीव के स्वरूप में जो चेतन का आभास अंश है । वही कर्म करता है । उसी कर्म करनेवाले आभास अंश को ईश्वर का आभास अंश फल देता है । चेतन का उससे कुछ सम्बन्ध नहीं । यह तो असङ्ग और एकरूप है । जो इन को अलग अलग मानता है, वह मूर्ख है ॥ ९२ ॥

यहाँ—छाया शब्द का देहली-दीपक-न्याय से पहले और आगे दोनो ओर सम्बन्ध है । जैसे देहली पर रखा हुआ दीपक अन्दर और बाहर दोनों ओर प्रकाश करता है, 'छाया कर्मी' और 'छाया देत फल' ऐसा अर्थ करना । सार यह निकला कि (क) जीव के स्वरूप में जो आभास अंश है, यह पुण्य-पाप करता है और उनका फल भोगता है, (ख) ईश्वर का जो आभास अंश है; वह कर्म का फल देता है, (ग) दोनों में जो चेतन अंश है; उससे किसी का कुछ सम्बन्ध नहीं, (घ) जीव में जो चेतन अंश है; उससे कर्म

और फल का सम्बन्ध नहीं, (ङ) ईश्वर में जो चेतन अंश है उसमें फल देने का सम्बन्ध नहीं, जो कोई ऐसा सम्बन्ध मानता है वह मूर्ख है क्योंकि चेतन दोनों में असङ्ग है और एकरूप है, चेतन में भेद नहीं, जो जीव-चेतन को ईश्वर-चेतन से या ईश्वर-चेतन को जीव-चेतन से भिन्न मानता है उसे और कहें भी क्या ? यह तुम्हारी उस बात का उत्तर हुआ कि "जीव और परमात्मा की एकता अङ्गीकार करने से कर्म और उपासना का प्रतिपादक वेद निष्फल हो जायगा", क्योंकि जीव और ईश्वर में जो चेतन भाग है; उनका अभेद है और जो आभास है, उसका भेद है, इसलिए दोनो प्रकार के वचन बन सकते हैं।

अहो सिष्य तैं प्रश्न जु कीने । तिनके ये उत्तर मैं दीने ।
कहे जु तैं तरु मैं दूवै पच्छी । इक भोगै इक आहि अनिच्छी ॥६३॥
ते चेतन आभास लखाये । नभ छाया ज्यूं भिन्न बताये ।
कह्यो भिन्न कर्मी फलदाता । मति माया छाया सो ताता॥६४॥
जीव–ईस मैं चेतनरूपं । भेद–गंध तैं रहित अनूपं ।
यातैं 'अहंब्रह्म' यह जानौ । 'अहं' शब्द कूटस्थ पिछानौ ॥६५॥
'ब्रह्म' शब्द को अर्थ सु भाख्यो । महाकास सम लच्छ्य जु राख्यो ।
'अहं ब्रह्म' नहिं जौं लौं जानै । तौलौं दीन दुखित भयमानै॥६६॥

हे शिष्य ! जो-जो तूने प्रश्न किये उनका उत्तर मैंने दिया। जैसे कि प्रश्न किया था—एक वृक्ष पर दो पक्षी रहते हैं; एक फल खाता है और दूसरा खाता नहीं (इच्छा से रहित) है। अतः जीव-ब्रह्म की एकता नहीं बन सकती ?। उसका उत्तर यह है—इस स्थल पर जीव–ब्रह्म का ग्रहण नहीं करना; किन्तु कूटस्थ और बुद्धि में जो आभास; उसका ग्रहण करना। वे आपस में घटाकाश और आकाश की भाँति भिन्न हैं। दूसरा प्रश्न यह था जीव तो कर्म-उपासना

करनेवाला है और परमात्मा फल देनेवाला है; इनकी एकता नहीं बन सकती ? उसका यह उत्तर है—जीव कर्म नहीं करता और ईश्वर फल नहीं देता। जीव का आभास अंश कर्म करता है और ईश्वर में जो चेतन अंश है; वह घटाकाश और महाकाश की भांति अभिन्न है। भेद की गंध (लेश) भी नहीं। इस प्रकार जीव–ब्रह्मकी एकता बन सकती है। अतः अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) ऐसा समझना चाहिए। 'अहं' शब्द का अर्थ है कूटस्थ और 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ महाकाश की भांति लक्ष्यार्थ समझना। 'अहं' शब्द के और 'ब्रह्म' शब्द के वाच्य-अर्थ का तो अभेद नहीं। पर लक्ष्य अर्थ का अभेद है। जबतक तू 'अहं ब्रह्मास्मि' यह नहीं जान लेता तबतक अपने–आप को दीन और दुःखी समझता रहेगा। जो तू परमात्मा को अपने से अलग माने बैठा है। यही भय का कारण है। अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' यह जान ॥९३–९६॥

तत्त्वदृष्टि बोला

कहो गुरू है कौन कूं, 'अहंब्रह्म' यह ज्ञान ?
नहिं जानूं मैं आप के, भाखै बिना सुजान ॥९७॥

भगवन् ! कहिए 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान किसे होता है ? सुजान ! (ज्ञानवालों में श्रेष्ठ !) आप के समझाने के विना मैं यह समझ नहीं सकूंगा ॥९७॥

अर्थात्—शिष्य के चित्त में यह गूढ अभिप्राय है 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान कूटस्थ को होता है या आभास–सहित बुद्धि को होता है। यदि कूटस्थ में मानेंगे तो कूटस्थ विकारी हो जायगा। यदि आभास–सहित बुद्धि में मानेंगे तो 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान उसके लिए भ्रांतिरूप होगा। क्योंकि आप पहले ही कह चुके हैं "कूटस्थ और ब्रह्म की एकता है और आभास भिन्न है"। अतः ब्रह्म से भिन्न आभास का ब्रह्मरूप से ज्ञान भ्रांति है, वैसे आभास-सहित बुद्धि को "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान यथार्थ न होकर भ्रांतिरूप होगा।

यदि कदाचित् 'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञान को भ्रांतिरूप स्वीकार करें तो इससे मिथ्या जगत् की निवृत्ति नहीं होगी। जैसे रस्सी के यथार्थज्ञान से मिथ्यासर्प की निवृत्ति होती है। अतः आभास सहित बुद्धि को 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान नहीं हो सकता।

आभास की सात अवस्थाएं

सोरठा—कहूं अवस्था सात, सुनहु शिष्य व आभास की।
नहिं चेतन की तात, तिन ही मैं यह ज्ञान है ॥६८॥

गुरु ने कहा हे शिष्य ! अब आभास की मैं सात अवस्थास्थाएँ कहता हूँ, तू सुन। इनमें से कोई भी अवस्था चेतन कूटस्थ की नहीं। "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान इन सातों में ही होता है ॥९८॥

इक अज्ञान आवरन जानौ। भ्रांति द्विविध पुनि ज्ञान पिछानौ।
सोकनास अतिहर्ष अपारा। सप्त अवस्था इम निर्धारा ॥६६॥

१—अज्ञान, २—आवरण, ३—भ्रांति, ४—परोक्ष ज्ञान, ५—अपरोक्ष ज्ञान, ६—शोकनाश और ७—हर्ष, ये आभास की सात अवस्थाएँ हैं ॥९९॥

अज्ञान तथा आवरण का वर्णन

'नहिं जानूं मैं ब्रह्मकूं, याकूं कहत अज्ञान।
'ब्रह्म है न, नहिं भान ह्व, यह आवरन सुजान ॥१००॥

हे शिष्य ! 'मैं ब्रह्म को जानता नहीं' इसका नाम अज्ञान है। 'ब्रह्म है नहीं' और 'उसका भान नहीं होता' यह आवरण है ॥१००॥

अर्थात्—'मैं ब्रह्म को नहीं जानता' जो ऐसा कहता है, उस व्यवहार का कारण अज्ञान है। "ब्रह्म है ही नहीं और उसका भान नहीं होता" इस व्यवहार का कारण आवरण है। आवरण से ही ऐसा व्यवहार होता है। क्योंकि अज्ञान की दो प्रकार की शक्ति है,

एक असत्त्वापादक और दूसरी अभानापादक। इन दोनों को आवरण कहते हैं। 'वस्तु है ही नहीं, ऐसी प्रतीति करानेवाली अज्ञान की शक्ति असत्त्वापादक है और 'वस्तु का भान नहीं होता' ऐसी प्रतीति करानेवाली अज्ञान की शक्ति अभानापादक है। इस प्रकार 'ब्रह्म है नहीं' इस व्यवहार का कारण अज्ञान की असत्त्वापादक शक्ति है। 'ब्रह्म का भान नहीं होता' इस व्यवहार का कारण अज्ञान की अभानापादक शक्ति है। इन दोनों का नाम आवरण है।

भ्रान्ति का वर्णन

जन्म-मरन गमनागमन, पुन्य-पाप सुख-खेद।
निज-स्वरूप मैं भान है, भ्रांति बखानी वेद ॥१०१॥

जन्म और मरण, परलोक में जाना और इस लोको में आना, पुण्य और पाप, सुख और दुःख इत्यादि संसार, अपने स्वरूप में (कूटस्थ में) जो प्रतीति होती है वह भ्रांति है, (इसे ही अध्यास, विक्षेप और शोक भी कहते हैं) ॥१०१॥

परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान

द्वैविध ज्ञान बखानिये, इक परोक्ष अपरोक्ष।
'अस्ति ब्रह्म' परोक्ष है, 'अहं ब्रह्म' अपरोक्ष ॥१०२॥
'नहिं ब्रह्म' या अंश को, करै परोक्ष विनास।
सकल अविद्या जालकूं, दूजो नसै प्रकास ॥१०३॥

ज्ञान दो प्रकार का है-परोक्षज्ञान और अपरोक्षज्ञान। 'ब्रह्म है' इसे परोक्षज्ञान कहते हैं ओर 'मैं ब्रह्म हूँ' इसे अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं 'ब्रह्म नहीं' इस आवरण अंश का 'ब्रह्म है' ऐसा परोक्षज्ञान नाश करता है। दूसरा अंश जो अपरोक्षज्ञान वह सकल अविद्या समूह का नाश करता है ॥१०३॥

अर्थात् 'ब्रह्म है नहीं' इस आवरण के अंश को 'ब्रह्म है' ऐसा

परोक्ष ज्ञान नष्ट करता है। क्योंकि † "सत्य ज्ञान अनंत रूप ब्रह्म है" इस ज्ञान का नाम परोक्षज्ञान है। वह 'ब्रह्म नहीं" इस प्रतीति का विरोधी है, दूसरी का नहीं। मैं ब्रह्म हूँ' यह अपरोक्ष ज्ञान सकल अविद्या जाल का विरोधी है। अतः 'मैं ब्रह्म को नहीं जानता" यह अज्ञान तथा "ब्रह्म नहीं और उसका भान नहीं होता" यह आवरण, एवं "मैं ब्रह्म नहीं किन्तु पुण्यपाप का कर्ता और सुख-दुःख का भोक्ता जीव हूँ" यह भ्रांति; इस समस्त अविद्या जाल को अपरोक्ष-ज्ञान नष्ट करता है।

शोक-नाश-वर्णन

जन्म-मरण मोमैं नहीं, नहिं सुख-दुख को लेस।
किन्तु अजन्य कूटस्थ मैं, भ्रांति-नास यह बेस ॥१०४॥

मुझमें जन्म-मरण नहीं और सुख-दुःख का मुझमें लेश नहीं। दूसरा भी कोई संसार-धर्म मुझमें नहीं। मैं जन्म से रहित कूटस्थ हूँ-यही भ्रांति-नाश का बेस (स्वरूप) है या बेस (उत्तम) भ्रांति नाश है ॥१०४॥

अर्थात् इस स्थान पर कूटस्थ में जन्म का निषेध करने से सब का निषेध समझ लेना चाहिए। क्योंकि जन्म की प्रतीति के बाद ही दूसरे अनर्थों की प्रतीति होती है। इसलिए जन्म का निषेध कर देने से सब अनर्थों का निषेध हो गया—'न रहे बांस और न बजेगी बांसुरी'। इस भ्रांति-नाश को शोक-नाश भी कह देते हैं।

† सत्य—तीनों कालों में जिसका बाध न हो। ज्ञान—चित्स्वरूप। अनन्त—देश, काल और वस्तु से जिसका (अन्त) परिच्छेद न हो। अर्थात् सर्व देश में व्यापक सर्व काल में रहनेवाला और सर्वात्मक वस्तु को अनन्त कहते हैं। 'विभु' और 'भूमा' शब्दों का भी यही अर्थ है।

हर्ष का स्वरूप

संसय-रहित स्वरूप को, होइ जु अद्वय ज्ञान ।
तब उपजै हिय मोद तव, सो तूं हर्ष पिछान ॥१०५॥

हे शिष्य ! जब तुझे अपने स्वरूप का संशय-रहित ज्ञान होगा कि "मैं अद्वय ब्रह्मरूप हूँ" तभी तुझे आनंद होगा। यही हर्ष का स्वरूप है ॥१०५॥

कही अवस्था सात मैं, तो कूं शिष्य सुजान ।
सो सगरी आभास की, है तिनही मैं ज्ञान ॥१०६॥

'ज्ञान होत है कौन कूं ?, यह पूछी तैं बात ।
मैं ताको उत्तर कह्यो, चहै सु पूछ व तात ॥१०७॥

हे सुजान शिष्य ! मैंने तुझसे सात अवस्थाएँ कहीं। ये सब-की-सब आभास की हैं, इन्हीं में ज्ञान होता है ; अर्थात् इन अवस्थावाले आभास को ज्ञान होता है। तूने पूछा था कि, ज्ञान किसे होता है ?' उसका यह उत्तर हुआ। अब जो तू कोई दूसरी बात पूछना चाहता है तो पूछ ॥ १०६-१०७ ॥

जिस गूढ़ अभिप्राय से प्रश्न किया था। अब शिष्य उसे प्रकट करता है।

भगवन है आभासकूँ, 'अहब्रह्म' यह ज्ञान ।
तुम भाख्यो सो मैं लख्यो, पुनि संका इक आन ॥१०८॥

है आभास ब्रह्म तैं न्यारा । अस तुम पूर्व कियो निर्धारा ।
'अहं ब्रह्म' सो कैसे जानै ? आपहि भिन्न ब्रह्मतैं मानै ॥१०९॥
जो जानै तौ मिथ्या ज्ञाना । होई जेवरी-भुजग-समाना ।
श्रीगुरु यह संदेह मिटावो । युक्ति-सहित निज-उक्ति सुनावो ॥११०॥

भगवन् ! 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान आभास को होता है–ऐसा आपने कहा और मैंने जाना। पर इसमें मुझे एक और शंका होती है कि आभास तो ब्रह्म से भिन्न है, यह आपने पहले निर्णीत कर ही दिया है। जो स्वयं अपने को ब्रह्म से भिन्न मानता है; वह आभास 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा कैसे जान सकता है ? यदि मिथ्या आभास ऐसा जान भी ले तो रस्सी में सांप की भांति यह ज्ञान भी मिथ्या होगा। अतः गुरुदेव ! अपने युक्तियुक्त वचनों से मेरा यह संदेह दूर कीजिए ? ॥१०८–११०॥

अर्थात् आपने कहा था कि "कूटस्थ और ब्रह्म तो दोनों एक हैं और आभास ब्रह्म से अलग है" ब्रह्म से भिन्न उस आभास को "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान नहीं होना चाहिए। हां ! "मेरा अधिष्ठान कूटस्थ ब्रह्मरूप हैं" यदि ऐसा ज्ञान आभास को हो तो वह यथार्थ ज्ञान कहा जा सकता है। पर 'मैं ब्रह्म हूँ' यह यथार्थ ज्ञान नहीं। क्योंकि 'अह" अपने स्वरूप का नाम है , जिसे 'अह" (मैं) कह रहा है वह आभास का स्वरूप मिथ्या है , अतः भिन्न है। ब्रह्म से भिन्न आभास के स्वरूप को यदि ब्रह्मरूप से ज्ञान हो तो वह मिथ्या ज्ञान होगा , जैसे साँप से भिन्न जेवरी (रस्सी) का सर्परूप से ज्ञान मिथ्या होता है , मिथ्या नाम भ्रान्ति का है , इस ब्रह्म ज्ञान को † भ्रान्तिरूप कहा नहीं जा सकता।

---

† सन्देह होता है कि ब्रह्मज्ञान भी यदि भ्रान्तिरूप ज्ञान ठहर जाय तो भ्रान्तिरूप ज्ञान से कभी भ्रान्ति दूर नहीं हुआ करती। फिर तो इस संसार की निवृत्ति वैसे ही न हो सकेगी, जैसे मृगतृष्णा से कभी प्यास नहीं बुझा करती। किन्तु ध्यान देनेपर यह सन्देह निर्मूल ठहरेगा। क्योंकि यह अनुभूत है कि स्वप्न के शत्रु को स्वप्न की तलवार से ही काटा जा सकता है। मिथ्या रोग की औषधि भी मिथ्या होती है। मिथ्या प्रपन्च को दूर करने के लिए मिथ्या ज्ञान ही पर्याप्त है; पारमार्थिक की आवश्यकता क्या ? मृगतृष्णा से

'अहं' शब्द के अर्थ को, सुन अब सिष्य बिवेक ।
तव हिय के जासूं नसै, सङ्क—कलंक अनेक ॥ १११ ॥
है यद्यपि आभास मैं, 'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान ।
तथापि सो कूटस्थ को, लहै, आप अभिमान ॥ ११२ ॥
ताको सदा अभेद है, विभु चेतनतैं तात ।
बाध समै निज—रूपहु, ब्रह्म—रूप दरसात ॥ ११३ ॥

हे शिष्य ! अब तू 'मैं' शब्द का विवेक सुन, जिससे तेरे हृदय के शङ्कारूप कलङ्क (दाग) सब दूर हो जायँगे, यद्यपि 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान आभास को होता है; तो भी वह आभास स्वयं कूटस्थ का अभिमान धारण कर लेता है, अर्थात् स्वयं को कूटस्थ के साथ तादात्म्याभिमानवाला जानता है, उस कूटस्थ का व्यापक चैतन्य के साथ सदा अभेद है, इसलिए आभास भी अपने मिथ्या स्वरूप के बाध के समय अपने को भी ब्रह्मरूप देखता है ॥ १११-११३ ॥

अर्थात् यद्यपि "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान बुद्धिसहित आभास को होता है; कूटस्थ को नहीं, फिर भी आभास कूटस्थ को एवं अपने स्वरूप को (दोनों को) अपना आत्मा जानता है, उस आत्मा का 'मैं' शब्द से ग्रहण होता है, यही 'अहं' शब्द का अर्थ है, इस 'अहं' शब्द से जिस कूटस्थ का भान होता है, उसका ब्रह्म के साथ सदा अभेद है ।

जैसे घटाकाश और महाकाश का सदा अभेद है, इसी कारण

व्यावहारिक प्यास नहीं बुझ सकती। क्योंकि सत्तावाले पदार्थों का बाध्य-बाधक-भाव होता है। मृगतृष्णा का जल तो प्रातिभासिक है किन्तु प्यास है व्यावहारिक, वह कैसे मिटेगी।

से वेदान्त-शास्त्र में कूटस्थ का ब्रह्म के साथ †मुख्य समानाधिकरण

---

† मुख्य समानाधिकरण—जिन पदार्थों का अधिकरण (आधार) एक होता है, वे परस्पर समानाधिकरण कहलाते हैं। ऐसे पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध माना जाता है; सामानाधिकरण्य या समानाधिकरणता (एकाधिकरण-वृत्तित्व)। जैसे एक ही मेज पर रक्खी सभी वस्तुएँ समानाधिकरण हैं और उनमें परस्पर सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है। एक ही घड़े पर वाच्यतासम्बन्ध से रहनेवाले 'घट' और 'कलस'—इन दो पदों का सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है। क्योंकि वे दोनों पद वाच्यता-सम्बन्ध से अपने वाच्य घटरूप एक अधिकरण पर रहते हैं। इसी प्रकार "अहं ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य में 'अहम्' शब्द और 'ब्रह्म' शब्द का सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है। किन्तु जिन दोनों पदों का अर्थ एक (अभिन्न) होता है; उनका सम्बन्ध मुख्य सामानाधिकरण्य कहा जाता है। जैसे 'सोऽयम्' इस वाक्य के दोनों पदों का एक ही देवदत्तादि अर्थ विवक्षित है। जिन दो पदों में से एक पद का अर्थ बाधित होकर दूसरे पद का अर्थ ही मान्य होता है; उन दो पदों का सम्बन्ध बाध-सामानाधिकरण्य कहा जाता है। जैसे—स्थाणुः पुरुषः। पहले दूर से देखने के कारण किसी व्यक्ति को भ्रम हो गया था कि सामने की वस्तु 'वृक्ष' है। समीप जाने पर पता लगता है कि यह तो पुरुष है। तब वह व्यक्ति कह उठता है कि 'स्थाणुः पुरुषः'। अर्थात् जिसे मैं स्थाणु समझा था वह पुरुष है; स्थाणु की कल्पना मिथ्या थी। यहाँ दोनों पदों में 'स्थाणु' पद का अर्थ बाधित है और 'पुरुष' पद का अर्थ ही मान्य है। अतः दोनों पदों का बाध-सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

इसी कसौटी पर जब हम 'अहम्' और 'ब्रह्म'—इन दो पदों को कसते हैं। तब ज्ञात होता है कि इन दोनों में दोनों सम्बन्ध हैं—'अहम्' शब्द के अर्थ हैं तीन—(१) बुद्धि (२) उसमें स्थित आभास और (३) कूटस्थ। जब 'अहम्' पद से हम कूटस्थ लेते हैं। तब दोनों पदों का मुख्यसामानाधिकरण्य सम्बन्ध ठहरता है। क्योंकि दोनों पदों के अर्थ 'कूटस्थ' तथा 'ब्रह्म' अभिन्न वस्तु हैं। किन्तु जब हम 'अहम्' शब्द से बुद्धि या आभास लेते हैं। तब दोनों

कहा है, जिस वस्तु का जिस वस्तु के साथ सदा अभेद होता है, उस वस्तु का उस वस्तु के साथ मुख्य-समानाधिकरण होता है। जैसे घटाकाश का महाकाश के साथ अभेद है॥ इसलिए घटाकाश महाकाश है। घटाकाश का महाकाश के साथ मुख्य-समानाधिकरण है। वैसे ही कूटस्थ का ब्रह्म के साथ मुख्य-समानाधिकरण है। क्योंकि कूटस्थ का ब्रह्म से सदा अभेद है। इसलिए 'मैं' शब्द में भान होनेवाले कूटस्थ का ब्रह्म के साथ सदा अभेद है और 'मैं' शब्द से भान होनेवाले आभास का अपने स्वरूप को बाध करके ब्रह्म से अभेद होता है। जैसे मुख के प्रतिबिंब का प्रतिबिंब स्वरूप को बाध करके ही बिंब स्वरूप मुख के साथ अभेद होता है। इसीलिए वेदांत-शास्त्र में आभास का ब्रह्म के साथ बाधसमानाधिकरण कहा है। जिस वस्तु का बाध हो कर जिस वस्तु के साथ अभेद हो, उस वस्तु का उस वस्तु के साथ बाधसमानाधिकरण होता है, जैसे मुख के प्रतिबिंब का बाध हो कर मुख के साथ अभेद होता है। अतः प्रतिबिंब मुख है; अलग नहीं। ऐसा प्रतिबिंब का मुख के साथ बाध-समानाधिकरण है।

अथवा-जैसे स्थाणु (ठूंठ) में पुरुष की भ्रांति हो करके स्थाणु के ज्ञान के बाद 'पुरुष स्थाणु है' इस प्रकार पुरुष का स्थाणु के साथ बाध-समानाधिकरण है, वैसे ही आभास का बाध-हो करके ब्रह्म के साथ अभेद होता है। इसलिए 'मैं' शब्द में जिस आभास का भान हो रहा है वह ब्रह्म है, भिन्न नहीं। ऐसा बाध-समानाधिकरण आभास का ब्रह्म के साथ होता ही है। हे शिष्य! (क) 'अहं' शब्द

पदों का सम्बन्ध होता है—बाध—सामानाधिकरण्य। क्योंकि 'अहम्' शब्द का अर्थ बाधित होकर 'ब्रह्म'—शब्द का ही अर्थ शेष रहता है—ब्रह्म ही एक वस्तु है; अहम् का अर्थ एक कल्पना—मात्र है।

से प्रतीत होनेवाले कूटस्थ का तो अभेद है और (ख) आभास का बाध करके अभेद है।

तत्त्वदृष्टि बोला

अहं-वृत्ति मैं भान ह्वै, साच्छी अरु आभास।
सो क्रमतैं वा क्रम-बिना, याको करहु प्रकास ॥११४॥

हे भगवन् ! आपने कहा कि "अहंवृत्ति में साक्षी और आभास (दोनों) का भान होता है" पर मेरी समझ में यह नहीं आया कि (क) कूटस्थ और आभास का भान अहंवृत्ति में क्रम से (भिन्न भिन्न समय समय में) होता है ? (ख) या क्रम बिना (एक साथ) होता है ? कृपया यह समझाइए ॥११४॥

गुरुजी बोले

सावधान ह्वै शिष्य सुन, भाखूं उत्तर सार।
सुनत नसै अज्ञान-तम, बोध-भानु-उजियार ॥११५॥
एक समय ही भान ह्वै, साच्छी अरु आभास।
दूजो चेतन को विषै, साच्छी स्वयं-प्रकास ॥११६॥

हे शिष्य ! तू इस प्रश्न का उत्तर सावधान होकर सुन। मैं स्पष्ट उत्तर देता हूँ जिसके सुनने से ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश होगा और अज्ञानरूपी अंधकार नष्ट हो जायगा। 'अहंवृत्ति' में साक्षी और आभास का एक ही समय भान होता है, दूसरा (अन्तःकरण-सहित आभास) तो साक्षी-चेतन का विषय होकर प्रकाशित होता है और साक्षी स्वयं प्रकाश है; अर्थात् उसके भान होने में किसी की सहायता की आवश्यकता ही नहीं ॥ ११५–११६ ॥

अर्थात् एक ही समय साक्षी और आभास का अहंवृत्ति में भान होता है, इस प्रकरण में सर्वत्र आभास-शब्द से अन्तःकरण-सहित

आभास का ग्रहण करना चाहिए, अतः दूसरा (अन्तःकरण-सहित आभास) चेतन साक्षी का विषय हो कर भासित होता है, और साक्षी स्वयं-प्रकाश है, अन्तकरण की आभास-सहित वृत्ति का वह विषय नहीं, घट आदि बाहर के पदार्थों के भान की यह रीति है:- जब इन्द्रिय और घट का संयोग होता है तब इन्द्रियद्वारा अन्तः-करण की वृत्ति निकल कर घट के समान-आकार को प्राप्त हो जाती है, जैसे साँचे में डाली हुई ताम्बा आदि धातुएँ ढलकर साँचे के आकार की-सी हो जाती हैं, वैसे ही अन्तःकरण की वृत्ति का घट के आकार का-सा आकार हो जाता है, वह वृत्ति आभास के बिना नहीं होती, किन्तु आभास-सहित होती है, क्योंकि वृत्ति अन्तःकरण का परिणाम है, अन्तःकरण के परिणाम को वृत्ति कहते हैं, जैसे अन्तकरण सत्त्वगुण का कार्य होने के कारण स्वच्छ है, अतः अन्तःकरण में चेतन का आभास होता है, वैसे वृत्ति भी स्वच्छ अन्तःकरण का कार्य है, इसलिए वृत्ति में चेतन का आभास होता है, वृत्ति आभास-सहित अन्तःकरण से उत्पन्न होती है, इसलिए भी वृत्ति आभास-सहित ही होती है, विषय (घट) तमोगुण का कार्य है, इसलिए स्वरूप से जड़ है, उसमें अज्ञान और अज्ञान का आवरण है। यहां यह प्रश्न उठता है कि अज्ञान और अज्ञान का आवरण विचार दृष्टि से देखें तो चेतन में हैं, घट में नहीं। क्योंकि अज्ञान चेतन के आश्रित है और चेतन को ही विषय करता है। यह वेदान्त का सिद्धान्त है।

सात अवस्थाओं के वर्णन-प्रसङ्ग में जो अज्ञान का आश्रय 'अन्तःकरण-सहित आभास कहा; वह अज्ञान का अभिमानी है। "मैं अज्ञानी हूँ" ऐसा अभिमान अन्तःकरण-सहित आभास को होता है। इस कारण से अज्ञान का आश्रय कहते हैं। मुख्य †आश्रय चेतन

† आश्रय—आश्रय दो प्रकार का होता है—मुख्य और गौण। जैसे

है; आभास-सहित अन्तःकरण नहीं। क्योंकि आभास सहित अन्तःकरण अज्ञान का कार्य है। जो जिसका कार्य होता है; वह उसका आश्रय नहीं बन सकता। इसलिए चेतन ही अज्ञान का अधिष्ठानरूप आश्रय है। चेतन ही को अज्ञान विषय करता है। स्वरूप का आवरण करना ही अज्ञान का विषय करना है। यह अज्ञानकृत आवरण जड़ वस्तु में हो नहीं सकता। क्योंकि जड़ वस्तु स्वरूप से ही आवृत है। उसमें अज्ञानकृत आवरण का कुछ उपयोग नहीं। इस प्रकार अज्ञान का आश्रय तथा विषय चैतन्य है। जैसे घर के मध्य का अन्धकार घर के मध्य को आवृत करता है। अतः घट में अज्ञान और अज्ञान का आवरण बन नहीं सकता।

उस प्रश्न का उत्तर यह है—जैसे चेतन के स्वरूप से भिन्न सत्-असत् से विलक्षण अज्ञान चेतन के आश्रित है। उस अज्ञान से चेतन आवृत हो जाता है। वैसे ही घट के स्वरूप से भिन्न अज्ञान यद्यपि घट के आश्रित नहीं; तो भी अज्ञान ने घट आदि स्वरूप से प्रकाश रहित जड़ स्वरूप रच लिये हैं। इसीलिए सदैव अन्ध के समान आवृत हैं। वह आवृत-स्वभाव घट आदि का अज्ञान ने किया है। क्योंकि तमोगुण-प्रधान अज्ञान से भूतों की उत्पत्ति द्वारा घट आदि पैदा हुए हैं। वह तमोगुण आवरण-स्वभाववाला है। अतः घट आदि प्रकाश-रहित अंध ही होते हैं। इस रीति से अंधतारूप आवरण घट आदि में अज्ञानकृत स्वभाव-सिद्ध है और वह घट

'धनवाली पेटी' यहाँ धन का आश्रय पेटी मुख्य आश्रय है। क्योंकि पेटी में ही वस्तुतः धन भरा होता है। और 'धनवाला (धनिक) पुरुष' यहाँ पर धन का आश्रय पुरुष गौण आश्रय है। क्योंकि पुरुष धन का अभिमानी-मात्र होता है— 'मैं धनी हूँ।' मुख्य आश्रय पुरुष नहीं, अपितु पेटी ही है। इसी प्रकार अज्ञान का मुख्य आश्रय चेतन है और गौण आश्रय आभास। क्योंकि आभास में केवल यह अभिमान है कि मैं अज्ञानी हूँ।

आदि के अधिष्ठान-चेतन-आश्रित अज्ञान चेतन को आच्छादित करके स्वभाव से आवृत घट आदि को भी आवृत्त करता है।

यद्यपि स्वभाव से आवृत पदार्थ के आवरण करने में कुछ प्रयोजन नहीं। फिर भी आवरणकारक पदार्थ बिना ही प्रयोजन के जैसे निरावरण को आवृत करता है वैसे आवरण-सहित को भी आवृत कर लेता है। यह बात लोक में प्रसिद्ध है।

उस अज्ञान से आवृत घट को प्राप्त होनेवाली अंतःकरण की आभास-सहित घटाकार वृत्तिमें (क) वृत्तिभाग तो घट के आवरण को दूर करता है और (ख) वृत्ति में जो आभास भाग है; वह घट का प्रकाश करता है। इस प्रकार बाहर के पदार्थों में वृत्ति और आभास दोनों का उपयोग है।

दृष्टान्त—जैसे अंधकार में कूंडे से मिट्टी या लोहे का पात्र ढँक कर रख दिया जाय और डंडेसे कूड़े को फोड़ देने पर भी दीपक के बिना उस निरावृत (निरावरण) पात्र का प्रकाश नहीं होता किंतु दीपक से प्रकाश होता है। वैसे ही अज्ञान से आवृत घट के आवरण का वृत्ति से भंग होने पर भी घट का प्रकाश नहीं होता, क्योंकि घट तो स्वरूप से जड़ है और वृत्ति भी जड़ है। वृत्ति का प्रयोजन केवल आवरण-भंग करना है। उससे प्रकाश नहीं होता। इसलिए घट का प्रकाशक आभास है। नेत्र के विषय (वस्तु) उसके प्रत्यक्ष ज्ञान की यह रीति है। यही रीति †श्रवण आदि के विषयों के प्रत्यक्त की भी समझ लेनी चाहिए।

---

† जैसे चक्षु की वृत्ति बाहर विषय-देश पर जाकर विषयाकार होती है; वैसे वेदान्त-सिद्धान्त में श्रोत्र की वृत्ति भी बाहर के ढोल आदि देशों पर जाकर शब्दाकार होती है। शेष सभी-इन्द्रियों की वृत्तियां अपने देश में प्राप्त विषय का आकार ग्रहण करती हैं ; जैसे त्वग् इन्द्रिय शरीर से सटे पदार्थों के ज्ञान में ही सहायक होती हैं; दूरस्थ पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान में त्वक् से सहायता नहीं मिल सकती। पदार्थ-प्रत्यक्ष की प्रक्रिया सभी इन्द्रियों में समान है।

(क) वृत्ति और घट दोनों एकदेश में रहने से घट का प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। (ख) यदि अंतःकरण की वृत्ति घटाकार तो हो; पर घट के साथ वृत्ति का संबंध न हो; किन्तु वृत्ति अंदर-ही-अंदर हो, वह घट का परोक्षज्ञान कहलाता है। 'यह घट है' यह अपरोक्षज्ञान का आकार है। 'घट है' या 'वह घट है' यह परोक्षज्ञान का आकार है। यद्यपि स्मृतिज्ञान भी परोक्षज्ञान ही है। तो भी स्मृतिज्ञान तो संस्कार-जन्य होता है और अनुमिति आदि परोक्षज्ञान प्रमाण-जन्य होते हैं। इतना ही भेद है।

प्रसंग-प्राप्त प्रमाण-निरूपण

‡चार्वाक एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। कणाद §सुगत मत के अनुयायी दूसरा अनुमान प्रमाण भी मानते हैं। क्योंकि अकेला प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानने पर तो तृप्ति चाहनेवाले की भोजन में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। कारण कि अभुक्त भोजन में तृप्ति की कारणता का प्रत्यक्ष-प्रमाण-जन्य प्रत्यक्षज्ञान है ही नहीं। भुक्त भोजन में तृप्ति की कारणता अनुभूत है, उसे अभुक्त भोजन में भी

---

‡ चार्वाकास्तावदेकं द्वितयमपि पुनर्बौद्धवैशेषिकौ द्वौ,
भासर्वज्ञश्च साङ्ख्यस्त्रितयमुदयनाद्याश्चतुष्कं वदन्ति।
प्राहुः प्राभाकराः पञ्चकमपि च वयं तेऽपि वेदान्तविज्ञाः
षट्कं पौराणिकास्त्वष्टकमभिदधिरे संभवैतिह्ययोगात्॥

अर्थात् चार्वाक एक, बौद्ध तथा वैशेषिक दो, भासर्वज्ञ (न्यायसारादि रचयिता) एवं सांख्य तीन, नैयायिक चार, प्राभाकार पाँच, भाट्ट और वेदान्ती छह, पौराणिक संभव तथा ऐतिह्य को मिलाकर आठ प्रमाण मानते हैं। (मानमेयोदय)

§ सुगत—बुद्ध का नाम सुगत भी है। जिसका अर्थ है—सुन्दर ज्ञान और गतिवाला।

अनुमान से जान करके तृप्ति चाहने वाला भोजन में प्रवृत्त हो जाता है। अतः अनुमान भी मानना चाहिए। इस प्रकार कणाद और सुगतमत के अनुयायी प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण स्वीकार करते हैं।

सांख्यशास्त्रकार कपिल–मत के अनुयायी तीसरा शब्द प्रमाण मानते हैं। क्योंकि यदि प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानें तो देशान्तर में जिसके पिता की मृत्यु हो गई, उससे कोई यथार्थ-वक्ता आकर कहता है कि 'तेरे पिता की मृत्यु हो गई' तब उसे (श्रोता को) अपने पिता के मरने का निश्चय नहीं होना चाहिए। क्योंकि देशान्तर में स्थित पिता के मरण का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान से हो नहीं सकता। अतः कपिलमतानुयायी प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द तीन प्रमाण मानते हैं।

न्यायशास्त्रकार गौतम-मत के अनुयायी उपमान भी चौथा प्रमाण मानते हैं। क्योंकि यदि प्रत्यक्ष आदि तीन ही प्रमाण माने जायँ तो जिसने गवय (रोझ या नीलगाय) नहीं देखा। किसी वनवासी से सुन रखा है कि "गौ जैसा गवय होता है" वही पुरुष जब कभी बन में जाता है और गवय उसे दिखाइ देता है तब उसे वनवासी के कहे "गौ जैसा गवय होता है' वाक्य के अर्थ का स्मरण हो आता है। इस स्मरण के वाद उसे ज्ञान हो जाता है कि "यह पशु गवय है" ऐसा ज्ञान नहीं होना चाहिए। अतः ऐसे विलक्षण ज्ञान का कारण उपमान प्रमाण भी मानना पड़ता है।

पूर्वमीमांसा का एकदेशी (भट्ट का शिष्य प्रभाकर) पांचवाँ अर्थापत्ति प्रमाण भी मानता है। दिन में भोजन न करनेवाले मनुष्य की स्थूलता देखकर ऐसा ज्ञान होता है कि "यह पुरुष रात के समय भोजन करता है"। रात्रि-भोजन के बिना दिन में भोजन न करनेवाले में स्थूलता नहीं होती। अतः रात्रि-भोजन का सम्पाद्य स्थूलता है

और रात्रि-भोजन सम्पादक है। सम्पादक रात्रि-भोजन के ज्ञान का कारण स्थूलताज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण है।

पूर्वमीमांसक भट्टजी छठा अनुपलब्धि प्रमाण भी मानते हैं और वेदान्त भी छह प्रमाण स्वीकारता है। अनुपलब्धि प्रमाण का यह प्रयोजन है कि घर आदि में घट आदि के अभाव का ज्ञान होता है। वहां जिन पदार्थों की प्रतीति नहीं होती उनके अभाव का ज्ञान होता है। अप्रतीति को अनुपलब्धि कहते हैं। घट की अनुपलब्धि (अप्रतीति) से घट का अभाव निश्चित होता है। ऐसे पदार्थों के अभाव के निश्चय का कारण जो पदार्थों की अप्रतीति वही अनुपलब्धि प्रमाण है।

प्रमाज्ञान के कारण को प्रमाण कहते हैं। स्मृति से भिन्न अबाधित अर्थ को विषय करनेवाला ज्ञान प्रमा है; स्मृतिज्ञान प्रमा नहीं। क्योंकि प्रमाज्ञान प्रमाता के आश्रित होता है और स्मृति प्रमाता के आश्रित नहीं होती। किन्तु साक्षी के आश्रित मानी गई है भ्रान्तिज्ञान और संशय भी साक्षी के आश्रित ही माने गये हैं। इसीलिए स्मृतिज्ञान भ्रान्तिज्ञान और संशयज्ञान ये तीनों आभास-सहित अविद्या की वृत्तियां हैं; अन्तःकरण की वृत्तियां (वृत्तिरूप) नहीं। अतः प्रमाता के आश्रित नहीं, किन्तु साक्षी के आश्रित हैं। अन्तःकरण का वृत्तिरूप ज्ञान प्रमाता के आश्रित होता है और वही प्रमा है। स्मृतिज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति नहीं; अतः प्रमाता के आश्रित नहीं और प्रमा भी नहीं। इसीलिए प्रमा के लक्षण में 'स्मृति से भिन्न' कहा है! अबाधित अर्थ को विषय करने वाला तो स्मृति-ज्ञान भी है। पर स्मृतिज्ञान स्मृति से भिन्न नहीं। स्मृति से भिन्न अबाधित अर्थ को विषय करनेवाला ज्ञान प्रमा है। यह प्रमा का निर्दुष्ट लक्षण हुआ।

कुछ लोग स्मृतिज्ञान को भी प्रमा मानते हैं। उनके मत में प्रमा का लक्षण है; "अबाधित अर्थ को विषय करनेवाला ज्ञान"।

'स्मृति से भिन्न' यह विशेषण वाक्य लक्षण में से निकाल दिया गया है। भ्रातिज्ञान अबाधित अर्थ को विषय नहीं करता; किन्तु अर्थ को ही विषय करता है। अतः प्रमा का लक्षण भ्रान्तिज्ञान में नही घटता।

जिनके मत में स्मृतिज्ञान में भी प्रमा का व्यवहार होता है। उनके मत में ‡ स्मृतिज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति है, अविद्या की वृत्ति नहीं। साक्षी के आश्रित भी नहीं; किन्तु प्रमाता के आश्रित है। क्योंकि अन्तःकरण की वृत्ति का आश्रय प्रमाता ही बनता है साक्षी नहीं।

इस प्रकार स्मृतिज्ञान किसी के मत में अन्तःकरण की वृत्ति है। अतः प्रमारूप है। किसी के मत में अविद्या की वृत्ति है। प्रमारूप नहीं। भ्रान्तिज्ञान और संशयज्ञान तो सभी के मतों में अविद्या की वृत्ति हैं और साक्षी के आश्रित हैं। इसमें किसी का विवाद नहीं।

विचार से देखा जाय तो स्मृतिज्ञान भी अविद्या की वृत्ति है और साक्षी के आश्रित है; प्रमारूप नहीं। क्योंकि वेदान्त-सम्प्रदाय के वेत्ताओं ने प्रमाज्ञान छह प्रकार का कहा है। उन छह प्रकारों में स्मृतिज्ञान नहीं आता। इसलिए प्रमा नहीं। मधुसूदन स्वामी ने स्मृतिज्ञान को साक्षी के आश्रित कहा है। १-प्रत्यक्षप्रमा, २—अनुमितिप्रमा, ३—उपमितिप्रमा, ४—शाब्दीप्रमा, ५—अर्थापत्तिप्रमा, और ६—अभावप्रमा, ये षट् प्रमाएँ हैं।

पूर्वोक्त प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाण क्रम से इनके कारण हैं। प्रत्यक्ष प्रमा का जो करण वह प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। असाधारण कारण

‡ अनुभव—जन्य संस्कारों से स्मृति पैदा होती है। अनुभव दो प्रकार का है--भ्रमरूप और यथार्थरूप। भ्रमात्मक अनुभव-जन्य संस्कारों से जो स्मृति होती है, वह अविद्या की वृत्ति है साक्षी के आश्रित है; प्रमाता के आश्रित नहीं। किन्तु यथार्थ अनुभवजन्य संस्कारों से जन्य स्मृति अन्तःकरण की वृत्ति होती है और प्रमाता के आश्रित होती है। इसी लिए उनमें प्रमा का व्यवहार भी होता है।

को करण कहते हैं। जो सब कार्यों का कारण होता है वह साधारण कारण कहा जाता है। जैसे धर्म-अधर्म आदि सब कार्यों के कारण हैं। इसलिए साधारण कारण कहलाते हैं। जो सब कार्यों का कारण नहीं, पर किसी एक कार्य का कारण है, वह असाधारण कारण है। जैसे दण्ड (डण्डा) सब कार्यों का कारण नहीं। पर घट आदि विशेष कार्यों का कारण है। अतः दण्ड असाधारण कारण है और घट का कारण भी है। वैसे ही प्रत्यक्ष-प्रमा के ईश्वर, ईश्वर-इच्छा †आदि साधारण कारण हैं। क्योंकि ईश्वर आदि, सब कार्यों के कारण हैं इनके बिना कोई कार्य हो नहीं सकता। अतः ईश्वर आदि साधारण हैं। नेत्र आदि इन्द्रियां प्रत्यक्षप्रमा के असाधारण कारण हैं और करण भी हैं। अतः नेत्र आदि इन्द्रियां प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

यद्यपि वेदान्त-सिद्धान्त में इन्द्रियों को प्रमाज्ञान की कारणता कहना बनता नहीं। क्योंकि चेतन के चार भेद हैं—१—प्रमा-चेतन, २-प्रमाता-चेतन, ३-प्रमिति-चेतन और ४-प्रमेय-चेतन। प्रमिति-चेतन को प्रमा-चेतन भी कहते हैं।

प्रमा नाम चेतन का है; वह नित्य है; इन्द्रिय जन्य नहीं। अतः इन्द्रिय उस का कारण नहीं। तो भी चेतन में प्रमा-व्यवहार की संपादक वृत्ति भी प्रमा है और उसका करण इन्द्रियां हैं।

देह-मध्य-वृत्ति अंतःकरण से अवच्छिन्न चेतन को प्रमाता कहते हैं। वहीं अंतःकरण नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा निकलकर

---

† आदि—शब्द से न्यायशास्त्र-कथित शेष साधारण कारण विवक्षित हैं—

"ईशस्तज्ज्ञानयत्नेच्छा कालोऽदृष्टं दिगेव च।
प्राक्प्रतिबन्धकाभावौ कार्ये साधारणाः स्मृताः॥

(१) ईश्वर, (२) ईश्वर का ज्ञान, (३) ईश्वर का यत्न, (४) ईश्व की इच्छा, (५) काल, (६) अदृष्ट, (७) दिशा, (८) प्रागभाव, (९) प्रतिबन्ध का भाव। ये नव सभी कार्यों के साधारण कारण हैं।

जितनी दूर घट आदि विषय होते हैं, उतना ही लंबा परिमाण अंतःकरण का हो जाता है। वह आगे पड़े हुए घट आदि विषयों से मिलकर उन्हीं के आकार का-सा आकार धारण कर लेता है। जैसे कूए में का जल अरहट आदि द्वारा बाहर निकलकर लंबे नाले के आकार का होकर बगीचे की क्यारियों में जाता है और उसका उन्हीं के आकारका-सा आकार बन जाता है। वैसे अंतःकरण भी इन्द्रिय-रूपी क्यारी को प्राप्त होता है। शरीर से आरंभ करके घट आदि विषय तक अंतःकरण का नाले के समान जो परिणाम; उसे वृत्तिज्ञान कहते हैं। उस वृत्तिज्ञान से अवच्छिन्न चेतन को प्रमाण चेतन कहते हैं।

वृत्तिज्ञानरूप अंतःकरण का परिणाम प्रमाण है। जैसे क्यारी में जल जाकर उसी के आकार का-सा हो जाता है। वैसे घट आदि विषयों में वृत्ति जाकर उन्ही के-से आकार को प्राप्त हो जाती है, उससे अवच्छिन्न प्रमाचेतन है। ज्ञान के विषय घट आदि से अवच्छिन्न चेतन को विषयचेतन और प्रमेयचेतन भी कहते हैं। यह परिभाषा वेदार्थज्ञाता आचार्यों की है।

अवच्छेदवाद में प्रमाता, साक्षी, विशेषण, और उपाधि का लक्षण

अवच्छेदवाद को माननेवालों के मत में इतना भेद है:- अंतःकरण विशिष्ट चेतन प्रमाता है। वही कर्ता और भोक्ता है। अंतःकरण-उपहित साक्षी है। एक ही अंतःकरण प्रमाता का विशेषण है और साक्षी की उपाधि है। स्वरूप में जिसका प्रवेश हो ऐसी व्यावर्तक वस्तु विशेषण कहलाती है। पदार्थों से अलग करके वस्तु के स्वरूप को बतानेवाला व्यावर्तक होता है। जिसे अलग करके बताया जाता है वह व्यावर्त्य है। जैसे 'नील घट है' में घट का नीलता विशेषण है। क्योंकि नील घट में नीलता का प्रवेश है और पीले सफेद आदि से अलग करके जताती है। अतः व्यावर्तक है।

नीलता घट का विशेषण है और घट परिच्छेद्य है। क्योंकि पीले सफेद आदि से अलग करके बतलाया गया है। जो अलग करके जाना जाय, उसे परिच्छेद्य कहते हैं। परिच्छेद्य को व्यावर्त्त्य और विशेष्य भी कहते हैं। "दंडी पुरुष है" में भी पुरुष का दंड विशेषण है। इस प्रकार प्रमाता का अंतःकरण विशेषण है। क्योंकि प्रमाता के स्वरूप में अंतःकरण का प्रवेश है और प्रमेय चेतन से पृथक् करके प्रमाता के स्वरूप को बताता है, अतः व्यावर्तक है।

जिस वस्तु का स्वरूप में प्रवेश तो न हो और व्यावर्तक हो वह उपाधि होती है। जैसे नैयायिक के मत में कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश को श्रोत्र कहते हैं। यहां कर्ण–शष्कुली श्रोत्र की उपाधि है। क्योंकि श्रोत्र के स्वरूप में तो कर्णशष्कुली का प्रवेश है नहीं और बाहर के आकाश से अलग करके श्रोत्र को जताती है, अतः व्यावर्तक है।

"घटाकाश मनपरिमाण अन्न को अवकाश देता है" यहाँ भी आकाश की उपाधि घट है। क्योंकि मनभर अन्न को अवकाश देनेवाले आकाश के स्वरूप में तो घट का प्रवेश है नहीं। घटपार्थिव है। उसका अवकाश देना बनता नहीं। इसलिए घट का स्वरूप में प्रवेश नहीं और व्यापक आकाश से भिन्न करके जताता है। अतः मनभर अन्न को अवकाश देनेवाले आकाश की घट उपाधि है।

वैसे ही 'अन्तःकरण–उपहित चेतन साक्षी है" में अन्तःकरण साक्षी की उपाधि है। क्योंकि साक्षी के स्वरूप में तो अन्तःकरण का प्रवेश है नहीं और प्रमेय–चेतन से साक्षी को अलग करके जताता है। अतः एक ही अन्तःकरण 'साक्षी की उपाधि और प्रमाता का विशेषण है। (क) अन्तःकरण–उपहित चेतन साक्षी और (ख) अन्तःकरण–विशिष्ट चेतन प्रमाता। उपाधिवाले को उपहित और विशेषणवाले को विशिष्ट कहते हैं। जो अन्तःकरण-विशिष्ट

प्रमाता है; वही कर्ता भोक्ता, सुखी–दुखी संसारी जीव हैं। यह अवच्छेदवाद की रीति है।

आभासवाद में जीव, साक्षी–आदि का लक्षण

आभासवाद में आभास-सहित अन्तःकरण जीव का विशेषण है और आभास-सहित अन्तःकरण साक्षी की उपाधि है। अतः साभास अन्तःकरण-विशिष्ट चेतन जीव है और साभास अन्तःकरण-उपहित चेतन साक्षी है।

यद्यपि दोनों पक्षों में विशेषण-सहित चेतन जीव है और वही संसारी है। तो भी विशेष्यभाग चेतन में जन्म–मरण आदि संसार हो नहीं सकता। इसलिए विशेषण–मात्र में संसार है। वही विशिष्ट–चेतन में प्रतीत होता है। कहीं विशेषण के धर्म का विशिष्ट में व्यवहार होता है और कहीं विशेषण-विशेष्य दोनों के धर्मों का विशिष्ट में व्यवहार होता है। जैसे—

(क) "दण्ड से घटाकाश का नाश होता है" में विशेषण घट का दण्ड से नाश होता है, पर विशेष्य आकाश का नाश हो नहीं सकता। फिर भी विशिष्ट घटाकाश का नाश होता है।

(ख) "कुण्डली पुरुष सोता है" में कुण्डल विशेषण है और पुरुष विशेष्य। विशेषण कुण्डल का सोना (ऊंघना) बन नहीं सकता। विशेष्य जो पुरुष वह सोता है। कुण्डल-विशिष्ट सोता है" ऐसा विशिष्ट में व्यवहार होता है।

(ग) "शस्त्री पुरुष युद्ध में गया है" में शस्त्र विशेषण और पुरुष विशेष्य दोनों युद्ध में गये हैं। अतः दोनों के धर्मों का विशिष्ट में व्यवहार होता है। अवच्छेदवाद में अन्तःकरण विशेषण है और आभासवाद में साभास अन्तःकरण विशेषण है। दोनों पक्षों में चेतन विशेष्य है। उसमें जन्म आदि संसार बन नहीं सकता। किन्तु विशेषण अन्तःकरण के या साभास अन्तः

करण के धर्म=जन्म आदि संसार का विशिष्ट चेतन में व्यवहार होता है। व्यवहार का अर्थ प्रतीति और कथन। यही आभासवाद और अवच्छेदवाद में भेद है।

आभासवाद की श्रेष्ठता

आभासवाद में अन्तःकरण आभास-सहित है और अवच्छेद वाद में अन्तःकरण आभास-रहित है। दोनों में से आभासवाद श्रेष्ठ है। क्योंकि भाष्यकार ने आभासवाद स्वीकार किया है। अवच्छेदवाद में विद्यारण्यस्वामी ने दोष भी दिखाये हैं। जैसे-यदि आभास-रहित अन्तःकरण-अवच्छिन्न चेतन को प्रमाता मानें तो घट-अवच्छिन्न चेतन को भी प्रमाता मानना चाहिए। क्योंकि जैसे अन्तःकरण भूतों का कार्य है; वैसे घट भी भूतों का कार्य है। जैसे अन्तःकरण चेतन का अवच्छेदक=व्यावर्तक है; वैसे घट भी चेतन का अवच्छेदक है। अतः अन्तःकरण-विशिष्ट की भांति घट-विशिष्ट भी प्रमाता होना चाहिए।

अन्तःकरण में आभास मानें तो यह दोष नहीं आता। क्योंकि अन्तःकरण भूतों के सत्त्वगुण का कार्य है। अतः स्वच्छ है। भूतों से तमोगुण के कार्य घट आदि हैं अतः स्वच्छ नहीं। स्वच्छ पदार्थ ही आभास के योग्य होता है, मलिन पदार्थ नहीं। जैसे शीशा और उसका ढक्कन दोनो पृथ्वी के कार्य हैं। शीशा स्वच्छ है; उसमें मुख का आभास होता है। ढक्कन स्वच्छ नहीं, अतः उसमें आभास नहीं होता। वैसे सत्त्वगुण का कार्य होने से अन्तःकरण स्वच्छ है; अतः उसमें चेतन का आभास होता है। शरीर आदि तथा घट आदि तमोगुण के कार्य हैं, अतः स्वच्छ नहीं और उनमें चेतन का आभास नहीं होता। इस प्रकार अन्तःकरण में दो तरह के प्रकाश हैं:—एक व्यापक चेतन का और दूसरा आभास का। शरीर आदि तथा घट आदि में व्यापक चेतन

का प्रकाश तो है और आभास का नहीं। इसीलिए दो प्रकार के प्रकाशवाले अन्तःकरण-विशिष्ट चेतन का नाम प्रमाता है। एक प्रकाशवाले घट आदि से युक्त चेतन प्रमाता नहीं। जिनके मत में आभास नहीं; उनके मत में घट आदि की भांति अन्तःकरण में भी दूसरा प्रकाश नहीं। व्यापक चेतन का जो एक प्रकाश अन्तःकरण में है; वही व्यापक चेतन का प्रकाश घट आदि में है, इसलिए अन्तःकरण-विशिष्ट के समान घट-विशिष्ट या शरीर-विशिष्ट अथवा भीत-विशिष्ट चेतन भी प्रमाता होना चाहिए।

शरीर आदि की अपेक्षा अन्तःकरण में यही विलक्षणता है कि अन्तःकरण सत्त्वगुण का कार्य है। अतः स्वच्छ है और चेतन का आभास ग्रहण करने के योग्य है; दूसरे पदार्थ स्वच्छ नहीं। अतः आभास-ग्रहण करने के योग्य भी नहीं। आभास ग्रहण करने के योग्य अन्तःकरण से युक्त चेतन ही प्रमाता कहा जाता है। आभास ग्रहण करने के अयोग्य घट आदि शरीर आदि से विशिष्ट चेतन प्रमाता नहीं कहा जाता, अतः आभासवाद ही उत्तम है, अवच्छेदवाद नहीं।

चेतन के प्रमाता आदि चार स्वरूप— जैसे अन्तःकरण आभास-सहित है, वैसे उसकी वृत्ति भी आभास-सहित ही होती है। साभास वृत्ति-विशिष्ट चेतन को प्रमाण-चेतन कहते हैं। अन्तःकरण की घट आदि विषयाकाराकार वृत्ति में आरूढ़ चेतन को प्रमा (यथार्थज्ञान) कहते हैं। उसकी साधन इन्द्रियाँ प्रमाण कहलाती हैं। क्योंकि विषयाकार वृत्ति में आरूढ चेतन को प्रमा कहा है। वहाँ चेतन यद्यपि स्वरूप से नित्य है, अतः इन्द्रिय-जन्यता के न होने के कारण प्रमा-चेतन का साधन इन्द्रिय नहीं। तो भी निरुपाधिक चेतन में तो प्रमाव्यवहार होता नहीं, किन्तु विषयाकार वृत्ति-उपहित चेतन में प्रमाव्यवहार होता है। इसलिए चेतन में

प्रमा-शब्द की प्रवृत्ति विषयाकार वृत्तिरूप उपाधि को लेकर है; वह विषयाकार वृत्ति इन्द्रिय-जन्य है। इन्द्रिय उसकी साधन है। प्रमापन की उपाधि वृत्ति के इन्द्रिय-जन्य होने से उपहित प्रमा भी इन्द्रिय-जन्य कहलाती है। अतः इन्द्रिय प्रमा का साधन कही जाती है। अन्तःकरण के सारे परिणाम को प्रमा नहीं कहते। किन्तु शरीरस्थ अन्तःकरण का घट आदि विषय तक का परिणाम प्रमाण कहा जाता है। विषय से मिल करके विषय का-सा बना जितना अन्तःकरण का परिणाम उतना ही प्रमा कहलाता है। शरीर में के अन्तःकरण से लेकर घट आदि विषयों तक पहुँचा जो अन्तःकरण का परिणाम; वही प्रमारूप को धारण करता है। इसलिए प्रमा का प्रमाणरूप अन्तःकरण की वृत्ति से अत्यन्त भेद नहीं। इस प्रकार जहाँ बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वहाँ अन्तःकरण की वृत्ति बाहर जाकर घट आदि विषयों के समान-आकाररूप को धारण करती है। जब शरीर में के आत्मा का प्रत्यक्ष होता है; तब अन्तःकरण की वृत्ति बाहर नहीं जाती। किन्तु शरीर में ही वृत्ति आत्माकार हो जाती है। उस वृत्ति से आत्मा के आश्रित आवरण का नाश होता है। आत्मा अपने प्रकाश से ही उस वृत्ति में प्रकाशित होता है। इसी कारण से वृत्ति का विषय आत्मा को कहा है। चिदाभासरूप जो वृत्ति में फल है, उसका विषय आत्मा नहीं। इस प्रकार साक्षी आत्मा का स्वयंप्रकाशरूप से भान होता है। यह सिद्ध हुआ।

तत्त्वदृष्टि बोला

इन्द्रिय के सम्बन्ध बिन, 'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान।

कैसे है प्रत्यच्छ प्रभु ! मोकूं कहौ बखान ? ॥ ११७॥

हे भगवन् ! इन्द्रिय-संबंध के बिना "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान कैसे हो सकता है? यह बात मुझे विस्तारपूर्वक समझाइए ॥११७॥

अर्थात् "ब्रह्म के अपरोक्षज्ञान से सारे अविद्याजाल का नाश होता है और परोक्षज्ञान से नहीं होता" यह पहले आपने कहा। इस के सम्बन्ध में प्रश्न उठता है कि ब्रह्म का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है। ब्रह्म का ज्ञान इन्द्रिय जन्य नहीं हो सकता। क्योंकि नेत्र–इन्द्रिय से रूपवान् या नील आदि रूप का ज्ञान होता है; ब्रह्म ऐसा है नहीं। अतः ब्रह्म का नेत्र-इन्द्रिय जन्य ज्ञान नहीं हो सकता। राम–कृष्ण आदि की मनुष्याकार मूर्तियां यद्यपि रूपवती हैं। तो भी वे मायारचित हैं मिथ्या हैं। वे मूर्तियां ब्रह्म नहीं। पुराणों में राम कृष्ण आदि को ब्रह्मरूप कहा है अवश्य। पर वह उनकी शरीररूप मूर्तियों को ब्रह्म नहीं कहा। किंतु उनके शरीरों के अधिष्ठान चेतन को ब्रह्म कहा है-ऐसा अभिप्राय है।

शंका—सभी शरीरों का अधिष्ठान चेतन ब्रह्म है। यदि अधिष्ठान चेतन के अभिप्राय से राम–कृष्ण आदि को ब्रह्मरूपता कही हो तो सभी शरीरों के अधिष्ठान के ब्रह्मरूप होने से मनुष्य-पशु-पक्षी आदि सभी ब्रह्मरूप हैं। इन्ही के समान राम–कृष्ण आदि होंगे। इसलिए "राम-कृष्ण आदि का अधिष्ठान ब्रह्म है" इस अभिप्राय से ब्रह्मरूपता नहीं कही। किंतु 'उनमें दूसरे जीवों से विशेषता है" यह सिद्ध करने के लिए उनके शरीर को ही ब्रह्म कहा है ऐसा मानना योग्य है।

समाधानः–यदि शरीर का बाध करके उनके शरीरों की ब्रह्मरूपता मानें तो सब शरीरों का बाध करके सब-के-सब शरीर ब्रह्मरूप हैं और बिना बाध किये तो दूसरे शरीरों की भांति हाथ-पैर आदि अवयवों सहित रूपवान् क्रियावान् शरीर का निरवयव नीरूप अक्रिय ब्रह्म से अभेद नहीं हो सकता। इसलिए राम–कृष्ण आदि का शरीर ब्रह्म नहीं। परन्तु इतना भेद है कि (क) जीवों के शरीर पुण्य–पाप के अधीन हैं। भूतों के कार्य हैं। जीवों को देह आदि अनात्म पदार्थों में अविद्या के वल से अहं–मम-(मैं मेरा)

अध्यास है। आचार्य के उपदेश से उस अध्यास की निवृत्ति होती है। (ख) राम–कृष्ण आदि के शरीर अपने पुण्य–पाप से रचित नहीं तथा भूतों के कार्य नहीं। किन्तु जैसे सृष्टि के आदि में प्राणियों के कर्म, भोग देने के लिए संमुख होते हैं। तब आप्तकाम ईश्वर में भी प्राणियों के कर्मों के अनुसार "मैं जगत् की उत्पत्ति करू" ऐसा संकल्प होता है। उस संकल्प से जगत् को उत्पत्तिरूप सृष्टि होती है। वैसे ही सृष्टि के बाद में भी "मैं जगत् का पालन करू" ऐसा ईश्वर का संकल्प होता है। उस संकल्प से जगत् का पालन होता है। पालन का अर्थ है–कर्मों के अनुसार सुख–दुःखका सम्बंध होना, उस पालन के संकल्प के समय उपासक पुरुषों की उपासना के बल से ईश्वर को ऐसा संकल्प होता है कि "राम–कृष्ण आदि नाम सहित मूर्ति सब को प्रतीत हो" इस ईश्वर संकल्प से विशेष नामरूप–रहित ईश्वर में राम–कृष्ण आदि नाम और पीताम्बरधर आदि श्याम–सुन्दर विग्रहरूप की उत्पत्ति होती है। वह विग्रह कर्मों के अधीन नहीं।

यद्यपि राम–कृष्ण आदि विग्रह से साधुओं और दुष्टों को क्रम से सुख और दुःख होते हैं। जो जिसके सुख–दुःख का कारण होता है, वह उसके पुण्य–पाप के अधीन कहते हैं। इस प्रकार अवतारों के शरीर साधु–पुरुषों के लिए सुख का कारण होने से साधु पुरुषों के पुण्यपुञ्ज (समुदाय) से रचे गये हैं। वैसे ही असुर आदि असाधु पुरुषों के लिए दुःख का कारण होने से उनके पाप से रचे गये हैं। अतः "अवतारों के शरीर पुण्य-के अधीन कहलाते हैं। इस–प्रकार अवतारों के शरीर साधुपुरुषों के लिए सुख का कारण होने से साधु पुरुषों के पुण्य पुञ्ज (समुदाय) से रचे गये हैं। वैसे ही असुर आदि असाधु पुरुषों के लिए दुःख का कारण होने से उनके पाप से रचे गये हैं। अतः "अवतारों के शरीर पुण्य-पाप के अधीन नहीं" यह कहना बनता नहीं। तो भी

जैसे जीव ने पूर्व-शरीर में पुण्य-पाप कर्म किये हैं; उनका फल उत्तर-शरीर में उस जीव के लिए सुख-दुःख होता है। शरीराभिमानी जीव का उत्तर-शरीर, उसके पूर्व-शरीर में किये हुए पुण्य-पाप के अधीन माना जाता है। वैसे ही राम कृष्ण आदि के शरीर यद्यपि साधु-असाधु पुरुषों के पुण्य-पाप से रचित हैं और उन्हीं के लिए सुख दुःख के कारण हैं। परन्तु राम-कृष्ण आदि के शरीर राम-कृष्ण आदि के पुण्य-पाप से रचित अवतारी शरीर नहीं और उन्हें अपने शरीर से सुख-दुःख का भोग नहीं होता। अतः राम-कृष्ण आदि के शरीर निजी पुण्य पाप के अधीन नहीं; यह हो सकता है।

वैसे भूतों के परिणाम भी राम-कृष्ण आदि के शरीर नहीं। किन्तु चेतन-आश्रित माया के परिणाम हैं। यदि पञ्चीकृत भूतों के परिणाम मान लें तो शास्त्र में कहा हुआ कृष्ण के शरीर का रस्सी से न बँधना असंगत हो जायगा। यद्यपि पञ्चभूत-रचित सिद्धों और योगियों के शरीरों में भी बंधन आदि नहीं होते। फिर भी योगियों के शरीरों में पहले तो बंधन आदि होते ही हैं। बाद में योगाभ्यासरूप पुरुषार्थ से बंधन-दाह आदि की योग्यता नष्ट हो जाती है। कृष्ण आदि के शरीरों में योगी की भांति किसी पुरुषार्थ से बंधन आदि का अभाव नहीं होता। किन्तु उनके शरीर स्वभाव से ही बंधन आदि के योग्य नहीं होते। अतः भूतों के परिणाम नहीं।

मांडूक्यभाष्य की टीका में आनन्दगिरि ने राम आदि के शरीरों को भूतों का परिणाम कहा है कि वे स्थूल-दृष्टि से दूसरे शरीरों के समान ही प्रतीत होते हैं; इस अभिप्राय से लिखा है। क्योंकि भाष्यकार ने गीताभाष्य में कहा है कि "जीवों पर अनुग्रह करके शरीरधारी की भाँति माया के बल से परमात्मा कृष्णरूप प्रतीत होता है। वह जन्म आदि से रहित है। उसका वसुदेव द्वारा देवकी से जन्म होना भी माया से प्रतीत होता है।" इस प्रकार भाष्यकार ने कृष्ण के शरीर को माया का कार्य कहा है। अतः भूतों

से अवतारों के शरीरों की उत्पत्ति नहीं। किन्तु उनके शरीरों का उपादान कारण साक्षात् माया है। दूसरे जीवों को देह आदि में आत्मभ्रांति है; राम कृष्ण आदि को नहीं। क्योंकि जीवों की उपाधि अविद्या मलिन-सत्त्वगुणवाली है और रामकृष्ण आदि की उपाधि माया शुद्ध-सत्त्वगुणवाली है। अतः जीवों को अविद्याकृत भ्रांति और रामकृष्ण आदि को मायाकृत सर्वज्ञता होती है।

जीवों को अज्ञानकृत आवरण एवं भ्रांति के नाश के लिए आचार्य द्वारा महावाक्य के उपदेश से जन्य ज्ञान की अपेक्षा (जरूरत) रहती है। पर राम-कृष्ण आदि को आवरण और भ्रांति नहीं। इसलिए उपदेशजन्य ज्ञान की अपेक्षा भी नहीं रहती। किन्तु जैसे जीव को अंतःकरण की वृत्तिरूप ज्ञान होता है, वैसे ईश्वर को माया की वृत्तिरूप आत्मा का ज्ञान तो बिना उपदेश आदि के भी हो जाता है। परन्तु उस ज्ञान से ईश्वर को कुछ प्रयोजन नहीं। क्योंकि जीवों को घट आदि के ज्ञान से आवरण का भंग और घट आदि विषय का प्रकाश होता है। अब ब्रह्मरूप से जीवों को आत्मा का ज्ञान होता है; तब ज्ञान के विषय आत्मा का आवरणभंग ज्ञान से होता है और विषय आत्मा स्वयं प्रकाश है। अतः आत्मज्ञान से विषय का प्रकाश नहीं होता। वैसे ही ईश्वर के ज्ञान का प्रयोजन नहीं। क्योंकि माया का वृत्तिरूप 'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञान का विषय जो ईश्वर का आत्मा; वह आवरण-रहित स्वयं प्रकाश है। अतः आवरण भंग या विषय का प्रकाश स्वतः है। जैसे जीवन्मुक्त विद्वानों के लिए निरावरण आत्मा को विषय करनेवाली अंतःकरण की 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसी वृत्ति आवरण भंग आदि प्रयोजन से रहित होती है। वैसे ही ईश्वर को भी आवरणभंग आदि प्रयोजन के बिना माया की वृत्तिरूप "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसा ज्ञान उपदेश आदि के बिना ही हो जाता है। इस प्रकार राम-कृष्ण आदि की जीवों से विलक्षणता ही ईश्वरता है। तो भी उनका शरीर माया रचित है। अतः ब्रह्म

नहीं; किंतु मिथ्या है। माया ने उत्पन्न किया जो अवतारों का शरीर; वह हाथ पाँव आदि सवयवों सहित और रूपसहित है। अतः नेत्र–इन्द्रिय का विषय उनका शरीर होता है। ब्रह्म को नेत्र–इन्द्रिय विषय नहीं कर सकती।

वैसे ही त्वग्––इन्द्रिय भी स्पर्श और स्पर्श के आश्रय को विषय करती है। ब्रह्म स्पर्श का आश्रय नहीं और स्पर्श भी नहीं। अतः त्वचा–इन्द्रिय का विषय नहीं। रसना–इन्द्रिय से रस का ज्ञान, नासिका से गंध का ज्ञान और श्रोत्र से शब्द का ज्ञान होता है। ब्रह्म रस–गंध–शब्द से विलक्षण है। अतः रसना, घ्राण और श्रोत्र से ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता।

कर्मेन्द्रियाँ ज्ञान की साधन नहीं; किन्तु वचन आदि क्रिया की साधन हैं। अतः इनसे तो किसी का भी ज्ञान नहीं होता इस प्रकार भी किसी इन्द्रिय से ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष का दूसरा नाम अपरोक्ष है। अतः ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान भी नहीं बन सकता, किन्तु शब्द से ब्रह्म का ज्ञान होता है। जो ज्ञान शब्द से होता है; वह परोक्ष है। अतः ब्रह्म का ज्ञान भी परोक्ष ही होता है।

गुरुजी बोले–

इन्द्रिय बिन प्रत्यच्छ नहिं, सिष यह नियम न जान।
बिन इन्द्रिय प्रत्यच्छ है, जैसे सुख–दुख ज्ञान ॥११८॥

हे शिष्य! 'इन्द्रियों से ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है यह कोई नियम नहीं। जैसे सुख–दुःख का प्रत्यक्षज्ञान बिना इन्द्रियों के हो जाता है; वैसे ब्रह्म का भी प्रत्यक्षज्ञान बिना ही इन्द्रियों के हो जाता है ॥११८॥

अर्थात् इन्द्रिय–सम्बन्ध के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता; यह नियम नहीं, क्योंकि जैसे सुख और दुःख का ज्ञान प्रत्यक्ष तो होता है, पर किसी इन्द्रिय से नहीं होता। अतः इन्द्रिय के सम्बन्ध से

जो ज्ञान हो वही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है--ऐसा कोई नियम नहीं। किन्तु विषय से वृत्ति का सम्बन्ध हो करके विषयाकार वृत्ति जहाँ हुई, वहीं प्रत्यक्षज्ञान हो जाता है। विषय के साथ वृत्ति का वह सम्बन्ध किसी इन्द्रिय द्वारा होता है। कहीं-कहीं शब्द से भी होता है। जैसे "तू दसवाँ है" में दसवाँ शब्द से दशम जो स्वयं, उससे अन्तःकरण की वृत्ति का सम्बन्ध हो करके दशमाकार वृत्ति हो जाती है। अतः शब्दजन्य भी दशम का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। वैसे ही प्रमाता में जब सुख-दुःख होता है; तब सुखाकार-दुःखाकार अन्तःकरण की वृत्ति हो जाती है। उस वृत्ति से सुख-दुःख का सम्बन्ध हो जाता है। अतः सुख-दुःख का ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है।

पूर्व पैदा हुए सुख-दुःख के नष्ट हो जाने के बाद जब पुरुष को उनकी याद आती है; तब पुरुष के अन्तःकरण की वृत्ति सुखाकार-दुःखाकार तो होती है। पर वृत्ति के नष्ट हो जाने के कारण सुख-दुःख से सम्बन्ध नहीं रहता। अतः वह ज्ञान स्मृति रूप है; प्रत्यक्षरूप नहीं।

यद्यपि अन्तःकरण के धर्म सुख-दुःख साक्षीभास्य हैं। तो भी सुखाकार-दुःखाकार अन्तःकरण की वृत्तिद्वारा साक्षी सुख-दुःख का प्रकाश करता है। जो साक्षीभास्य पदार्थ हैं; उन्हें भी साक्षी वृत्ति की अपेक्षा से ही प्रकाशित करता है। जैसे शुक्ति-रजत साक्षीभास्य हैं। यहाँ भी अविद्या की वृत्ति की अपेक्षा से साक्षी रजत को प्रकाशित करता है। परन्तु सुख-दुःख के प्रकाश में अन्तःकरण की वृत्ति साक्षी की सहायक है। और मिथ्या रजत आदि के प्रकाश में अविद्या की वृत्ति सहायक है। इस प्रकार साक्षीभास्य पदार्थ के ज्ञान में भी वृत्ति की अपेक्षा (जरूरत) है।

जहाँ वह वृत्ति इन्द्रिय आदि बाह्य साधनों से होती है, वहाँ
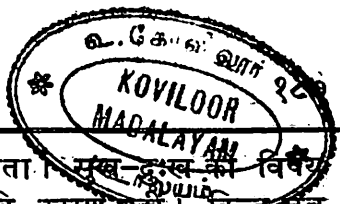
उसका विषय साक्षीभास्य नहीं कहा जाता। सुख–दुःख को विषय करने वाली वृत्तिमें बाह्य इन्द्रिय आदि कारण नहीं। किन्तु जब सुख आदि उत्पन्न होते हैं। उसी समय दूसरे साधन की अपेक्षा के बिना ही सुखाकार–दुःखाकार अन्तःकरण की वृत्ति हो जाती है। उस वृत्ति में आरूढ साक्षी सुख–दुःख को प्रकाशित करता है। अतः सुख–दुःख साक्षीभास्य कहे जाते हैं। बाह्य जो घट आदि हैं; उनसे अन्तःकरण की वृत्ति का सम्बन्ध नेत्र आदि इन्द्रियद्वारा होता है। अतः घट आदि साक्षी–भास्य नहीं। उसी प्रकार जब अन्तःकरण की वृत्ति ब्रह्माकार हो जाती है तब वह बाहर नहीं जाती, किन्तु शरीर के अन्दर ही रहती है। उस वृत्ति से ब्रह्म का सम्बन्ध है, अतः ब्रह्मज्ञान भी सुख–दुःख के ज्ञान की भाँति प्रत्यक्षरूप है, परन्तु सुखाकार–दुःखाकार वृत्ति में बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती अतः सुख–दुःख साक्षीभास्य हैं। ब्रह्माकार अन्तःकरण की वृत्ति में तो गुरु द्वारा वेदवचन का श्रोत्र से सम्बन्धरूप बाह्य साधन चाहिए। अतः ब्रह्म साक्षीभास्य नहीं।

जहाँ विषय से वृत्ति का सम्बन्ध होता है, वहाँ प्रत्यक्षज्ञान होता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति का ब्रह्मरूप विषय से सम्बन्ध है, अतः ब्रह्म का ज्ञान प्रत्यक्ष हो सकता है। जहाँ धुएँ को देखकर अग्नि का ज्ञान होता है, वहाँ धुएँ का ज्ञान तो प्रत्यक्ष है और अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं। क्योंकि नेत्रद्वारा अन्तःकरण की वृत्ति का धूएँ से सम्बन्ध है, अतः धूएँ का ज्ञान प्रत्यक्ष है। अनुमान से अन्तःकरण की वृत्ति शरीर में आग के आकारवाली तो हो गई। पर अग्नि से वृत्ति का सम्बन्ध नहीं। अतः अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं। जहाँ वृत्ति से विषय का सम्बन्ध होता है, वहीं प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है। जहाँ वृत्ति से विषय का सम्बन्ध नहीं होता, विषय बाहर दूर हो, भूत हो या भविष्यत् हो अनुमान से या शब्द से विषयाकार वृत्ति अन्दर हो; वह

ज्ञान परोक्त कहलाता है । "इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्त होता है" यह नियम नहीं। जैसे सुख-दुःख का ज्ञान इन्द्रिजन्य नहीं और प्रत्यक्त है । उसी प्रकार यद्यपि दशम पुरुष का ज्ञान भी शब्द-जन्य है; तो भी प्रत्यक्त है। इसी प्रकार गुरु से सुना जो महावाक्यरूप वेदशब्द, उससे पैदा हुआ ब्रह्म-ज्ञान भी प्रत्यक्त हो सकता है।

गुरुको अस उपदेश सुनि, तत्वदृष्टि बुधिमन्त।
ब्रह्मरूप लखि आतमा, कियो भेद-भ्रम अन्त ॥ ११९ ॥
'अहं ब्रह्म' या वृत्ति मैं, निरावरन ह्वै भान।
दादू आदू-रूप सो, यों हम लियो पिछान ॥ १०२ ॥

गुरु का ऐसा उपदेश सुनकर बुद्धिमान् तत्त्वदृष्टि ने अपने आत्मा को ब्रह्मरूप जान कर भेद बुद्धिरूप भ्रम का नाश कर डाला। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी वृत्ति में आवरण-रहित जो विषय का भान होता है, वह सबके आदिरूप दादू गुरु ब्रह्म हैं—ऐसा हमने समझ लिया है ॥ ११९-१२० ॥

विचार-सागर की उत्तमाधिकारी-उपदेश-निरूपण
नामक चतुर्थ तरङ्ग सम्पूर्ण ॥

पञ्चम तरंग

गुरुवेद आदि में व्यावहारिकता का प्रतिपादन तथा मध्यम अधिकारी–साधन–निरूपण

पूर्व तरङ्ग में कहा था कि "गुरुमुख से सुने हुए वेदवाक्य से ही अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार होता है" यह सुनकर दूसरा अदृष्टि नामक शिष्य (राजकुमार) शङ्का करता है—वेदगुरु सत्य हैं तो अद्वैत की हानि, असत्य हैं तो उनके द्वारा पुरुषार्थ प्राप्त नहीं हो सकता, दोनों ही प्रकार से वेद गुरु के द्वारा अद्वैत ज्ञान नहीं मिल सकता ।

‡ वेद रु गुरु जो मिथ्या कहिये ।
तिनतैं भव-दुःख नस्यो न चहिये ।
जैसै मिथ्या मरुथल को जल ।
प्यास नास को नहि तामैं बल ॥ १ ॥
सत्य वेद–गुरु कहैं तु द्वैत–भयो, गयो सिद्धान्त अद्वैत ।
यूं सङ्करमत पेखि असुद्धा । तज्यो, सकल मध्वादि प्रबुद्धा ॥
यह सङ्का भगवन् मुहि उपजै । उत्तर देहु दयाल न कुपिजै ।

---

‡ चार तरङ्गों में हमने प्रत्येक पद्य का सरलार्थ भी साथ दे दिया है । पञ्चम तरङ्ग तो पद्यप्रायः ही है । पद्यों का अर्थ दे देने से पुस्तक का आकार दुगुना हो जायगा । इसलिए हम कठिन शब्दों के अर्थ के अतिरिक्त समस्त पद्यों का अर्थ पहले की तरह साथ नहीं देंगे । —अनुवादक

शाङ्कर मत की श्रेष्ठता

गुरु बोले सिष की सुनि बानी। सङ्कर को मत परम प्रमानी॥
चारि यार मध्वादिक जे हैं। वेद–विरुद्ध कहत सब ते हैं।
यामैं व्यास–वचन सुनि लीजै। संकर–मतहि प्रमान करीजै॥
कलिमैं वेद–अर्थ बहु करि हैं। श्रीसंकर सिव तब अवतरि हैं।
जैन–बुद्ध–मत मूल उखारै। गङ्गातैं प्रभु–मूर्ति निकारै॥५॥
जैसे भानु–उदय उज्रियारो। दूरि करै जगमैं अन्धियारो।
सबै वस्तु ज्यूं–की–त्यूं भासै। संसै और विपर्यय नासै॥६॥
वेद–अर्थमैं त्यूं अज्ञाना। नसि है श्रीसंकर–व्याख्याना।
करि है तें उपदेश यथारथ। नासहि संसय अरु अयथारथ॥७॥
और जु वेद-अर्थकूं करि हैं। ते सठ वृथा परिश्रम धरि हैं।
यूं पुरानमैं व्यास कही है। संकर–मतमैं मान यही है॥८॥
मध्वादिक को मत न प्रमानी। यह हम व्यास-वचनतैं जानी।
और प्रमान कहूँ सो सुनिये। वाल्मीक रिषि मुख्य जु गिनिये॥
तिन मुनि कियो ग्रन्थ वासिष्ठा। तामैं मत अद्वैत स्पष्टा।
श्रीसंकर अद्वैतहि मान्यो। तिनको मत यह हेतु प्रमान्यो॥
बालमीक-रिषि-वचन-विरुद्धं। भेदवाद लखि सकल असुद्ध॥

इस सारे प्रकरण का यह भाव है—"व्यास भगवान् ने पुराणों में यह कहा है कि जब कलियुग में लोग वेदों के अर्थ मन-गढ़न्त करने लग जायँगे, तब करुणा–वरुणालय भगवान् शिव श्रीशङ्कराचार्य के रूप में अवतार लेकर देवनदी में से बद्रिनाथ की मूर्ति का उद्धार उसकी स्थापना, जैन–बौद्ध–मतों का खण्डन और वेद का यथार्थ व्याख्यान करेंगे। इस व्यास जी के वचन से

श्रीशङ्कर मत प्रमाण है और मध्व आदि का भेदमत अप्रमाण है। यद्यपि वेदान्त की प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र) के मध्व आदि ने भी खींचा-तानी से अपने अपने मत के अनुसार व्याख्यान किये हैं। तो भी श्रीव्यासजी के वचन से शङ्करकृत व्याख्यान ही यथार्थ है।

आदिकवि सर्वज्ञ वाल्मीकि ऋषि ने उत्तर-रामायण=योग-वासिष्ठ नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमें अद्वैतमत के प्रधान दृष्टि-सृष्टि-वाद का अनेक इतिहास दे-दे कर पतिपादन किया हैं। अतः वाल्मीकि-वचनानुसार अद्वैत मत प्रमाण है। वाल्मीकि के वचनों से विरुद्ध भेदमत अप्रमाण है।

इस प्रकार सर्वज्ञ ऋषि-मुनियों के वचन-विरोध से भेदवाद अप्रमाणित ठहराया। युक्ति से भी भेदवाद प्रमाणित नहीं ठहरता। 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' आदि ग्रन्थों में श्रीहर्ष आदि ने प्रबल युक्तियाँ दी हैं। भेदमत-खण्डन की युक्तियां बहुत कठिन हैं। अतः हम उन्हें यहाँ नहीं देते।

ऋषि-मुनियों के वचनों से विरुद्ध भेदमत की जैनमत की भाँति अप्रमाणिकता-निश्चित हो जाने पर आस्तिक अधिकारी के लिये युक्तियों से खण्डन करने की आवश्यकता ही नहीं रहती, यह बात तीन चौपाइयों से कह रहे हैं:—

कियो ग्रन्थ ‡ श्रीहर्ष जु खण्डन। खण्डन-भेद एकता-मण्डन।
लिख्यो यहाँ यह बहु विस्तारा। भेदवाद नहीं युक्ति सहारा॥

---

‡ श्रीहर्ष—आज से लगभग आठ सौ वर्ष पहले पण्डितवृषभ श्रीहर्ष कन्नौज के महाराज जयचन्द के सभापण्डित थे इन्होंने आठ-नौ ग्रन्थ लिखे हैं। जिनमें वेदान्त-विषय का ग्रन्थ है—'खण्डन-खण्ड-खाद्य' इसकी प्रबल युक्तियों ने भेदवाद की धज्जियां उड़ादी हैं। सुकुमार काव्य और कर्कश

और भेद-धिकार-ग्रन्था । तहाँ भेद-खण्डन-को पन्था ।
कठिन दुरूह तर्क हैं ते अति । नहीं पैठिहि सिष तिनमैं ते मति॥
यातैं कहीं न ते तुहि उक्ती । करै जु भेदहि खण्डन युक्ती ।
अप्रमान मत लख्यो जब । खण्डन मैं युक्ति न चहियत तब ॥
भेदप्रतीतीति महादुख-दाता । यम कठमैं यह टेरत ताता ।
यातैं भेदवाद चित त्यागहु । इक अद्वैतवाद अनुरागहु ॥ १५ ॥
श्रुतियां कहती हैं—"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति" । "द्वितीयाद् वै भयं भवति" "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति" 'न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्" । अर्थात्
जो द्वितीयकूं मतिमैं धारै । भय ताकूं यह वेद पुकारै ।
ज्ञेय-ध्येय मोतैं कछु औरा । लखै सु पसु यह बेद-ढंढोरा॥१६॥
सिय यातैं मध्वादिक बानी । सुनी सु विसरहु अति दुखदानी ।
द्वैत-वचन तव हिय मैं जौलौं । ह्वै साछात् अद्वैत न तौलौं ॥
द्वैत-वचन को स्मरन जु होवै । ह्वै साछात् तू ताहि विगोवै ।
पूर्व स्मृति साछात् विनासत । सुन इक अस तेहि कथा प्रकासत॥

भर्छू मन्त्री की कथा

राजा को इक भर्छू मन्त्री । राज-काज सब ताके मन्त्री ।
और मुसाहिब मन्त्री जेते । करै ईरषा तासू तेते ॥ १८ ॥

तर्क—दोनों मार्गों पर श्रीहर्ष की सरस्वती अबाध गति से प्रवाहित थी स्वयं उन्होंने कहा है—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले-
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती ॥

करी न सकत भच्छू की हाना। महाराज निज जिय प्रिय जाना।
तब सब मिलि रच्यो उपाया। धरि दौरे दंगा मचवाया ॥ २०॥
सो सुनि राजहि करी कचहरी। लिये बुलाय मुसाहिब जहरी।
तिनसों कह्यो बेग चढि जावहु। दौरत धारि सु धूम नसावहु ॥
तब सब मिलि उत्तर यह दीना। सदा एक भच्छु हि तुम चीना।
मरन लिए अब हमहि पठावतु। भच्छूकू कहु क्यों न चढावतु?॥
तब बोल्यो भच्छू करजोरी। महाराज सुनु बिनती मोरी।
आज्ञा होय मोहि यह रौरी। मारू सकल धारि जो दौरी ॥२३॥
तब भच्छू कूं वोल्यो राजा। तुम चढि जाहु समारहु काजा।
ते जातहि भच्छू सब मारे। बनक कृषीबल किये सुखारे ॥२४॥
भच्छु विजय सुन्यो तिन जब ही। राजा पैं भाख्यो यह तब ही।
"भच्छु मर्यो न सुधर्यो काजा"। मिथ्या वचन सुनत ही राजा॥
और प्रधान मुसाहिब कीनो। छत्र रु पांनस पड्डा दीनो।
बंदोबस्त तिन कीने अपनहु। सुनै न राजा भच्छू सुपनहु ॥२६॥

भच्छू को वैराग्य

सब वृतान्त भच्छु तब सुनिके। रूप तपस्वि धर्यो यह गुनि के।
राजा पै मुहिं जान न दै हैं। गये द्वार लग प्रानहु लै हैं ॥२७॥

† हन्त! आज मुझे अपने पर ही ग्लानि हो रही है। करिवर-कर-जघना, हरिण-समान-मुग्ध-नयना सिंह-समान-मुष्टिमेय-कटि,

† २७ से ८८ अंक तक का वर्णन मर्यादा से बाहर का हो गया है। गुजराती अनुवाद में कुछ पद्यों का अर्थ बीभत्स कह कर छोड़ दिया गया है।

वड़वा–सम–बलवर्धनी, कमल–दल–विशाल–लोचना, अतसी–कुसुम-चिबुक–लाञ्छना, तिल–प्रसून–समान–नासिका, चम्पक–तनुवर्णा, बिम्बाधरा, दाड़िम–दशना, कपोत–कन्धरा, परभृत–वचना, मयूर-पुच्छाऽऽभकेशसम्भारा आदि कह कहकर जिस स्त्री–शरीर की प्रशंसा के पुल बाँधे; पर उसमें तथ्य ही कितना है। मैं कितना मूढ़ हूँ कि इसी के लाड-लडाने में मैंने अपना सारा जीवन स्वाहा कर डाला।

†'कनक–छरी–सी कामिनी' यह काया कनक (सोने) की छड़ी कैसी ? गन्दगी से भरे मांस के लोथड़े पर गीला चमड़ा लपेट दिया गया है। कौन–सी चीज इसमें सुन्दर है; यह तो अशुद्धि का मन्दिर है। चलता–फिरता टट्टीघर है। मल–मूत्र की नालियों को स्वर्ग–सुख का अड्डा मानना बुद्धि का दिवाला निकालना है, मोहमहिमा है, कामांधता है। उभरे हुए दुर्गंधित भाग को ‡"पृथुनितंब ! नितंबवती च सा" के गीत गा–गा कर छठे आसमान पर चढ़ा देना कामांधता नहीं तो और क्या है ? सच है गंदगी का कीड़ा गंदगी में ही खुश रहता है। किसी की छाया के भी छू जाने पर सचैल स्नान करनेवालों का थूक और लारों से लथ–पथ चमड़े

पर मैं तो इन्हें बीभत्स ही नहीं ग्राम्यताभरी भद्दी नग्न अश्लीलता मानता हूं। क्योंकि बीभत्स तो एक प्रकार का रस ही है। उससे प्रस्तुत के प्रति ग्लानि के भाव पैदा होते हैं। पर इनके पढ़ने से ग्लानि तो दूर रही; उलटे प्रस्तुत वस्तु की दर्शनीयता के भाव जागृत हो जाते हैं और पढ़ते समय होता है कामविकार। यह पुस्तक जिज्ञासु बहन–भाइयों के हाथ में जानेवाली है। इसलिए मैंने इन पद्यों का संक्षिप्त भाव अपने शब्दों में लिख दिया है और पद्य निकाल दिये हैं। —अनुवादक,

† कनक–छरी–सी कामिनी, कटि काहे को छीन ?।
कटि को कञ्चन काट कै, कुचन–मध्य धरि दीन ॥

‡ विक्रमोर्वशीयम्।

के टुकड़े (अधर) को ग्लानि-रहित होकर चूमते रहना बचपन के अतिरिक्त है ही क्या ? बच्चा अपने पैर के अंगूठे को चूमता रहता है, क्या इससे पेट भरता है ? पर वह तो बच्चा है, अबोध है, और हम क्या हुए ? जिस काया को देखते ही शुद्धि-अशुद्धि का ज्ञान-विज्ञान ताक में ही धरा रह जाता है; उसके एक-एक अंग की वास्तविकता का विचार करने पर वह काया कपट-कूट का खजाना ही सिद्ध होती है। ठीक ही कहा है--

"देखकर मत रीझना, इस बाहर की सफाई पर।
वर्क सोने का मढ़ा है-यह, गोबर की मिठाई पर ॥"

खाद्य पदार्थों की भी ऐसी ही कथा है। जिन लड्डू-पेड़े आदि स्वादिष्ट पदार्थों को देखकर लार टपक पड़ती थी। जीभ में पानी भर आता था। वे वास्तव में हैं क्या ? गले के तले उतरते ही न स्वादिष्ट और न दर्शनीय। तृप्ति भी कहाँ हुई ? पर भूल में ही समझता रहा कि मैं भोग भोगता हूँ और आनन्द में समय काटता हूँ। है इससे उल्टी ही बात "हम भोग नहीं भोगते पर भोग हमें भोगते हैं" हमने अन्न नहीं खाया, पर अन्न हमें ही खा गया। हमने समय नहीं काटा, पर समय ने हमें ही काट दिया। संसार में हमारे न रहने पर भी अन्न और समय ज्यों-के-त्यों बने रहेंगे। सच है कि 'ये जिंदगी के मेले दुनियां में कम न होंगे (यूंही बने रहेंगे) अफसोस ! हम न होंगे।' कितना उलटा समझ बैठे हम, अन्न के लिए ही जीवन व्यतीत कर दिया। पर " जीवन के लिए अन्न है; अन्न के लिए जीवन नहीं।" शरीर में रहते हैं; यह सेवा का साधन है—इसे भाड़ा देना ही चाहिए—इसमें तैल डालना ही चाहिए। यह तो ठीक, पर डिजायनों पर इतना जोर क्यों ? भूख मिटाने का अन्न साधन है; यह ठीक। पर भूख तो कंद-मूल-फल आदि से भी मिटाई जा सकती है। फिर मैं क्यों किसी राजा वाजा का गुलाम

बनूं ? बस, आज से गुफा मेरा घर, शिला मेरी शय्या, भुजा मेरा सिरहाना, निर्झर मेरी अक्षय झारी और हाथ ही होंगे मेरे पात्र।

वस्तुतः सुख तो एकांत-एकाग्रता में है। मनुष्य के सुख की सीमा है—नीरोग शरीर, युवावस्था, सुगठित अंग, बल-विद्या-संपन्नता और राज्यपद-प्राप्ति का होना। तैत्तिरीय श्रुति में कहा है कि मनुष्य-सुख से मानव-गंधर्व का, मानव-गंधर्व के सुख से देवगंधर्व का, देवगंधर्व के सुख से पितृलोक का, पितृलोक के सुख से देवों का, देवसुख से कर्मदेवों का, कर्मदेवों के सुख से रुद्र-आदित्य-वसुओं का, इनके सुख से त्रिलोक-पति इन्द्र का, इन्द्र के सुख से देवगुरु बृहस्पति का, बृहस्पति के सुख से प्रजापति का, और प्रजापति के सुख से ब्रह्म का सुख श्रेष्ठ है। अर्थात् पूर्व-पूर्व सुख की अपेक्षा उत्तर-उत्तर सुख सौ-सौ गुना अधिक है। ये सब सुख कामना-रहित विद्वान् को प्राप्त होते हैं।

पर मनुष्य इस एकांत-सुख से वंचित रह कर स्त्री-पुत्र आदि के झमेले में ही उलझा- रहता है। कई-एक कर्कशा नारियां तो आते ही, ही घर को नरक बना डालती हैं। सांपिन की-सी जीभ चलाती हैं, बाघ की-सी आँखें दिखाती हैं, कौए की सी कां-कां से दिनभर कान खाती हैं, भेड़-सी गंदी रहती हैं, और भैंस-सी सात-पसेरी खाकर खुर्राटे भरती हैं। हन्त ! मैं भी इस मोह की खान में ही भटकता रहा। पर मैं करता भी क्या ? उनके मीठे वचन विषभरे लड्डू हैं। खाते ही अकल ठिकाने नहीं रहती। अंधा बनकर इनकी अंगुली पर नाचने लगा। धन को पानी की तरह बहाया। इन्हें सोने से लाद दिया—मढ़ दिया। अकारण-बंधु गुरुजनों को भूल गया। इस नये देव की आराधना में ही रीछ की तरह नाचता रहा "लोग मिलें घर घेरे कहें, अब ही ते ये चेरे भये दुलही के"। इस नये उस्ताद की सीख से मां-बाप को भी पट्टी पढ़ाई।

वे मन-ही-मन जलते होंगे। पर मैं तो इसकी प्रसन्नता के लिए मोर की तरह नाचता ही रहा।

काम का नशा चढ़ते ही पशुओं की भांति बच्चे पैदा करने लगा। वीर्य की महिमा का ध्यान न रहा। वीर्य की कृपा पर ही शरीर का सौंदर्य अवलंबित है। इसलिए योगी लोग खेचरी आदि मुद्राओं से ऊर्ध्वरेता बनते हैं। पर मैं तो अधोरेता ही बना रहा। यह बात याद ही नहीं रही कि "मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्" (बिन्दु पात ही मृत्यु है और विन्दु धारण ही जीवन)। निर्वीर्य मनुष्य को कूड़े-कचड़े की तरह घर में से निकाल कर बाहर फेंक दिया जाता है। यदि वह अपनी पुरानी टेव के कारण फिर कभी वैसी कुचेष्टा करना चाहे तो ऐसी जली-कटी सुननी पड़ती है कि न पूछो बात। 'खिसियाई बिल्ली खंभा नोचे" के अनुसार कभी †केशव की तरह अपने

---

† 'केसव' केसन अस करी, जस अरिहू न कराहिं।
चन्द्रमुखी मृगलोचनी, 'बाबा' कह कह जाहिं॥

(श्वेत) केशों ने मेरे साथ वह की, जो शत्रु भी न कर सका था। क्योंकि इन श्वेत केशों की ही कृपा है कि चन्द्रमुखी मृगाक्षी कामिनियां मुझे 'बाबा' कह मारती हैं। संस्कृत के एक कवि ने भी कहा है—

आपाण्डुराः शिरसिजास्त्रिवली कपोले,
दन्तावली विगलिता न हि मे विषादः।
एणीदृशो युवतयः पथि मां विलोक्य,
तातेति भाषणपराः शतंकुन्तघातः॥

शिर के बाल बिल्कुल सफेद हो गये, मुख पर झुर्रियां पड़ गईं, गाल पिचक गये, सभी दांत गिर गये हैं। फिर भी इन चीजों का मुझे खेद नहीं। किन्तु जब मृगनयनी युवतियां रास्ते में मुझे देखकर 'बाबा' कह देती हैं। तब मानो सैकड़ों बरछियों का एकसाथ हृदय पर आघात होता है।'

केशों को कोसता है। कभी अपने झुर्रियां भरे शरीर को देखते ही ‡ जवानी की याद कांटे की तरह सालती है।

अर्थ धर्म अरु मोच्छ कूं, नारि बिगारत ऐन।
सब अनर्थ को मूल लखि, तजै ताहि ह्वै चैन ॥८६॥

पुत्रसंग-दुःख वर्णन

पुत्र सदा दुख देत यूं, बिना प्राप्ति दुख एक।
गर्भ-समय दुख जन्म दुख, मरै तु दुःख अनेक ॥९०॥

गर्भ धरत जौलौं नहिं नारी। दुख दम्पति मन तोलौं भारी।
ह्वै जु गर्भ यह चिंतन नासै। पुत्री होय कि पुत्र प्रकासै?॥९१॥
गर्भ गिरन के हेतु अनन्ता। तिनतैं डरत करत अति चिंता।
ह्वै जु पूत नव मास बिहानै † । जननी जनक अधिक दुख सानै ॥

---

‡ जवानी की याद—

जो आके न जाये वह बुढ़ापा देखा।
जो जाके न आये वह जवानी देखी॥

बूढ़ा हो गया। कमर झुक गई। जमीन पर आँखें गड़ा-गड़ा कर लाठी के सहारे किसी प्रकार वृद्ध जा रहा है। मार्ग में किसी मनचले बालक ने पूछ मारा—

अधः पश्यसि किं वृद्ध! किंच ते पतितं भुवि।

'बूढे बाबा! नीचे क्या देखते जा रहे हो? क्या कुछ जमीन पर खो गया है? तुरन्त भुक्तभोगी वृद्ध-हृदय पुकार उठता है—

रे रे बाल! न जानासि, गतं मे यौवनं धनम्॥

'बालक! मेरा जवानी का धन इसी मिट्टी में मिल गया है; उसे खोजता हूं!

† नवमास बिहानै = नौ-मास बितने पर।

नवग्रह †मैं इक द्वै नहिं बिगरै । अस जन को जन्म न जग सगरै ।
बिगरै ग्रहकी निस-दिन चिंता । करत मात-पितु बैठि इकन्ता ॥
सिसु उदास ह्वै जब तजि बोबा ‡। तब दोऊ मिलि लागत रोबा।
यू चिंतत कछु गये महीने । दांत पूतके निकसैं झीने ॥ ९४ ॥
मरत बाल बहु, निकसत दंता । तब यह चिंता-दुःख तिय-कन्ता।
जिये दूबरो दुखतैं *बारो । देखि +चुराहो धरत उतारो ॥९५॥
म्लेच्छ चमार चूहरे कोरी । तिनतैं झरवावत द्विज धोरी ।
सइयद ख्वाजा पीर फकीरा । धोकत () जोरत हाथ अधीरा ॥९६॥
जाकूं हिन्दु कबहु नहिं मानै । पुत्र-हेतु तिहि इष्ट पिछानै ।
भैरो भूत मनावत नाना । धरत [] सिवाबलि भूमि मसाना ॥९७॥
धानक = को डमरू घरि बाजै । कर जोरत पूजन नहिं लाजै ।
और जन्त्र ताबीज घनेरै । लिखि मढवाय × पूत-गर गेरै ॥९८॥

---

† 'सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुद्ध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु--इन नवग्रहों में एक-दो ग्रह जिसके जन्म के समय बिगडे न रहें, ऐसा मनुष्य संसार में नहीं मिल सकता । ‡ बोबा = स्तन ।

* वारो = बच्चा । + चोरहो = चौरास्ता ।

() धोकत = झुकते, नमस्कार करते हैं ।

[] सिवाबलि—श्मशान-बलि भूत-प्रेतोंको मनाने या सिद्ध करने के लिए लोग श्मशानों में भेंट चढ़ाया करते हैं ।

= धानक--एक अर्धसभ्य जाति के लोग । ये देवी की मनौती के समय घरों में बुलाये जाते हैं । वहाँ ये देवी के गीत गाते और डमरू बजाते हैं ।

× पूत–गर–गेरै = पुत्र के गले में डालते हैं अर्थात् ताबीज़ बनाकर बच्चे के गले पर बाँध देते हैं ।

निजकुल मैं एक अच्युत पूजा। किनहु न सपनेहु सुमर्यो दूजा।
सो कुल-नेम पूत-हित त्याग्यो। व्यभिचारी ज्यू जहँ-तहँ लाग्यो॥
होत सीतला को जब निकसन। नसत मात-पितु मनको विकसन।
स्नान-क्रिया तजि रहत मलीना। परमदेव गदहा † कूँ कीना॥
मोरि वांग ‡ बकसहु सिसु मोरा। गदहा मात चराऊं तोरा।
यूं कहि चना गोद मैं धारै। बिनती करि गदहाकूँ चारै॥
अस अनन्त दुखतैं *सिसु-पारन। जुवा होतलौं और () हजारन।
उमर पूत की ह्वै जो थोरी। मरि है करहु उपाय करोरी॥
मरै मात-पितु कूटहिं माथा। -मानि आपकूँ दीन अनाथा।
हाय हाय करि निस-दिन रोवै।
करि धिक-धिक निज-जन्म विगोवै॥ १०३॥
पूत मरन को ह्वै दुख जैसो। लखत सपूत [] अपूत न तैसो।

---

† सीतला (चेचक) निकलने पर लोग गधे की पूजा किया करते हैं।

‡ सीतला देवी से प्रार्थना करते हैं—'मातः! मेरी प्रार्थना पर मेरे बच्चे को बख्श दो—इसे जीवन-दान दो। मैं आपकी सवारी (गधे) को चराता हूँ।'

* सिसुपारन = शिशु-पालन।

() और हजारन = जवान होने तक और हजारों दुःख होते रहते हैं। जैसे लड़का खिलाड़ी घुमक्कड़ हो गया। पढ़ता नहीं। मारपीट करता रहता है। पढ़ने पर भी कुछ आता-जाता नहीं। चोरी आदि दुर्व्यसनों में फस गया। जेल हो गई। खून किया, फांसी चढ़ गया आदि-आदि।

[] सपूत—पुत्रवाला। पुत्र मरने का दुःख जैसा सपुत्र (पुत्रवाले) को होता है, ऐसा दुःख अपुत्र (जिसके पुत्र नहीं) को पुत्र न होने का दुःख नहीं होता।

जो जीवै तौ होतहि तरुना । लगत नारि के पोषन-भरना॥१०४॥
जिन अनेक यत्ननि प्रतिपारौ । तिनकूं जल-पावन है भारौ ।
रजनि-सैजपैं सिखवै नारी । तव पित-मात देहिं मुहिं गारी॥१०५॥
ह्वै सपूत तौ प्रातहि उठि के । नवौं दूरतैं माथन गठिके ।
चहै मात-पित आवै नेरै । पूत न सन्मुख आंखिहु हेरै ॥१०६॥
ह्वै कपूत तौ उठतहि प्राता । वचन गारि–सम बकि असुहाता ।
जुदौ होय ले सब घर को धन । दे पित-मातहि इक तन को तन॥
फेरि सम्भारत कबहु न तिनकूं । पोषत सब दिन तिय निज तनकूं
देखि, लेत पित-मात उसासा । या विधि पुत्र सदा दुखरासा ॥

दोहा—करि विचार यूं देखिये, पुत्र सदा दुख–रूप ।
सुख चाहत जे पूततैं, ते मूढन के भूप ॥ १०९ ॥

धनसङ्ग-दुःख वर्णन

तजि तिय पूत जु धन चहै, ताके मुखमैं धूर ।
धन जोरन रच्छाकरन, खरच नास दुख–मूर ॥ ११० ॥

जो चाहै माया बहुजोरी । करै अनर्थ [] सु लाख करोरि ।
जातिधर्म कुलधर्म सुत्यागै । जो धनकूं जोरन जन लागै ॥
बिना भाग तदपि न धन जुरिहैं । जुरै तो रच्छा करि करि मरिहैं ।
खरचत धन घटि है यह चिंता । नासै निसि-दिन ताप अनन्ता ॥
सदा करत यूं दुख धन मनकूं । चहै ताहि धिक धिक तिहि जनकूं ।

[] अनर्थ—पन्द्रह अनर्थ कमाकर कोई व्यक्ति एक अर्थ सिद्ध करता है । यह बात भागवत (स्क० ११, अध्याय २३) में आती है ।

युवति पूत धन लखि सुखदाता। तज्यो भर्तृ ममता को नाता ॥

कुण्डलिया छन्द

भर्तृ बन एकान्त मैं—गयो, कियो चित सान्त।
भयो नयो दिवान तिन, सुन्यो सकल वृतान्त।
सुन्यो सकल वृतान्त, चिन्त यह उपजि ताके।
जो नृप जीवत सुनै, मिलैं वा काहू नाके † ॥
तौ झूठे हम होंहि, भूप दे सबकूं दण्डा।
यातैं अब मिलि कहौ, भर्तृ भौ प्रेत प्रचण्डा॥११४॥
करी सलाह परस्पर गये कचहरी बीच।
सबहिं कही यह भूपतैं, भर्तृ प्रेत भौं नीच ॥ ११५ ॥
राख लगाये देह मैं, मिलै जांहि बतरात‡।
तिहि मारत सो नर बचत, जो तिहि देखि *परात ॥११६॥
सुनि भूपह निश्चय कियो, भर्तृ मरी भौ प्रेत।
साच झूठ भूप न लखत, है जु प्रमाद अचेत ॥ ११७ ॥
कछु दिन बीते भूप तब, मारन गयो सिकार।
पैठ्यो गिरिवन सघनमैं, जहँ मृगराज हजार ॥ ११८ ॥
तपत तहाँ इक तरु-तरै, भर्तृ निज दीवान।
पेखि ताहि भाज्यो उलटि, मानि प्रेत दुखदान ॥ ११९ ॥

---

† नाके—किसी मार्ग का छोर, सिरा। ‡ बतरात—बातें करता है।
* परात—भाग जाता है।

इन्द्व छन्द

मर्छु मरयो रु परेत भयो यह, वाक्य असत्य हु सत्य पिछाना।
देखि लियो निज आंखिन जीवत, तौहु परेतह मानि भगाना ॥
वंचकतैं सुनि द्वैत-कथा, मतिमैं विसवास करै जु अजाना।
ब्रह्म अद्वैत लखै * परतच्छ हु, तौहु न ताहि हिये ठहराना ॥

भेद-वचन विस्वास करि, सुनत जु कोउ अजान।
सो जन-दुख भुगतै सदा, ह्वै न ब्रह्म को ज्ञान ॥१२१॥
यातैं सुनै जु भेद के, वचन लखै सु असत्य।
तब ही ताकूं ज्ञान ह्वै, महावाक्य तैं सत्य ॥

सिय तैं सुनी जु भेद-कहानी। जानी झूठ ते नरक निसानी।
तिनके कहनहार सब झूठै। पुरुषारथ सुखतैं सठ रूठै॥
तिनको संग न कबहू कीजै। ह्वै जो संग न वचन सुनीजै।
जो कहुँ सुनै तु सुनतहि त्यागहु।
म्लेच्छ-जैन-वच-सम लखि भागहु ॥

जो मिथ्या ह्वै दैसिक-वेदा। कैसे करही भव-दुख-छेदा ? ।
याको अब उत्तर सुनि लीजै। मिथ्या दुख मिथ्यातैं छीजै॥
वेद रु गुरू सत्य जो होवै। तौ मिथ्या भव-दुख नहिं खोवै।
यामैं इक दृष्टांत सुनाऊं। जातैं सब संदेह नसाऊं ॥
सुरपति इन्द्र स्वर्ग मैं जैसो। प्रबल प्रताप भूप इक ऐसो।
भीम-समान सूर बहुतेरे। तिनके चहुधा डेरे गेरे ॥

---

* परतच्छहु—प्रत्यक्ष से भी।

जोधा ल निज निज हथियारन। खरे रहे तिहि द्वार हजारन।
अंदिर मंदिर ड्योढ़ी ठाढे। लिये खड्ग कोसनतैं काढे॥
ऊंचो महल अटारी जामैं। फूल सैज सोवै नृप तामैं।
पंछी हू पौचन नहिं पावै। तहां और कैसे चलि जावै॥
तहाँ भूप देख्यो अस सपना। पकर्‌यो पैर गादरी† अपना।
भूप छुडायो चाहत निज पग।
तजत न गादरि पकरि जु पगरग॥१३०॥
तब राजा यूं खरो पुकारै। है को अस जो गादरि मारै।
जोधा जो ठाढै निज द्वारा। तिन रंचकहु न दियो सहारा॥
तब नृप दंड लियो निज करमैं। आपुहि मार्‌यो स्यारनि सिरमैं।
लगत दंड भो ताको अंता। तब निसरै पगरगतैं दंता॥
दांत लगे गाढै नृप पगमैं। यूं लंगरात सु चालत मगमैं।
तब चाल्यो ले लाठी करमैं। पहुँच्यो घावरिया* के घरमैं॥
ताहि कह्यो फोहा() अस दीजै। घाव पाव को तुरत भरीजै।
घावरिया नृपतैं यह भाख्यो। फोहा नहिं तयार धर राख्यो॥
जो तू दै पैसा इक मोकूं। तो तयार करि देहूँ तोकूं।
तब उलट्यो नृप लाठो टेका। नहीं दैनकूं कौडिहु एका॥
लाग्यो सोच करन टरि घरतैं। बूजै बात कौन बिन जरतैं[]।

† गादरी—गीदड़ी। * घावरिया के घरमें—घाव अच्छा करनेवाले वैद्य (जर्राह) के घरमें। () फोहा—तेल या और किसी दवाई में डुबाया हुआ फाहा (रुईका टुकड़ा) [] जर—चांदी या धन के बिना कौन बात पूछता है ?

जो मैं होत धनी बड़भागा। आवतु घर धावरिया भागा ॥
मोहि निकंमा जानि कंगाला। घरतैं तुरत रोग ज्यूं टाला।
याहीकूं कछु दोष न दीजै। बिन स्वारथको किहि न पतीजै † ॥
मात-पिता-बांधव-सुत-नारी। करत प्यार स्वारथतैं भारी।
जो नहिं स्वारथ सिद्धी पावै। तौ इनकूं देख्यो हु न भावै ॥
जा बिन घरी एक नहीं रहते। दुख अपार बिछुरै सब लहते।

जब देखै आयो घर पौरी ‡।
घरके मिलत भाजि भरि () कौरी ॥ १३९ ॥

विधि-अधीन कोढी सो होवै। सब अंगनि मैं पानी चोवै।
अरु झरि परी आंगुरी जाके। भिन-भिनात मुख माखी ताके ॥
कहत ताहि ते घर के प्यारे। मरि पापी अब तौ हतियारे।

जिहि देखत अखियां न अघानी।
तिहि लखि ग्लानि वमन ज्यूं आनी ॥१४१॥

जो तिय हिय लागत पति प्यारो। कियन चहत पल उरतै न्यारो ॥
ताकी पवन बचायो लोरै []। भिरै जु वसन तु नाक सकोरै ॥
जिहिं पितु-मात गोद मैं लेते। सकुचत तिहि करते कछु देते ॥
मिलत भ्रात जो भरि भुज कोरी। सो बतरावत बीच दै डोरी ॥
ऐसे जग स्वारथ को सारो। विन स्वारथ को काको प्यारो ॥

---

† पतीजै--विश्वास करता है। ‡ पौरी--सीढ़ी।
() भरि कौरी--अंक भरकर। गोद भरकर।
[] लोरै--चाहना या आवश्यक समझना।

मुहि स्वारथ जोग न विधि कीनो।
यातैं इन फोहा नहिं दीनो ॥१४४॥
यूं चिंतित इक मुनि तिहिं भेट्यो। तिनदै जरी† घाव दुख मेट्यो।
निद्रातैं जाग्यो नृप जब ही। घाव दरद मुनि नासे तबहीं ॥१४५॥
सिष यह तुहि दृष्टांत प्रकास्यो। लखि मिथ्या तैं मिथ्या नास्यो।
मिथ्या दुख देख्यो जब राजा।
साच समाज न किय कछु काजा ॥१४६॥

भाव यह है कि संसाररूप दुःख मिथ्या है। उसके दूर करने के साधन भी वेद-गुरु मिथ्या ही होने चाहिए। मिथ्या को नष्ट करने में सच्चे साधन की आवश्यकता नहीं होती। सत्य साधन हो, तो भी उससे मिथ्या नष्ट नहीं होता। जैसे राजा के पास मिथ्या गीदड़ी स्वप्न में पहुँची। किसी सत्य योद्धा से रुकी नहीं। जब राजा ने पुकारा तो किसी से मरी भी नहीं। राजा के पास अपने सच्चे हथियार पड़े रहे। पर मिथ्या डण्डे से ही मरी। राजा को मिथ्या घाव हो गया और कोई सच्चा वैद्यराज नहीं मिला। मिथ्या वैद्य के पास गया। उसने पैसा मांगा। अनन्त सच्चे खजाने पडे ही रह गये। एक भी पैसा राजा को नहीं मिला। कोई भी सच्चा साधन राजा का दुःख नष्ट करने में समर्थ नहीं निकला। किन्तु मिथ्या मुनि ने मिथ्या जड़ी-बूटी देकर मिथ्या दुःख नष्ट किया। इस प्रकार स्वप्न का सबको अनुभव है कि जगत् के पदार्थों का स्वप्न में कभी उपयोग नहीं होता (वे काम में नहीं आते) वैसे ही मिथ्या संसार के दुःख का नाश भी मिथ्या वेद, गुरु से ही होता है। सच्चे वेद और गुरु की जरूरत नहीं।

† जरी—जड़ी-बूटी।

"जैसे मरुस्थल के मिथ्या जल से प्यास नहीं बुझती। वैसे मिथ्या वेद ओर गुरु से संसार दुःख नष्ट नहीं होता। यदि † मिथ्या वेद-गुरु से संसार-दुःख का नाश स्वीकार करोगे तो

---

† मिथ्या वेद-गुरु--शंका करनेवाले का तात्पर्य यह था कि दृष्टि-सृष्टि-वाद और सृष्टि-दृष्टि-वाद में सभी पदार्थों को मिथ्या माना गया है किन्तु मिथ्या पदार्थों से वास्तविक अर्थ (प्रयोजन) सिद्ध हो नहीं सकता। क्योंकि शुक्ति-रजत से आभूषण कैसे बन सकते हैं? मरुमरीचि-जल से प्यास कैसे बुझेगी? अतः सभी पदार्थों को सत्य मानिए। वेद-गुरु आदि सत्य पदाथ से ही अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है। यदि ऐसा ही मान लिया जाय तब ऊपर सिद्धान्त भंग हो जाते हैं और द्वैतापत्ति होती है।

इसका उत्तर आचार्यों ने कई प्रकार से दिया है। एक तो यही है-वास्तविक प्रयोजन-सिद्धि से ही पदार्थों की वास्तविकता सिद्ध होगी। किन्तु लोक में दो ही प्रकार की प्रयोजन-सिद्धि देखी गई है-(१) प्रातीतिक, स्वप्नादि में और (२) व्यावहारिक, जाग्रदादि व्यवहार काल में। स्वप्न की प्रातीतिक अर्थक्रिया (प्रयोजनसिद्धि) स्वप्न में प्रातीतिक पदार्थों की ही सत्ता सिद्ध कर सकती है; पदार्थों की नहीं। व्यावहारिक काल की व्यावहारिक अर्थ क्रिया व्यावहारिक पदार्थों की सत्ता बता सकती है; पारमार्थिक पदार्थों की नहीं। अतः दुःखनिवृत्ति आदि व्यावहारिक कार्य यही सिद्ध कर सकेंगे कि उसके कारण वेद, गुरु आदि व्यावहारिक हैं। उनमें पारिमार्थिक सत्ता की अपेक्षा नहीं; जिससे द्वैतापत्ति का भय हो।

अद्वैतविद्याचार्य का कहना है कि पदार्थ अपनी समानसत्ता की ही अर्थ क्रिया का निष्पादक हैं यह नियम नहीं। किन्तु स्वप्न के अंगनालिंगन आदि से जो सुखादिरूप कार्य होता है वह केवल प्रातीतिक ही नहीं अपितु व्यावहारिक भी होता है। अतः कहना होगा कि न्यूनसत्ताके पदार्थ अपने से अधिक सत्तावाले कार्य का भी साधक हो सकता है। भामतीकार ने कहा है—"वर्णे ह्रस्व-दीर्घत्वादयोऽप्यन्यधर्मा अपि समारोपितास्तत्त्वप्रतिपत्तिहेतवः।

मिथ्या मरुभूमि के जल से भी प्यास का नाश होना चाहिए ?"
शिष्य की इस शंका का समाधानः-

यद्यपि मिथ्या मरु-थल-पानी। तातैं किनहु न प्यास बुझानी।
तदपि विषम दृष्टांत सु तेरो। सत्ताभेद दुहुन में हेरो ॥१४७॥

माना कि मरुस्थल का पानी मिथ्या है; उससे किसी की प्यास बुझती नहीं। तो भी तेरा यह दृष्टांत विषम है। क्योंकि मरुभूमि के जल और प्यास में सत्ता का भेद है-यह (हेरो) देखो ॥१४७॥

समसत्ता भवदुख गुरुवेदा। यूं गुरुवेद करत भवछेदा।
आपसमैं ‡ समसत्ता जिनकी। लखि साधक--बाधकता तिनकी ॥

नहि लौकिकाः 'नाग' इति वा 'नग' इति वा पदात् कुञ्जरं वा तरुं वा प्रतिपद्यमाना भवन्ति भ्रान्ताः।" अर्थात् ह्रस्वत्व दीर्घत्व आदि ध्वनि के धर्म हैं और इनका आरोप होता है वर्णों में। फिर भी इनसे ज्ञान यथार्थ ही होता है।' फिर तो मिथ्याभूत वेद गुरु आदि से कार्य यथार्थ भी हो सकेगा। उनकी पारमार्थिक सत्ता माननी आवश्यक नहीं।

और आचार्यों का कहना है कि किसी भी कार्य में पदार्थ स्वरूपेण हेतु है। उनकी सत्ता की अपेक्षा ही नहीं। फिर तो मिथ्या जल से प्यास क्यों नहीं दूर होती ?—इस शङ्का का वे उत्तर देते हैं कि प्यास-निवृत्ति के लिए उदकत्व जातिवाले पदार्थ की अपेक्षा है। मरुमरीचिजल में उदकत्वजाति नहीं। अतः वह प्यास नहीं बुझा सकता। फिर वेद और आचार्य आदि सच हैं या झूठे यह देखने की आवश्यकता ही नहीं। उनसे कार्य होता है-यह अनुभवसिद्ध है।

‡ शंका--समसत्तावाले पदार्थों में ही साधकता और बाधकता नहीं होती। जैसे--प्रपंच और उसके अधिष्ठान ब्रह्म की सत्ता समान नहीं। फिर भी प्रपंच का साधक ब्रह्म है। व्यावहारिक शुक्ति अपने में कल्पित रजत का साधक है। इसी प्रकार व्यावहारिक प्रबोध प्रातिभासिक स्वप्न का बाधक है। व्यावहारिक शुक्तिज्ञान कल्पित रजतका बाधक है। फिर तो विषमसत्तावाले

अर्थात् भवदुःख और गुरुवेद की समसत्ता (एक सत्ता) है। अतः गुरुवेद से भवदुःख का नाश होता है। जिन की आपस में समसत्ता होती है उनकी आपस में साधकता और बाधकता होती है। जैसे मिट्टी और घट की समसत्ता है, अतः मिट्टी घट की साधक (कारण) है। अग्नि और लकड़ी की समसत्ता है। यहाँ अग्नि लकड़ी की बाधक (नाशक) है। मरुभूमि के जल की और प्यास की समसत्ता नहीं, अतः मरुस्थल का जल प्यास का बाधक नहीं।

त्रिविध सत्ता वर्णन

रहस्य यह है कि चेतन में परमार्थ सत्ता है और चेतन से भिन्न मिथ्या पदार्थों में दो प्रकार की सत्ता है। एक व्यवहार सत्ता और दूसरी प्रतिभास सत्ता।

(१) जिस पदार्थ का ब्रह्मज्ञान के बिना बाध नहीं होता, किन्तु ब्रह्मज्ञान से ही बाध होता है उस पदार्थ में व्यावहारिक सत्ता है। वह व्यवहारिकसत्ता ईश्वर सृष्टि में है, क्योंकि देह-इन्द्रिय आदि प्रपञ्च (ईश्वर सृष्टि) का बाध ब्रह्मज्ञान के बिना नहीं होता; किन्तु ब्रह्मज्ञान से ही होता है। यद्यपि ईश्वर-सृष्ट पदार्थों का ब्रह्मज्ञान के बिना भी नाश तो हो जाता है; पर बाध

पदार्थों में भी साधकता और बाधकता रहने के कारण यह नियम भंग हो जायगा—'समसत्तावाले पदार्थों में ही साधकता और बाधकता होती है'।

समाधान—उक्त नियम का पूरा स्वरूप यह है कि अधिष्ठान से अतिरिक्त साधकता और ज्ञान से अतिरिक्त बाधकता समान-सत्तावाले पदार्थों में ही हुआ करती है। अर्थात् अधिष्ठान विषय सत्ता का होकर भी विषम सत्ता के कार्य का बाधक होता है। और पदार्थों में साधकता और बाधकता लाने के लिए समानसत्ता की आवश्यकता है। अतः प्रातिभासिक जल से व्यावहारिक प्यास की निवृत्ति नहीं हो सकती। किन्तु व्यावहारिक जल से ही व्यावहारिक प्यास की निवृत्ति होगी।

ब्रह्मज्ञान के बिना नहीं होता। अपरोक्ष मिथ्या निश्चय का नाम बाध है। वह अपरोक्ष मिथ्या निश्चय ईश्वरसृष्ट पदार्थों में ब्रह्म-ज्ञान से पहले किसी को नहीं होता, ब्रह्मज्ञान के बाद ही होता है। इसलिए मूल अविद्या के कार्य ईश्वरसृष्ट जाग्रत के पदार्थों में व्यावहारिक सत्ता है। जन्म-मरण-बन्ध-मोक्ष आदि व्यवहार को सिद्ध करनेवाली व्यावहारिकसत्ता है।

(२) ब्रह्मज्ञान के बिना ही जिनका बाध हो जाता है; उन पदार्थों में प्रातिभासिकसत्ता है। जैसे ब्रह्मज्ञान के बिना ही सीपी-रस्सी-मरुभूमि आदि के ज्ञान से चाँदी-साँप-पानी आदि का बाध हो जाता है, इनमें प्रतिभासिकसत्ता प्रतीति-समकाल सत्ता है। तूला अविद्या के कार्य चाँदी आदि पदार्थों का प्रतीतिकालमात्र सत्ता है, अतः उनकी प्रतिभास-सत्ता है।

(३) जिसका तीनों कालों में बाध नहीं होता; उनकी पार-मार्थिक-सत्ता होती है। चेतन का बाध कभी नहीं होता, इसलिए चेतन की परमार्थिक सत्ता है।

वेद गुरु और संसार-दुःख की एक ही व्यावहारिकसत्ता होने से आपस में समसत्ता है। अतः मिथ्या वेद-गुरु से मिथ्या संसार-दुःख का नाश हो सकता है। भूख-प्यास प्राण के धर्म हैं, प्राण और उसके धर्मों का ब्रह्मज्ञान के बिना बाध नहीं होता। अतः प्यास की व्यावहारिकसत्ता है। मरुस्थल के जल का ब्रह्मज्ञान के बिना ही मरुस्थल के ज्ञान से बाध हो जाने के कारण मरुस्थल जलकी प्रतिभासिकसत्ता है। प्यास और मरुस्थल के जल की समसत्ता न होने से उस जल से प्यास नहीं बुझती (नष्ट नहीं होती)। इसी प्रकार दार्ष्टान्त में बाधक वेद-गुरु और बाध्य संसार-दुःख की सत्ता एक है, दृष्टान्त में जल और प्यास की सत्ता का भेद है, अतः दृष्टान्त विषम (दार्ष्टान्त के समान नहीं) है।

शङ्का—

ब्रह्म भिन्न मिथ्या सब भाखौ। तिनको भेद हेतु किहीं राखौ।
उपज्यो यह मोकूं सन्देहा। प्रभु ताको अब कीजै छेहा॥

अर्थात् "प्रभो! आपने तो ब्रह्म से भिन्न सब पदार्थों को मिथ्या कहा है। उन मिथ्या पदार्थों में भी (क) सीपी में चाँदी, रस्सी में साँप, मरुस्थल में जल आदि का बाध बिना ही ब्रह्म-ज्ञान के हो जाता है और (ख) संसार-दुःख का बाध ब्रह्मज्ञान के बाद होता है—ऐसा भेद करने का कारण क्या ?" इस शङ्का का समाधान यह है :—

सकल अविद्या कारज मिथ्या। सिष! तामैं रंचकहु न तथ्या।
जा अज्ञानतैं उपजत जोई। ताके ज्ञान बाध तिहि होई॥१५०॥

हे शिष्य! यद्यपि ब्रह्म से भिन्न सब अविद्या के कार्य हैं; अतः मिथ्या हैं। इनमें कोई पदार्थ सत्य नहीं। यद्यपि जिसके अज्ञान से जो पैदा होता है; उनके ज्ञान से उसका बाध होता है। सीपी-रस्सी-मरुस्थल आदि के अज्ञान से चाँदी-साँप-जल आदि उत्पन्न होते हैं, इनका बाध शुक्ति-रज्जु-मरुस्थल आदि के ज्ञान से हो जाता है। ब्रह्म के अज्ञान से जो जन्म-मरण आदि संसार-दुःख पैदा होता है, इसका बाध ब्रह्मज्ञान से ही होता है।

शिष्य बोला—

भगवन् ब्रह्म-अज्ञानतैं, जो उपजै संसार।
सो किहि क्रमतैं होत है, कहौ मोहिं निर्धार॥ १५१॥

गुरुजी बोले—

जैसे स्वप्न होत बिन क्रमत। त्यूं मिथ्या जग भासत भ्रमतैं।
जो ताको क्रम जान्यो लोरै। सो मरुस्थल-जल वसन निचौरै॥

उपनिषदनमैं बहुत बिधि जग उत्पत्ति प्रकार ।
अभिप्राय तिनको यही, चेतन-भिन्न असार ॥ १५३ ॥

उपनिषदों में जगत् की उत्पत्ति अनेक प्रकार से कही है । छान्दोग्य में कहा है कि सत् रूप परमात्मा से अग्नि-जल-पृथ्वी क्रम से पैदा होते हैं"।

तैत्तिरीय में "आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी" इस क्रम से पाँच भूतों की उत्पत्ति कही है। कहीं लिखा है कि "क्रम के बिना ही सब की उत्पत्ति परमेश्वर करता है।" वेदों में जगत् की उत्पत्ति के अनेक प्रकार कहे हैं। वेद का अभिप्राय यह है कि जगत् मिथ्या है। यदि कुछ पदार्थ होता तो उसकी उत्पत्ति वेद अनेक प्रकार से क्यों कहता ?। अनेक प्रकार से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करने से वेद का अभिप्राय जगत् की उत्पत्ति के प्रतिपादन में नहीं। किन्तु अद्वैत ब्रह्म को पहचानने और जगत् का निषेध करने के लिए मिथ्या जगत् का किसी-न-किसी प्रकार ब्रह्म में आरोप कर दिया है।

दृष्टान्त--जैसे आतिशबाजी के खेल में उड़ाने के लिए बारूद का हाथी बनाते हैं । यदि उसके कान-पूंछ आदि टेढ़े-मेढ़े रह जायँ तो उन्हें सीधा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता । वैसे ही अद्वैत-ज्ञान और प्रपञ्च-निषेध के लिए प्रपञ्च का आरोप किया है। अतः वेद ने प्रपञ्च की उत्पत्ति का क्रम एकरूप से कहने का प्रयत्न नहीं किया । प्रपञ्च की उत्पत्ति एकरूप से कहने के कारण ही वेद का अभिप्राय प्रपञ्च-निषेध में है; उसकी उत्पत्ति में नहीं।

दूसरे अध्याय में सूत्रकार और भाष्यकार ने उत्पत्ति के प्रतिपादक श्रुतिवचनों का विरोध दूर करके जो एकरूप से तैत्तिरीय

श्रुति के अनुसार उत्पत्ति में सब उपनिषदों का अभिप्राय कहा है, वह मन्दजिज्ञासु के लिए है। यदि उत्पत्ति-वाक्यों का अभिप्राय सूत्रभाष्य के कथनानुसार न समझे तो मन्दजिज्ञासु को उपनिषदों में अनेक प्रकार से जगत् की उत्पत्ति देखकर यह भ्रान्ति हो सकती है कि उपनिषदों का आपस में विरोध है। उसे दूर करने के लिए सब उपनिषदों में जगत् की उत्पत्ति के प्रतिपादन का प्रकार कहा है।

जिसे ब्रह्म-विचार से यथार्थज्ञान नहीं होता। उसे लयचिन्तन करने के लिए भी उत्पत्तिक्रम कहा है। जिस क्रम से उत्पत्ति कही है, उसके विपरीत क्रम से लयचिन्तन करे। उस लय-चिन्तन से भी अद्वैत में बुद्धि स्थिर होती है। इस लयचिन्तन का प्रकार पञ्चीकरण में वार्तिककार‡ सुरेश्वराचार्य ने कहा है।

---

‡ वार्तिककार—पञ्चीकरण ग्रन्थ के वार्तिक में श्रीसुरेश्वराचार्य ने सृष्टि के अपवाद में लयचिन्तन दिखाया है—

समाधिकालात्प्रागेवं विचिन्त्यातिप्रयत्नतः।
स्थूलसूक्ष्मक्रमात्सर्वं चिदात्मनि विलापयेत् ॥ ४८ ॥

समाधि के पहले लय चिन्तन में नितान्त सजगता से काम लेना चाहिए। लय चिन्तन का प्रकार यह है कि—स्थूल (स्थूलकार्य प्रपञ्च) को उसके सूक्ष्म (सूक्ष्म कारण) रूप में क्रमशः विलय करते हुए समस्त कारण का विलय चिदात्मा में कर देना चाहिए ॥ ४८ ॥

अकारं पुरुषं विश्वमुकारे प्रविलापयेत्।
उकारं तैजसं सूक्ष्मं मकारे प्रविलापयेत् ॥ ४९ ॥
मकारं कारणं प्राज्ञं चिदात्मनि विलापयेत्।
चिदात्माहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसदद्वयः ॥ ५० ॥

यह ग्रन्थ उत्तम जिज्ञासुओं‡ के लिए है इस कारण से

जगत्	अवस्था	अभिमान	अक्षर
पञ्चीकृत भूत	जाग्रत्	विश्व	अ
अपञ्चीकृत भूत	स्वप्न	तैजस	उ
अव्यक्त	सुषुप्ति	प्राज्ञ	म्

समस्त कार्य-सहित पञ्चीकृत भूत, जाग्रद् अवस्था और उसके अभिमानी विश्वपुरुष को अकार समझना चाहिए। इसी प्रकार अपञ्चीकृत भूत, स्वप्न और उसके अभिमानी तैजस को उकार तथा त्रिगुणात्मक अव्यक्त, सुषुप्ति और उसके अभिमानी प्राज्ञ को मकार। फिर अकार के पूर्ण स्वरूप का उकार में, उकार के पूर्ण परिवार को मकार में और मकार को त्रिगुणातीत शुद्ध ब्रह्म में विलीन करना चाहिए। विष्णुपुराण में बहुत सुन्दर लय-क्रम बताया गया है—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे ! पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
आपस्तेजसि लीयन्ते तेजो वायौ विलीयते॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्कले सम्प्रलीयते।
पुरुषान्न परं किञ्चिन् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

प्रोक्त लय-क्रम स्थिर हो जाने पर सविकल्प समाधि और निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है--

परमानन्दसन्दोहवासुदेवोऽहमोमिति।
ज्ञात्वा विवेचकं चित्तं तत्साक्षिणि विलापयेत्॥ ५१॥

मैं परमानन्दघनरूप ओम् हूँ--इस प्रकार का निरन्तर चिन्तन-प्रवाह सविकल्प समाधि की अवस्था है। सविकल्प (सम्प्रज्ञात) समाधि में कुछ समय स्थित रहकर ध्याता ध्यान, ध्येय भेदसहित चित्त को चिदात्मा में विलीन करने से निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है।

भी जगत् की उत्पत्ति और लय का प्रकार नहीं लिखा। फिर भी यह ग्रन्थ सागररूप है, इस में सब कुछ होना चाहिए, अतः संक्षेप से बतावेंगे शुद्ध ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि शुद्ध ब्रह्म असङ्ग है, अक्रिय है। किन्तु माया-विशिष्ट ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति हो सकती है। अतः माया और ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

कवित्त—जीव ईश भेद हीन चेतन स्वरूप माँहि,
माया सो अनादि एक सांत ताहि मानिये।
सत औ असततैं विलच्छन स्वरूप ताको,
ताहि कूं अविद्या औ अज्ञानहु बखानिये॥

चिदात्मनि विलीनं चेत् तच्चित्तं नैव चालयेत्॥
पूर्णबोधात्मनाऽऽसीत पूर्णाचलसमुद्रवत्॥ ५२॥

जब चित्त सर्वदा पूर्ण आत्मा में विलीन हो जाय, फिर उसे वहाँ से विचलित न होने दें। पूर्ण बोधरूप से वैसे ही विराजमान रहे, जैसे पूर्ण सागर अपने गम्भीर भाव में मस्त रहता है।

एवं समाहितो योगी श्रद्धाभक्तिसमन्वितः।
जितेन्द्रियो जितक्रोधः पश्येदात्मानमद्वयम्॥ ५३॥

जितेन्द्रिय, जितक्रोध, श्रद्धा-भक्ति-समन्वित योगी निर्विकल्प समाधि प्राप्त करके अपने अद्वय आत्मरूप का साक्षात्कार करता है।

विचारसागर में भी आगे चलकर इसी तरङ्ग के १६७ वें पद्य में लय चिन्तन बताया गया है।

‡ उत्तम जिज्ञासु—जिस जिज्ञासु का चित्त अधिक विक्षिप्त नहीं, उत्तम संस्कारों से युक्त है और जो अध्यारोप-अपवाद की प्रणाली से पञ्चम भूमिका में आरूढ़ होने की क्षमता रखता है। उसे यहाँ उत्तम जिज्ञासु कहा गया है।

चेतन सामान्य न विरोधी ताको साधक है,
वृत्तिमैं आरूढ़ वा विरोधी वृत्ति जानिये।
माया मैं आभास अधिष्ठान अरु माया मिल,
ईस सरवज्ञ जग-हेतु पहचानिये ॥ १५४ ॥

अर्थात् जीव-ईश्वर-भेद-रहित शुद्ध चेतन के आश्रित माया है वह अनादि (आदि-उत्पत्ति रहित) है । यदि माया की उत्पत्ति स्वीकार करें तो माया के कार्य प्रपञ्च से-पुत्र से पिता की भांति-माया की उत्पत्ति नहीं मान सकते। चेतन से ही माया की उत्पत्ति माननी होगी । जीवभाव और ईश्वरभाव माया के कार्य हैं। माया की सिद्धि के बिना तो जीव और ईश्वर का स्वरूप ही असिद्ध है। इसलिए जीव-चेतन या ईश्वर-चेतन से माया की उत्पत्ति मानना असम्भव है। शुद्ध चेतन असङ्ग है, अक्रिय है और निर्विकार है। उससे माया की उत्पत्ति मानने पर वह विकारी हो जायगा। यदि शुद्ध चेतन से माया उत्पन्न होती हो तो मोक्षदशा में भी माया दुबारा उत्पन्न हो जायगी। फिर मोक्ष के लिए जो जो साधन कहे हैं; वे सब निष्फल हो जायँगे।

इस रीति से माया उत्पत्ति-रहित है । अतः अनादि और एक है। सान्त (अन्तवाली) है, ज्ञान से उसका अन्त होता है। सत्-असत् से विलक्षण है। जिसका तीनों कालों में बाध न हो वह सत् है, ऐसा चेतन है। माया का ज्ञान से बाध होता है; अतः सत् से विलक्षण है। जिसकी तीन काल में प्रतीति नहीं होती; वह असत् है, जैसे शशशृङ्ग, वन्ध्यापुत्र, आकास-कुसुम आदि। ज्ञान से पहले माया और उसके कार्य प्रतीत होते हैं। जाग्रत में 'मैं अज्ञानी और "ब्रह्म को नहीं जानता" इस प्रकार माया प्रतीत होती है। स्वप्न में जो नाना पदार्थ प्रतीत होते हैं, उनका उपादान कारण माया है। सुषुप्ति के बाद अज्ञान की इस प्रकार स्मृति होती है

कि "मैं सुखपूर्वक सोया और कुछ भी सुध नहीं रही" यह स्मृति अज्ञात वस्तु की हो नहीं सकती। सुषुप्ति में अज्ञान का भान होता है। अज्ञान और माया दोनों एक ही हैं; उनमें भेद नहीं। इस प्रकार तीनों अवस्थाओं में माया की प्रतीति होती है। अतः असत् से विलक्षण है। सत्-असत् से विलक्षण माया का कार्य भी सत्-असत् से विलक्षण है, या सत्-असत् से विलक्षण को अद्वैत मत में मिथ्या और अनिर्वचनीय कहते हैं। अतः माया और उसके कार्य से द्वैत की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि जैसे चेतन सत् स्वरूप है, वैसे ही यदि माया और माया का कार्य सत् रूप हो तो द्वैत हो। माया और उसका कार्य सत्-असत् से विलक्षण होने के कारण मिथ्या है। मिथ्या पदार्थ से द्वैत सिद्ध नहीं होता। जैसे स्वप्न के पदार्थ मिथ्या हैं; उनसे द्वैत सिद्ध नहीं होता।

जीव-ईश्वर-विभाग-रहित शुद्ध ब्रह्म के आश्रित माया है और शुद्ध ब्रह्म को ही आच्छादित करती है। जैसे घर के आश्रित अन्धकार घर को ही आच्छादित करता है। इस पक्ष का नाम है स्वाश्रय-स्वविषय-पक्ष। स्व=शुद्ध ब्रह्म ही आश्रय, स्व=शुद्ध ब्रह्म ही विषय (माया से आच्छादित=ढका हुआ) है। †संक्षेपशारीरक,

---

† सक्षेपशारीरक में कहा है—

"आश्रयत्वविषयत्वभागिनी,
　　निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो,
　　नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥" (१।३१९)

अज्ञान की आश्रयता और विषयता का आधार (जीवादि-विभाग-रहित) एक-मात्र शुद्ध चैतन्य ही है। पूर्वसिद्ध (अनादि) अज्ञान के पश्चात् होनेवाला अहङ्कार विशिष्ट (जीव) उस अज्ञान का न तो विषय ही हो सकता है और न आश्रय।

† विवरण, ‡ वेदान्तमुक्तावली, § अद्वैतसिद्धि, ❀ अद्वैतदीपिका आदि ग्रन्थकारों ने स्वाश्रय-स्वविषय ही अज्ञान स्वीकार किया है।

वाचस्पतिका मतः—अज्ञान जीव के आश्रित है और ब्रह्म को विषय करता है। "अज्ञानी मैं ब्रह्म को नहीं जानता" इस प्रतीति से 'मैं' शब्द का अर्थ जीव और 'अज्ञानी' शब्द से अज्ञान का

---

† विवरण में आया है:—

"न तावदज्ञानमाश्रयविषयभेदापेक्षं किन्त्वेकस्मिन्नेव वस्तुन्याश्रयत्वमावरणञ्चेति कृत्यद्वयं सम्पादयति स्वाश्रयापवरकप्रदेशे कृत्यद्वयसम्पादि तमोवत्" (वि० पृ० ४३ लाजरस कम्पनी मुद्रण)

अज्ञान अपने आश्रय और विषय के भेद की अपेक्षा नहीं करता। किन्तु एक ही वस्तु में आश्रयता और विषयता—दोनों का सम्पादन वैसे ही कर लेता है, जैसे अन्धकार जिस घर के आश्रित होता है; उसी को विषय करता (ढकता) है।

‡ वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावली में लिखा है—'तस्माद् जीव-ब्रह्म-विभाग-शून्यमात्मानमाश्रित्य तमेव विषयीकरोति।"

अतः जीव-ब्रह्म-विभाग-रहित शुद्ध चैतन्य को आश्रय करके (अज्ञान) उसी को विषय करता है।

§ अद्वैतसिद्धि में—"अविद्याया आश्रयस्तु शुद्धं ब्रह्म। तदुक्तम्-आश्रयत्व-विषयत्वभागिनी·········। अविद्याया विषयोऽपि सुवचः। तथाहि-चिन्मात्रमेवाविद्याविषयः।" (अद्वैत सि० परिच्छेद १ पृ० ५७७, ५८६। बम्बई प्रकाशन)

अविद्या का आश्रय शुद्ध ब्रह्म है। जैसा कि संक्षेपशारीरक में कहा है—आश्रयत्व··· ···। अविद्या का विषय भी शुद्ध चैतन्य ही है।

❀ अद्वैतदीपिका में आचार्य नृसिंहाश्रम ने लिखा है—

चिन्मात्रविषयाधारमज्ञानं भेदविभ्रमे।
हेतुदर्पणवत्तस्य निवृत्तौ कृतकृत्यता॥" (द्वि० परि०)

आश्रय प्रतीत (भान) होता है। "ब्रह्म को नहीं जानता" अतः अज्ञान का विषय ब्रह्म प्रतीत होता है। इस रीति से अज्ञान जीव के आश्रित है और ब्रह्म को विषय (आच्छादित) करता है। वह अज्ञान एक नहीं; किन्तु अनन्त हैं। क्योंकि यदि एक अज्ञान मान लिया जाय तो एक पुरुष के ज्ञान से उसके अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर सभी का अज्ञान निवृत्त हो जाना चाहिए, अर्थात् अज्ञान और अज्ञान का कार्य संसार प्रतीत नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा कहें कि आजतक किसी को ज्ञान हुआ ही नहीं और न आगे को होना ही, तो श्रवण आदि साधक निष्फल हो जायँगे। इसलिए अनन्त जीवों के आश्रित अज्ञान अनन्त हैं। अनन्त जीवों के अनन्त अज्ञानों से कल्पित ईश्वर और ब्रह्माण्ड भी अनन्त हैं। जिस जीव को ज्ञान होता है; उसके अज्ञान, ईश्वर और ब्रह्माण्ड की निवृत्ति हो जाती है। जिसे ज्ञान नहीं होता; उसे बन्धन रहता है। यह वाचस्पति का मत समीचीन नहीं। क्योंकि—

"ईश्वर जीव के अज्ञान से कल्पित है" यह कहना श्रुति, स्मृति और पुराणों से विरुद्ध है। "ईश्वर अनन्त और प्रत्येक जीव की सृष्टि अलग अलग है" यह भी विरुद्ध है। अर्थात् नाना अज्ञान मानने असङ्गत हैं। नाना अज्ञान मान करके ईश्वर और सृष्टि एक मानें तो यह हो नहीं सकता। क्योंकि जीव–ईश्वर–प्रपञ्च अज्ञान–कल्पित है। अनन्त अज्ञान मानने से एक एक अज्ञान–कल्पित जीव की भांति ईश्वर और प्रपञ्च भी अनन्त ही मानने होंगे। (इसीलिए वाचस्पति ने अनन्त ईश्वर और अनन्त सृष्टि कही है। अतः "†अज्ञान एक है" यह मत समीचीन है।

---

† अज्ञान एक ही है। किन्तु वह सांश है, अतः जिस अन्तःकरण में ज्ञान का उदय होता है। उससे उसमें रहनेवाले अज्ञान अंश का ही नाश होता है, समस्त अज्ञान का नहीं।

वह एक अज्ञान भी जीव के आश्रित नहीं। किन्तु शुद्ध ब्रह्म के आश्रित है। क्योंकि जीवभाव अज्ञान का कार्य है। वह अज्ञान स्वतन्त्र कभी नहीं रह सकता। अतः निराश्रय अज्ञान से तो जीवभाव बन नहीं सकता। पहले अज्ञान को किसी के आश्रित होना चाहिए; तभी अज्ञान का कार्य जीवभाव बन सकता है। जीवपन की भाँति ईश्वरता भी अज्ञान नहीं, किन्तु शुद्ध ब्रह्म के आश्रित अनादि अज्ञान है। अनादि चेतन और अनादि अज्ञान का सम्बन्ध भी अनादि होने से जीवभाव और ईश्वरभाव भी अनादि हैं। पर जीवभाव और ईश्वरभाव अज्ञान के अधीन हैं। इसीलिए अज्ञान का कार्य कहे जाते हैं।

यद्यपि "मैं अज्ञानी हूँ" इस प्रयोग से जीव के आश्रित अज्ञान की प्रतीति होती है। तो भी शुद्ध ब्रह्म के आश्रित अज्ञान का जीव को "मैं अज्ञानी हूँ" ऐसा अभिमान होता है। जीव अज्ञान का कार्य है। अतः अज्ञान का अधिष्ठानरूप आश्रय जीव कभी नहीं बन सकता, किन्तु शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञान का अधिष्ठान आश्रय है। शुद्ध ब्रह्म अधिष्ठान के आश्रित जो अज्ञान, वह उस ब्रह्म को ही आच्छादित कर लेता है। इसके बाद ही "मैं अज्ञानी हूँ" इस अज्ञान का अभिमानीरूप आश्रय जीव होता है। इस प्रकार स्वाश्रय-स्वविषय अज्ञान सिद्ध होता है।

माना कि वह अज्ञान एक है और ज्ञान से निवृत्त होता है; परन्तु जिस अन्तःकरण में ज्ञान होता है; उस अन्तःकरण-अवच्छिन्न चेतन में स्थित अज्ञान के अंश की निवृत्ति उस ज्ञान से हो जाती है। वही मुक्त है। जिस अन्तःकरण में ज्ञान नहीं होता, वहाँ अज्ञान का अंश रहता है और वहीं बन्ध रहता है। एक अज्ञान पक्ष में इस प्रकार बन्ध-मोक्ष-व्यहार बनता है।

किसी किसी की बुद्धि में वाचस्पतिजी का नाना अज्ञानवाद ही फिट बैठता है, वह भी अद्वैत ज्ञान का उपाय है, उसके

खण्डन करने में हमारा आग्रह नहीं, ‡जिस प्रकार भी जिज्ञासु को अद्वैत बोध हो उसी प्रकार बुद्धि की स्थिरता सम्पादित करे।

शुद्ध ब्रह्म के आश्रित माया को अविद्या और अज्ञान कहते हैं। अचिन्त्य-शक्तिशाली होने पर भी युक्ति को नहीं सह सकती, अतः माया है, विद्या से नष्ट हो जाती है; अतः अविद्या है, स्वरूप को आच्छादित करती है; अतः अज्ञान है। जिस सामान्य चेतन के आश्रित माया है, वह इसका विरोधी नहीं; अपितु साधक है (सत्तास्फूर्ति देता है)। वृत्ति में आरूढ (स्थिति) चेतन अथवा चेतन-सहित वृत्ति उसकी विरोधी है। कवित्त के तीन पादों में माया का स्वरूप कह दिया है।

अब चौथे पाद "माया मैं आभास" आदि से ईश्वर का स्वरूप कहते हैं। शुद्ध-सत्त्वगुण-सहित माया, माया का अधिष्ठान चेतन और माया में आभास-ये तीनों मिल करके ईश्वर कहलाते हैं। यह ईश्वर सर्वज्ञ है और यही जगत् का हेतु (कारण) है। कारण दो प्रकार का होता है। एक उपादानकारण और दूसरा निमित्त-कारण। जो कार्य के स्वरूप में प्रविष्ट हो और जिसके बिना कार्य

---

‡ नैष्कर्म्यसिद्धिकार ने कहा है--

"यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वी सा च व्यवस्थितिः॥

जिस-जिस प्रक्रिया से पुरुषों को आत्मा का ज्ञान हो, वही-वही प्रक्रिया उनके लिए ठीक है। अर्थात् सभी पुरुषों का चित्त-स्तर समान नहीं होता। एक ही उपाय सबको नहीं रुच या जँच सकता। अतः वेदान्त सिद्धान्त के आचार्यों ने आत्म-दर्शन के विभिन्न मार्ग दर्शाये हैं। जिस जिज्ञासु को जो मार्ग सरल प्रतीत हो, वही मार्ग उसे अपनाना चाहिए। इन सभी मार्गों का गन्तव्य लक्ष्य एक ही (आत्मदर्शन) है।

रह न सके यह †उपादानकारण होता है। जैसे मिट्टी घट का उपादानकारण है। घट के स्वरूप में इसका प्रवेश है और मिट्टी के बिना घट रह नहीं सकता। जिसका कार्य के स्वरूप में प्रवेश नहीं किन्तु अलग रहकर कार्य करे और जिसके नाश से कार्य बिगड़े नहीं-वह ‡ निमित्तकारण कहलाता है। जैसे घट के कुम्हार-डंडा-चाक आदि निमित्त कारण हैं। घट के स्वरूप में इनका प्रवेश नहीं; घट से अलग रहकर घट पैदा करते हैं और उत्पत्ति होने के बाद कुम्हार डंडा-चाक आदि के नाश से घट का नाश भी नहीं होता। इस प्रकार कारण के दो भेद होते हैं; उपादान और निमित्त।

जगत् का उपादान और निमित्त कारण ईश्वर ही है। जैसे एक मकड़ी जाले का उपादान कारण और निमित्त कारण है। यदि ऐसा कहें कि मकड़ी का जड़ शरीर जाले का उपादान कारण है और मकड़ी के शरीर में जो चेतनभाग है वह निमित्त कारण है। अतः एक ईश्वर को निमित्तकारण और उपादान कारण मानने में कोई दृष्टांत नहीं। यह कहना उचित नहीं, क्योंकि मकड़ी की भांति ईश्वर का शरीर जड-माया-जगत् का उपादान कारण है और चेतनभाग निमित्त कारण है। इस प्रकार एक ही ईश्वर जगत् का उपादान और निमित्त कारण है। इसमें मकड़ी का दृष्टांत है। § हां, मुख्य दृष्टांत स्वप्न है। जिस समय जीवों के कर्म फल देने के लिए उन्मुख नहीं

---

† अर्थात् कार्य जिससे उत्पन्न हो, जिसमें स्थित रहे और जिसमें लीन हो जाय, वह उपादान कारण है।

‡ आशय यह है कि जो कार्य की उत्पत्तिमात्र में सहायक हो, उसे निमित्त कारण कहा करते हैं।

§ एक ही ईश्वर जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण है—इसमें और दृष्टांत हैं। जैसे—

(१) न्याय-मत में घटादि के साथ ईश्वर के संयोग का निमित्त कारण

होते तब प्रलय होता है। जब जीवों के कर्म फल देने के लिए उन्मुख (उद्यत) होते हैं तब सृष्टि होती है। इस प्रकार जीवों के कर्मों के अधीन सृष्टि है। अतः जीव का स्वरूप कहते हैं—

मलिनसत्त्व अज्ञान में, जो चेतन आभास।
अधिष्ठान युत जीव सो, करत कर्म फल आस ॥१५५॥

जो रजोगुण और तमोगुण को दबा डाले वह शुद्ध सत्त्वगुण और जो रजोगुण–तमोगुण से स्वयं दब जाय वह मलिन सत्त्वगुण। उस मलिन–सत्त्वगुण–सहित अज्ञान के अंश में चेतन का आभास, अज्ञान और अज्ञान का अधिष्ठान कूटस्थ तीनों मिलकर जीव कहलाते हैं। यह जीव कर्म करता है और फल की आशा भी करता है। उस जीव के कर्मों के अनुसार ऊंच–नीच, भोगों के लिए ईश्वर सृष्टि रचता है। ∴इसलिए ईश्वर में विषमदृष्टि और विषमता नहीं।

शंका–सबसे पहली सृष्टि से पहले कर्म नहीं थे। ईश्वर ने

और उपादान कारण एक ही ईश्वर है। जीवात्मा के ज्ञानादि गुणों का निमित्त कारण और उपादान कारण एक ही जीवात्मा है।

(२) श्रीमद्भागवत में लिखा है कि ब्रह्माजी ने बछड़ों और चरवाहों का अपहरण कर लिया। तब श्रीकृष्ण ने स्वयं बछड़ों और ग्वाल–बालों की रचना कर डाली। उस रचना के निमित्त–कारण और उपादान–कारण एक ही कृष्ण थे।

(३) सूर्य आठ मास तक पृथ्वी के रस का शोषण करता और वर्षा के चार मास तक जल बरसाता है। वर्षा का निमित्त और उपादान कारण एक ही हैं भगवान् सूर्य।

(४) कोई चित्रकार अपने किसी अंग पर अपना चित्र बनाता और मिटाता है। उस चित्र का निमित्त कारण और उपादान कारण एक ही वह चित्रकार है।

(५) स्वप्न का निमित्त कारण और उपादान कारण एक ही साक्षी चेतन है। इसी प्रकार इस समस्त विश्व का निमित्त कारण और उपादान कारण एक ही ईश्वर है।

प्रथम सृष्टि में ऊँच-नीच शरीर एवं भोग रचे (बनाये) हैं। अतः ईश्वर विषमदृष्टि है ?।

यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि संसार अनादि है। उत्तर सृष्टि में पूर्व-पूर्व सृष्टि के कर्म कारण हैं। सबसे पहली कोई सृष्टि ही नहीं। अतः ईश्वर में दोष नहीं।

कवित्त—जीवन के पूर्व सृष्टि कर्म अनुसार ईस—
इच्छा होय जीव भोग जग उपजाइये।
नभ, वायु, तेज, जल, भूमि भूत रचै तहां,
शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध गुन गाइये॥
सत्त्व अंस पंचन को मेलि उपजत सत्त्व,
रजोगुन अंस मिलि प्रान त्यूं उपाइये।
एक एक भूत सत्त्व-अंश ज्ञान-इन्द्रि रचै,
कर्म इन्द्रि रजोगुन अंसतैं लखाइये॥१५६॥

जब जीवों के कर्म भोग, देने से उदासीन हो जाते हैं, तब प्रलय होता है। प्रलय के समय सब पदार्थों के संस्कार माया में रहते हैं। जब कर्म भोग देने को संमुख होते हैं; तब ईश्वर को यह इच्छा‡ होती है कि "जीवों के भोग के लिए जगत् बनाना चाहिए" ईश्वर की इस इच्छा से माया तमोगुण

‡ ईश्वर इच्छा—ईश्वर में इच्छा क्योंकर होगी—यह एक विचारणीय विषय है। इसका विचार ब्रह्मसूत्र अ० २ पा० १ के ग्यारहवें अधिकरण में किया गया है। वहाँ के पूर्वपक्ष का संक्षेप यह है—साधारण से साधारण इच्छा निष्प्रयोजन नहीं हुआ करती फिर भला महान् ईश्वर की इतनी बड़ी इच्छा बिना प्रयोजन के कैसे होगी ? आचार्य ने कहा है—"चेतनो हि लोके बुद्धिपूर्वकारी पुरुषः प्रवर्तमानो न मन्दोपक्रमामपि तावत्प्रवृत्तिमा-

प्रधान‡ हो जाती है। उस तमोगुण प्रधान माया से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये पांच भूत रचे जाते हैं। इन भूतों से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच गुण पैदा होते हैं। माया से शब्द-सहित आकाश की उत्पत्ति और आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है। वायु आकाश का कार्य है। अतः आकाश का शब्द गुण वायु में आता है। उसका अपना गुण स्पर्श है। वायु से तेज उत्पत्ति होती है। तेज में आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श और अपना रूप होता है। तेज से जल की उत्पत्ति

त्मप्रयोजनानुपयोगिनीमारभमाणो दृष्टः, किमुत गुरुतरसंरम्भाम्।" प्रयोजन सब चार ही हैं--दुःख और दुःख-साधन की निवृत्ति तथा सुख और सुख-साधन की प्राप्ति ईश्वर में दुःख और दुःख-साधन का अत्यत अभाव है। अतः ईश्वर की उस इच्छा का प्रयोजन दुःख की निवृत्ति अथवा दुःख-साधन की निवृत्ति हो नहीं सकती। सुख या दुःख-साधन की प्राप्ति के लिए भी उसकी इच्छा नहीं हो सकती, क्योंकि वह आप्तकाम (पूर्णमनोरथ) है। अतः ईश्वर में जगत् बनाने की इच्छा ही हो नहीं सकती।

सिद्धान्त का संक्षेप--"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" जैसे लोक में देखा जाता है कि पूर्णमनोरथ राजगण बिना किसी प्रयोजन के भी लीला करते देखे जाते हैं, जैसे श्वास-प्रश्वास आदि बिना किसी बाह्य प्रयोजन के स्वाभाविक किये जाते हैं, जैसे कल्पवृक्ष में सकल कामना पूर्ण करने का एक स्वभाव पाया जाता है। ठीक वैसे ही ईश्वर में जीवादृष्टों के अनुसार स्वाभाविक इच्छा हो जाती है। प्रलय तक वह सर्वविषयक इच्छा एक ही रहती है। अतः उसे नित्य कहते हैं। फिर यदि यह सृष्टि पारमार्थिकी हो, तब इसका प्रयोजन अवश्य पूछा जा सकता था। किन्तु यह तो है केवल भ्रमकल्पित। अलात-चक्र, रज्जु-सर्प, दो चंद्र आदि की भ्रान्त कल्पनाओं का कुछ भी प्रयोजन नहीं होता।

‡ जैसे सफेद बादल वर्षा के समय काला हो जाता है। वैसे ही सत्त्वप्रधान माया सृष्टि करते समय तमःप्रधान हो जाती है।

होती है। जल में आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, तेज का रूप और अपना रस होता है। जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी में आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, तेज का रूप, जल का रस और अपना गन्ध गुण होता है।

१—आकाश में प्रतिध्वनिरूप शब्द है। २—वायु में सीसी शब्द और उष्ण-शीत-कठिन से विलक्षण स्पर्श है। ३—अग्नि-रूप तेज में भुक् भुक् शब्द, उष्णस्पर्श और प्रकाश रूप है। ४—जल में चुलु-चुलु शब्द, शीतस्पर्श शुक्लरूप और मधुर रस है। पृथ्वी के सम्बन्ध से जल खारा और कड़वा प्रतीत होता है। जल का रस मधुर ही होता है। वह मधुरता हर्रे आदि खा करके जल पीने से प्रगट होती है। ५—पृथ्वी में कट-कट शब्द, उष्णशीत से विलक्षण कठिन स्पर्श, सफेद-नीला-पीला-लाल-हरा आदि रूप, मीठा-खट्टा-कड़ुवा-कसैला तीता रस और अपना गन्ध गुण हैं। गन्ध दो प्रकार की है, सुगन्ध और दुर्गंध। इस प्रकार आकाश में एक, वायु में दो, तेज में तीन, पानी में चार और पृथ्वी में पांच गुण हैं। एक एक गुण इनका अपना है और दूसरे कारण के हैं।

सब का मूल कारण ईश्वर है। उसके माया और चेतन दो भाग हैं। मिथ्यापन माया का भाग है। और सब भूतों में सत्तास्फूर्ति चेतन का भाग है। कवित्त के दो पादों का यह अर्थ हुआ।

पञ्चभूतों के सत्त्वगुण अंश मिल कर सत्त्व (अन्तःकरण) को पैदा करते हैं। अन्तःकरण ज्ञान का कारण है और ज्ञान की उत्पत्ति सत्त्वगुण से मानी गई है। इसलिए अन्तःकरण भूतों के सम्मिलित सत्त्वगुण का कार्य है और भूतों के कार्य पञ्च ज्ञान-इन्द्रियों का सहायक है। अतः पञ्चभूतों के सम्मिलित सत्त्वगुण से अन्तःकरण की उत्पत्ति मानी है। देह के अन्तः (अन्दर) करण (ज्ञान का साधन) होने से अन्तःकरण संज्ञा पडी है। भूतों के सत्त्वगुण का

कार्य होने से इसे सत्त्व भी कह देते हैं। अन्तःकरण के परिणाम का नाम वृत्ति है। वह वृत्ति चार प्रकार की है। पदार्थों के अच्छे बुरे स्वरूप को निश्चित करने वाली वृत्ति 'बुद्धि', सङ्कल्प और विकल्प करनेवाली वृत्ति 'मन', चिन्तनरूप वृत्ति 'चित्त' और 'मैं' ऐसी अभिमानरूप वृत्ति 'अहङ्कार' कहलाती है।

पाँच भूतों के मिश्रित रजोगुण के अंश से प्राणों की उत्पत्ति होती है। क्रियाभेद और स्थानभेद से प्राण पांच प्रकार के हैं। १—जिसका हृदय स्थान है और भूख-प्यास क्रिया है, वह प्राण कहलाता है। २—जिसका गुद स्थान है और मल-मूत्र नीचे ले जाना क्रिया है; वह अपान है। ३—जिसका नाभि स्थान है और खाये-पीये अन्न-जल को पचने के योग्य सम करने की क्रिया है; वह समान है। ३—जिसका कण्ठ स्थान है और श्वास लेना क्रिया है; वह उदान है। ५—जिसका सारा शरीर स्थान है और और रसों को मिलाना क्रिया है; वह व्यान है।

कहीं कहीं नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ये पाँच प्राण अधिक भी माने हैं। इनकी क्रम से उदार, निमेष, छींक, जँभाई, और मृतशरीर का फूल जाना क्रियाएँ हैं। पृथ्वी जल, तेज, वायु, आकाश-इन पाँचों के रजोगुण अंश से एक एक की क्रम से उत्पत्ति मानी है। अपान, समान, प्राण उदान और व्यान की भी पृथ्वी-आदि एक-एक के रजोगुण अंश से उत्पत्ति मानी है। सभी के मिले हुए रजोगुण अंश से उत्पत्ति नहीं मानी। परन्तु अद्वैत-सिद्धान्त में यह प्रक्रिया नहीं मानी गई। क्योंकि विद्यारण्य स्वामी और पञ्चीकरण में वार्तिककार ने सूक्ष्म शरीर में तथा पांच कोशों में नाग-कूर्म आदि का ग्रहण नहीं किया। इन्हों ने अपान आदि पांच प्राणों की उत्पत्ति भी भूतों के सम्मिलित रजोगुण अंश से मानी है। इसलिए एक एक के रजोगुण अंश से अपान आदि की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं और सूक्ष्म शरीर

में नाग-कूर्म आदि का ग्रहण करना भी असङ्गत है। पांच प्राणों का ही सूक्ष्म शरीर में ग्रहण होता है। प्राण विक्षेप रूप हैं। विक्षेप स्वभाव रजोगुण का है। इसीलिए भूतों के रजोगुण अंश से प्राणों की उत्पत्ति मानी गई है। यह अर्थ तीसरे पाद का हुआ।

एक एक भूत के सत्त्वगुण अंश से एक एक ज्ञान-इन्द्रिय और एक भूत के रजोगुण अंश से एक एक कर्म-इन्द्रिय बनती है।

१—आकाश के सत्त्वगुण से श्रोत्र (कान)
२—वायु के सत्त्वगुण से त्वक् (त्वचा)
३—तेज के सत्त्वगुण से नेत्र (आँख)
४—जल के सत्त्वगुण से रसना (जीभ)
५—पृथ्वी के सत्त्वगुण से घ्राण (नासिका)

ये पांचों इन्द्रियाँ ज्ञान की साधन हैं। अतः इन्हें ज्ञान-इन्द्रियाँ कहते हैं।

ज्ञान सत्वगुण से होता है, अतः ज्ञानेन्द्रियों की उत्पति भूतों के सत्वगुण से मानते हैं, श्रोत्र-इन्द्रिय आकाश के सत्त्वगुण को ग्रहण करती है। अतः श्रोत्र-इन्द्रिय की आकाश से उत्पत्ति मानी। इसी प्रकार जो इन्द्रिय जिस भूत के गुण को ग्रहण करती है; उस इन्द्रिय की उसी भूत से उत्पत्ति मानी है।

१—आकाश के रजोगुण अंश से वाक् (वाणी) की
२—वायु के रजोगुण अंश से पाणि (हाथों) की,
३—तेज के रजोगुण अंश से पाद (पैरों) की,
४—जल के रजोगुण अंश से उपस्थ (जननेन्द्रिय) की और
५—पृथ्वी के रजोगुण अंश से गुदा की उत्पत्ति होती है।

स्त्री-पुरुष के विषयानन्द का साधन इन्द्रिय उपस्थ कहलाती है। कर्म नाम क्रिया का है। ये पांच इन्द्रियाँ क्रिया का साधन हैं। अतः इन्हें कर्म-इन्द्रियाँ कहते हैं। क्रिया रजोगुण से होती है अतः भूतों के रजोगुण अंश से इनकी उत्पत्ति मानी।

पञ्चीकरण-प्रकार

**सवैया–भूत अपञ्चीकृत औ कारज–इतनी सूछम सृष्टि पिछान।
पञ्चीकृत भूतन तैं उपज्यो, स्थूल पसारो सारो भान॥
कारन सूछम थूल देह अरु, पंच कोस इन ही मैं जान।
करि विवेक लखि आतम न्यारो, मुंज इषीका तैं ज्यूं भान॥१५७॥**

अर्थात् अपञ्चीकृत भूत और उनका कार्य अन्तःकरण प्राण, ज्ञान-इन्द्रियाँ और कर्म-इन्द्रियाँ इतनी सूक्ष्मसृष्टि कहलाती है। सूक्ष्म-सृष्टि का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता। नेत्र-नासिका आदि गोलक तो इन्द्रियों के विषय (स्थान) हैं। गोलक में रहने वाली इन्द्रिय किसी इन्द्रिय का विषय नहीं। सूक्ष्म-सृष्टि की उत्पत्ति के बाद ईश्वर की इच्छा से स्थूल-सृष्टि के लिए भूतों का पंचीकरण हो गया।

प्रथम प्रकार—एक एक भूत के बराबर बराबर दो दो भाग हो करके फिर एक एक भाग के चार चार भाग हुए। पांचों भूतों का पहला आधा-आधा भाग ज्यों-का-त्यों रहा। आधे भाग के जो चार भाग थे; वे अलग रहे। बडे (अविभक्त) आधे भागों में अपने अपने भाग को छोड़कर मिलने से आधा भाग अपने से दूसरे चार भूतों का मिलकर पञ्चीकरण कहाता है।

दूसरा प्रकार—एक एक भूत के दो दो भाग हुए। पर वे बराबर बराबर नहीं। किंतु एक भाग चार अंश का और पांचवें अंश का एक भाग-इस प्रकार कम-ज्यादा दो दो भाग हुए। उनमें सब के अधिक भाग ज्यों-के-त्यों अलग रहे। पंच भूतों के कम जो पांच भाग उनके एक एक भाग के पांच पांच भाग करके अलग रहे अधिक (बड़े) पांच भागों में एक एक भाग मिलकर पंचीकरण होता है।

१—पहले प्रकार में एक भाग के चार भाग अलग रहे। आधे आधे भागों में अपने भाग को छोड़ कर मिले। २—दूसरे पक्ष में

न्यून (कम) भाग के पांच भाग अलग रहे। जो अधिक (बड़े) पांच भाग अपने भाग-सहित थे, उनमें मिलते हैं। १-पहले पक्ष में पञ्चीकृत भूतों में आधा अपना अंश और आधा दूसरों का अंश। २-दूसरे पक्ष में पञ्चीकरण करने से अपने इक्कीस अंश और दूसरों के चार अंश। दूसरे प्रकार की यह सुगमरीति है-एक एक भाग के पच्चीस पच्चीस भाग हों। इक्कीस इक्कीस भाग और चार भाग अलग

१-पहला प्रकार समझने की विधि—

["आकाश के पास आठ आम, वायु के पास आठ बादाम, तेज के पास आठ तरबूज, जल के पास आठ जामुनें और पृथ्वी के पास आठ पपीते हैं। आकाश ने एक आम वायु को दिया उससे एक बादाम ले लिया, तेज को एक आम देकर एक तरबूज ले लिया, जल को एक आम देकर एक जामुन ले ली और पृथ्वी को एक आम देकर एक पपीता ले लिया। आकाश के पास आठ ही फल रहे; चार तो निज के और चार दूसरों के पास से बदल कर लिये हुए। इसी प्रकार बाकी के भूतों ने भी अदला-बदली की। सभी के पास आठ-आठ ही फल रहे।

२-दूसरा प्रकार समझने की विधि—

आकाश के पास पच्चीस पैसे अमेरिका के, वायु के पास पच्चीस पैसे विलायत के, तेज के पास पच्चीस पैसे तिब्बत के, जल के पास पच्चीस पैसे जापान के और पृथ्वी के पास पच्चीस पैसे पाकिस्तान के हैं। आकाश ने अमेरिका का एक पैसा वायु को दिया, उससे एक पैसा विलायत का ले लिया, एक पैसा तेज को देकर तिब्बत का ले लिया, एक पैसा जल को देकर जापान का ले लिया और एक पैसा पृथ्वी को देकर पाकिस्तान का ले लिया इस प्रकार आकाश के २१ पैसे अपने और चार दूसरों से बदल कर लिये हुए मिलाकर पच्चीस के पच्चीस ही रहे। बाकी के भूतों ने इसी प्रकार अदला-बदली की। सभी के पास २५-२५ ही रहे, २१-२१ अपने और ४-४ बदल कर लिये हुए।] अनुवादक

हो गये। चार चार भागों में से एक एक भाग इक्कीस इक्कीस भागों में मिले अपने इक्कीसवें भाग को छोड़कर। इस प्रकार दो तरह का पंचीकरण हुआ। एक एक भूत में बाकी के चार मिला देने का नाम पंचीकरण है। जिन भूतों का पंचीकरण हो चुका हो वे पंचीकृत कहे जाते हैं।

इन पंचीकृत भूतों से इन्द्रियों का विषय स्थूल ब्रह्मांड पैदा हुआ। उस ब्रह्मांड में भूलोक भुवर्लोक, महर्लोक जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक; ये ऊपर के सात भुवन पैदा हुए। अतल, सुतल, पाताल, वितल, रसातल, तलातल और महातल; ये नीचे के सात लोक पैदा हुए। इन चौदह लोकों में जीवों के भोग के योग्य अन्न आदि और भोग के स्थान देव-मनुष्य पशु आदि शरीर पैदा हुए। यह संक्षेप से सृष्टि का निरूपण हुआ। माया के कार्यों का निरूपण करने में तो करोड़ों ब्रह्माओं की आयु बीत जाय तो भी माया के रचे पदार्थों का अंत नहीं आ सकता। यह बात बाल्मीकिजी ने अपने योगवासिष्ठ में अनेक इतिहासों से निरूपित की है। सवैये के दो चरणों का यह अर्थ हुआ।

पञ्चकोश-विचार

तीसरे चरण का अर्थः—इन ही में (माया और माया के कार्यों में) तीन शरीर एवं पांच कोश हैं। शुद्ध-सत्त्वगुण सहित माया ईश्वर का कारण शरीर है। मलिन-सत्त्व-गुण-सहित अविद्या-अंश जीव का कारण शरीर है। उत्तर शरीर के आरंभक पांच सूक्ष्मभूत, मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार, पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रिय। यह जीव का सूक्ष्मशरीर है। सब जीवों के सूक्ष्मशरीर ही मिल कर ईश्वर का सूक्ष्मशरीर हैं। संपूर्ण स्थूल ब्रह्माण्ड ईश्वर का स्थूलशरीर है। जीवों के व्यष्टि स्थूलशरीर तो प्रसिद्ध ही हैं।

इन तीन शरीरों में ही पाँच कोश हैं। कारण-शरीर को

आनंदमय कोश कहते हैं। विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय, ये तीन कोश सूक्ष्मशरीर में है। पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ और निश्चयरूप अंतःकरण की वृत्ति (बुद्धि) विज्ञानमयकोश है। पाँच ज्ञान-इन्द्रियों संकल्प-विकल्प अंतःकरण की वृत्ति (मन) मनोमय कोश कहलाता है। पाँच प्राण और पाँच कर्म-इन्द्रियाँ प्राणमयकोश है। स्थूल शरीर का नाम अन्नमयकोश है। इस प्रकार इन तीन शरीरों में पाँच कोश हैं।

ईश्वर के शरीर में ईश्वर के कोश† हैं और जीव के शरीर में

---

† ईश्वर का कारण शरीर—समष्टि अज्ञान है यही ईश्वर का आनन्दमय कोश कहलाता है।

ईश्वर का सूक्ष्म शरीर—समष्टि सूक्ष्म शरीर। इसमें ईश्वर के तीन कोश हैं—(१) विज्ञानमय, (२) मनोमय, (३) प्राणमय।

(१) विज्ञानमयकोश—दिक्पाल, वायु, सूर्य तथा अश्विनीकुमार-ये पाँच ईश्वर की ज्ञानेद्रियाँ और समष्टि बुद्धि (महत्तत्व) अथवा समष्टि बुद्धि—अभिमानी ब्रह्मारूप ईश्वर की बुद्धि—में मिलाकर ईश्वर का विज्ञानमय कोश है।

(२) मनोमय कोश—उक्त ईश्वरीय ज्ञानेन्द्रियों में समष्टि मन (अहंकार) या उसके अभिमानी चन्द्रमा रूप मन को जोड़ देने से मनोमय कोश बनता है।

(३) प्राणमय कोश—अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति और मृत्यु (यम) ये पांच ईश्वर की कर्म-इन्द्रियें हैं। इनमें समष्टि प्राण या प्राणअभिमानी देवता मिलाने से ईश्वर का प्राणमय कोश बनता है।

(४) अन्नमयकोश—समष्टि स्थूल सृष्टि ही ईश्वर का स्थूल शरीर है। यही ईश्वर का अन्नमय कोश है।

ईश्वर के उक्त पाँचों कोश भी जीव की दृष्टि से ही ब्रह्म-स्वरूप के आच्छादक हैं, ईश्वर की दृष्टि से नहीं। क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ और सदामुक्त है। अतः व्यक्ति कोशों से ब्रह्म का विवेक जीव के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही समष्टि कोशों से ब्रह्म का विवेचन भी आवश्यक है।

ज़ीव के कोश हैं। कोश नाम म्यान का है। म्यान जैसे तलवार को आच्छादित करती है; वैसे पाँच कोश भी आत्मा के स्वरूप को आच्छादित करते हैं। इसीलिए अन्नमय आदि कोश कहलाते हैं। अनेक साधारण बुद्धिवाले लोग अनात्मरूप पाँच कोशों में से किसी एक को आत्मा मानकर मुख्य साक्षी आत्मस्वरूप से विमुख ही रहते हैं। अतः अन्नमय आदि कोश आत्म-स्वरूप को आच्छादित करते हैं।

(अन्नमय कोश–आत्मवादी का मत)

उनमें से कुछ–एक पामर लोग विरोचन मत के अनुसार स्थूल शरीर–रूप अन्नमय कोश को ही आत्मा † कहते हैं। वे यह

---

† वेदान्तसार में सदानन्द ने चार्वाकों की कई कक्षाओं का उल्लेख किया है—कुछ शरीर को कुछ इन्द्रियों को, कुछ प्राणों को और कुछ मन को आत्मा मानते हैं। चर्वाकों के मत में बौद्धमत की भाँति चार ही भूत होते हैं—पृथ्वी, जल, तेज और वायु। इनके सम्मिश्रण से ही स्थूल शरीर की रचना होती है। इस शरीर से ही चैतन्य का तादात्म्य होने से यह शरीर ही आत्मा है। शरीर को आत्मा सिद्ध करने में प्रधानतया तीन युक्तियां है—

(१) अन्वयव्यतिरेक—शरीर होने पर ही चैतन्य का आविर्भाव होता है, अन्यथा नहीं। अन्न-पान के उपयोग से ही चेतना में उत्कर्ष है, अन्न–पान त्यागने से चेतना में ह्रास हो जाता है। अतः भूतों पर ही चैतन्य निर्भर है। शरीर चेतन है। यही आत्मा है।

(२) सार्वजनिक अनुभव—'मैं स्थूल हूँ' 'मैं' कृश हूँ' आदि अनुभव हमें बताते हैं कि स्थूल–कृश होनेवाला शरीर ही आत्मा है।

(३) आयुर्वेद पद्धति—माता–पिता के ब्राह्मी घृत आदि के सेवन से जो पुत्र उत्पन्न होगा, उसमें प्रखर प्रज्ञा का उदय होता हैं। दही–गोबर के मिश्रण से बिच्छू पैदा होता है। अतः स्पष्ट है कि भूतों की विशेष मात्राएं जब मिलती हैं, तब उनमें चैतन्य स्वतः अविर्भाव हो जाता है। जैसे कि मदिरा के साधन द्रव्यों में कुछ भी मादकता न होने पर भी मदिरा में

युक्ति देते हैं कि जिसमें अहंबुद्धि हो वह आत्मा है। यह अहं बुद्धि स्थूल शरीर में होती है। 'मैं मनुष्य हूँ' 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह प्रतीति सब को होती है। मनुष्यपन और ब्राह्मणपन स्थूल-शरीर में ही हैं। अतः स्थूलशरीर अहंबुद्धि का विषय होने से आत्मा है। अथवा जिसमें मुख्य प्रीति हो वह आत्मा है। स्त्री पुत्र, धन पशु आदि स्थूल शरीर के उपकारक हों तभी उनमें प्रीति होती है। यदि स्थूल शरीर के उपकारक न हों तो प्रीति नहीं होती। जिसके सम्बन्ध से दूसरे पदार्थों में प्रीति होती है, वही स्थूल शरीर मुख्यप्रीति का स्थान है। अतः स्थूल शरीर ही आत्मा है। स्थूल शरीर का वस्त्र, भूषण, अञ्जन, मञ्जन, नानाविध भोजन आदि से शृङ्गार-पोषण ही परम पुरुषार्थ है। यह है असुरस्वामी विरोचन का सिद्धान्त।

(इन्द्रिय-आत्म-वादी का मत)

कुछ लोग स्थूल शरीर को तो आत्मा नहीं मानते, पर स्थूल शरीर में जिनके होने से जीवन-व्यवहार होता है और जिनके न होने से मरण-व्यवहार होता है; वह आत्मा स्थूल शरीर से भिन्न है। जीवन और मरण इन्द्रियों के अधीन हैं। जितने समय तक इन्द्रियाँ शरीर में रहती हैं; उतने समय तक जीवन होता है और जब कोई इन्द्रिय नहीं रहती तब मरण हो जाता है। 'मैं देखता

पर्याप्त मादकता होती है-यह मादकता कहाँ से आई? उत्तर देना होगा कि उन द्रव्यों के सम्मिश्रण से। अतः भूतों का विशेषण सम्मिश्रण इस शरीर में होने से चैतन्य आया यही आत्मा है।

इस मत के निराकरण में ब्राह्मण बौद्ध और जैन सब एकमत है। कारण कि इनमें कुछ त्रुटियाँ ऐसी हैं, जिनसे संसार-यात्रा हो नहीं चल सकती। न्यायकुसुमाञ्जलि और न्यायमञ्जरी जैसे प्रौढ़ ग्रन्थों में चार्वाकमत का खण्डन ही अकाट्य युक्तियों से किया गया है।

हूँ' 'मैं सुनता हूँ' 'मैं बोलता हूँ' इस प्रकार अहंबुद्धि भी इन्द्रियों में होती है। इसलिए इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं। ऐसा कुछ लोग मानते हैं।

(प्राण–आत्म–वादी का मत)

हिरण्यगर्भ के उपासक प्राणों को ही आत्मा कहते हैं। वे यह युक्ति देते हैं कि जब मरने के समय मूर्छा होती है, तब उसके पुत्र आदि सम्बन्धी प्राण बाकी हों तो जीवित मानते हैं और प्राण बाकी न रहें तो मृत मानते हैं। शरीर में नेत्र इन्द्रिय न हो तो अन्धा, श्रोत्र न हो तो बहिरा, वाक् न हो तो गूंगा भी शरीर रहता है। इस प्रकार जो इन्द्रिय नहीं होती; उसके व्यापार के बिना भी शरीर रहता ही है, पर प्राणों के बिना तो उसी क्षण श्मशानतुल्य अमङ्गल भयङ्कर हो कर शरीर गिर जाता है। 'मैं देखता हूँ' 'मैं सुनता हूँ' इस प्रतीत से भी आत्मा इन्द्रियों से भिन्न ही सिद्ध होता है। क्योंकि "नेत्रस्वरूप मैं देखता हूँ और श्रवणस्वरूप मैं सुनता हूँ' यदि ऐसी प्रतीति होती हो तभी आत्मा इन्द्रियरूप सिद्ध हो। किन्तु "नेत्रवाला देखता हूँ और मैं श्रोत्रवाला सुनता हूँ"—ऐसी प्रतीत होती है। अतः इन्द्रियों से भिन्न ही आत्मा है।

सुषुप्ति में सब इन्द्रियों का अभाव होता है, तो भी प्राणों के होने से जीवन–व्यवहार होता है। अतः जीवन–मरण भी इन्द्रियों के अधीन नहीं, किन्तु स्थूल शरीर और प्राणों के वियोग को मरण कहते हैं। इसलिए जीवन–मरण प्राणों के अधीन है। वही आत्मा है। यह प्राण–आत्म–वादी का मत है।

(मन–आत्मा वादी का मत)

दूसरे कहते हैं कि प्राण जड हैं। अतः घट की भाँति अनात्मा हैं। बन्ध और मोक्ष मन के अधीन हैं। विषयों में आसक्त मन

बन्धन का कारण और विषय वासना से रहित मन मोक्ष का कारण होता है। मन का सम्बन्ध होने से ही इन्द्रियाँ ज्ञान का कारण हैं। मन के सम्बन्ध के बिना इन्द्रियों से ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए सब व्यवहारों का कारण मन है और वही आत्मा है। यह मन-आत्म-वादी की मान्यता है।

(बुद्धि-आत्म--वादी का मत)

†क्षणिक-विज्ञानवादी बौद्ध कहता है कि मन का व्यापार

---

† बौद्धों में योगाचार का यह मत है। इसके प्रवर्तक मैत्रेय नामक विद्वान हैं। इस सम्प्रदाय में असङ्ग, स्थिरमति, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और धर्मपाल जैसे दिग्गज विद्वान् हुए हैं। इनके मत में यह समस्त प्रपन्च विज्ञान के विविध परिणामों का आकार धारण करनेवाला विकल्पमात्र है। सभी विकल्प तीन प्रकार के हैं—(१) आलय विज्ञान, (२) क्लिष्टमन तथा (३) प्रवृत्ति विज्ञान।

(१) आलयविज्ञान—आलय विज्ञान से सब पदार्थों की उत्पत्ति और उसी में सब का विलय होता है। आलय विज्ञान का ही पालिग्रन्थों में 'भवङ्ग' नाम आया है। घट-पटाकार स्थूल ज्ञान को ही यदि आत्मा मानें तो वह सुषुप्ति मूर्च्छादि अवस्थाओं में नहीं रहता। अतः वहाँ आत्मा का नाश मानना पडेगा। अतः आलयरूप सूक्ष्मविज्ञान की कल्पना की गई। जो सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में भी है। जैसे सरस्वती का प्रवाह पृथिवी के अन्दर माना जाता है। उसी प्रकार विज्ञान की सूक्ष्मधारा हमारे उदर में अनन्त वासनाएँ लिये निरन्तर प्रवाहित रहती है। आलय विज्ञान का ही दूसरा नाम है—'विपाक'। कुशल और अकुशल कर्म वासनाओं के परिपाक से इसकी उत्पत्ति होती है।

(२) क्लिष्टमन-इसे 'मनन' भी कहते हैं। सर्वदा मनन करना ही क्लिष्ट मन का स्वभाव है। क्लिष्ट मन आलय विज्ञान के आश्रय से प्रवृत्त होता है।

(३) प्रवृत्ति विज्ञान-इसका नामान्तर है-विषय-विज्ञप्ति। चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे ही प्रवृत्ति विज्ञान कहते हैं

बुद्धि के अधीन है, क्योंकि बुद्धि का ही आकार मन होता है, अतः क्षणिक–विज्ञानरूप बुद्धि ही आत्मा है; मन नहीं। उनका यह अभिप्राय है:—सभी पदार्थ विज्ञान के ही आकार हैं। वह विज्ञानरूप प्रकाशरूप है और क्षण क्षण में विज्ञान के उत्पत्ति–विनाश होते रहते हैं। पूर्व विज्ञान के समान अन्य विज्ञान की उत्पत्ति होने पर पूर्व विज्ञान का नाश हो जाता है, वैसे ही तृतीय विज्ञान की उत्पत्ति और द्वितीय विज्ञान का नाश, चतुर्थ की उत्पत्ति तृतीय का नाश होता है। इस प्रकार नदी के प्रवाह की भाँति विज्ञान की धारा बनी रहती है। वह विज्ञान की धारा दो प्रकार की है, एक आलय–विज्ञान धारा और दूसरी प्रवृत्ति–विज्ञान धारा। 'अहं अहं' ऐसी विज्ञानधारा को आलयविज्ञान धारा कहते हैं। इसी का नाम बुद्धि है। "यह घट है" और "यह शरीर है" ऐसी विज्ञानधारा प्रवृत्ति–विज्ञान–धारा है। आलय–विज्ञान–धारा से प्रवृत्ति–विज्ञान-धारा की उत्पत्ति होती है। मन का स्वरूप भी प्रवृत्ति-विज्ञान-धारा में है। इसलिए आलय-विज्ञान-धारारूप बुद्धि का कार्य है। वह बुद्धि ही आत्मा है। आलय-विज्ञान-धारा के बाध का चिंतन करने से (अर्थात् प्रवृत्ति-विज्ञान धारा का कार्य होने से मिथ्या है ऐसा विचार करने से) निर्विशेष क्षणिक विज्ञान-धारा की स्थिति ही (अर्थात् कोई भी भिन्न भिन्न विज्ञान नहीं, पर एक ही क्षणिक विज्ञान की धारा वह रही है, इतना ही भान रहना) उनके मत में मोक्ष है। इस प्रकार विज्ञानवादी बुद्धि को ही क्षणिकरूप और स्वयंप्रकाशरूप कल्पित करके आत्मा कहते हैं।

(आनन्दमयकोश आत्मवादी का मत)

पूर्वमीमांसा के वार्तिककार भट्ट का यह मत है कि विद्युत (विजली) की भाँति क्षणिकरूप आत्मा नहीं। किंतु आत्मा स्थिर-

स्वरूप, जडस्वरूप और चेतनरूप है। इसका अभिप्राय यह है कि सुषुप्ति में से जागने के बाद मनुष्य कहता है "मैं जड़ हो करके सोया था" अतः आत्मा जड़रूप है। जागने पर स्मृति होती है, अज्ञात की स्मृति नहीं हुआ करती। सुषुप्ति के आत्मा स्वरूप से भिन्न दूसरा कोई साधन नहीं। अतः स्मृति का कारण सुषुप्ति में ज्ञान है। वह आत्मा का स्वरूप ही है। इस प्रकार खद्योत (जुगनूं-पटबीजना) की भाँति आत्मा प्रकाश और अप्रकाश रूप है। ज्ञानरूप होने से प्रकाशरूप तथा जडरूप होने से अप्रकाशरूप। वह प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप आनंदमयकोश है। क्योंकि सुषुप्ति में चेतन के आभास-सहित अज्ञान को आनन्दमयकोश कहते हैं। उसमें आभास तो प्रकाश रूप है और अज्ञान अप्रकाशरूप है। इसलिए भट्ट के मत में आनंदमयकोश ही आत्मा है।

माध्यमिक बौद्ध का मत आनंदमयकोश-आत्मवाद

शून्यवादी† बौद्ध कहता है कि आत्मा निरंश है। अतः एक ही आत्मा को प्रकाशरूप कहते नहीं बनता। पर जुगनूं का एक अंश प्रकाशरूप है और दूसरा अप्रकाशरूप। इसकी भांति अंशरहित

---

† शून्यवाद--'नागार्जुन' नाम के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् इस मत के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है--'माध्यमिककारिका' हमारे प्रायः सभी विद्वान् शून्य शब्द का अर्थ करते आये हैं समस्त सत्ता का निषेध। किन्तु उनके ग्रन्थों में 'शून्य' शब्द एक अनिर्वचनीय तत्त्व के लिए प्रयुक्त हुआ पाया जाता है। अर्थात् किसी पदार्थ का निर्वचन चार प्रकार से हो सकता है सत्, असत् उभय और अनुभय रूप से। परन्तु परम तत्त्व का इन कोटियों से निरूपण नहीं हो सकता। अतः उसके लिए शून्य शब्द का प्रयोग किया गया है। माध्यमिककारिका में कहा है—

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मक्तं सत्त्वं माध्यमिका विदुः॥

आत्मा को उभयरूप मानना युक्ति-युक्त नहीं। उभयरूप की सिद्धि के लिए आत्मा को अंशसहित ही मानना पड़ेगा। जो अंशवाले घट आदि पदार्थ हैं, वे उत्पत्ति-विनाश-शील हैं। वैसे आत्मा को भी उत्पत्ति-विनाश-वाला मानना होगा। जो उत्पत्ति-विनाश-वाला पदार्थ होता है, वह उत्पत्ति से पहले और नाश के बाद असत् होता है। जो आदि और अंत में असत् होता है, वह बीच में भी सत् नहीं होता, किंतु बीच में भी असत् ही होता है। इसलिए आत्मा असत्रूप है वैसे ही आत्मा से भिन्न सभी पदार्थ उत्पत्ति-विनाश हैं। अतः असत्रूप हैं। इस प्रकार आत्मा और अनात्मा समस्त पदार्थ असत्रूप होने से एक शून्य ही परम तत्त्व है। यह शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध का मत है।

ये भी अज्ञानरूप आनंदमयकोश का ही प्रतिपादन करते हैं। क्योंकि अज्ञान तीन रूपों से प्रतीत है। १-अद्वैत शास्त्र के संस्कारों से रहित मूढ को तो जगत्रूप परिणाम को प्राप्त हुआ अज्ञान सत्य प्रतीत होता है। २-अद्वैतशास्त्र के अनुसार युक्तिनिपुण पंडित को अज्ञान और उसका कार्य जगत् सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय प्रतीत होता है। ३-ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त हुए जीवन्मुक्त विद्वानों को कार्यसहित अज्ञान तुच्छरूप प्रतीत होता है। तुच्छ, असत् और शून्य, इन तीनों शब्दों का एक ही अर्थ है। जीवन्मुक्त को तुच्छरूप प्रतीत होनेवाले अज्ञान में मोहित हो करके शून्यवादी परम पुरुषार्थ को नहीं जान सकता। किन्तु तुच्छरूप आनंदमयकोश को ही आत्मा मान बैठा है।

(प्रभाकर और नैयायिकों के मत में आनंदमयकोश आत्मा)

पूर्वमीमांसा का एकदेशी प्रभाकर और नैयायिक यह कहते हैं कि आत्मा शून्यरूप नहीं। क्योंकि हम उनसे पूछते हैं:-'आपने शून्यरूप का अनुभव किया है या नहीं ?" यदि कहें कि 'शून्य का

अनुभव किया है' तो वह आत्मा शून्य से विलक्षण सिद्ध हो जायगा। यदि कहें--"शून्यरूप का अनुभव नहीं किया" तो शून्य नहीं-यह सिद्ध हुआ। इस रीति से शून्य से विलक्षण आत्मा है। उसमें मनके संयोग से ज्ञान होता है। उस ज्ञान गुण के कारण ही आत्मा को चेतन कहते हैं। स्वरूप से तो आत्मा जड़ है। सुख दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म आदि गुण आत्मा में हैं। इनके मत में भी आनन्दमयकोश ही आत्मा है। विज्ञानमयकोश में जो बुद्धि है, वह आत्मा का ज्ञान गुण कहलाती है। क्योंकि आनंदमय कोश में चेतन गूढ़ है; विवेक हीन को प्रतीत नहीं होता। प्रभाकर और नैयायिक आत्मा को सुषुप्ति में ज्ञानहीन मानकर स्वरूप से जड़ कहते हैं। इसलिए गूढ़ चेतन आनन्दमयकोश में ही उन्हें आत्मभ्रांति है। आत्मस्वरूप नित्य ज्ञान को तो जीव में मानते नहीं किंतु अनित्यज्ञान मानते हैं। वह अनित्यज्ञान सिद्धांत में अंतःकर की वृत्ति बुद्धिरूप है। इस प्रकार प्रभाकर तथा नैयायिकों के मत में आनंदमयकोश आत्मा है और बुद्धि उसका गुण है।

इनका मत भी ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञान से भिन्न जो जड़ वस्तु घट आदि हैं, वे अनित्य हैं। वैसे आत्मा भी ज्ञान स्वरूप न हो तो घट आदि की भाँति जड़ होने से अनित्य हो जायगा। वेदांतवाक्यों पर विश्वास न रखनेवाले अनेक बहिर्मुख लोग पांच कोशों में से ही किसी एक पदार्थ को आत्मा मान बैठे हैं। मुख्य आत्मस्वरूप साक्षी को नहीं जान पाये। इसलिए अन्नमय आदि कोश आत्मा के आच्छादक होने से कोश कहे जाते हैं। जैसे जीव के पांच कोश जीव के यथार्थ स्वरूप साक्षी को आच्छादित करते हैं, वैसे ही ईश्वर के समष्टि पांच कोश ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को आच्छादित करते है। क्योंकि ईश्वर का यथार्थ स्वरूप तो तत्पद का लक्ष्य है। उसे छोड़कर कुछ लोग मायारूप आनंदमयकोश-विशिष्ट तत्पद का वाच्य जो अंतर्यामी उसे ही परम तत्त्व कहते हैं। वैसे

ही हिरण्यगर्भ, वैश्वानर, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, गणेश, देवी, सूर्य आदि से लेकर तलवार, कुदाल, पीपल, आक, बांस, आदि पदार्थों तक में परमात्मपन की भ्रांति किये बैठे हैं।

यद्यपि सभी पदार्थों में लक्ष्यभाग परमात्मा से भिन्न नहीं, फिर भी उस उपाधि-सहित को परमात्मा मानना भ्रान्ति ही है। पांच कोशों से आवृत जीव-ईश्वर को परमार्थ स्वरूप से विमुख हो, देह आदि में आत्म भ्रान्ति से पुण्य-पाप कर्म करते हैं। अन्तर्यामी से लेकर बांस तक को ईश्वररूप मान, उनकी आराधना से सुख चाहते हैं। जैसी उपाधि का आराधना करते हैं, उसके अनुसार ही उन्हें फल मिलता है। क्योंकि कारण-सूक्ष्म-स्थूल सारा प्रपञ्च ईश्वर के तीन शरीरों के अन्तर्भूत है। इसमें उपासना के अनुसार फल भी सभी से प्राप्त हो जाता है। तथापि ब्रह्मज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता। यदि मोक्ष की इच्छा हो तो विवेक से जीव-ईश्वर के स्वरूप को पांच कोशों से अलग करके जानना चाहिए। जैसे मूंज और इषीका दोनों मिली होती हैं। उन्हें तोड़कर अलग करते हैं; वैसे ही विवेक से जीव-ईश्वर के स्वरूप को पांच कोशों से अलग करके जानना चाहिए। सवैये का यह अर्थ हुआ।

अहंग्रह-ध्यान-प्रकार

स्थूल देह को भान न होवै, स्वप्न मांहि लखि आतमज्ञान।
सूछम ज्ञान सुषुप्ति समै नहिं, सुखस्वरूप ह्वै आतमभान॥
भासै, भये समाधि अवस्था, निरावरन आतम, न अज्ञान।
ऐसै तीन देह व्यभिचारी, आतम अनुगत न्यारो जान॥

अर्थात् स्वप्न अवस्था में स्थूल देह का भान नहीं होता और आत्मा का भान होता है। ऐसे ही सुषुप्ति-अवस्था में सूक्ष्म शरीर का ज्ञान नहीं होता और सुखस्वरूप आत्मा का स्वयं प्रकाशरूप

से भान (प्रतीति) होता है। यदि सुख का ज्ञान सुषुप्ति में न होता हो तो जागने पर "मैं सुख-पूर्वक सोया" ऐसी स्मृति नहीं होनी चाहिए, किन्तु होती है; अतः सुषुप्ति में सुख का ज्ञान होता है। वह सुख विषय जन्य तो नहीं हो सकता; किन्तु आत्मस्वरूप ही है। आत्मा स्वयंप्रकाश है। इसलिए सुखस्वरूप आत्मा स्वयं-प्रकाशरूप से सुषुप्ति में प्रतीत होता है।

निदिध्यासन के फल रूप निर्विकल्प-समाधि में निरावरण (अज्ञानकृत आवरण-रहित) आत्मा भासता है और अज्ञान (कारण-शरीररूप अज्ञान) नहीं भासता। इस प्रकार तीनों देह व्यभिचारी हैं। अर्थात् एक एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में नहीं भासते। पर आत्मा अनुगत है, सभी अवस्थाओं में भासता है। अतः व्यापक है। इस विवेक से तीनों शरीरों से आत्मा को अलग समझ लें।

१—स्थूल शरीर अन्नमयकोश है। २—कारण-शरीर आनन्द-मयकोश है। सूक्ष्मशरीर में प्राणमय, मनोमय, और विज्ञान-मय तीन कोश हैं। इसी कारण तीनों शरीरों के विवेक से पाँच कोशों का ही विवेक होता है। जैसे जीव का स्वरूप पाँच कोशों से अलग है, वैसे ईश्वर का स्वरूप भी समष्टि पांच कोशों से अलग है। चौथी तरङ्ग में चतुर्विध आकाश का दृष्टान्त देकर जीव-ईश्वर के लक्ष्यस्वरूप का विवेक विस्तार पूर्वक कह आये हैं। षष्ठ तरङ्ग में अस्ति-भाति-प्रिय रूप के निरूपण तथा महावाक्यों के अर्थनिरूपण के अवसर पर आत्मा के परमार्थस्वरूप का प्रतिपादन करेंगे। अतः यहाँ संक्षेप से ही आत्मविवेक कहा है।

इस प्रकार पाँच कोशों से आत्मा को अलग जानने पर भी कृत्यकृत्यता नहीं होती। किन्तु जीव-ब्रह्म के अभेद निश्चय के लिए फिर विचार की कर्तव्यता बाकी रह जाती है। कर्तव्यता का अभाव-

स्वरूप जो कृत्यकृत्यता; उसकी सिद्धि के लिए महावाक्यों के अर्थ का उपदेश करते हैं:—

पञ्चकोसतैं आतम न्यारो, जानि सुजानहु ब्रह्म स्वरूप।
तातैं भिन्न जु दीखै सुनिये, यौ मानहु मिथ्या भ्रम-कूप॥
अधिष्ठान मिथ्या न बिगारै, स्वप्नै भीख न निर्धन भूप।
सब कुछ कर्त्ता तऊ अकर्ता, तव अस अद्भुत रूप अनूप॥

अर्थात् हे शिष्य! पाँच कोशों से आत्मा को अलग जान कर उसे ब्रह्मरूप समझो।

शङ्का—आत्मा पुण्य-पाप करता है। उनसे स्वर्ग-नरक और मृत्युलोक के अनेक प्रकार के सुख-दुःख भोगने पड़ने हैं। इनकी ब्रह्म से एकता नहीं बन सकती?

इसका समाधान "तातैं भिन्न जु दीखै" आदि तीन पदों से करते हैं। उस ब्रह्मरूप आत्मा से भिन्न जो कुछ देखने और सुनने में आता है—शास्त्रों में नरक-स्वर्ग पुण्य-पाप आदि-वह सब मिथ्याभ्रम हैं, ऐसा समझो। मिथ्या वस्तु अधिष्ठान का कुछ बिगाड़ नहीं सकती। जैसे स्वप्न में मिथ्या भीख मांगने से राजा दरिद्रो नहीं हो सकता। मरूस्थल के जल से भूमि गीली नहीं हो सकती। मिथ्या साँप के विष से रस्सी विषाक्त नहीं हो सकती। अतः सब कछु कर्ता=सम्पूर्ण (सभी) मिथ्या शुभ और अशुभ क्रियाओं का कर्ता है। तऊ=तो भी अकर्ता=परमार्थ से कर्ता नहीं। यह तव=तेरा अद्भुत=आश्चर्यरूप अनूप=उपमारहित है।

भाव यह है कि ब्रह्म से भिन्न तेरे स्वरूप में स्थूल-सूक्ष्म शरीर और उनकी शुभाशुभ क्रियाएँ एवं फल जन्म-मरण स्वर्ग-नरक सुख-दुःख सब अविद्या से कल्पित हैं। उस कल्पित सामग्री से

तेरा ब्रह्मभाव बिगड़ नहीं सकता। इसलिए ज्ञान से पहले भी आत्मा ब्रह्मस्वरूप ही है। तीनो कालों से उससे शरीर-धर्मों का सम्बन्ध नहीं। किन्तु आत्मा सदा ही नित्यमुक्त है। उसका ब्रह्म से कदापि भेद नहीं।

शङ्का—यदि आत्मा सदा ही नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूप है तो श्रवण आदि ज्ञान के साधन निष्फल हो जायँगे। समाधानः—

इन्दव छन्द—

नाहिं खपुष्प-समान प्रपञ्च तु, ईस कहा कर्ता जु कहा है।
साछ्य नहीं इम साछिस्वरूप न, दृश्य नहीं दृक काहि जनावै॥
बन्ध हु होई तु मोच्छ बनै अरु, होय अज्ञान तु ज्ञान नसावै।
जानि यही करतव्य तजै सब, निश्चल होत हि निश्चल पावै॥

अर्थात् जीवन्मुक्त विद्वान् की दृष्टि में अज्ञान और उसका कार्य तुच्छ है। अब तू जीवनमुक्त का निश्चय सुन। यह प्रपञ्च खपुष्प-समान (आकाश के फूल की भांति) है ही नहीं। अतः इसका कर्त्ता ईश्वर भी नहीं। साक्षी का बिषय अज्ञान आदि साक्ष्य कहलाते हैं; जब साक्ष्य ही नहीं तो साक्षी कहाँ से हो? ऐसे ही दृश्य का प्रकाशक दृक् कहा जाता है। और प्रकाश योग्य देह आदि को दृश्य कहते हैं। जब देह आदि दृश्य ही नहीं तो दृक् कहाँ से हो? यद्यपि केवल कूटस्थ चेतन को साक्षी और दृक् कहते हैं, उसका निषेध हो नहीं सकता। तो भी साक्ष्य की अपेक्षा से दृक् नाम पड़ा है। साक्ष्य और दृश्य का अभाव है। अतः साक्षी और दृक् नाम का निषेध हो सकता है, स्वरूप का नहीं। बन्ध हो तो बन्ध की निवृत्तिरूप मोक्ष हो। बन्ध ही नहीं, अतः मोक्ष भी नहीं। अज्ञान हो तो ज्ञान से उसका नाश हो। अज्ञान है नहीं; अतः उसका नाशक ज्ञान भी नहीं। यह जानकर कर्तव्य तजै="मुझे

यह करने योग्य है" यह बुद्धि छोड़ दे। क्योंकि यह लोक और परलोक तुच्छ है। उनके लिए कुछ करना-धरना नहीं। आत्मा में बन्ध नहीं; अतः मोक्ष के लिए भी कुछ करना-धरना नहीं। इस प्रकार आत्मा को नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूप जान करके जब निश्चल हो जाता है—सब कर्तव्य छोड़ देता है—तब निश्चल=अक्रिय ब्रह्मस्वरूप विदेह मोक्ष को प्राप्त होता है।

अभिप्राय यह है:—यद्यपि आत्मा ज्ञान से पहले भी नित्य-मुक्त ब्रह्मस्वरूप ही है, पर ज्ञान से पहले आत्मा को मिथ्या कर्ता-भोक्ता मान करके सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए अनेक साधन करने पड़ते हैं। जिनसे क्लेश ही प्राप्त होता है। जब उत्तम आचार्य मिल जाता है तो वेदान्त वाक्यों का उपदेश करता है। उन वेदान्त वाक्यों के श्रवण से ऐसा ज्ञान होता है कि "मैं कर्ता-भोक्ता नहीं; किन्तु मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ। अतः मुझे कुछ भी कर्तव्य (करना-धरना) नहीं।" यह जान लेना ही श्रवण आदि का फल है। ब्रह्म की प्राप्ति वेदान्तश्रवण का फल नहीं। क्योंकि ब्रह्म अपना स्वरूप है। अतः नित्यप्राप्त है।

यही चिह्न अज्ञान को, जो माने कर्तव्य।
सोई ज्ञानी सुघर नर, नहिं जाकूं भवितव्य ॥ १६१ ॥

अर्थात् जो कर्तव्य मानता है; वही अज्ञान का चिह्न है। जिसे भवितव्य नहीं=जो अपने स्वरूप से दूसरा नहीं होना चाहता, वह नर ज्ञानी है।

इन्दव छन्द

एक अखण्डित ब्रह्म असङ्ग, अजन्म अदृश्य अनूप अनामैं।
मूल अज्ञान न सूछम थूल, समष्टि न व्यष्टिपनो नहिं तामैं ॥
ईस न सूत्र विराट न प्राज्ञ न, तैजस विस्व-स्वरूप न जामैं।

भोग न जोग न बन्ध न मोछ न, नहिं कछु वामैं रु है सब वामैं ॥
जाग्रत मैं जु प्रपञ्च प्रभासत, सो सब बुद्धि–विलास बन्यो है।
ज्यूं सुपने महिं भोग्य न भोग, तऊं इक चित्र विचित्र जन्यो है।
लीन सुषुपतिमैं मति होत हि, भेद भगै इक रूप सुन्यो है;
बुद्धि रच्यो जु मनोरथमात्र सु, निश्चल बुद्धि प्रकाश भन्यो है॥

सवैया छन्द

जाके हिये ज्ञान उजियारो, तम अन्धियारो खरो विनास।
सदा असङ्ग एकरस आतम, ब्रह्मरूप सो स्वयं प्रकास॥
ना कछु भयो न है नहिं ह्वै है, जगत मनोरथमात्र विलास।
ताको प्राप्ति निवृत्ति न चाहत, ज्यूं ज्ञानी के कोऊ न आस॥
देखै सुनै, न सुनै न देखै, सब रस गहै रु देत न स्वाद।
सूंघि परसि परसै न न सूंघै, बैन न बोलै करै विवाद॥
ग्रहि न ग्रहै मल तजै न त्यागे, चलै नहीं अरु धावत पाद।
भोगै युवति सदा संन्यासी, सिष लखि यह अद्भुत सम्बाद॥

इसका यह अभिप्राय है:—

निज विषयनमैं इन्द्रिय वर्तै, तिनतै मेरो नाहीं सङ्ग।
मैं इन्द्रिय नहीं मम इन्द्रिय नहिं, मैं साछी कूटस्थ असङ्ग॥
त्यागहुं विषय कि भोगहुं इन्द्रिय, मोकूं लगै न रञ्चक रङ्ग।
यह निश्चय ज्ञानी को जातैं, कर्ता दीखै करै न अङ्ग॥ १६६॥

इस प्रकार आचार्य ने शिष्य को गोपनीय तत्त्व का उपदेश दिया। तो भी शिष्य का मुख अत्यन्त प्रसन्न न देखकर समझ लिया गया कि "शिष्य कृतार्थ नहीं हुआ"। यदि कृतार्थ होता तो

उसका मुख अप्रसन्न न होता। इसलिए दुबारा स्थूलदृष्टि को उपदेश देते हैं।

लयचिन्तन (सवैया छन्द)

माटी को कारज घट जैसै, माटी ताके बाहर माँहि।
जलतैं फैन तरङ्ग बुदबुदा, उपजत जलतैं जुदै सु नाहिं॥
ऐसे जो जाको है कारज, कारनरूप पिछानहु ताहिं।
कारन ईस सकल को 'सो मैं' लयचिंतन जानहु विध याहि॥

अर्थात् जैसे मिट्टी के कार्य के बाहर–भीतर मिट्टी है। इससे मिट्टी के सब कार्य मिट्टी स्वरूप ही होते हैं। फेन (झाग) आदि जलके कार्य जलरूप ही हैं। इस प्रकार जो जिसका कार्य होता है वह अपने कारण–स्वरूप से भिन्न नहीं होता। किंतु कार्य–कारण–स्वरूप ही होता है। "वह ईश्वर मैं ही हूँ" ऐसा समझकर के तू †लयचिंतन कर।

लयचिंतन का संक्षेप से क्रमः—

सारा स्थूल ब्रह्मांड पंचीकृत भूतों का कार्य है। उसमें जो पृथ्वी का कार्य वह पृथ्वीस्वरूप और जो जल का कार्य वह जल, स्वरूप है। इसी प्रकार जिस भूत का जो कार्य है, वह उसी का स्वरूप है। सारा स्थूल ब्रह्मांड पंचीकृत भूतों का स्वरूप है। वैसे ही पंचीकृत भूत भी अपंचीकृत भूतों का कार्य है। अतः पंचीकृत भूत भी अपंचीकृत भूतों का स्वरूप ही है; भिन्न नहीं। अंतःकरण आदि सूक्ष्म सृष्टि भी अपंचीकृत भूतों का स्वरूप है; क्योंकि वह अपंचीकृत

---

† लय चिन्तन—कार्य का कारण में विलयचिन्तन पञ्चीकरण ग्रन्थ में श्रीसुरेश्वराचार्य ने विस्तार से कहा है। जिस की चर्चा गत १५३ वें पद्य की व्याख्या में की जा चुकी है।

भूतों का कार्य है। अंतःकरण सब भूतों के सत्त्वगुण का कार्य है। अतः सत्त्वगुण स्वरूप ही है। भूतों के रजोगुण-अंश के कार्य प्राण रजोगुण का स्वरूप ही हैं। मन-इन्द्रिय पृथ्वी के रजोगुण अंश का कार्य है। अतः पृथ्वी के रजोगुण का स्वरूप ही है। घ्राण-इन्द्रिय पृथ्वी के सत्त्वगुण का कार्य है, वह सत्त्वगुण-स्वरूप है। ऐसे ही रसना और उपस्थ जल के सत्त्वगुण और रजोगुण का स्वरूप हैं। नेत्र और पैर तेज के सत्त्वगुण और रजोगुण के स्वरूप हैं। त्वक् और हाथ वायु के सत्त्वगुण और रजोगुण का स्वरूप हैं। श्रोत्र और वाक् आकाश के सत्त्वगुण और रजोगुण के स्वरूप हैं। इस प्रकार समस्त सूक्ष्मसृष्टि अपंचीकृत भूतों का स्वरूप है।

इस चिंतन के बाद अपंचीकृत भूतों का भी लयचिन्तन करे। पृथ्वी जल का कार्य है, अतः जल स्वरूप है। जल तेज का कार्य है, वह तेज स्वरूप है। तेज वायु का कार्य है, वह वायु-स्वरूप है। वायु आकाश का कार्य है वह आकाश-स्वरूप है। आकाश तमोगुण प्रधान प्रकृति का कार्य है, वह प्रकृतिस्वरूप है। प्रकृति माया की अवस्थाविशेष का नाम है। अतः प्रकृति माया स्वरूप है। एक ही वस्तु के प्रधान प्रकृति, माया, अविद्या, अज्ञान और शक्ति ये नाम हैं। सृष्टि के उपादानयोग्य तमोगुण-प्रधान-स्वरूप को † प्रकृति कहते हैं। जैसे देश-काल आदि सामग्री के बिना दुर्घट (जिनका होना कठिन हो) पदार्थों की उत्पत्ति इन्द्रजाल से हो जाती है। वहां इन्द्रजाल को माया कहेंगे। वैसे ही असंग अद्वितीय ब्रह्म में इच्छा आदि दुर्घट हैं। उन्हें पैदा करने के कारण माया कही जाती है। स्वरूप को आच्छादित करती है। अतः अज्ञान है। ब्रह्मविद्या से

† प्रकृति--प्रकृष्टा, कृतिः=कार्यं यस्याः, प्रकरोतीति वा प्रकृतिः। जगद्रूप प्रकृष्ट जिसका कार्य है अथवा जगत् को प्रकृष्टरूप से जो करती है उसका नाम प्रकृति है।

नष्ट हो जाने से अविद्या कही जाती है। कभी स्वतंत्र नहीं रह सकती, किन्तु चेतन के आश्रित ही रहती है। अतः शक्ति भी कहते हैं। इस प्रकार प्रकृति आदि प्रधान के ही भेद हैं। अतः प्रधानरूप हैं। वह प्रधान ब्रह्मचेतन की शक्ति है। जैसे पुरुष में सामर्थ्यरूप पुरुष से भिन्न नहीं। वैसे ही चेतन में प्रधानरूप शक्ति ब्रह्मचेतन से †भिन्न नहीं। इस प्रकार सब अनात्म पदार्थों का ब्रह्म में लय-चिन्तन करके "वह अद्वय ब्रह्म मैं हूँ" यह चिन्तन करे।

जिसे महावाक्यों का विचार करने पर भी बुद्धि की मन्दता आदि किसी ‡प्रतिबन्धक से अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता, उसके लिए यह चिन्तनरूप ध्यान कहा है। ध्यान और ज्ञान में इतना

---

† यद्यपि ब्रह्म की शक्ति को ब्रह्म से भिन्न नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अद्वैत श्रुतियों का विरोध होगा। यदि ब्रह्म से अभिन्न कहें तो वह शक्ति ब्रह्म की है—ऐसा भेद-व्यवहार सङ्गत न होगा। तथापि शक्ति का ब्रह्म से कल्पित भेद और वास्तविक अभेद माना जाता है। जैसे रज्जु में में कल्पित सर्प की सत्ता रज्जु की सत्ता से पृथक् नहीं। वैसे ही ब्रह्म की शक्ति ब्रह्म से भिन्न नहीं। कल्पित भेद लेकर 'ब्रह्म की शक्ति' ऐसा भेद-व्यवहार भी बन जाता है।

‡ प्रतिबन्धक—विद्यारण्यस्वामी ने पञ्चदशी में लिखा है—

पुनःपुनर्विचारेऽपि　　त्रिविधप्रतिबन्धतः।
न वेत्ति तत्त्वमित्येतद्वार्तिके सम्यगीरितम् ॥
(ध्यानदीप० ३८)

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत् तद्धि बंधपरिक्षयात्।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा ॥
(सम्बन्धवार्तिक २९४)

अतीत वर्तमान और भावी तीन प्रकार के प्रतिबन्धक होते हैं। इन प्रतिबन्धकों के रहने पर बार-बार विचार करने पर भी ज्ञान नहीं होता। जब

भेद है। ज्ञान प्रमाण और प्रमेय के अधीन है; पुरुष की इच्छा के अधीन नहीं। †ध्यान विधि के एवं पुरुष की इच्छा, विश्वास और हठ के अधीन है। जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रमाण नेत्र और प्रमेय घट आदि हैं। वहाँ नेत्र और घट का सम्बन्ध होने पर पुरुष की इच्छाके बिना भी घट का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। भाद्रपद की शुक्ला चतुर्थी के दिन चन्द्रदर्शन का निषेध है, विधि नहीं। पुरुष को यह इच्छा होती है कि "मुझे आज चन्द्रदर्शन न हो" तो भी किसी प्रकार यदि नेत्र-प्रमाण का प्रमेय-चन्द्र से सम्बन्ध हो जाय तो चन्द्र का प्रत्यक्षज्ञान अवश्य ही होता है। अतः प्रमाण और प्रमेय के अधीन ज्ञान है; विधि और इच्छा के अधीन नहीं।

"शालिग्राम विष्णुरूप है" जो यह ध्यान करता है; उसे उत्तम फल मिलता है। यहाँ शास्त्र प्रमाण से विष्णु को तो चतुर्भुजमूर्ति, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, लक्ष्मी-सहित जानता है। नेत्र प्रमाण से

सब प्रतिबन्धक निवृत्त हो जाते हैं तब ज्ञान हो जाता है। वर्तमान प्रतिबन्धक अनेक हैं--

प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः॥
(ध्या० दी० ४३)

वर्तमान प्रतिबन्धहैं—विषयासक्ति, प्रज्ञा की मन्दरता, कुतर्क विपरीत मत में दुराग्रह। नष्ट धन, धाम, आदि का निरन्तर स्मरण—अतीत प्रतिबन्धक है। ब्रह्मलोकादि की इच्छा भावी प्रतिबन्धक है।

† ध्यान एक मानस क्रिया है। जिसे पुरुष चाहे करे या न करे या अन्यथा करे। सर्वथा ध्यान पुरुष की इच्छा के अधीन है। किन्तु ज्ञान के लिए यह बात नहीं; वस्तु के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष आदि सामग्री के होमे पर ज्ञान होगा ही। चाहे पुरुष की इच्छा न भी हो। अतः ज्ञान वस्तु के अधीन है।

शालिग्राम को शिला जानता है। फिर भी विधि, विश्वास और इच्छा से "शालिग्राम विष्णु है" यह ध्यान होता है पर यह ध्यान अनेक प्रकार का है।

कहीं तो किसी वस्तु का अन्यरूप से ध्यान। जैसे शालिग्राम का विष्णुरूप से ध्यान। इसे प्रतीकध्यान कहते हैं। जहाँ वैकुण्ठलोक-वासी विष्णु का शङ्ख-चक्र-आदि सहित चतुर्भुजमूर्तिरूप से ध्यान है। वहाँ किसी का दूसरे रूप से ध्यान नहीं। किन्तु ध्येयरूप के अनुसार यह ध्यान है। बैकुण्ठवासी विष्णु का स्वरूप प्रत्यक्ष तो है नहीं। केवल शास्त्र से जानते हैं। शास्त्र ने शंख-चक्र आदि सहित ही विष्णु का स्वरूप कहा है। अतः ध्येय स्वरूप के अनुसार ही यह ध्यान है। विधि, विश्वास और इच्छा के विना ध्यान नहीं होता। "यह उपासना करे' ऐसा पुरुष का प्रेरक वचन विधि कहलाती है। उस वचन में जो श्रद्धा है; उसे विश्वास कहते हैं। अंतकरण की कामनारूप रजोगुण की वृत्ति इच्छा है। ये तीन कारण ध्यान के हैं ज्ञान के नहीं। ध्यान हठ से होता है। ज्ञान में हठ की आवश्यकता नहीं। क्योंकि निरंतर ध्येयाकार चित्त की वृत्ति को ध्यान कहते हैं। जब वृत्ति में विक्षेप होता है तब हठ से वृत्ति को स्थिर करते हैं। ज्ञानरूप अंतःकरण की वृत्ति से तत्काल आवरण का भङ्ग हो जाने से वृत्ति की स्थिरता का उपयोग नहीं। इसलिए हठ की जरूरत नहीं। वैकुण्ठवासी चतुर्भुज विष्णु के ध्यान की भांति "मैं ब्रह्म हूँ" यह ध्यान भी ध्येय के अनुसार है, प्रतीक नहीं। परन्तु यह अहंग्रह ध्यान है। ध्येयस्वरूप का अपने से अभेद चिंतन अहंग्रहध्यान कहलाता है। जिस पुरुष को अपरोक्ष-ज्ञान नहीं होता और वेद की आज्ञारूप विधि में विश्वास करके हठ से निरंतर "मैं ब्रह्म हूँ" इस वृत्ति की स्थिरतारूप †अहं

† यद्यपि अहंग्रह ध्यान का विषय ब्रह्म वास्तविक नहीं; अपितु मनःकल्पित

ग्रहध्यान करता है, उसे भी ज्ञान प्राप्त होने के बाद मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रणव-उपासना की विधि

ध्यान अहंग्रह प्रनव रूप को, कह्यो सुरेश्वर श्रुतिअनुसार।
अच्छर प्रनव ब्रह्म मम रूप सु, यूं अनुलव निजमति गतिधार॥
ध्यान–समान आन नहिं याके, पंचीकरन प्रकार विचार।
जो यह करत उपासन सो मुनि, तुरत नसै संसार अपार॥

अर्थात् हे शिष्य! प्रणव=ओंकार के स्वरूप का अहंग्रह–ध्यान मांडूक्य, प्रश्न आदि श्रुति के अनुसार सुरेश्वराचार्य ने कहा है। उस की संक्षिप्त विधि यह है:—"प्रणव अक्षर ब्रह्मस्वरूप है" "वह प्रणवरूप ब्रह्म मैं हूँ" इस प्रकार अनुलव=क्षणमात्र अंतराय–रहित अपनी बुद्धि की गति=वृत्ति को स्थिर कर। इसके समान कोई दूसरा ध्यान नहीं। इस ध्यान की विशेष विधि (रीति) सुरेश्वरकृत पंचीकरण नामक ग्रन्थ में देख लेनी चाहिए।

यद्यपि प्रणव–उपासना का वर्णन बहुत-सी उपनिषदों में आता है। पर विशेषतः मांडूक्य उपनिषद् में है। उसके व्याख्यान में भाष्यकार और आनंदगिरि ने उसकी रीति स्पष्ट लिखी है। वही

है। फिर तो उस कल्पित ब्रह्म को विषय करनेवाली वृत्ति भी भ्रमरूप ही होगी, यथार्थ नहीं। भ्रमज्ञान से वस्तु की प्राप्ति नहीं हुआ करती। तथापि कुछ भ्रम इस प्रकार के होते हैं, जिन से वस्तु की प्राप्ति भी हो जाया करती है। उन भ्रमों को संवादिभ्रम कहा करते हैं—

संवादिभ्रमवद् ब्रह्मतत्त्वोपास्त्यापि मुच्यते। (पंचदशी अध्या० २)

मणि–प्रभा में मणिभ्रान्ति संवादि–भ्रम है। क्योंकि इस भ्रम से प्रवृत्त पुरुष को मणि की प्राप्ति हो जाती है।

रीति वार्तिककार ने अपने पंचीकरण में दी है। तथापि इन ग्रन्थों का विचार करने में जिनकी बुद्धि समर्थ नहीं। उनके लिए प्रणव-उपासना की रीति हम लिखते हैं। दो प्रकार से प्रणव का चिन्तन उपनिषदों में कहा है एक परब्रह्मरूप से प्रणव का चिंतन कहा है और दूसरा अपरब्रह्मरूप से। निर्गुण ब्रह्म को परब्रह्म कहते हैं। सगुण ब्रह्म को अपरब्रह्म कहते हैं। जो परब्रह्मरूप से प्रणव का चिन्तन करते हैं वे ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं। ऐसे निर्गुण-सगुण-भेद से प्रणव-उपासना दो प्रकार की है। उनमें से निर्गुण उपासना की विधि लिखेंगे, सगुण की नहीं। क्योंकि जिसे ब्रह्मलोक की कामना हो, उसे भी निर्गुण उपासना से कामना रूप प्रतिबंधक के होने से ज्ञानद्वारा तत्काल मोच्च नहीं होता। किन्तु ब्रह्मलोक की ही प्राप्ति होती है। जब वहां हिरण्यगर्भ के समान भोग भोगने के बाद ज्ञान होता है, तभी मोच्च होता है। जिसे ब्रह्मलोक की कामना नहीं; उसे इस लोक में ही ज्ञान होने के बाद मोक्ष हो जाता है। इस प्रकार सगुण–उपासना का फल भी निर्गुण–उपासना के अंतर्भूत है। इसलिए निर्गुण उपासना का प्रकार (विधि) कहते हैं।

जो कुछ कारण–कार्य वस्तु है; वह ओंकार–स्वरूप है। अतः ओंकार सर्वरूप है। सब पदार्थों के नाम और रूप दो भाग हैं। वह रूप–भाग अपने अपने नाम--भाग से अलग नहीं। किन्तु नाम स्वरूप ही रूपभाग है। क्योंकि पदार्थों के रूप (आकार) का ग्रहण या त्याग नामोच्चारण से ही होता है। बिना नाम जाने केवल आकार से व्यवहार सिद्ध नहीं होता। अतः नाम ही सार है। आकार के नष्ट हो जाने पर भी नाम बाकी रह जाता है। जैसे घट का नाश हो जाने से मिट्टी से अलग वस्तु नहीं; मिट्टी स्वरूप ही है। वैसे आकार का नाश हो जाने पर मिट्टी की भांति बाकी बचे नाम से आकार अलग नहीं। नाम स्वरूप ही आकार है।

अथवा–घट–सकोरा आदि में मिट्टी अनुगत है। घट–सकोरा

(कसोरा) आदि परस्पर व्यभिचारी हैं। अतः घट-सकोरा आदि मिथ्या हैं और उनमें अनुगत मिट्टी सत्य है। वैसे घड़ों के आकार अनेक हैं। उन सबका 'घड़ा' यह दो-अक्षरों का नाम एक है। वे आकार परस्पर व्यभिचारी हैं। सब घड़ों के आकारों में नाम एक अनुगत है। इसलिए मिथ्या (झूठा) आकार सत्य (सच्चे) नाम से अलग नहीं। इस प्रकार सब पदार्थों के आकार अपने अपने अपने नाम से भिन्न नहीं। किन्तु नाम स्वरूप ही आकार है। वे सब-के-सब नाम ओंकार से भिन्न नहीं। किन्तु ओंकारस्वरूप ही नाम हैं। क्योंकि वाचक शब्द को नाम कहते हैं। लोक और वेद के सभी शब्द ओंकार से उत्पन्न हुए हैं। यह श्रुति में प्रसिद्ध है। जितने कार्य हैं, वे सब-के-सब कारण-स्वरूप होते हैं। ओंकार के कार्य जो वाचक शब्द-रूप नाम वे ओंकारस्वरूप ही हैं। पदार्थों के जो रूप भाग (आकार) वे भी नामस्वरूप हैं। अतः सर्वस्वरूप ओंकार है।

जैसे सर्वस्वरूप ओंकार है, वैसे सर्वस्वरूप ब्रह्म है। अतः ओंकार ब्रह्मरूप है। अथवा-ओंकार ब्रह्म का वाचक और ब्रह्म वाच्य है। वाच्य और वाचक का अभेद होता है। इसलिए भी ओंकार ब्रह्मरूप है। विचारदृष्टि से जो अक्षर ब्रह्म में अध्यस्त है। ब्रह्म उसका अधिष्ठान है। अध्यस्त का स्वरूप अधिष्ठान से अलग नहीं होता। इसलिए भी ओंकार ब्रह्मरूप है। अतः ओंकार का ब्रह्मरूप से चिन्तन करे।

ब्रह्मरूप ओंकार का आत्मा से भी अभेद चिन्तन करे। क्योंकि आत्मा का ब्रह्म से मुख्य अभेद है। ब्रह्म के चार पाद हैं। पाद नाम चौथे भाग† का है; इसे अंश भी कहते हैं। १-विराट् २-हिरण्यगर्भ ३-ईश्वर और ४-तत्पद का लक्ष्य ईश्वर साक्षी, ये चार पाद ब्रह्म के हैं। १-विश्व, २-तैजस, ३-प्राज्ञ और ४-त्वंपद

† अमरकोश में लिखा है— "पादस्तुरीयो भागः स्यात्"

का लक्ष्य जीवसाक्षी, ये चार पाद आत्मा के हैं। जीव साक्षी को ही तुरीय कहते हैं। समष्टि-स्थूल-प्रपंच-सहित चेतन को विराट् कहते हैं और व्यक्ति-स्थूल अभिमानी चेतन को विश्व। विराट् और विश्व की उपाधि स्थूल है। अतः विराट्रूप ही विश्व है। विराट् से अलग नहीं। विराट्रूप विश्व के सात अंग हैं:- १-स्वर्गलोग मूर्धा, २-सूर्य नेत्र, ३-वायु प्राण, ४-आकाश धड़=(गले के नीचे का कमर तक सारा भाग) ५—समुद्र आदि जल मूत्रस्थान, ६—पृथ्वी पैर और ७--जिस अग्नि में हवन है, वह अग्नि मुख-ये सात अङ्ग विश्व के कहलाते हैं।

यद्यपि माण्डूक्य उपनिषद् में स्वर्ग लोक आदि को विश्व के अङ्ग नहीं कहा, तथापि विराट् के अङ्ग कहा है। उस विराट् का विश्व से अभेद हैं, अतः विश्व के अङ्ग कह दिये गये हैं।

विराट् विश्व के उन्नीस मुख हैं—पाँच प्राण, पाँच कर्म-इन्द्रियें पांच ज्ञान-इन्द्रियें, और चार अन्तःकरण। ये उन्नीस मुख के समान भोग का साधन हैं। अतः मुख कहलाते हैं। जाग्रत् अवस्था में विराट् विश्व इन उन्नीस से बाह्यवृत्ति होकर स्थूल शब्द आदि विषयों को भोगता है। अतः विराट्रूप विश्व स्थूल का भोक्ता, बाह्यवृत्ति, और जाग्रत् अवस्थावाला कहलाता है।

प्राण आदि उन्नीस जो भोग के साधन हैं। उनमें श्रोत्र आदि इन्द्रियां और चार अन्तःकरण, ये चौदह अपने अपने विषय और अपने अपने देवता की सहायता चाहते हैं। देवता और विषय की सहायता के बिना केवल इनसे भोग नहीं भोगा जाता। अतः पाँच प्राण और चतुर्दश (चौदह) त्रिपुटी, ये विराट्रूप विश्व का मुख कहलाते हैं। (त्रिपुटी=तीन का समुदाय)।

त्रिपुटी का स्वरूप

१--श्रोत्र इन्द्रिय अध्यात्म, २—उसका विषय शब्द अधिभूत और ३--दिशा का अभिमानी देवता अधिदैव है। इस प्रकरण में

क्रियाशक्तिवाली एवं ज्ञानशक्तिवाली इन्द्रियां तथा अन्तःकरण अध्यात्म कहे गये हैं। उनके विषयों को अधिभूत कहा है और उनके सहायक देवताओं को अधिदैव।

१—त्वक् इन्द्रिय अध्यात्म, २--उसका विषय स्पर्श अधिभूत और ३— वायु तत्त्व का अभिमानी देवता अधिदैव है।

१--नेत्र इन्द्रिय अध्यात्म, २--रूप अधिभूत और ३—सूर्य अधिदैव है।

१—रसना इन्द्रिय अध्यात्म, २-रस अधिभूत, और ३-वरुण अधिदेव है।

१-घ्राण इन्द्रिय अध्यात्म, २-गन्ध अधिभूत और ३-अश्विनी-कुमार अधिदैव हैं। पर वार्तिकार सुरेश्वराचार्य ने पृथिवी के अभिमानी देवता को घ्राण का अधिदैव कहा है, वह भी हो सकता है। क्योंकि पृथिवी से घ्राण की उत्पत्ति होती है। अतः पृथिवी का अधिदेव कहा है। सूर्य की स्त्री बडवा (घोड़ी) की नासिका से अश्विनी-कुमारों की उत्पत्ति कही है। अतः कहीं कहीं नासिका का अधिदैव अश्विनी कुमारों को भी कह दिया गया है।

१-वाक् इन्द्रिय अध्यात्म, २-वक्तव्य अधिभूत और ३-अग्नि देवता अधिदैव है।

१-हस्त इन्द्रिय अध्यात्म, २—पदार्थों का ग्रहण अधिभूत और ३-इन्द्र अधिदेव है।

१--पाद इन्द्रिय अध्यात्म, २-गमन अधिभूत और ३-विष्णु अधिदैव है।

१—मल इन्द्रिय अध्यात्म, २-मल का त्याग अधिभूत और यम अधिदेव है।

१--उपस्थ इन्द्रिय अध्यात्म, २-मैथुन-सुख की उत्पत्ति अधिभूत और ३-प्रजापति अधिदैव है।

१—मन अध्यात्म, २-मनन का विषय अधिभूत और ३-चंद्रमा अधिदैव है।

१—बुद्धि अध्यात्म, २-बोद्धव्य अधिभूत और ३-बृहस्पति अधिदैव है। (बोद्धव्य=ज्ञान का विषय)।

१—अहंकार अध्यात्म, २-अहंकार का विषय अधिभूत और ३-रुद्र अधिदैव है।

१-चित्त अध्यात्म, २-चिंतन का विषय अधिभूत और ३-क्षेत्रज्ञ साक्षी अधिदैव है। चौदह त्रिपुटियां और पांच प्राण ये उन्नीस विराट्रूप विश्व के मुख हैं।

जैसे विराट् से विश्व का अभेद है। वैसे ओंकार की पहली मात्रा (आकार) का भी विराट्रूप विश्व से अभेद है। क्योंकि ब्रह्म के चार पादों में पहला पाद विराट् है, और आत्मा के चार पादों में पहला पाद विश्व है। वैसे ओंकार की चार मात्रारूप पादों में पहला पाद अकार है। तीनों में पहलापन समान धर्म है। अतः विश्व-विराट्-अकार का अभेद चिंतन करे। जो सात अंग और उन्नीस मुख विश्व के कहे, वही सात अंग और उन्नीस मुख तैजस के भी जानने चाहिए। परन्तु यहां इतना भेद है कि विश्व के जो अंग और मुख हैं ये ईश्वर-रचित हैं। और तैजस की जो इन्द्रिय-देवता-विषयरूप त्रिपुटी और मूर्धादि अंग हैं; वे मनोमय हैं। तैजस का भोग सूक्ष्म है।

यद्यपि भोग नाम सुखके ज्ञानका है। उसमें स्थूलता और सूक्ष्मता नहीं होती। तो भी बाह्य शब्द आदि विषयों के संबंध से जो सुख या दुःख का साक्षात्कार होता है, उसे स्थूल कह दिया गया है। और मानस शब्द आदि के संबंध से जो भोग होता है; उसे सूक्ष्म कह दिया गया। इसीलिए श्रुति में विश्व को स्थूल का भोक्ता कहा है और तैजस को सूक्ष्म का। क्योंकि तैजस के भोग्य जो शब्द आदि

हैं; वे मानस हैं, अतः सूक्ष्म हैं। इनकी अपेक्षा विश्व के जो भोग्य बाह्य शब्द आदि हैं; वे स्थूल हैं। विश्व बहिष्प्रज्ञ है और तैजस अन्तष्प्रज्ञ है। क्योंकि विश्व की अंतःकरण की वृत्तिरूप जो प्रज्ञा है, वह वाहर जाती है और तैजस की नहीं जाती। जैसे विश्व का और विराट् का अभेद है। वैसे ही तैजस को भी हिरण्यगर्भरूप जानना चाहिए। क्योंकि तैजस और हिरण्यगर्भ की सूक्ष्म उपाधि है। अतः दोनों की ही एकता समझो। तैजस और हिरण्यगर्भ की एकता समझकर ओंकार की दूसरी मात्रा (उकार) से उनका अभेद चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि आत्मा के चार पादों में से दूसरा पाद तैजस है और ब्रह्म के चार पादों में से दूसरा पाद हिरण्यगर्भ है। एवं ओंकार की मात्राओं में से दूसरी मात्रा उकार है। दूसरापन तीनों में समानधर्म है। अतः तीनों की एकता का चिन्तन करे।

इसी प्रकार प्राज्ञ को ईश्वररूप जानना चाहिए। क्योंकि प्राज्ञ की कारण उपाधि है और ईश्वर की भी। ईश्वर और प्राज्ञ पादों में से तीसरे हैं। ओंकार की तीसरी मात्रा मकार है। तीसरापन तीनों में समानधर्म है। अतः तीनों की एकता समझो। यह प्राज्ञ प्रज्ञानघन है। क्योंकि जाग्रत् और स्वप्न जितने ज्ञान हैं; वे सुषुप्ति में घन (एक अविद्यारूप) हो जाते हैं। अतः प्रज्ञानघन कहते हैं। इस प्राज्ञ को आनंदभुक् भी श्रुति ने कहा है। क्योंकि अविद्या से आवृत आनंद को प्राज्ञ भोगता है। अतः आनंदभुक् नाम पड़ा। जैसे तैजस और विश्व का भोग त्रिपुटी से होता है; वसे ही प्राज्ञ के भोग की भी त्रिपुटी होती है:—१-चेतन के प्रतिबिम्ब-सहित जो अविद्या की वृत्ति, वह अध्यात्म है। २-अज्ञान से आवृत जो स्वरूप-आनंद; वह अधिभूत है। ३-ईश्वर अधिदैव है; और ३-प्राज्ञ प्रज्ञानघन है। यह जो तीनों का भेद है; वह उपाधि से होता है। १-विश्व की स्थूल, सूक्ष्म और अज्ञान तीन उपाधियां हैं। २-तैजस की सूक्ष्म और अज्ञान दो उपाधियां हैं और ३-प्राज्ञ की अज्ञान एक उपाधि है।

उपाधियों की घट–बढ़ से तीनों का भेद है। परमार्थतः स्वरूप से भेद नहीं। विश्व, तैजस और प्राज्ञ इन तीनों में जो अनुगत चेतन है वह परमार्थ से तीनों उपाधियों के संबंध से रहित है। तीनों उपाधियों का अधिष्ठान तुरीय है। वह बहिःप्रज्ञ नहीं, अन्तःप्रज्ञ नहीं और प्रज्ञानघन भी नहीं। कर्म–इन्द्रियों और ज्ञान–इन्द्रियों का विषय नहीं। बुद्धि का विषय नहीं। किसी शब्द का विषय नहीं। ऐसा जो तुरीय है; उसे परमात्मा का चौथा पाद ईश्वर साक्षी शुद्ध ब्रह्म जानो।

दो प्रकार का आत्मा का रूप कहाः—एक परमार्थरूप और दूसरा अपरमार्थरूप तीन पाद अपरमार्थरूप हैं और एकपाद तुरीय परमार्थ-रूप है। जैसे आत्मा के दो स्वरूप हैं, वैसे ही ओंकार के भी दो स्वरूप हैं। अकार, उकार और मकार इन तीन मात्रारूप जो वर्ण है; वह ओंकार का अपरमार्थरूप है। तीनो मात्राओं में व्यापक जो अस्ति–भाति–प्रियरूप अधिष्ठान चेतन वह इसका परमार्थरूप है। ओंकार के परमार्थरूप को श्रुति अमात्रशब्द से कहती है। क्योंकि उस परमार्थस्वरूप में मात्रा का विभाग नहीं। अतः अमात्र कहा जाता है। दो स्वरूपवाले ओंकार का दो स्वरूपवाले आत्मा से अभेद जानना चाहिए। व्यष्टि, समष्टि और स्थूल प्रपंच के सहित विश्व और विराट् का अकार से अभेद समझें। आत्मा के दो पादों में विश्व आदि है और ओंकार की मात्राओं में अकार आदि है। अतः दोनों को एक समझना चाहिए। सूक्ष्म–प्रपंच–सहित जो हिरण्यगर्भ रूप तैजस है; उकार समझो। तैजस भी दूसरा है और उकार भी दूसरा। अतः दोनों को एक समझना चाहिए। कारण-उपाधि-सहित जो ईश्वररूप प्राज्ञ है; उसे मकाररूप समझो। जैसे ईश्वररूप प्राज्ञ तीसरा है; वैसे ही मकार भी तीसरा है। अतः ईश्वररूप प्राज्ञ और मकार को एक समझना चाहिए। तीनों में अनुगत परमार्थरूप तुरीय को ओंकार की तीनो मात्राओं में अनुगत परमार्थरूप अमात्र से

अभिन्न समझो। इस प्रकार आत्मा के पादों और ओंकार की मात्राओं की एकता समझकर लय चिंतन करना चाहिए।

लयचिन्तन

विश्वरूप अकार तैजसरूप उकार से भिन्न नहीं; किन्तु उकार रूप ही है—ऐसा चिंतन करना यहाँ लय समझना चाहिए। ऐसे ही दूसरी मात्राओं में भी समझ लेना चाहिए। जिस उकार में अकार का लय किया है। उस तेजसरूप उकार का प्राज्ञरूप मकार में लय करना चाहिए। प्राज्ञरूप मकार को ओंकार के तुरीय परमार्थरूप अमात्र में लीन करना चाहिए। क्योंकि स्थूल की उत्पत्ति एवं लय सूक्ष्म में होते हैं। अतः विश्वरूप अकार का तैजसरूप उकार में लय होता है। सूक्ष्म की उत्पत्ति और लय कारण में होते हैं। अतः तैजस-रूप उकार का कारण प्राज्ञरूप मकार में लय सिद्ध होता है। यहाँ विश्व आदि के ग्रहण से समष्टि विराट् आदि का तथा उनकी त्रिपुटियों का ग्रहण समझना चाहिए। जिस प्राज्ञरूप मकार में उकार का लय किया है; उस मकार को ओंकार के परमार्थरूप तुरीय अमात्र में लीन करना चाहिए। क्योंकि ओंकार के परमार्थस्वरूप का तुरीय से अभेद है। वह तुरीय ब्रह्मरूप है। शुद्ध में ईश्वर और प्राज्ञ दोनों कल्पित हैं, जो जिसमें कल्पित होता है, वह उसी का स्वरूप होता है। अतः ईश्वर सहित प्राज्ञरूप मकार का लय हो सकता है। जिस ओंकार के परमार्थस्वरूप अमात्र में सबका लय किया है। "वह मैं हूँ" ऐसा एकाग्रचित्त होकर चिन्तन करना चाहिए। स्थावर-जंगमरूप, असंग, अद्वय, असंसारी, नित्यमुक्त, निर्भय, और ब्रह्मरूप जो ओंकार का परमार्थ स्वरूप "वह मैं हूँ" ऐसा चिन्तन करने से ज्ञान का उदय होता है। अतः ज्ञानद्वारा मुक्तिरूप फल का देने वाला जो वह ओंकार का निर्गुण उपासन वह सबसे उत्तम है।

इस प्रकार ओंकार के स्वरूप को जननेवाला मुनि है। जो नहीं जानता उसे मुनि मत समझो। कारण कि मुनि नाम ही मनन करनेवाले का है। ओंकार का यह चिन्तन मननरूप है। ओंकार के चिन्तनरूप मनन के बिना मुनि कैसा ? ओंकार का यह चिन्तन मांडूक्य–उपनिषद् की रीति के अनुसार संक्षेप से कहा है। नृसिंह-तापिनी आदि उपनिषदों में जो ओंकार के चिन्तन का प्रकार है, बहिर्मुख पुरुष का उसमें अधिकार नहीं। अंतर्मुख का अधिकार है। इसमें गृहस्थ का अधिकार नहीं। धनपुत्र-स्त्रीसंग–आदि–रहित परमहंस का अधिकार है।

ओंकार के ध्यान का फल

१–उक्त प्रकार से ओंकार को ब्रह्मरूप जानकर ध्यान करने से ज्ञानद्वारा मोक्ष होता है।

२–पर जिस पुरुष की इस लोक के भोगों में या ब्रह्मलोक के भोगों में कामना रहती है, तीव्र वैराग्य नहीं होता और हठ से कामना को रोककर धन–पुत्र–आदि का त्याग करने परमहंस गुरु के उपदेश से ओंकाररूप ब्रह्म का ध्यान करता है। उसके लिए भोग की कामना ज्ञान में प्रतिबंधक हो जाती है। अतः ज्ञान नहीं होता किन्तु ध्यान करते करते शरीर त्यागने के बाद दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है। यदि इस लोक के भोगों की कामना को रोककर ध्यान में लगा होता है तो इस लोक में अत्यंत विभूति वाले पवित्र सत्संगी कुल में जन्म होता है। वहाँ पूर्व कामना के अनुसार सब भोग प्राप्त होते हैं। पूर्व जन्म के ध्यान के संस्कारों से फिर विचार में या ध्यान में लग जाता है। इसलिए ज्ञान होने के बाद मोक्ष होता है।

यदि ब्रह्मलोक के भोगों की कामना को रोककर ओंकाररूप ब्रह्म के ध्यान में लगा रहता है तो शरीर छोड़ने के बाद ब्रह्मलोक को

जाता है। वहां पितरों और देवों को भी दुर्लभ आनन्द को स्वतंत्रता से भोगता है। जो हिरण्यगर्भ की सत्यसंकल्प आदि विभूति है वह सब-की-सब इसे मिल जाती है।

ब्रह्मलोक के मार्ग का क्रम

जिस मार्ग से ब्रह्मलोक को जाते हैं, उसका यह क्रम † है कि जो पुरुष ब्रह्म की उपासना में तत्पर है। मरने के समय उसकी इन्द्रियें और अंतःकरण सब मूर्छित हो जाते हैं। कहीं भी जा नहीं सकते और यमदूत भी उसके पास नहीं आते कि जिससे उसके लिंग शरीर को ले जा सकें। पर १ अग्नि का अभिमानी देवता मरने के समय उसे शरीर से निकाल कर अपने लोक में ले जाता है। २-उस अग्नि लोक से दिन का अभिमानी देवता अपने लोक में ले जाता है। ३-उससे शुक्लपक्ष का अभिमानी देवता अपने लोक में ले जाता है। ४-वहां से आगे उत्तरायण (षट्मास) का अभिमानी देवता ले जाता है। ५-इससे आगे संवत्सर का अभिमानी देवता ले जाता है। ६-इससे आगे देवलोक का अभिमानी देवता ले जाता है। ७-देवलोक से आगे वायु का अभिमानी देवता ले जाता है। ८-वायुलोक से आगे सूर्यदेवता ले जाता है। ९-इससे आगे चंद्रदेवता ले जाता है। १०-इससे आगे बिजली का अभिमानी ले जाता है। ११-यहां बिजली के लोक में उस उपासक के सामने हिरण्यगर्भ की आज्ञा से दिव्यपुरुष हिरण्यगर्भ-लोकवासी हिरण्यगर्भ-समानरूप उसे लेने आते हैं। वह बिजली के लोकमें से वरुण लोक में ले जाया जाता है। बिजली का अभिमानी देवता साथ जाता है। १२-वरुण लोक से इन्द्रलोक में ले जाते हैं। वरुणदेवता भी इन्द्रलोक तक हिरण्यगर्भ-लोकवासी पुरुष और उपासक के साथ जाता है। १३-इससे आगे इन्द्रदेवता प्रजापति लोक तक दोनों के साथ

† यह मार्ग-क्रम छान्दोग्य-उपनिषद् के अन्त में कहा है।

ब्रह्मलोक तक ले जाने में समर्थ नहीं। अतः ब्रह्मलोक में उस दिव्यपुरुष के साथ वह उपासक प्राप्त होता है। ब्रह्मलोक का अधिपति हिरण्यगर्भ है। सूक्ष्मदृष्टि का अभिमानी चेतन हिरण्य-गर्भ कहलाता है। यही कार्यब्रह्म कहलाता है। कार्यब्रह्म के निवास स्थान का नाम ब्रह्मलोक है।

सायुज्य† मोक्ष का वर्णन

यद्यपि पूर्व रीति के अनुसार ओंकार की उपासना शुद्ध ब्रह्मरूप से ही कही गई है। शुद्धब्रह्म के उपासक को शुद्ध ब्रह्म की ही प्राप्ति होनी चाहिए। तो भी शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। कामना रूप प्रतिबन्ध से जिसे ज्ञान नहीं हुआ; उसे कार्यब्रह्म की प्राप्तिरूप सायुज्य मोक्ष मिलता है। ब्रह्मलोक में प्राप्त उपासक को हिरण्यगर्भ के समान विभूति प्राप्त होती है। सत्यसङ्कल्प होता है। जैसे शरीर की इच्छा करे, वैसा शरीर उसका हो जाता है। जिन भोगों को चाहता है, वे सब भोग सङ्कल्प करते ही मिल जाते हैं। यदि एक ही समय हजारों शरीरों में अलग-अलग भोगों की इच्छा करे तो उसी समय हजारों शरीर और उनके भोगों की अलग-अलग सामग्री पैदा हो जाती है। कहां तक कहें जो सङ्कल्प करता है; वही सिद्ध हो जाता

---

† मोक्ष के चार भेद हैं—(१) सालोक्य, (२) सामीप्य (३) सारूप्य और (४) सायुज्य।

(१) सालोक्य—ईश्वर के लोक में वास करना जैसे प्रजा राजा के लोक में वास करती है।

(२) सामीप्य—राजा की नौकरों के भांति ईश्वर के समीप रहना।

(३) सारूप्य—राजा के भाइयों की भांति ईश्वर के समान रूप की प्राप्ति

(४) सायुज्य—राजा के स्थान पर आरूढ़ राजपुत्र की भांति ईश्वर के पूर्ण अधिकारों की प्राप्ति। इनमें उत्तरोत्तर मोक्षों में श्रेष्ठता आती जाती है।

है। जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार को छोड़कर बाकी सब विभूति ईश्वर के समान हो जाती है। इसी का नाम सायुज्य मोक्ष है। इस प्रकार हिरण्य गर्भ के समान होकर बहुत समय तक सङ्कल्पसिद्ध पदार्थों को भोगकर प्रलयकाल में जब हिरण्यगर्भ के लोक का नाश होता है तब ज्ञान होने से उपासक को विदेहमोक्ष की प्राप्ति होती है।

ओंकार के अहंग्रह-ध्यान से ब्रह्मलोक की अवश्य प्राप्ति

जैसे ओंकाररूप ब्रह्म की उपासना करने वाला ब्रह्मलोक की प्राप्तिद्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है। वैसे अन्य उपनिषदों में भी ब्रह्म की उपासनाएँ कही हैं। उनसे भी यही फल होता है। परन्तु अहंग्रह-उपासना के विना अन्य उपासना से ब्रह्मलोक की प्राप्ति नहीं होती। यह बात सूत्रकार और भाष्कार ने चोथे अध्याय में कही है। जैसे नर्मदेश्वर का शिवरूप से और शालिग्राम का विष्णु-रूप से ध्यान कहा है—वह प्रतीकध्यान है; अहंग्रह नहीं। मन का ब्रह्मरूप से और आदित्य का ब्रह्मरूप से ध्यान कहा है वह भी प्रतीकध्यान है; अहंग्रह नहीं। उनसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति नहीं होती। सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्म को अपने से अभिन्न मानकर चिन्तन करना अहंग्रह ध्यान कहलाता है। इसी से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

पूर्वकथित मार्ग को उत्तरायण मार्ग और देवमार्ग भी कहते हैं। जो उपासक इस देवमार्ग से ब्रह्मलोक को जाते हैं; वे फिर संसार में नहीं आते। किन्तु ज्ञान हो जाने से विदेह मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं। वहाँ ज्ञान के साधक गुरु-उपदेश आदि की भी अपेक्षा (जरूरत) नहीं रहती। किन्तु ब्रह्मलोक में गुरु-उपदेश आदि साधनों के बिना ही ज्ञान हो जाता है। क्योंकि ब्रह्मलोक में तमोगुण और रजोगुण नहीं, अतः जडता, आलस्य आदि भी नहीं। रजोगुण नहीं; अतः काम-क्रोध-आदि रूप रजोगुण का कार्य विक्षेप भी नहीं।

केवल सत्त्वगुण है, अतः सत्त्वगुण का कार्य ज्ञानरूप प्रकाश-ही-प्रकाश उस लोक में है।

हिरण्यगर्भवासी को असङ्ग निर्विकार ब्रह्मरूप आत्मा का भान होने में कारण

पहले ब्रह्मरूप से ओंकार की उपासना कह चुके हैं और ओंकार की मात्राओं के अर्थ का चिन्तन भी इस प्रकार कह आये हैं कि १-स्थूल-उपाधि-सहित विराट्-विश्व-चेतन अकार का वाच्य है। २-सूक्ष्म-उपाधि-सहित चेतन हिरण्यगर्भ-तैजस उकार का वाच्य है। ३-कारण-उपाधि-सहित चेतन ईश्वर-प्राज्ञ मकार का वाच्य है। इस चिन्तित अर्थ की ब्रह्मलोक में स्मृति होती है। सत्त्वगुण के के प्रभाव से ऐसा विवेचन (विवेक) होता है कि १-स्थूल-उपाधि से चेतन में विराट्पन और विश्वपन प्रतीत होता है। (स्थूल-समष्टि की दृष्टि से विराट्पन है और स्थूल-व्यष्टि की दृष्टि से विश्वपन है।) समष्टि-व्यष्टि और स्थूल की दृष्टि के बिना विराट्भाव और विश्वभान प्रतीत नहीं होता। किन्तु मात्र चेतन ही प्रतीत होता है। २--वैसे सूक्ष्म-उपाधि-सहित हिरण्यगर्भ-तैजस चेतन उकार का वाच्य हैं। वहाँ समष्टि-सूक्ष्म उपाधि की दृष्टि से चेतन में हिरण्यगर्भता प्रतीत होती है। व्यष्टि-सूक्ष्म उपाधि की दृष्टि से तैजसता प्रतीत होती है। सूक्ष्म उपाधि की दृष्टि से तैजसता प्रतीत होती है। सूक्ष्म उपाधि की दृष्टि के बिना हिरण्यगर्भता और तैजसता प्रतीत नहीं हो सकती। ३--वैसे ही मकार का वाच्य ईश्वर-प्राज्ञ है। उसमें समष्टि अज्ञान उपाधि की दृष्टि से चेतन में ईश्वरता प्रतीत होती है। व्यष्टि अज्ञान उपाधि की दृष्टि से चेतन में प्राज्ञता प्रतीत होती है। अज्ञान उपाधि की दृष्टि विना ईश्वरता और प्राज्ञता प्रतीत नहीं हो सकती।

जो वस्तु जिसमें दूसरे की दृष्टि से प्रतीत होती है; वह उसमें

परमार्थ से नहीं होती। जिसका जो रूप दूसरे की दृष्टि के बिना प्रतीत होता है; वह उसका परमार्थरूप होता है। जैसे एक ही पुरुष में पिता की दृष्टि से पुत्रता और दादा की दृष्टि से पौत्रता आदि रूप का भान होता है; वह परमार्थ से नहीं। पुरुष का पिण्ड ही परमार्थ है। वैसे ही स्थूल-सूक्ष्म-कारण उपाधि की दृष्टि से जो विराट्-विश्व आदि रूप का भान होता है; वह मिथ्या है। चेतन मात्र सत्य है। वह चेतन सब भेदों से रहित है। विराट् और विश्व का जो भेद है; वह उपाधि यद्यपि दोनों की स्थूल है तो भी समष्टि उपाधि विराट् की है और व्यष्टि उपाधि विश्व की। समष्टि-व्यष्टि-उपाधि से उनका भेद है। अतः स्वरूप से भेद नहीं। वैसे तैजस का हिरण्यगर्भ से भेद भी समष्टि-व्यष्टि उपाधि से है; स्वरूप से नहीं। वैसे ही ईश्वर से प्राज्ञ का भेद भी समष्टि-व्यष्टि उपाधि भेद से है; स्वरूप से नहीं। ऐसे ही-१—प्राज्ञ का ईश्वर से अभेद है। २—तैजस का हिरण्य-गर्भ से अभेद है। ३—विश्व का विराट् से अभेद है। इस प्रकार स्थूल उपाधिवाले का सूक्ष्म उपाधिवाले से या कारण उपाधि-वाले से भेद नहीं। क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म और कारण उपाधियों की दृष्टि को छोड़ देने से चेतन स्वरूप में किसी प्रकार का भेद प्रतीत नहीं होता। अनात्मा से भी चेतन का भेद नहीं। क्योंकि अनात्म देह आदि अविद्याकाल में प्रतीत होते हैं; परमार्थ से नहीं। उनका भी चेतन से भेद नहीं हो सकता।

ऐसे सब भेदों से रहित, असङ्ग, निर्विकार, नित्यमुक्त, ब्रह्म-रूप, आत्मा, ओंकार का लक्ष्य, स्वयं प्रकाशरूप उस उपासक को प्रतीत होता है। इसलिए हिरण्यगर्भवासी संसार में नहीं आता।

ओंकार और महावाक्य के अर्थ की एकता

यद्यपि महावाक्य के विवेक बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता तो भी ओंकार का विवेक ही महावाक्य का विवेक है।

१—(क) स्थूल उपाधि सहित चेतन अकार का वाच्य है और (ख) स्थूल उपाधिरहित चेतन मात्र अकार का लक्ष्य है।

२—(क) वैसे ही सूक्ष्म उपाधि सहित चेतन उकार का वाच्य है। (ख) सूक्ष्म उपाधि छोड़ देने के बाद चेतन मात्र उकार का लक्ष्य है।

३—(क) कारण उपाधिसहित चेतन मकार का वाच्य है और (ख) कारण उपाधि त्याग देनेके बाद चेतन मात्र मकार का लक्ष्य है।

इसी प्रकार—१—उपाधि—सहित विश्व आदि अकार आदि मात्राओं के वाच्य हैं और २—उपाधि—रहित चेतन सब मात्राओं के लक्ष्य हैं। १—वैसे ही नाम-रूप-सकल-उपाधियों सहित चेतन ओंकारवर्ण का वाक्य है और २—नाम-रूप-सकल उपाधियों से रहित चेतन ओंकारवर्ण का लक्ष्य है। इस प्रकार ओंकार और महावाक्य का अर्थ एक ही है। इसलिए ओंकार के विवेक से अद्वैतज्ञान होता है।

अदृष्टि नामक मध्यम शिष्य आचार्य के मुख से ऐसा सुनकर उपासना में प्रवृत्त हो गया और अन्त में उसने ज्ञान के द्वारा परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त किया।

निर्गुण उपासना में जिसका अधिकार नहीं। उसके लिए कर्तव्य † बताते हैं:—

† आशय यह है कि वेदान्त विचार में प्रविष्ट जिज्ञासु को विचार छोड़कर और कुछ कर्तव्य नहीं। यदि यह विचार छोड़कर और साधनों की ओर झुकेगा, तब वह आरूढ-पतित कहा जायगा। अतः विचारशील जिज्ञासु साक्षात्कार पर्यन्त वेदान्त विचार ही करे—"आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदांतचिंतया"।

जो वेदान्त विचार नहीं कर सकता। उसके लिये निर्गुण उपासना है। जो निर्गुण उपासना भी किसी कारणवश नहीं कर सकता उसके लिए सगुण-उपासना ही कर्तव्य है।

सवैया छन्द

जो यह निर्गुण ध्यान न ह्वै तो, सगुन† ईस करि मनको ‡धाम।
सगुन उपासनहू नहिं ह्वै तौ, करि निष्काम§ कर्म भजि राम ॥
जो निष्काम कर्महू नहीं ह्वै, तो करिये सुभ कर्म सकाम।
जो सकाम कर्महू नहीं होवै, तो सठ बारबार मरि-जाम* ॥

दोहा—ओंकार को अर्थ लखि, भयो कृतार्थ अदृष्टि।
पढै जु याहि तरंग तिहि, दादू करहु सुदृष्टि ॥ १७० ॥

विचार-सागर की गुरुवेद आदि व्यावहारिक प्रतिपादन
एवं मध्यम अधिकारी साधन वर्णन
पञ्चम तरङ्ग सम्पूर्ण हुई।

---

† सगुणईश्वर—माया विशिष्ट चेतन (कारण ब्रह्म) अथवा हिरण्य-गर्भ, वैश्वानर, हरि, हर, गौरी, गणेश सूर्य और इनके अवतार सभी सगुण ईश्वर हैं।

‡ धाम=निवास स्थान।

§ निष्काम कर्म—फल-कामना-रहित ईश्वरार्पण-बुद्धि से अपने वर्णाश्रम-उचित कर्म करना।

* जाम=जन्म ले (पैदा हो)।

षष्ठ तरंग

श्रीगुरु-वेद आदि साधनों का मिथ्यात्व-वर्णन

चेतन–भिन्न अनात्म सब, मिथ्या स्वप्न समान।
यूं सुनि बोल्यो तीसरो, तर्कदृष्टि मतिमान ॥१॥

चौथी तरंग में उत्तम अधिकारी के लिए उपदेश का प्रकार कहा। पांचवीं तरंग में मध्यम अधिकारी के लिए कहा और इस तरंग में कनिष्ठ अधिकारी के लिए उपदेश का प्रकार कहते हैं। जिसे बहुत-सी शंकाएँ उठती रहती हैं; उसकी बुद्धि तीव्र तो होती है। पर है वह कनिष्ठ ही अधिकारी। इस तरंग में युक्तियों की प्रधानता है। अतः सुने हुए अर्थ के संवंध में जिसे कुतर्क पैदा होते हैं, उसे इस तरंग का उपयोग करना चाहिए। कुतर्क से दूषित बुद्धिवाला कनिष्ठ ही अधिकारी। इस तरंग में युक्तियों की प्रधानता है। अतः सुने हुए अर्थ के संबंध में जिसे कुतर्क पैदा होते हैं, उसे इस तरंग का उपयोग करना चाहिए। कुतर्क से दूषित बुद्धिवाला कनिष्ठ अधिकारी होता है। इस तरंग में उसी के लिए उपदेश का प्रकार है।

पूर्व तरंग में प्रणव-उपासना और जगत् की उत्पत्ति के निरूपण से पहले यह कहा था कि "जो चेतन से भिन्न अज्ञान और उसका कार्य समस्त अनात्म पदार्थ हैं, वे सब स्वप्न की भांति मिथ्या हैं" यह बात सुनने के बाद दोनों भाइयों को उपराम देखकर (दोनोंने कुछ प्रश्न नहीं किया) तर्कदृष्टि पूछता है:—

पहिली जानै वस्तु की, स्मृति स्वप्न में होय।
जाग्रत मैं अज्ञात अति, ताहि लखै नहीं कोय ॥२॥

अर्थात् जो पदार्थ पहले अत्यन्त अज्ञात होते हैं; उनक। स्वप्न

में ज्ञान नहीं होता। किंतु जाग्रत में जिनका अनुभव ज्ञान होता है। उनकी स्वप्न में स्मृति होती है। इसलिए स्मृतिज्ञान के विषय जाग्रत् के पदार्थ सत्य होने के कारण; उनका स्वप्न में स्मृतिरूप ज्ञान भी सत्य है। अतः स्वप्न के दृष्टांत से जाग्रत् के पदार्थों को मिथ्या कहना बन नहीं सकता।

दूसरे प्रकार से स्वप्नज्ञान के विषय पदार्थों की सत्यता का प्रतिपादन करता है:—

अथवा स्थूलहि लिंग तजि, बाहरि देखत जाय।
गिरि-समुद्र-वन-वाजि-गज, सो मिथ्या किहिं भाय ॥३॥

अर्थात् स्वप्न का ज्ञान और उसके विषयीभूत पदार्थ सत्य हैं; मिथ्या नहीं। क्योंकि स्वप्न-अवस्था में स्थूल शरीर को छोड़कर लिंगशरीर बाहर निकल कर सच्चे गिरि-समुद्र आदि को देखता है। अतः स्वप्न मिथ्या नहीं इसका उत्तर गुरुदेव इस प्रकार देते हैं—

यह हस्ती आगे खर्यो, ऐसो होवै ज्ञान।
स्वप्न-मांहि स्मृतिरूप सो, कैसे होय सुजान ॥४॥

अर्थात् पूर्व-अनुभूत पदार्थों का ज्ञान स्मृति कहलाता है। जैसे पहले देखे हुए हाथी की "वह हाथी" ऐसी स्मृति होती है। "यह हाथी सामने खड़ा है" ऐसे ज्ञान को स्मृति नहीं कहते। यह तो प्रत्यक्ष है। स्वप्न में "यह हाथी आगे खड़ा, यह पर्वत है; यह नदी है" ऐसा ज्ञान होता है। अतः जाग्रत् में देखे पदार्थों की स्वप्न में स्मृति नहीं होती। किंतु हाथी आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

शंकाः—"जाग्रत् में जाने हुए पदार्थों का ही स्वप्न में ज्ञान होता है; अज्ञात पदार्थों का नहीं होता। अतः जाग्रत् पदार्थों के ज्ञान के संस्कारों से स्वप्न के ज्ञान की उत्पत्ति होती है। संस्कारजन्य ज्ञान स्मृति कहलाता है। अतः स्वप्न का ज्ञान स्मृतिरूप है।"

यह शंका भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक अभिज्ञारूप प्रत्यक्ष और दूसरा प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष। (क) केवल इन्द्रियों के सम्बन्ध से जो ज्ञान होता है; वह अभिज्ञाप्रत्यक्ष है। जैसे नेत्र के सम्बन्ध से हाथी का "यह हाथी है" ऐसा ज्ञान अभिज्ञानप्रत्यक्ष है। (ख) पूर्वज्ञान के संस्कारों से तथा इन्द्रियों के सम्बन्ध से जो ज्ञान होता है; वह प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष कहा जाता है। जैसे पहले देखे हुए हाथी का "यह वही हाथी है" ऐसा ज्ञान होता है; वह प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष है। इसमें पूर्वदृष्ट हाथी के ज्ञान के संस्कार और हाथी से नेत्र का सम्बन्ध प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष का कारण है। अतः "संस्कार-जन्य ज्ञान स्मृतिरूप ही होता है" यह नियम नहीं। किन्तु प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष भी संस्कार-जन्य होता है। परन्तु जो इन्द्रिय-सम्बन्ध के बिना † केवल संस्कार-जन्य ज्ञान होता है, वह स्मृतिज्ञान कहलाता है।

स्वप्न में हाथी आदि का ज्ञान केवल संस्कारजन्य नहीं। किन्तु निद्रारूप दोषजन्य है। हाथी आदि की भाँति स्वप्न में कल्पित इन्द्रियाँ भी हैं। अतः इन्द्रियजन्य है। यद्यपि स्वप्न के पदार्थ साक्षीभास्य हैं; इन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय नहीं। तो भी अविवेकी की दृष्टि से स्वप्न का ज्ञान इन्द्रियजन्य कहा है। अतः स्वप्न का ज्ञान जाग्रत् के पदार्थों की स्मृति नहीं बन सकता। दूसरी बात यह है कि नींद से जागकर मनुष्य ऐसा कहता है "मैंने स्वप्न में हाथी आदि देखे"। यदि हाथी आदि की स्वप्न में हाथी आदि का स्मरण किया" (स्वप्न में मुझे हाथी

---

† स्मृतिज्ञान—"संस्कार मात्र-जन्यं ज्ञानं स्मृतिः"

अर्थात् केवल संस्कार से उत्पन्न ज्ञान यही स्मृति का निर्दुष्ट लक्षण है। इस लक्षण की प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति नहीं होती; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष केवल संस्कारों से जन्य नहीं, अपितु इन्द्रिय-सन्निकर्ष से भी जन्य है।

आदि की याद आई) पर ऐसे कोई नहीं कहता। अतः जाग्रत् के पदार्थों की स्वप्न में स्मृति नहीं होती।

"जाग्रत् में जो देखे-सुने पदार्थ हैं; उन्हीं का स्वप्न में ज्ञान होता है" यह नियम नहीं। किन्तु जाग्रत् में अज्ञात पदार्थों का भी स्वप्न में ज्ञान होता है। कभी कभी स्वप्न में ऐसे विलक्षण पदार्थ प्रतीत होते हैं; जो सारे जीवन में कभी देखे-सुने नहीं होते। अतः उनका ज्ञान स्मृति नहीं।

यद्यपि "इस जन्म के पदार्थों के ज्ञान-संस्कार ही स्मृति के कारण हैं" यह नियम नहीं। किन्तु दूसरे जन्म के संस्कारों से भी स्मृति होती है। क्योंकि अनुकूल ज्ञान से प्रवृत्ति होती है। बिना अनुकूल ज्ञान के प्रवृत्ति नहीं होती। अतः बालक की स्तन-पान में जो प्रथम प्रवृत्ति होती है; उसका कारण भी बालक का यह ज्ञान होता है कि "स्तन-पान मेरे अनुकूल है।" पूर्वजन्म में स्तनपान करने में जो अनुकूलता का अनुभव किया है। उसके संस्कारों से बच्चे को पूर्व अनुकूलता की स्मृति होती है। वैसे ही इस जन्म में अज्ञात पदार्थों की अथवा पूर्वजन्म के ज्ञान के संस्कारों से स्वप्न में स्मृति हो सकती है।

तथापि कोई-कोई ऐसे पदार्थ स्वप्न में प्रतीत होते हैं; जिनका जाग्रत् में किसी जन्म में भी ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे अपने मस्तक का छेदन अपने नेत्रों से स्वप्न में देखता है। अपने मस्तक का छेदन अपनी आंखों जाग्रत् में कभी देखा नहीं। इस लिए जाग्रत् पदार्थों के ज्ञान के संस्कारों से स्वप्न में स्मृति नहीं होती।

"स्वप्न स्मृतिरूप है" इसके खण्डन में ग्रन्थकारों ने अनेक युक्तियां दी हैं। पर स्वप्न को स्मृति मानने में पूर्व उक्त (कहा) दूषण ही प्रबल है कि स्मृतिज्ञान का विषय सम्मुख प्रतीत नहीं होता (जिसकी स्मृति होती है वह अपनी आंखों सामने प्रतीत नहीं होता)। पर स्वप्न के पदार्थ हाथी आदि

स्वप्नकाल में संमुख प्रतीत होते हैं। अतः हाथी आदि की स्वप्न में स्मृति नहीं होती।

"लिंगशरीर बाहर निकल कर सच्चे गिरि-समुद्र आदि को देखता है—" इसका उत्तर यह है।

बाहरि लिंग जु नीकसै, देह अमंगल होय।
प्रान-सहित सुंदर लसै, यातैं लिंग हि जोय ॥५॥

अर्थात् यदि स्थूल शरीर से निकल कर लिंगशरीर बाहर सच्चे गिरि-समुद्र आदि को देखता हो तो लिंगशरीर के निकल जाने से जैसे मरण अवस्था में शरीर अमंगल=भयंकररूप प्रतीत होता है, वैसे ही स्वप्न-अवस्था में भी लिंगशरीर के अभाव से स्थूलशरीर अमंगल होना चाहिए। पर स्वप्न-अवस्था में ऐसा होता नहीं। किंतु स्वप्न-अवस्था में स्थूल शरीर प्राणसहित होता है और जाग्रत् की भांति सुन्दर (मंगलरूप) होता है। अतः स्वप्न-अवस्था में लिंगशरीर स्थूल-शरीर में से बाहर नहीं निकलता।

शंका—स्वप्न-अवस्था में प्राण बाहर नहीं जाते। किंतु अंतःकरण और इन्द्रियाँ बाहर जाती हैं। पर्वत आदि को देखकर वापस आ जाती हैं। अतः स्थूल शरीर मरण-अवस्था के समान भयंकर नहीं होता। प्राणों के बाहर जाने का कुछ प्रयोजन भी तो नहीं। क्योंकि प्राणों में ज्ञानशक्ति नहीं, किंतु-क्रियाशक्ति है। अतः बाहर के पदार्थों के जानने का जिनमें सामर्थ्य होता है; वही जाते हैं। ज्ञानशक्ति अंतःकरण और इन्द्रियों में है। प्राणों की भांति कर्म-इन्द्रियों में भी ज्ञानशक्ति नहीं; क्रियाशक्ति है। अतः प्राण और कर्म-इन्द्रियाँ शरीर में रहती हैं। जिससे मृतक समझकर दाह आदि नहीं करते। बाहर तो अंतःकरण और ज्ञान-इन्द्रियाँ जाती हैं। सच्चे पर्वत आदि को देखकर प्राणों और कर्म-इन्द्रियों के समीप वापस आ जाती हैं।

यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि स्थूल-सूक्ष्म समाज में सबके स्वामी प्राण हैं। प्राणों से रहित शरीर को देखकर घर में नहीं रखते, बाहर निकाल देते हैं। दाह आदि करके उसके स्पर्शजन्य दोष को स्नान से दूर कर डालते हैं। अतः स्थूल शरीर का सार प्राण हैं। सूक्ष्मशरीर में भी प्राण ही प्रधान हैं।

एकबार प्राण-इन्द्रिय ‡ आदि में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। उन्होंने प्रजापति के पास जाकर प्रश्न किया "भगवन्! हममें से कौन श्रेष्ठ है?"। उत्तर में प्रजापति ने कहा कि तुम सब स्थूल शरीर में प्रविष्ट होकर एक-एक करके निकलते जाओ। जिसके निकलने से शरीर अमंगलरूप होकर गिर पड़े। वही तुममें से श्रेष्ठ है"। प्रजापति के कहने से नेत्र आदि इन्द्रियों में से एक एक के अभाव से अंध आदि-रूप शरीर खड़ा रहा। प्राणों के निकलने का उद्योग करते ही शरीर गिरने लगा। तब सबने यह निश्चय किया कि "हम सबके स्वामी प्राण हैं।" इसलिए जितना समय शरीर में प्राण रहते हैं। उतना समय शरीर में रहते हैं। उतना समय अंतःकरण और इन्द्रियाँ रहती हैं। शरीर में से प्राणों के निकलते ही ये भी सब निकल जाते हैं। अतः राजा की भाँति सूक्ष्म-समाज के प्राण ही प्रधान हैं। इनके निकले बिना अंतःकरण और ज्ञान-इन्द्रियाँ बाहर नहीं निकल सकतीं।

अथवा—अंतःकरण और ज्ञान-इन्द्रियाँ भूतों के सत्त्वगुण के कार्य हैं। उनमें ज्ञानशक्ति है और क्रियाशक्ति नहीं। प्राणों में क्रिया-शक्ति है। उसके बलसे मरने के समय लिंगशरीर इस स्थूल को छोड़कर लोकान्तर में जाता है। प्राणों के वल से ही इन्द्रियों द्वारा

‡ प्राण और इन्द्रियों के अभिमानी देवों का विवाद छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है। उसे ही प्राण और इन्द्रियों का विवाद कहा जाता है। प्राण और इन्द्रियाँ जड़ हैं इनमें विवाद सम्भव नहीं। अतः उपनिषद् के प्राणादि पदों का अर्थ है उनके अभिमानी देवता।

अंतःकरण की वृत्ति बाहर घट आदि के समीप जाती है। प्राणों के सहारे के बिना अंतःकरण आदि का बाहर जाना संभव नहीं। इसीलिए योगशास्त्र में कहा है कि "प्राणों के निरोध के बिना मन का निरोध नहीं हो सकता और प्राणों के† निरोध से ही मन का निरोध होता है।" अतः मनके निरोधरूप राजयोग के इच्छुक को प्राण-निरोधरूप हठयोग का अनुष्ठान करना चाहिए। इससे भी यही सिद्ध होता है कि अंतःकरण का गमन प्राणों के अधीन है। उनके निकलने से बिना अंतःकरण और ज्ञान-इन्द्रियाँ निकल ही नहीं सकती। स्वप्न-अवस्था में स्थूल शरीर प्राणोंसमेत प्रतीत होता है। अतः "बाहर जाकर सच्चे पदार्थों को देखना" बन नहीं सकता।

अथवा कोई मनुष्य स्वप्न में अपने संबंधी से मिलकर कुछ व्यवहार करता है और जागने पर जब वह संबंधी मिलता है तो ऐसा नहीं कहता कि रात हम मिले थे और अमुक व्यवहार किया था। पूर्वपक्षी के कथनानुसार तो बाहर निकल करके उस संबंधी से मिलकर सच्चा व्यवहार किया है। उस मिलने का व्यवहार का ज्ञान संबंधी को भी होना चाहिए। जब संबंधी मिले तो उसे कहना भी चाहिए कि रात हम मिले और यह बात-चीत हुई (सिद्धांत में तो संबंधी और उसका मिलाप सब अंतर में ही कल्पित है)।

अथवा यदि बाहर जाकर सच्चे पदार्थों को देखे तो रात में सोया हुआ मनुष्य हरिद्वार में दुपहर के सूर्य से तपे हुए महलों को गंगा से पूर्व की ओर नीलपर्वत को गंगा से पश्चिम की ओर देखता है। वहां रात्रि में दुपहरे का सूर्य नहीं, गंगा से पूर्व दिशा में हरिद्वारपुरी नहीं और गंगा से पश्चिम दिशा में नील पर्वत नहीं।

† "प्राणबन्धनं हि सोम्य! मनः" (छां० उ० ६-८-२) इस श्रुति ने स्पष्ट कह दिया है कि हे सोम्य! मन प्राणों से बन्धा हुआ है अर्थात् मन प्राणों के अधीन है।

इसलिए भी स्वप्न में सच्चे पदार्थों को देखना बन नहीं सकता।

जाग्रत् की स्मृति अथवा स्वप्न में सूक्ष्मशरीर के बाहर निकलने से ईश्वर कृत पर्वत आदि का ज्ञान होता है। इन दोनों पक्षों का निराकरण किया गया। सिद्धान्त कहते हैं:—

यातैं अंतर ऊपजै, त्रिपुटी सकल समाज।
वेद कहत या अर्थ कूं, सब प्रमान सिरताज ॥६॥

अर्थात् जाग्रत् के पदार्थों की स्मृति और लिंगशरीर का बाहर निकलना तो बन नहीं सकता। तो भी जाग्रत् की भांति ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय त्रिपुटी स्वप्न में प्रतीत होती है। अतः कंठ की नाड़ी के भीतर ही सब कुछ उत्पन्न होता है। सब प्रमाणों के सिरताज (प्रधान) वेद ने कहा है। उपनिषदों का † यह प्रसंग है कि जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न में नहीं प्रतीत होते। किन्तु रथ, घोड़े, मार्ग और रथ में बैठने वाले स्वप्न में नये उत्पन्न होते हैं। यदि स्वप्न में पर्वत आदि न हों तो उनका प्रत्यक्षज्ञान स्वप्न में नहीं होना चाहिए। क्योंकि विषय से इन्द्रियों का संबंध या अंतःकरण की वृत्ति का संबंध प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण है। इसलिए पर्वत आदि विषय, उनके ज्ञान की साधन इन्द्रियाँ और अंतःकरण सभी अंदर ही उत्पन्न होते हैं।

यद्यपि स्वप्न के पदार्थ शुक्ति-रजत आदि की भांति साक्षी-भास्य हैं। अंतःकरण और इन्द्रियों का स्वप्न के ज्ञान में कुछ उपयोग

---

† "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" (बृ० उ० ४।३।१०) इस श्रुति का ही उक्त अर्थ है। इसी श्रुति का भाव व्यास जी ने अपने ब्रह्मसूत्र में भी रखा है— "सन्ध्ये सृष्टिराह हि" (३।२।१) सन्ध्या का अर्थ है—स्वप्न, क्योंकि "सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्" (बृ० ४।३।८) इस श्रुति ने स्वप्न को ही सन्ध्य कहा है। जाग्रत् और सुषुप्ति के संधि स्थान में होने से स्वप्न को सन्ध्य कहा जाता है। उस स्वप्न में सृष्टि का प्रतिपादन श्रुति करती है।

नहीं। अतः ज्ञेय पर्वत आदि की ही उत्पत्ति स्वप्न में माननी चाहिए। ज्ञाता, ज्ञान और इन्द्रियों की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं। तो भी जैसे स्वप्न में पर्वत आदि प्रतीत होते हैं। वैसे इन्द्रिय-अन्तःकरण-प्राण-सहित स्थूल शरीर भी स्वप्न में प्रतीत होता है। अतः उनकी भी उत्पत्ति मान लेनी चाहिए।

अथवा—स्वप्न के पदार्थों में नेत्र आदि की विषयता का भान होता है। पर व्यावहारिक नेत्र आदि की विषयता तो स्वप्न के प्रातिभासिक पदार्थों में बन नहीं सकती। क्योंकि समसत्तावाले पदार्थ ही आपस में साधक और बाधक ओते हैं। यह बात पांचवीं तरङ्ग में कह ही चुके हैं। इसलिए व्याहवारिक नेत्र आदि के शरीर में होने पर भी उनसे स्वप्न के पदार्थों की विषम-सत्ता होने से उनकी विषयता स्वप्न के पर्वत आदि में नहीं बन सकती (शरीरस्थ व्यावहारिक नेत्र आदि से स्वप्न के पर्वत आदि को देखना नहीं हो सकता।)

अथवा व्यावहारिक इन्द्रियाँ अपने अपने गोलकों को छोड़कर कार्य करने में समर्थ नहीं होतीं। स्वप्न-अवस्था में हस्त-पाद-वाक् के गोलक तो दूसरों को निश्चल दिखाई ही देते हैं। जैसे स्वप्न में कोई चीज हाथ में लेकर हा-पुकार मचाता हुआ भागता-फिरता है। अतः स्वप्न, स्वप्न में नई इन्द्रियों की उत्पत्ति अवश्य माननी चाहिए। वैसे सुख-दुःख, इनका ज्ञान और इनके ज्ञान का आश्रय प्रमाता स्वप्न में प्रतीत होते हैं। बिना पैदा हुए पदार्थों की प्रतीति नहीं होती। अतः सब समाज (त्रिपुटी) स्वप्न में उत्पन्न होता है।

अनिर्वचनीय ख्याति का यह प्रकार है कि जितने भ्रमज्ञान हैं; उनके विषय सब अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होते हैं। विषय के बिना कोई ज्ञान नहीं होता—यह सिद्धान्त है।

दूसरे शास्त्रों के मत में अन्य पदार्थ का अन्य पदार्थ के रूप में भान होना भ्रम कहलाता है। सिद्धान्त में तो जैसा पदार्थ होता है वैसा ही ज्ञान होता है। अतः भ्रमस्थल में भी विषय उत्पत्ति की अवश्य होती है। क्योंकि विषय के बिना ज्ञान नहीं हो सकता।

इस प्रकार स्वप्न में त्रिपुटी की प्रतीति होने से सारा समाज (त्रिपुटी-समुदाय) उत्पन्न होता है।

शङ्काः—स्वप्न में जो पदार्थ प्रतीत होते हैं। यदि उनकी नई उत्पत्ति मान ली जाय तो जैसे स्वप्न के दृष्टान्त से जाग्रत् के पदार्थों को मिथ्या मानते हैं—यह सिद्धान्त है। वैसे ही जाग्रत् के पदार्थों की भांति उत्पत्तिवाले होने से स्वप्न के पदार्थ भी सत्य मानने पडेंगे। पर यदि स्वप्न के पदार्थों की उत्पत्ति न स्वीकार करें तो यह दोष लागू नहीं होगा। क्योंकि जाग्रत् के पदार्थ तो उत्पन्न हुए मालूम पड़ते हैं और स्वप्न के पदार्थ उत्पन्न हुए बिना ही देखने में आते हैं। इसलिए बिना उत्पन्न हुए पदार्थ स्वप्न में दिखाई देते हैं। उनका ज्ञान भ्रमरूप है और उनकी उत्पत्ति मानना ठीक नहीं। समाधानः—

साधन सामग्री बिना, उपजै झूठ सु होय।
बिन सामग्री ऊपजै यूं तिहि मिथ्या जोय ॥ ७ ॥

जिस वस्तु की उत्पत्ति के लिए जितनी देश-काल आदि सामग्री साधन (कारण) है। उतनी सामग्री के बिना जो उत्पन्न होता है; वह मिथ्या है। स्वप्न के हाथी आदि की उत्पत्ति के लिए योग्य (अपेक्षित) देशकाल है ही नहीं। बहुत समय और बहुत देश में उत्पन्न हो सकनेवाले हाथी आदि क्षणभर काल में और सूक्ष्म कण्ठ-देश में उत्पन्न हो जाते हैं। अतः मिथ्या हैं।

यद्यपि स्वप्न-अवस्था में देश और काल भी अधिक प्रतीत होते हैं। तो भी दूसरे पदार्थों की भांति स्वप्न में अधिक देश

और अधिक काल भी अनिर्वचनीय प्रातिभासिक उत्पन्न होते हैं। क्योंकि विषय के बिना प्रत्यक्षज्ञान होता नहीं। स्वप्न में अधिक देश-काल का ज्ञान होता है। व्यावहारिक देश-काल कम हैं; अतः प्रतिभासिक उत्पन्न होते हैं। पर स्वप्न-अवस्था में उत्पन्न प्रातिभासिक देश-काल स्वप्न-अवस्था के हाथी आदि के कारण नहीं हो सकते। क्योंकि कारण पहले पैदा होता है, और कार्य बाद में। पर स्वप्न के देशकाल और हाथी आदि एक ही समय में (एक ही साथ) प्रतीत होते हैं। उनका कार्य-कारण-भाव बन नहीं सकता। व्यावहारिक देशकाल न्यून (कम) होने के कारण हाथी आदि की उत्पत्ति के योग्य (अनुकूल) नहीं। अतः देशकाल सामग्री के बिना उत्पन्न होते हैं। इसलिए स्वप्न के पदार्थ मिथ्या हैं।

किञ्च जननी आदि हाथी आदि की उत्पत्ति की सामग्री स्वप्न में नहीं। यद्यपि स्वप्न में प्राणियों के माता-पिता भी प्रतीत होते हैं। तो भी स्वप्न के माता-पिता पुत्र की उत्पत्ति के कारण नहीं। क्योंकि माता-पिता और पुत्र क्षणभर में साथ-साथ उत्पन्न होते हैं। अतः उनका कार्य-कारणभाव नहीं। जिस निद्रा सहित अविद्या से स्वप्न के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। वही अविद्या उन पदार्थों में मातापन, पितापन और पुत्रपन उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार स्वप्न के पदार्थों की उत्पत्ति में दूसरी कोई सामग्री नहीं। किन्तु निद्रारूप दोष-सहित अविद्या ही कारण है। जो दोष-सहित अविद्या से जन्य (पैदा) होता है; वह मिथ्या हैं। उनका उपादान कारण अन्तःकरण है। अथवा साक्षात् अविद्या ही उनका उपादान कारण है। प्रथम पक्ष में साक्षी चेतन स्वप्न का अधिष्ठान है और द्वितीय पत्त में ब्रह्म चेतन स्वप्न का अधिष्ठान † है। स्वप्न अन्तकरण

† वेदान्त-सिद्धान्त में दो प्रधान मत हैं—दो-सत्ता-वादी और तीन-

करण या अविद्या का परिणाम और चेतन का विवर्त है।

शङ्का—दूसरे पत्त में ब्रह्म चेतन स्वप्न का अधिष्ठान कहा और अविद्या को उपादान कारण। "अधिष्ठान के ज्ञान से कल्पित की निवृत्ति होती है" यह नियम है। स्वप्न का अधिष्ठान ब्रह्म है। इसलिए ब्रह्मज्ञान के बिना अज्ञानी को जाग्रत् अवस्था में भी स्वप्न की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए ?

दूसरी बात—जैसे स्वप्न का अधिष्ठान ब्रह्म और उपादान कारण अविद्या है। वैसे ही वेदान्त-सिद्धान्त में जाग्रत् के व्यावहारिक पदार्थों का भी अधिष्ठान ब्रह्म है और उपादान कारण अविद्या है। जाग्रत् के पदार्थों को व्यावहारिक और स्वप्न के पदार्थों को प्रातिभासिक कहते हैं। यह भेद क्यों ? कारण कि कि दोनों का अधिष्ठान ब्रह्म है और उपादान कारण अविद्या है। या तो दोनों (जाग्रत्-स्वप्न) को व्यावहारिक कहना चाहिए या दोनों को प्रातिभासिक ?

समाधान—निवृत्ति दो प्रकार की होती है। यह बात पहले ख्याति के निरूपण में कह आये हैं। १—कारण सहित कार्य की

सत्ता-वादी। दृष्टि-सृष्टि-वादी दो ही सत्ताएँ मानते हैं—पारमार्थिक और प्रातिभासिक। इनके मत से जाग्रत् और स्वप्न दोनों प्रपञ्चों का अधिष्ठान है—ब्रह्मचेतन। किन्तु तीन सत्तावादियों के मत में जाग्रत और स्वप्न का अधिष्ठान भिन्न-भिन्न रहेगा। जैसे—स्थूल-सूक्ष्म देह-द्वयावच्छिन्न कूटस्थ चेतन पारमार्थिक जीव है मायावृत कूटस्थ में कल्पित अन्तःकरण में चिदाभास व्यावहारिक जीव है। निद्राक्रान्त व्यावहारिक जीव में कल्पित प्रातिभासिक जीव है। इस प्रकार विद्यारण्यस्वामी आदि विद्वान् तीन सत्ताएँ मानते हैं। इनके मत में स्वप्न के जीवका अधिष्ठान व्यावहारिक जीव है। स्वप्न-प्रपञ्च का अधिष्ठान जाग्रत जगत्। स्वप्न-अध्यास का उपादान तूलाज्ञान (अवस्थाज्ञान) है, जो व्यावहारिक जीव और जगत् का आवरक है।

विनाशरूप अत्यन्त-निवृत्ति तो स्वप्न की जाग्रत् में ब्रह्मज्ञान के विना हो ही नहीं सकती। २—पर जैसे डण्डे के प्रहार से घड़े का मिट्टी में लय हो जाता है। वैसे स्वप्न का कारण जो निद्रारूप दोष उसके नाश से अथवा स्वप्न के विरोधी जाग्रत् की उत्पत्ति से अविद्या में स्वप्न की लयरूप निवृत्ति ब्रह्मज्ञान के विना हो सकती है।

दूसरी बात जो कही कि "जाग्रत और स्वप्न दोनों समान होने चाहिएँ" यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जाग्रत् के देह आदि पदार्थों की उत्पत्ति में तो अन्य-दोष-रहित केवल अनादि अविद्या ही उपादान कारण है और स्वप्न के पदार्थों में सादि निद्रा दोष भी अविद्या का सहायक है। अतः अन्य-दोष-रहित केवल अविद्या-जन्य को व्यावहारिक कहते हैं और सादि† दोष-सहित अविद्याजन्य को प्रातिभासिक। स्वप्न के पदार्थ निद्रा दोष-सहित अविद्याजन्य होने से प्रातिभासिक हैं और जाग्रत् के पदार्थ अन्य दोष-रहित अविद्याजन्य होने से व्यावहारिक हैं। इस प्रकार स्वप्न के पदार्थों में जाग्रत् के पदार्थों से विलक्षणता है।

पर यह सब तीन प्रकार की सत्ता मान करके स्थूलदृष्टि से कहा है। विचार-दृष्टि से तो तीन प्रकार की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती एवं जाग्रत् और स्वप्न की परस्पर विलक्षणता भी नहीं बन सकती।

दृष्टि-सृष्टि वाद-निरूपण

यद्यपि वेदान्त-परिभाषा आदि ग्रन्थों में पूर्वोक्त प्रकार से व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थों का भेद कहा है। अतः तीन सत्ताएँ मानी हैं। वैसे ही विद्यारण्यस्वामी ने भी तीन सत्ताएँ मानी हैं। क्योंकि यह प्रसङ्ग उन्होंने दिया है कि "दो प्रकार के वह आदि पदार्थ हैं। एक ईश्वर-रचित जो बाहर हैं और

† सादिदोष = तूलाविद्याजन्य।

दूसरे जीव के सङ्कल्प-रचित जो मनोमय (अन्दर) हैं। इन दोनों में से जीव-सङ्कल्प-रचित अन्तर (मनोमय) साक्षीभास्य हैं और ईश्वर-रचित जो बाह्य हैं; वे प्रमाता-प्रमाण के विषय हैं। अन्तर्-मनोमय देह आदि ही जीव के लिए सुख-दुख के कारण हैं। बाह्य जो ईश्वर रचित; वे सुख-दुख के कारण नहीं। इसलिए मुमुक्षु को अन्तर्=मनोमय पदार्थों की निवृत्ति अपेक्षित है (आवश्यक है)। बाह्य प्रपञ्च सुख-दुःख का कारण नहीं। अतः उसकी निवृत्ति की भी आवश्यकता नहीं।

जैसे किन्हीं दो मनुष्यों के दो लड़के विदेश में गये हुए हैं। वहां एक का पुत्र मर गया और दूसरे का जीवित है। जीवित पुत्र बहुत समृद्धिशाली बन गया। वह किसी मनुष्य के द्वारा अपने पिता को अपनी प्राप्त समृद्धि का सन्देश और अपने साथी के मरण का समाचार भेजता है। वह सन्देहवाहक धूर्त है। उसने जिसका पुत्र जीवित है उससे कहा कि "तेरा पुत्र मर गया है" और जिसका सचमुच मर गया है; उससे कहा कि "तेरा पुत्र कुशल-पूर्वक है, बहुत समृद्धि शाली बन गया है और कुछ ही दीनों में हाथी पर चढ़कर अत्यन्त धूम-धाम से आवेगा।' इस धूर्त के वचन सुनते ही जीवित पुत्र का पिता रोने लग जाता है और महान् शोक में डूब जाता है। मृतपुत्र का पिता आनन्द से नाचने लगता है।

विदेश में ईश्वर-रचित पुत्र जीवित है। पर मनोमय पुत्र मर गया। अतः शोक होता है। ईश्वर-रचित के जीने का सुख नहीं होता। दूसरे का ईश्वर-रचित पुत्र मर गया है; उसका उसे शोक नहीं होता। पर मनोमय जीवित है और उसका सुख होता है।

जीव सृष्टि ही सुख-दुःख का कारण है। ईश्वरसृष्टि सुख दुःख कारण नहीं। इस प्रकार विद्यारण्यस्वामी ने सृष्टि के दो भेद

माने—जीवसृष्टि और ईश्वरसृष्टि। जीवसृष्टि प्रातिभासिक और ईश्वरसृष्टि व्यावहारिक है।

ऐसे ही अन्य ग्रन्थकारों ने भी सत्ता तीन प्रकार की मानी है। चेतन की परमार्थ-सत्ता है। चेतन से भिन्न जड़ पदार्थों की दो प्रकार की सत्ता हैः—एक व्यावहारिक-सत्ता और दूसरी प्राप्तिभासिक सत्ता। सृष्टि के आरंभ में ईश्वर के संकल्प से उत्पन्न हुए जो केवल अविद्या के कार्य पांच भूत और उनके कार्यों की व्यावहारिक सत्ता है। दोष-सहित अविद्या के कार्य स्वप्न-शुक्ति-रजत-आदि की प्रातिभासिक सत्ता है। इस प्रकार जाग्रत् के पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता और स्वप्न के पदार्थों की प्राप्तिभासिक सत्ता है, तो भी सब अनात्म पदार्थों की प्रातिभासिक ही सत्ता है। अतः दो प्रकार की सत्ता है। १—चेतन की पारमार्थिकसत्ता और २—चेतन से भिन्न सब अनात्म की प्रातिभासिक सत्ता। जाग्रत् और स्वप्न के पदार्थों की कुछ भी विलक्षणता सिद्ध नहीं होती। इस उत्तम सिद्धांत को (दृष्टि-सृष्टि-वाद) कहते हैंः—

बिन सामग्री उपजत यातैं। स्वप्न-सृष्टि सब मिथ्या तातैं।
देस-काल को लेस न जामैं। सर्व जगत उपजत है तामैं ॥८॥

स्वप्न-समान झूठ जग जानहु। लेस सत्य ताकूं मति मानहु।
जाग्रत मांहि स्वप्न नहिं जैसैं। स्वप्न मांहि जाग्रत् नहिं तैसैं ॥९॥

अर्थात् देश-कालरूप सामग्री के बिना स्वप्न के हाथी-पर्वत आदि उत्पन्न होते हैं। अतः मिथ्या हैं। वैसे ही आकाश आदि प्रपंच की सृष्टि भी ब्रह्म से उत्पन्न होती है। उस ब्रह्म में देशकाल का लेश भी नहीं। यद्यपि स्वप्न में हाथी-पर्वत आदि के लिए योग्य देश-काल नहीं; तो भी थोड़ा काल तो है ही। और आकाश आदि की सृष्टि में तो थोड़ा देश-काल भी नहीं। क्योंकि देश-काल-रहित परमात्मा से आकाश आदि की सृष्टि वर्णित की है; जैसे तैत्तिरीय श्रुति में

आकाश आदि की ही क्रम से सृष्टि कही है। देश और काल की नहीं। (ख) सूत्रकार और भाष्यकार ने भी देश-काल की सृष्टि नहीं कही। सृष्टि नाम है। उत्पत्ति का तैत्तिरीय श्रुति और सूत्रकार-भाष्य-कार का यही अभिप्राय है कि आकाश आदि प्रपंच की उत्त्पत्ति देश-काल-रूप सामग्री के विना होती है। अतः आकाश आदि भी स्वप्न ‡ की भांति मिथ्या हैं।

मधुसूदन स्वामी ने देश और काल को साक्षात् अविद्या का कार्य कहा है। अतः मायाविशिष्ट परमात्मा से माया के प्रथम

‡ यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि आकाशादि मिथ्या हैं स्वप्न के दृष्टान्त से, तो स्वप्न किस दृष्टान्त से मिथ्या है? इसका उत्तर यह है कि केवल दृष्टान्त से किसी की सिद्धि नहीं होती; अपितु सद्धेतु से हुआ करती है। यहाँ आकाशादि के मिथ्यात्व में हेतु है—दिक्कालादि के विना होना। हाँ, इस हेतु का सपक्ष में दर्शन आवश्यक है। सपक्ष है स्वप्न प्रपंच। जब स्वप्न को पक्ष बनाकर मिथ्यात्व उसी हेतु से सिद्ध करें, तब सपक्ष होगा ऐन्द्रजालिक का बनाया सर्प आदि। ऐन्द्रजालिक-निर्मित सर्प आदि में प्रत्यक्षतः देशादिका अभाव निश्चित है। अतः वहाँ अनुमान से मिथ्यात्व सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। यद्यपि इन्द्रजाल के दृष्टान्त से सीधा आकाशादि को मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है; मध्य में स्वप्न की आवश्यकता ही नहीं। तथापि स्वप्न-प्रत्यय के आधार पर जाग्रत-प्रत्यय की निरालम्बनता बौद्धों ने बड़े अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध की है। उसे मिथ्यात्व सिद्ध करने में सुकरता और सुगमता है।

आकाश आदि की उत्पत्ति में भी देशादि कारण है। देहादि के बिना इनकी उत्पत्ति नहीं होती यह कहना संगत न होगा। क्योंकि प्रपंच में देशादि भी हैं। देशादि की उत्पत्ति में उन्हीं देश आदि की अपेक्षा में आत्माश्रय, दूसरे देश आदि की अपेक्षा में अन्योन्याश्रय, तीसरे की अपेक्षा में चक्रिका, आगे अनवस्था होगी। अतः देशादि की उत्पत्ति देशादि के बिना ही कहनी होगी। देशादि-निरपेक्ष जो उत्पन्न होता है, वह मिथ्या होता है। अतः इनका मिथ्या होना निश्चित है।

परिणाम देश–काल होते हैं। उनके बाद आकाश आदि की उत्पत्ति होती है। अतः योग्य देशकाल से आकाश आदि प्रपंच की उत्पत्ति हो सकती है।

पर मधुसूदन स्वामी का यह अभिप्राय नहीं कि देशकाल प्रथम होते हैं और आकाश आदि (उत्तर) बाद में। क्योंकि अतीत काल में होनेवाले को प्रथम (पूर्व) और भविष्यत्काल में होनेवाले को उत्तर कहते हैं। आकाश आदि की उत्पत्ति काल से पूर्वकाल–उपहित परमात्मा देश–काल का अधिष्ठान है—यह सिद्ध हो जायगा। अतः देश–काल को उत्पत्ति के लिए पूर्वकाल की अपेक्षा= जरूरत रहेगी। काल की उत्पत्ति के बिना पूर्वकाल असिद्ध है। अतः आकाश आदिसे पहले देशकाल †आदि होते हैं" यह कहना ठीक नहीं।

मधुसूदन स्वामी का अभिप्रायः—जैसे भूत–भौतिक–प्रपञ्च प्रतीत होता है। वैसे देशकाल भी प्रतीत होते हैं। आत्मा से भिन्न कोई नित्य नहीं। अतः देशकाल भी नित्य नहीं। बिना उत्पन्न हुए प्रतीति नहीं होती। अतः आकाश आदि की भाँति देश–काल की भी उत्पत्ति होती है। वे देशकाल माया के परिणाम हैं और चेतन के विवर्त्त हैं। विवर्त्त किसी का कारण नहीं होता। अतः आकाश आदि की उत्पत्ति में देशकाल कारण सिद्ध नहीं होते।

अथवा—कारण प्रथम होता है और कार्य उत्तर (बाद में)। आकाश आदि प्रपञ्च से देश–काल पहले होते हैं। यह कहना भी नहीं बनता। इस का उत्तर अभी दे ही आये हैं। इसलिए भी देश–काल आकाश आदि प्रपञ्च के कारण नहीं बन सकते। किन्तु स्वप्न के पितापुत्र की भांति देश–काल–सहित आकाश आदि प्रपञ्च मायाविशिष्ट परमात्मा से उत्पन्न होता है।

---

† यहाँ 'आदि' शब्द से अदृष्ट का ग्रहण है।

कुछ पदार्थ किसी देश और किसी काल में उत्पन्न होते हैं। पर दूसरे देश और काल में उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार सब पदार्थ प्रलयकाल में उत्पन्न नहीं होते और सृष्टिकाल में उत्पन्न होते हैं। अतः देश-काल कारण प्रतीत भी होते हैं। तो भी जिस माया से देश-काल-सहित प्रपञ्च की उत्पत्ति है। उस माया से देश-काल में कारणता और अन्य प्रपञ्च में कार्यता प्रतीत होती है। आकाश आदि प्रपञ्च के देश-काल कारण नहीं।

शङ्का—(पूर्वपक्षी) बिना उत्पन्न हुए पदार्थों की प्रतीति नहीं होती और सिद्धान्त में स्वीकार भी नहीं की गई। यदि बिना उत्पन्न हुओं की प्रतीति स्वीकार कर लें तो असत्-ख्याति माननी पड़ेगी। बिना हुए वन्ध्यापुत्र-शशश्रृंङ्ग आदि की प्रतीति होनी चाहिए। अतः बिना हुओ की प्रतीति नहीं होती। यदि देशकाल में कारणता न हो तो उनमें सब पदार्थों की कारणता माया के बल से भी प्रतीत नहीं होनी चाहिए। देशकाल में कारणता प्रतीत होती है। अतः देशकाल समस्त प्रपञ्च के कारण हैं।

यदि आप ऐसा कहें कि "सारे प्रपञ्च का कारण ब्रह्म है। उसकी कारणता ही देशकाल में प्रतीत होती है। देशकाल में कारणता नहीं।" ऐसा कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि जैसे देश-काल का अधिष्ठान ब्रह्म है। वैसे ही सारे प्रपञ्च का अधिष्ठान ब्रह्म है। देशकाल में तो ब्रह्म की कारणता प्रतीत होती है। और दूसरों में प्रतीत क्यों नहीं होती ? इस विषय में आपके पास कोई युक्ति नहीं। अतः अधिष्ठान ब्रह्म की कारणता देशकाल में प्रतीत होती है। ब्रह्म तो सारे प्रपञ्च का अधिष्ठान है, उसमें भी कारणता प्रतीत होनी चाहिए। किसी में कारणता और किसी में कार्यता यह भेद नहीं होना चाहिए।

अथवा—देशकाल में कारणता नहीं और ब्रह्म में कारणता है। ब्रह्म की वह कारणता देशकाल में प्रतीत हो रही है। ऐसा

कहने से भी अन्यथा-ख्याति माननी पड़ेगी। क्योंकि अन्य वस्तुकी अन्यरूप से प्रतीति ही अन्यथा-ख्याति कहलाति है। देशकाल को आप कारण नहीं मानते। कारण से अन्य अकारण होता है। अकारणरूप देशकाल की। अन्यरूप=कारणरूप से प्रतीति मानने में अन्यथा-ख्याति स्वीकार करनी होगी। पर सिद्धांत में अन्यथा-ख्याति स्वीकारी नहीं।

यदि यहां अन्यथाख्याति स्वीकार कर लेंगे तो सीपी में जो अनिर्वचनीय चांदी की उत्पत्ति सिद्धांत में स्वीकार की है वह निष्फल हो जायगी। क्योंकि अन्यथाख्याति में दो मत हैं:—एक तो अन्यदेश में स्थित पदार्थ की अन्य देश में प्रतीति अन्यथा ख्यातिः—जैसे स्त्री के हाथ में वर्तमान चांदि की सामने के शुक्तिदेश में प्रतीति अन्यथा-ख्याति है। दूसरी, अन्य पदार्थ की अन्यरूप से प्रतीति अन्यथा-ख्याति है। जैसे सीपी की चांदीरूप से प्रतीति अन्यथा ख्याति है। ऐसे ऐसे सभी स्थलों पर जब अन्यथाख्याति से निर्वाह हो सकता है, फिर अनिर्वचनीय चांदी आदि की उत्पत्ति का कथन असंगत हो जायगा।

यदि आप ऐसा कहें कि विषय के समानाकार ज्ञान होता है। अन्य वस्तु का अन्यरूप से ज्ञान हो नहीं सकता अतः रजताकार ज्ञान का विषय भी अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न होती है इस अद्वैत-सिद्धांत में कारण से अन्य जो देशकाल उनमें ब्रह्म में की कारणता का ज्ञान हो नहीं सकता। अतः देशकाल में जो कारणता प्रतीत होती है उसका बिना उत्पन्न हुई काया ब्रह्म में विद्यमान का भान नहीं हो सकता। किंतु देशकाल में ही कारणता है; उसका भान होता है। इस प्रकार "आकाश आदि प्रपंच के कारण देश-काल नहीं" यह कहना असंगत है।

समाधान—(सिद्धांती) यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि ब्रह्म की

कारणता देशकाल में प्रतीत होती है। जैसे जपा (अड़हुल-गुड़हल) कुसुम से संबद्ध स्फटिक में कुसुम (फूल) की लाली प्रतीत होती है। अधिष्ठान की सत्यता स्वप्नकालिक मिथ्या हाथी पर्वत आदि में प्रतीत होती है। वहां स्फटिक में अनिर्वचनीय लाली की उत्पत्ति नहीं मानी। किन्तु फूल की लाली स्फटिक में प्रतीत होती है। अतः सफेद स्फटिक की लाल रूप से प्रतीति होने के कारण लाली के ज्ञान में अन्यथाख्याति ही मानी है।

वैसे ही स्वप्न के मिथ्या पदार्थों में सत्यता प्रतीत होती है। वहाँ अनिर्वचनीय सत्यता उन पदार्थों में उत्पन्न होती है-ऐसा कहना तो "सत्य मिथ्या है" इस (व्याधात-दोषवाले) वचन की भाँति बन नहीं सकता। बिना हुए की प्रतीति होती नहीं। किंतु स्वप्न के अधिष्ठान चेतन की सत्यता मिथ्या पदार्थों में प्रतीत होती है। इसलिए मिथ्था पदार्थों की सत्यरूप से प्रतीति होने के कारण सत्यता के ज्ञान में अन्यथाख्याति ही मानी है। इसी प्रकार अधिष्ठान ब्रह्म की कारणता देशकाल में अन्यथाख्याति से प्रतीत होती है।

पूर्वपक्षी—जब आप यहाँ अन्यथाख्याति मान लेते हैं तो सभी भ्रम-स्थलोंपर यही ख्याति क्यों नहीं मानते ?

सिद्धान्ती—क्योंकि सीपी-चाँदी आदि भ्रम-स्थलों में अन्यथाख्याति मानने से यह दोष आ जाता है कि 'विषय से विलक्षण ज्ञान नहीं होता।' जहाँ स्फटिक में लाली का ज्ञान होता है, वहाँ लाल फूल का स्फटिक से संबंध है। अतः स्फटिक सम्बन्धी फूल की लाली स्फटिक में प्रतीत होती है। क्योंकि अंतःकरण की वृत्ति जब लाल फूल के आकार की-सी होती है। उस वृत्ति का विषय लाल फूल-संबद्ध (संबंधित) स्फटिक है। अतः फूल की लाली स्फटिक में प्रतीत होती है। वैसे सीपी का रजतरूप से ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि सीपी-देश में अनिर्वचनीय और व्यावहारिक रजत (चाँदी) दूसरे मतों में तो मानी ही नहीं;

किन्तु सीपी है। उस सीपी के सम्बन्ध से सीपी के समानाकार ही अन्तःकरण की वृत्ति होगी। रजताकार अन्तःकरण की वृत्ति हो नहीं सकती। इसलिए अविद्या का परिणाम और चेतन का विवर्त अनिर्वचनीय रजत एवं उसका ज्ञान दोनों उत्पन्न होते हैं।

जहाँ स्फटिक में लाली प्रतीत होती है। वहाँ वृत्ति का सम्बन्ध स्फटिक और लाल फूल दोनों से होता है। लाल फूल के सम्बन्ध से लाल–आकार वृत्ति होती है। उस वृत्ति का स्फटिक से भी सम्बन्ध है और स्फटिक में लाली की छाया है। अतः स्फटिक में फूल का धर्म, लाली उसी वृत्ति का विषय है [अर्थात् जो वृत्ति फूल में लाली का आकार धारण करती है; वही वृत्ति स्फटिक में भी लाली का आकार धारण करती है।]

इस प्रकार (क) जहाँ दो पदार्थों का सम्बन्ध है; वहाँ एक के धर्म की दूसरे में प्रतीति हो सकती है। वही अन्यथा–ख्याति होती है। (ख) जहां दोनों पदार्थों का सम्बन्ध नहीं; वहाँ अन्यथा–ख्याति नहीं होती। किन्तु अनिर्वचनीय ख्याति होती है। जैसे पुष्प सम्बद्ध स्फटिक में पुष्प की रक्तता प्रतीत होती है। वैसे स्वप्न के हाथी–पर्वत आदि का भी अधिष्ठान चेतन से सम्बन्ध है। अतः चेतन का धर्म सत्यता भी चेतन सम्बद्ध हाथी–पर्वत आदि में प्रतीत होती है। वह अन्यथाख्याति है। वैसे ही अधिष्ठान चेतन का धर्म कारणता अधिष्ठान चेतन–सम्बद्ध देश–काल में प्रतीत होती हैं।

जाग्रत् प्रपञ्च, सामग्रीके बिना होनेसे स्वप्नके समान मिथ्या है

पूर्वपक्षी—मैंने पहले कहा है कि यदि अन्यथाख्याति की भांति अधिष्ठान चेतन के सम्बन्धवाले देशकाल में चेतन का धर्म, कारणता प्रतीत होती हो तो अधिष्ठान चेतन का सम्बन्ध तो समस्त प्रपञ्च के साथ है। अतः अन्यथाख्याति की भांति समस्त प्रपञ्च में कारणता प्रतीत होनी चाहिए ?

सिद्धान्ती—यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि जैसे स्वप्न में दो शरीर उत्पन्न होते हैं। एक शरीर पितारूप प्रतीत होता है और दूसरा पुत्ररूप। इन दोनों शरीरों का स्वप्न के अधिष्ठान चेतन से सम्बन्ध भी है। फिर भी पिता-शरीर में अधिष्ठान चेतन की कारणता प्रतीत होती है और पुत्र-शरीर में कारणता प्रतीत नहीं होती। किन्तु पिता-जन्य पुत्र है। इस प्रकार पुत्र-शरीर में कार्यता प्रतीत होती है। यद्यपि अधिष्ठान चेतन से सम्बन्ध तो सभी का है। तो भी देश-काल में चेतन के धर्म कारणता की प्रतीति होती होती है। औरों में कार्यता की प्रतीति होती है।

अथवा—अधिष्ठान चेतन असङ्ग है। वह किसी का परमार्थतः कारण नहीं। माना कि माया में आभास कारण है। तो भी आभास का स्वरूप मिथ्या होता है। जो स्वयं मिथ्या है, वह दूसरे का कारण क्या खाक बनेगा ? यदि परमात्मा में प्रपञ्च की कारणता हो तो उसकी प्रतीति भी भ्रम से देशकाल में हो। पर परमात्मा में कारणता है ही नहीं। परमात्मा कारणता आदि धर्मों से रहित असङ्ग है, उसकी कारणता देश-काल में प्रतीत होती है। यह कहना बन नहीं सकता। किन्तु मायाकृत अनिर्वचनीय देशकाल अनिर्वचनीय कारणतावाले होते हैं। परमार्थ से देशकाल कारण नहीं। जैसे पुत्रहीन पुरुष स्वप्न में पुत्र और पौत्र दोनों को देखता है। वहाँ, पुत्र-पौत्र-शरीर अनिर्वचनीय होते हैं और पुत्रशरीर में पौत्रशरीर की अनिर्वचनीय कारणता होती है। वहाँ परमार्थतः पुत्र-शरीर और पौत्रशरीरका परस्पर कार्यकारण भाव नहीं होता। वैसे ही अनिर्वचनीय कारण देशकाल प्रतीत होते हैं। परमार्थतः देश-काल और आकाश आदि प्रपञ्च का कार्यकारणभाव है ही नहीं।

इसप्रकार देशकाल सामग्री के बिना जाग्रत प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है। अतः स्वप्न की भांति जाग्रत् भी मिथ्या है। जैसे

स्वप्न के स्त्री-पुत्र आदि स्वप्न में ही सुख-दुःख के कारण हैं और जाग्रत में उनका अभाव है। वैसे ही जाग्रत के पदार्थों का स्वप्न में अभाव होता है। दोनो समान हैं।

पूर्वपक्षी—जाग्रत् के बाद स्वप्न होता है और फिर जाग्रत् होता है। पहले जाग्रत् के पदार्थ ही स्वप्न के बाद के जाग्रत् में रहते हैं। पर पहले स्वप्न के पदार्थ दूसरे स्वप्न में नहीं रहते। इसलिए स्वप्न के पदार्थों से जाग्रत् के पदार्थ विलक्षण हैं।

सिद्धान्ती—ऐसी शङ्का वही लोग कर सकते हैं जो सिद्धान्त-से अनभिज्ञ हैं। क्योंकि मूढ़ों की ऐसी दृष्टि है कि संसार-प्रवाह अनादि है और उसमें जीवों को जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ होती रहती हैं। १—जाग्रत् काल में स्वप्न और सुषुप्ति नष्ट हो जाती हैं। २—स्वप्नकाल में जाग्रत् और सुषुप्ति नष्ट हो जाती हैं और ३—सुषुप्तिकाल में जाग्रत् और स्वप्न नष्ट हो जाते हैं। "जब स्वप्न और सुषुप्ति होती हैं; तब जाग्रत् काल के स्त्री-पुत्र-पशु-धन आदि दूर नहीं होते। किन्तु बने ही रहते हैं। उनका ज्ञान ही दूर होता है। जब फिर जाग्रत् होता है; तब पहली जाग्रत् अवस्था के विद्यमान पदार्थों का ज्ञान होता है।" यह अज्ञानी मूर्ख की दृष्टि है।

सिद्धान्त यह है कि सभी पदार्थ चेतन के विवर्त हैं और अविद्या के परिणाम हैं। इसलिए सीपी में चाँदी की भांति जिस समय जो पदार्थ प्रतीत होता हैं; उस समय अधिष्ठान चेतन-आश्रित अविद्या का द्विविध (दो प्रकार का) परिणाम होता है। १—अविद्या के तमोगुण अंश का घट आदि विषयरूप परिणाम होता है और २—अविद्या के सत्त्वगुण का ज्ञानरूप परिणाम होता है। यद्यपि चेतन को ज्ञान कहते हैं। अतः सत्त्वगुण का परिणाम ज्ञान है। यह कहना भी नहीं बनता। तो भी सभी व्यापक चेतन ज्ञान नहीं। किन्तु साभासवृत्ति में आरूढ़ चेतन को ज्ञान कहते

हैं। चेतन में ज्ञानव्यहार की सम्पादक वृत्ति है। इस प्रकार चेतन में ज्ञानपन की सम्पादक वृत्ति है।

चेतन में ज्ञानपन की उपाधि वृत्ति है। इसमें भी ज्ञान शब्द का प्रयोग होता है। जैसे लोग कहते हैं कि "घट का ज्ञान उत्पन्न हुआ। पट का ज्ञान नष्ट हुआ" उस वृत्ति में आरूढ़ चेतन का तो उत्पत्ति और विनाश हो नहीं सकता। वृत्ति के उत्पत्ति और विनाश होते हैं, पर कहे जाते हैं ज्ञान के उत्पत्ति-विनाश। इसलिए वृत्ति में भी ज्ञान शब्द का प्रयोग होता है। वह वृत्तिरूप ज्ञान सत्त्वगुण का परिणाम है; यह कह सकते हैं। (क) उस वृत्तिरूप परिणाम में चेतन का आभास होता है। (ख) घट आदि विषयरूप परिणाम में चेतन का आभास नहीं होता; क्योंकि विषय और वृत्ति यद्यपि दोनों अविद्या के परिणाम हैं। तो भी घट आदि विषय तो अविद्या के तमोगुण का परिणाम है; अतः मलिन है। उसमें आभास नहीं होता। वृत्ति सत्त्वगुण का परिणाम है; अतः स्वच्छ है। उसमें आभास होता है। वृत्ति में चेतन का आभास ग्रहण करने की योग्यता होने से वृत्ति अवच्छिन्न चेतन को ज्ञान और साक्षी कहते हैं, घट आदि विषयों में आभास ग्रहण कहने की योग्यता नहीं। अतः विषय-अवच्छिन्न चेतन ज्ञान भी नहीं और साक्षी भी नहीं। इस प्रकार जाग्रत् के पदार्थ और उनका ज्ञान साथ-साथ उत्पन्न होते हैं और साथ-साथ नष्ट हो जाते हैं। यह वेद का गूढ सिद्धान्त है। अतः एक जाग्रत् के पदार्थ दूसरी जाग्रत् अवस्था में रहते हैं। यह कहना युक्ति-युक्त नहीं।

जाग्रत् के पदार्थों का परस्पर कार्यकारणभाव नहीं

यद्यपि स्वप्न से जागे हुए मनुष्य को ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है कि "जो पदार्थ पहले थे वही ये हैं"। अतः जाग्रत् के पदार्थों का ज्ञान के समकाल उत्पत्ति और विनाश नहीं होता। किन्तु

ज्ञान के पहले विद्यमान होते हैं और ज्ञान के नाश के बाद भी रहते हैं।

तथापि जैसे स्वप्न के पदार्थ उसी क्षण उत्पन्न होते हैं। पर प्रतीत ऐसे होते हैं कि मेरे जन्म से भी पहले उत्पन्न हुए ये पर्वत-समुद्र आदि हैं। वहाँ तत्काल उत्पन्न हुए पदार्थों में बहुकालिक स्थिरता की भ्रान्ति होती है। अतः जिस अविद्या ने मिथ्या पर्वत-समुद्र आदि उत्पन्न किये हैं। उसी अविद्या से बहु-कालिक स्थिरता और स्थिरता की प्रतीति भी अनिर्वचनीय उत्पन्न होती है। वैसे ही जाग्रत के पदार्थों में भी अनेक-दिवसीय स्थिरता है नहीं। किन्तु अविद्या के बल से मिथ्या स्थिरता भी उन पदार्थों के साथ-साथ उत्पन्न होकर प्रतीत होती है।

पूर्वपक्षी--स्वप्न के पदार्थ साक्षात् अविद्या के परिणाम हैं और जाग्रत् के पदार्थ साक्षात् अविद्या के परिणाम नहीं। किन्तु घट की उत्पत्ति दण्ड-चाक और कुम्हार से होती है। वैसे ही सब पदार्थों की उत्पत्ति अपने अपने कारण से होती है। साक्षात् अविद्या से नहीं। यदि साक्षात् अविद्या का परिणाम हों तो आकाश आदि क्रम से पांचों भूतों की उत्पत्ति और पञ्चीकरण तथा उनसे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति श्रुति में कही है, वह असङ्गत हो जायगी। इसलिए ईश्वर-सृष्टिरूप जाग्रत् के पदार्थ अपने अपने उपादान के परिणाम हैं। अविद्या के साक्षात् परिणाम नहीं। स्वप्न के सभी पदार्थ अविद्या के परिणाम हैं। उनका एक ही अविद्या उपादान होने से पदार्थों की और उनके ज्ञान की एक ही अविद्या से एक ही काल में उत्पत्ति हो सकती है। जाग्रत् के पदार्थ भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होते हैं। कार्य से पहले कारण होता है और कारण में कार्य का लय होता है। अतः घट की उत्पत्ति से पहले और घट के नाश के बाद मिट्टी का पिण्ड रहता ही है। इस प्रकार कार्य-कारण-रूप कोई पदार्थ अल्पकाल

(थोड़ी देर) और कोई पदार्थ अधिक-काल (बहुत समयतक) स्थिर रहते हैं। स्वप्न में ऐसा नहीं।

सिद्धान्ती—आप का यह कहना भी यथार्थ नहीं। क्योंकि जाग्रत् के पदार्थों की भांति स्वप्न के पदार्थों में भी कार्यकरण-भाव प्रतीत होता है। किसी को स्वप्न आया कि "मेरी गाय के बछड़ा हुआ है और स्त्री के पुत्र" वहाँ गाय और स्त्री में कारणता की तथा बहुकालस्थायिता की प्रतीति होती है। बछड़े और पुत्र में कार्यता और अल्पकाल स्थिरता प्रतीत होती है। हैं सभी समकालिक; कोई किसी का कारण नहीं। किन्तु गाय-बछड़ा-स्त्री आदि का अविद्या ही उपादान है। वैसे ही जाग्रत् में भी कोई अधिककाल स्थायी कारणरूप से और कोई न्यूनकालस्थायी कार्य-रूप से स्वप्न की भांति प्रतीत होता है। कोई किसी का परस्पर कार्यकारणभाव नहीं। किन्तु साक्षात् अविद्या के कार्य हैं।

श्रुति में जो क्रम से सृष्टि कही है, वहां सृष्टि-प्रतिपादन में श्रुति का अभिप्राय नहीं। किन्तु अद्वैत-बोधन में अभिप्राय है। सभी पदार्थ परमात्मा से उत्पन्न होते हैं। अतः उसके विवर्त हैं। जो जिसका विवर्त होता है। वह उसीका स्वरूप होता है। अतः अखिल नाम-रूप ब्रह्म से अलग नहीं, ब्रह्म ही है। यही अर्थबोधन करने के लिए (समझाने के लिए) सृष्टि कही है। सृष्टि का और कोई प्रयोजन नहीं।

यह सृष्टिक्रम इसलिए है कि स्थूलदृष्टिवाले भी विपरीत क्रम से लय-चिन्तन कर सकें। प्रयोजन उनका भी अद्वैतबोध ही है; क्रम-कथन करने में अभिप्राय नहीं। सृष्टि में क्रम नहीं; किन्तु सभी पदार्थ एक ही अविद्या से पैदा होते हैं। उनका पर-स्पर कार्य कारणभाव और पूर्व-उत्तर-भाव अविद्याकृत स्वप्न की भाँति मिथ्या प्रतीत होते हैं। श्रुति ने जो उनकी आपस में कार्य-कारणता और पूर्व-उत्तरता कही है; वह लयचिन्तन करने के लिए

ही है। ध्यान में यह नियम नहीं कि जैसा रूप होता है वैसा ही चिंतन होता है। अतः जाग्रत के पदार्थों का आपस में कार्य-कारण भाव नहीं। किन्तुः—

(दृष्टि–सृष्टि–वाद का अंगीकार)

सभी पदार्थ साक्षात् अविद्या के कार्य हैं। शुक्ति–रजत की भाँति या स्वप्न की भाँति अविद्या की वृत्तिरूप उपाधिवाले साक्षी से उनका प्रकाश होता है। अतः सभी पदार्थ साक्षीभास्य हैं। ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार अविद्या का परिणाम एक ही काल में उत्पन्न होता है और एक ही काल में नष्ट होता है। जब पदार्थों का प्रतीति होती है; तभी प्रतीति का विषय पदार्थ होता है। दूसरे समय में नहीं होता–यही दृष्टि–सृष्टि–वाद † है।

इस पक्ष में पदार्थ की अज्ञातसत्ता नहीं; ज्ञानसत्ता है। अद्वैत-वाद में यह सिद्धान्तपक्ष है। इसमें दो सत्ताएँ हैं; तीन नहीं। क्योंकि सभी अनात्मपदार्थ स्वप्न की भाँति प्रातिभासिक हैं। प्रतीतिकाल को छोड़कर दूसरे काल में अनात्मा की सत्ता नहीं। तीसरी व्यावहारिक सत्ता है ही नहीं।

इस पक्ष में सभी अनात्म पदार्थ साक्षीभास्य हैं। प्रमाता और प्रमाण का विषय कोई भी नहीं। क्योंकि अंतःकरण, इन्द्रियाँ, घटआदि सभी त्रिपुटियां और ज्ञान स्वप्न की भाँति एक ही काल में उत्पन्न

† दृष्टि–सृष्टि–वाद—दृष्टि = अविद्या–वृत्ति उसके समकाल उत्पन्न सृष्टि ही दृष्टि–सृष्टि कही जाती है। इस सिद्धान्त में पदार्थों की अज्ञात सत्ता नहीं मानी जाती। वेदान्त–सिद्धान्त–मुक्तावली में इस सिद्धान्त का मुख्यतः प्रतिपादन किया गया है। मुक्तावलीकार ने बृहदारण्यक–भाष्य, वार्तिक, तथा मांडूक्यकारिकादि से उक्त सिद्धान्त का प्रकाश प्राप्त किया है। इस सिद्धान्त का नाम अजातवाद भी है।

होते हैं। उनका विषय-विषयीभाव नहीं बन सकता। यदि घट आदि विषय, नेत्र आदि इन्द्रियाँ एवं अंतःकरण ये ज्ञान से पहले हों तो नेत्र आदि के द्वारा अंतःकरण की वृत्तिरूप ज्ञान प्रमाणजन्य हो। वह अंतःकरण, इन्द्रियाँ और विषय तीनों ज्ञान के पूर्वकाल में हैं ही नही। किन्तु ज्ञान-सम-काल में ही स्वप्न की भाँति त्रिपुटी उत्पन्न होती है। अतः त्रिपुटी-जन्य ज्ञान कोई भी नहीं। तो भी ज्ञान में त्रिपुटी-जन्यता प्रतीत होती है। अतः जाग्रत् के पदार्थ साक्षीभास्य हैं। प्रमाणजन्य ज्ञान के विषय नहीं इसलिए भी स्वप्न के समान मिथ्या हैं।

अथवा जगत् में कुछ लोग पदार्थों को मिथ्यारूप से जानते हैं और कुछ लोगों को सत्यरूप से अनादिकाल के पदार्थ हैं। उनमें से कुछ नष्ट हो जाते हैं और कुछ उन जैसे उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार प्रपञ्च की धारा का कभी उच्छेद नहीं होता। जिसे ज्ञान होता है; उसे प्रपंच की प्रतीति नहीं होती। दूसरों को प्रपञ्च की प्रतीति होती है। उस ज्ञान के साधन वेद-गुरु हैं। उनसे परम सत्य की प्राप्ति होती है। ऐसी प्रतीति जाग्रत् में होती है। वहाँ किसी पदार्थ में मिथ्यापन, किसी में नाश, किसी में उत्पत्ति और वेद-गुरु से परमपुरुषार्थ की प्राप्ति ये सभी अविद्याकृत, स्वप्न की भांति मिथ्या हैं। योगवासिष्ठ में ऐसे अनेक इतिहास दिये हैं।

क्षणमात्र के स्वप्न में बहुत काल प्रतीत होता है। जाग्रत् की भाँति स्थायी पदार्थ प्रतीत होते हैं। उन्हें वे बहुत समय तक भोगते हैं। इसीलिए जाग्रत् के पदार्थों की स्वप्न के पदार्थों से कुछ भी विलक्षणता नहीं। किन्तु आत्मभिन्न सब मिथ्या हैं।

शिष्य बोलाः—

लाख हजारन कल्प को, यह उपज्यो संसार।
तामें ज्ञानी मुक्त हैं, बंधे अज्ञ हजार॥११॥

झूठो स्वप्न समान जो, छन घटिका ह्वै जाम।
बद्ध कौन को मुक्त है, श्रवणादिक किह काम ॥१२॥

अर्थात् ईश्वर–सृष्टि अनंत कल्पों से अनादि है। उसमें ज्ञानी मुक्त हो जाते हैं और अज्ञानियों को बंध रहता है। यदि–सृष्टि स्वप्न के समान हो तो स्वप्न एक क्षण, या एक घड़ी या एक पहर रहता है। वैसे ही संसार भी एक क्षण, या एक घड़ी या एक पहर या इससे कुछ अधिककाल तक रहना चाहिए। यदि स्वप्न की भांति स्वल्प–काल–स्थायी संसार को मान लेंगे तो अनादि काल का बंध नहीं होना चाहिए। दूसरे, बंध निवृत्तिरूप मोक्ष के लिए श्रवण आदि साधनों को निष्फलता प्राप्त होगी–वे निष्फल हो जायँगे।

गुरु—पूर्वकथित सिद्धांत में बंधमोक्ष और † वेदगुरु स्वीकार किया ही नहीं। किंतु चेतन नित्यमुक्त है। अविद्या के परिणाम चेतन में नाना विवर्त होते हैं। उनसे आत्मरूप की कुछ भी हानि नहीं। आत्मा सदा असंग एकरस है। आजतक कोई मुक्त हुआ नहीं और आगे होगा नहीं। किन्तु चेतन नित्यमुक्त है। अविद्या और उसके परिणाम का चेतन से किसी काल में भी संबंध नहीं। इसलिए बंध, वेदगुरु, श्रवण आदि, समाधि और मोक्ष की प्रतीति भी स्वप्न की भांति अविद्याजन्य हैं। अतः मिथ्या हैं। इनमें बहुकाल भी मिथ्या हैं (यह सिद्धांत को न समझनेवाले स्थायिता स्थूलदृष्टि का प्रश्न है)।

---

† दृष्टि–सृष्टि–वाद में एक ही प्रधान जीव माना जाता है। अन्य जीव स्वप्न–कल्पित–जीवों की भांति आभास मात्र हैं। गुरु–शिष्यादि सब आभास हैं, परमार्थ नहीं।

‡ अगृधदेवकूं स्वप्न मैं, भ्रम उपज्यो जिहि रीति ।
सिष तोकूं यह ऊपजी, बंध–मोछ परतीति ॥१२॥

अर्थात् हे शिष्य ! जैसे निद्रादोष से स्वप्न में अध्यापक, अध्ययन, वेदशास्त्र, पुराण, धर्मशास्त्र, अध्ययनकर्ता, कर्म और उनका फल प्रतीत होते हैं। उन सब पदार्थों में सत्यता की भ्रांति होती है। तो भी वे स्वप्न के सभी पदार्थ मिथ्या हैं। वैसे ही जाग्रत् के भी सभी पदार्थ मिथ्या हैं। उनमें सत्यता की प्रतीति का भ्रम हो रहा है। दोहे में के 'बंधमोछ' शब्द से सभी अनात्म पदार्थों का ग्रहण है। जैसे तुझे हम गुरु प्रतीत होते हैं। वेद के अर्थ का बंध विघातक उपदेश करते हैं। यह तुझे मिथ्या प्रतीति हो रही है। जैसे अगृधदेव को स्वप्न में मिथ्या प्रतीति से विषय गुरु–वेद आदि अनिर्वचनीय उत्पन्न होते हैं। वैसे ही तेरी प्रतीति के विषय मुझ आदि सभी अनिर्वचनीय मिथ्या हैं।

उस अगृधदेव को ऐसा स्वप्न आया कि एक अगृध नामक देवता अनादि काल से नींद में सोया–सोया स्वप्न देख रहा है कि मैं † चंडाल हूँ। महा दुःखी हूँ। हड्डी मज्जा, लहू, चमड़ी, मांस, मेद, वीर्यरूप सात धातुओं से मेरा मुख भरा हुआ है। महाघोर भयंकर सांप आदि से युक्त जंगल में () मैं भटक रहा हूँ। भटकते–भटकते उस देवता ने उस वन में अनन्त स्थान देखे। कहीं [] अनेक भयंकर प्राणी उसे मारने के लिए सामने से दौड़े आ रहे हैं। कहीं लहू–पीप से भरे कुण्ड हैं। उनमें डूबते–उतराते प्राणी हा–हा कार मचा रहे

‡ अगृधदेव—निखिल तृष्णा–शून्य, स्वयंप्रकाश तत्त्व का ही नाम ग्रन्थकार ने अगृधदेव रखा है। उसी में ही यह जगत् स्वप्न अनादि मायारूप निद्राकी एक कल्पना है।

† चण्डाल = देहद्वयाभिमानी। () जंगल = संसार। [] कहीं नरक में।

हैं। कहीं लोहे के तपाये हुए लाल-लाल खंभे हैं। उनसे बंधे हुए मनुष्य चीखें मार रहे हैं। कहीं जलती हुई रेतवाले मार्ग पर नंगे पांव चल रहे हैं। राजकर्मचारी उन्हें लोहे के डंडे से पींज रहे हैं। इस प्रकार अनेक भयंकर स्थान उसने देखे। कभी कभी स्वयं भी अपराधी होने के कारण वही दुःख उठाता रहा।

कहीं कहीं † दिव्य स्थान भी देखे। उनमें उत्तम देव विराजमान हैं। उन देवों के दिव्यातिदिव्य भोग हैं। अमृत के दर्शनभर से वे तृप्त रहते हैं। भूख-प्यास उन्हे सताती नहीं। मल-मूत्र से रहित उनका प्रकाश शरीर है। उत्तम-उत्तम विमानों में बैठ कर कुछ देवलोग विहार कर रहे हैं। वह विमान उनकी इच्छा के अनुसार चलनेवाला है। कहीं रंभा-उर्वशी आदि अप्सराएँ नाच कर रही हैं। उनके सभी शरीर दोषरहित हैं और सभी स्त्री के अनुरूप गुणों से युक्त हैं। कामोत्तेजक उत्तम गंध उनके शरीरों में से फूट रही है। देव लोग उनसे क्रीड़ा कर रहे हैं। कभी स्वयं ‡ भी देवभाव को प्राप्त होकर उनके साथ बहुत समय तक रमण करता है। कभी उन अप्सराओं के साथ दिव्यस्थान में रमण-करता करता अकस्मात् लहू-पीप से भरे कुण्ड में डूबने लगता है।

एकस्थान पर सबका अधिपति * पुरुष बैठा है। उसके आज्ञाकारी अनुचर () और उसके कर्मचारी सौम्यरूप प्रतीत होते हैं। कुछ [] लोगों को वे महा भयंकररूप प्रतीत होते हैं। उस जंगल में रहनेवाले मनुष्यों को उनके कर्मों के अनुसार फल देते हैं। इस प्रकार अगृध देव ने स्वप्न में अनेक स्थान देखे। कुछ स्थानों में ब्राह्मण वेदध्वनि कर रहे थे। कहीं S यज्ञशालाओं में उत्तम-उत्तम कर्म हो रहे हैं। कहीं पवित्र नदियाँ बह रहीं हैं। उन नदियों में लोग पुण्य-प्राप्ति के

† कहीं=स्वर्ग में। ‡ स्वयं=अगृधदेव। * अधिपति=धर्मराज। ()अनुचर=धर्मराज-दूत [] पुण्यवानों को=पापियों को S कहीं=मृत्युलोक में

लिए स्नान कर रहे हैं। कहीं ज्ञानवान् (तत्त्ववेत्ता) आचार्य शिष्यों को ब्रह्मविद्या का उपदेश कर रहे हैं। ब्रह्मविद्या प्राप्त करने के बाद वे लोग जंगल से बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार अगृधनामक देव ने क्षणभर में नाना आश्चर्यरूप पदार्थ उस जंगल में देखे।

उसे ऐसा लगा कि मैं लम्बे समय से यहां हूँ। इस जंगल का कभी उच्छेद नहीं हो। कभी कभी जंगल का माली‡ चार मुखों से नाना †बीज निकाल कर जंगल उत्पत्ति करता है। जल खींचकर पालता है। कभी घोर हास्य करके मुख में से आग निकालकर जंगल को जला[] डालता है। जंगल की उत्पत्ति के साथ-साथ मेरी उत्पत्ति और उसके दाह के साथ-साथ मेरा दाह होता है। सारे जंगल का दाह करने के बाद वह माली अकेला रह जाता है। उसके शरीर में जंगल के बीज रहते हैं। यह प्रतीति स्वप्न में वेद के श्रवण से उस अगृधदेव को स्वप्न में ही हुई।

(स्वप्न में गुरु से भेंट)

तब बार-बार अपना जन्म-मरण सुनकर अगृधदेव ने विचार किया कि किसी प्रकार इस जंगल में से बाहर निकलना चाहिए। यदि न भी निकल सकूं तो कम-से-कम मेरा × चाण्डाल भावतो दूर होना ही चाहिए और देवभाव ❀ सदा बना रहना चाहिए। दूसरे किसी भी उपाय से यहां से निकला नहीं जा सकता। हां, ब्रह्मविद्या का उपदेश करनेवाले आचार्य अपने शिष्यों को इनमें से निकाल देते हैं। यह विचारकर अगृधदेव स्वप्न में ही आचार्य के पास गया। आचार्य ने विधिपूर्वक प्राप्त उस शिष्य को देववाणीरूप मिथ्याग्रन्थ का उपदेश किया।

‡ माली = ईश्वर। † जीवों के अदृष्ट। [] प्रलय करता है। × चाण्डाल भाव = जीवभाव ❀ देवभाव = ब्रह्मभाव।

मिथ्या शिष्य को मिथ्या आचार्य से उपदिष्ट मिथ्या संस्कृत ग्रन्थ का हल दिन्दी-अनुवाद करते हैं—

मंगल करने से ग्रन्थ की समाप्ति के प्रतिबन्धक बिघ्नों का विनाश होता है। विघ्न नाम पाप का है। पाप के कारण शुभ कार्य की समाप्ति नहीं होती। उस पाप का मङ्गल से नाश होता है। निष्पाप मनुष्य को भी ग्रन्थ के आरम्भ में अवश्यमेव मङ्गल करना चाहिए। क्योंकि यदि ग्रन्थ के आरम्भ में मन्नल न किया होगा तो लोग ग्रन्थकर्ता को भ्रम से नास्तिक समझकर उसका लिखा ग्रन्थ नहीं देखेंगे। (ग्रन्थ में प्रवृत्त नहीं होंगे)।

मङ्गल तीन प्रकार का होता है:—१—वस्तुनिर्देशरूप, २—नमस्काररूप और ३—आशीर्वादरूप। सगुण या निर्गुण परमात्मा का नाम वस्तु है। उसके कीर्तन का नाम वस्तुनिर्देश है। अपनी या अपने शिष्य को वाञ्छित वस्तु के लिए प्रार्थना करना आशीर्वाद-रूप मङ्गल है। (अपने वाञ्छित की प्रार्थना चौथे दोहे में और शिष्य के वांछित की प्रार्थना पाँचवें दोहे में स्पष्ट है)

गणेश और देवी की ईश्वरता पुराणों में प्रसिद्ध है। अतः अनीश्वर का चिन्तन नहीं हुआ। पुराणों में गणेशजी का जो जन्म है; वस दूसरे जीवों के जन्म की भांति कर्म का फल नहीं। किन्तु राम-कृष्ण आदि की भांति भक्तजनों पर अनुग्रह करने के लिए परमात्मा का ही आविर्भाव होता है। वह व्यास भगवान का परम अभिप्राय है।

यहाँ यह रहस्य है कि परमार्थदृष्टि से जीव भी परमात्मा से भिन्न नहीं। पर जन्म-मरण आदि बन्ध का आत्मा में जो अध्यास है; वही जीव का जीवपन है। वह जन्म-आदि बन्ध गणेश आदि को आत्मा में प्रतीत नहीं होता। अतः वे जीव नहीं। गणेश आदि में ईश्वरता है। अतः उनका ग्रन्थ आरम्भ में चिन्तन करना चाहिए।

ईश्वर के नाना रूपों का वर्णन सब में की उश्वरता द्योतित करने के लिए है। ईश्वरभक्ति और गुरुभक्ति विद्या की प्राप्ति के मुख्य साधन हैं-इस अर्थ का भी द्योतन होता है।

निर्गुण-वस्तुनिर्देशरूप मङ्गल

जो विभु सत्य प्रकासतैं, परकासत रवि-चन्द † ।
सो साछी मैं बुद्धिको, सुद्धरूप आनन्द ॥ १३ ॥

सगुण-वस्तुनिर्देशरूप मंगल

नासै विघ्न समूलतैं, श्रीगणपतिको नाम ।
जा चिन्तन बिन ह्वै नहीं देवनहूके काम ॥ १४ ॥

नमस्काररूप मंगल

सोरठा—असुरनको संहार, लक्ष्मी-पारवती-पति ।
तिन्हें प्रनाम हमार, भजतनकूं संतत भजै ॥ १५ ॥

स्ववाञ्छित प्रार्थनारूप आशीर्वाद

बन्धहरन सुखकरन श्री दादू दीन-दयाल ।
पढै सुने जो ग्रन्थ यह, ताके हरहु जञ्जाल ॥ १६ ॥

‡ वेदान्तशास्त्रकर्ता आचार्य को नमस्कार

वेदवाद-वृच्छ-वन, भेदवादी वायु आय ।
पकर हिलाय क्रिया, कंटक पसारि कै ॥

---

† "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मु० २ । २ । १०)

‡ वेदान्त=वेद का अन्तिम निचोड़ उपनिषद्। उपनिषद् ग्रन्थ के तात्पर्य-निर्णायक ब्रह्मसूत्र को भी वेदान्त कहा जाता है। उसके कर्ता आचार्य भगवान् व्यास को नमस्कार किया है। आचार्य का लक्षण किया हैं—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कथ्यते ॥

सरल सुसुद्ध शिष्य, कञ्ज पुनि तोरि गेरि,
　　सूलनमैं (सु) फेरत; फिरत फेरि फारि कै ॥
पेखी सु पथिक घग-वान जानि अनुचित,
　　अङ्कमैं उठाय धाम, व्यासरूप धारि कै ॥
सूत्रको बनाय जाल, वन को विभाग कीन्ह,
　　करत प्रनाम ताहि, निम्चल पुकारि कै ॥ १७ ॥

अर्थात् जैसे वायु बन में घुसकर वृक्षों को हिलाता है। उनके कांटों को फैला देता (विखेर देता) है। सुन्दर कमल के फूलों को उनके स्थान पर से गिराकर कांटों में रौंदता रहता है। उन रौंदे जाते हुए फूलों को देखकर किसी पथिक के मन में आया कि ये फूल इस स्थान के योग्य नहीं। किसी उत्तम स्थान पर होने चाहिए। यह विचार करके उन फूलों को उठा लिया और सोचा कि फिर भी वायु इन फूलों को कांटों में रौंदेगी। इनकी देह छिल जायगी-उधड़ जायगी और धज्जियां उड जायँगी। ऐसा उपाय करूं जिससे यह सङ्कट फिर न आवे। यह विचार कर सूत्ररूपी जाल से कंटकित (कंटीले) वृक्षों का विभाग कर दिया। उस जाल के कारण अब थूल कण्टकों में नहीं मिल सकते।

भेदवादी आचार्यरूप वायु ने वेदरूप वन में अर्थवादरूप कंटीले वृक्षों के सकाम कर्मरूप काटों में (सरल=कपट-रहित, सुशुद्ध=राग आदि दोष-रहित) शिष्यरूप कमल के फूलों को उनके शम आदिरूप स्थान से भ्रष्ट करके सकाम कर्मरूप कांटों में फँसा दिया। पथिकरूप व्यापक विष्णु ने विचार किया कि यह

जो शास्त्र-तात्पर्य निकालकर शिष्यों को समझाता और उनके आचार में बताता है। तथा स्वयं अपने आचरण में भी लाता है; उसको आचार्य कहा करते हैं।

सुन्दर कमलरूप शुद्ध पुरुष इस स्थान के योग्य नहीं। किन्तु मेरे स्वरूप को प्राप्त होने के योग्य हैं। विष्णु ने व्यासरूप धारण करके उपदेशरूप गोदी में शिष्यों को स्थान दिया। जैसे मनुष्य की गोदी में रखे फूल को वायु नहीं उड़ा सकती। वैसे ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के उपदेश में स्थित (श्रद्धालु-निष्ठावान्) मनुष्य को भेदवादी बहका नहीं सकता। अतः उपदेश ही गोद है।

फिर व्यास भगवान् ने विचार किया कि आगे भी ये भेद-वादी लोग दूसरे मनुष्यों को सकाम कर्मरूप कांटों पर घसीटेंगे। अतः कोई ऐसा उपाय होना चाहिए कि जिससे शिष्य इनके चंगुल (जाल) में न फँसे। यह विचार करके सूत्ररूपी जाल से (बाड़ से) वेदों के वाक्यरूपी वृक्षों का विभाग कर दिया। जैसे बन में दो प्रकार के वृक्ष होते हैं—सकंटक और कंटक-रहित। उनका जाल से विभाग कर देने पर फूलों का कंटीले वृक्षों के स्थान में प्रवेश नहीं हो सकता (फूल कंटीले झाड़ की ओर नहीं जा सकते) वैसे वेद में भी दो प्रकार के वाक्य हैं—एक तो कर्मों की स्तुति करके बहिर्मुख मनुष्यों को कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। दूसरे कर्मों के फल को अनित्य बताकर उधर से मनुष्यों को निवृत्त करते हैं। उन वाक्यों का वेदव्यास ने विभाग करके सूत्रों से यह बोधित किया कि सब वाक्यों का निवृत्ति में तात्पर्य है और प्रवृत्ति में किसी वाक्य का तात्पर्य नहीं।

प्रवृत्तिबोधक वाक्यों का भी निवृत्ति में ही तात्पर्य है:— स्वाभाविक और निषिद्ध प्रवृत्ति से हटाकर विहित प्रवृत्ति में लगाना और फिर उससे अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने के बाद वहाँ से भी हटाकर मनुष्य को ज्ञान-निष्ट बनाना।

† अर्थवाद वाक्यों ने भी कर्म का फल ‡ गुड़-जिह्वा न्याय से

† अर्थवाद—उपादेय कर्मों की प्रशंसा और हेय कर्मों की निन्दा करनेवाले वाक्यों को अर्थवाद वाक्य कहते हैं।

बोधित किया है। फल में उनका तात्पर्य नहीं। यही अर्थ व्यासजी ने सूत्रों से समझाया है। सूत्रों से अर्थ समझ लेने के बाद पुरुष की सकाम कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे सूत का जाल फूलों को कांटों की ओर से रोक रखता है। वैसे ही व्यास भगवान् के सूत्र भी मनुष्य को सकाम कर्मों से रोक रखते हैं। इसलिए उन्हें जालरूप कहा।

कोउक सिष्य उदारमति, गुरु के सरनै जाइ।
प्रश्न कियो कर जोरिके, पाद-पद्म सिर नाइ॥ १८॥

शिष्य बोला—

भो भगवन् मै कौन ? यह, संसृति कातैं होइ ?।
हेतु मुक्ति को ज्ञान वा, कर्म उपासन दोइ ?॥ १९॥

अर्थात् हे भगवन्! मैं कौन हूँ? देह स्वरूप हूँ या देह से भिन्न हूँ? "मैं मनुष्य हूँ और मेरा शरीर है" ये दो प्रतीतियां होती हैं। अतः मुझे संशय हो गया है। यदि आप देह से भिन्न कहें तो "मैं कर्ता-भोक्ता हूँ या अक्रिय हूँ?" यदि अक्रिय कहें तो भी "मैं सब शरीरों में एक हूँ या नाना हूँ?" यह पहले प्रश्न का अभिप्राय है।

"इस संसार का कोई कर्ता है या स्वयं ही होता है?" यदि

‡ गुड़-जिह्वा-न्याय—कटु औषधि खिलाने के लिए माता पहले बालकी जीभ में गुड़ लगाकर कह देती है कि बहुत मीठी यह दवा है। उसके सहारे बालक कटु दवा भी खा जाता और स्वस्थ हो जाता है। इसी प्रकार श्रुति-माता निवृत्ति की कटु दवा खिलाने के लिए मीटे-मीठे अर्थवाद वाक्यों द्वारा कर्मों की प्रवृत्ति करा देती है। अन्तःकरण शुद्ध होते ही निवृत्ति मार्ग पर लाकर खड़ा कर देती है। जिस मार्ग पर चलकर यह नर स्वयं नारायण बन जाता है।

कर्ता मानें तो "कोई जीव कर्ता है या ईश्वर ?" यदि ईश्वर कहें तो भी "वह ईश्वर एकदेश में रहता है या व्यापक है?" यदि व्यापक कहें तो भी जैसे व्यापक आकाश से जीव भिन्न है, "वैसे ही उस ईश्वर से जीव भिन्न है? अथवा अभिन्न है?"। मुक्ति का कारण ज्ञान है या कर्म है? अथवा उपासना है? या दोनों हैं? यदि दोनों मानें तो ज्ञान और कर्म हैं? या ज्ञान और उपासना? अथवा कर्म और उपासना?

गुरुजी बोले—

सत्–चित्–आनन्द–रूप तूं, ब्रह्म अजन्म असङ्ग।

शिष्य के प्रथम प्रश्न का उत्तर—"तू सत्–चित्–आनन्द–स्वरूप है" अर्थात् देह से भिन्न है। क्योंकि देह असत्–रूप जड़रूप और तू दुःखरूप है। कर्ता–भोक्ता भी नहीं। क्योंकि जिसे दुःख होता है; वह दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिए क्रिया करता है। क्रिया करनेवाले को कर्ता कहते हैं। तुझ में दुःख नहीं। अतः दुःख की निवृत्ति के लिए तू क्रिया नहीं करता। तू आनन्दस्वरूप है। अतः सुख की प्राप्ति के लिए भी तू क्रिया नहीं करता। जो कर्ता होता है; वही भोक्ता होता है। तू कर्ता नहीं; अतः भोक्ता भी नहीं। पुण्य–पाप के जनक कर्म का कर्ता और सुख–दुःख का भोक्ता स्थूल–सूक्ष्म संघात है; तू नहीं। तू संघात का साक्षी है। इसलिए आत्मा एक है; नाना नहीं। यदि आत्मा कर्ता–भोक्ता हो तो नाना हो। क्योंकि कोई सुखी है और कोई दुःखी है। यदि कर्ता–भोक्ता एक ही मानें तो एक के सुखी और दुखी होने पर सबको सुख और दुःख होना चाहिए। अतः भोक्ता नाना हैं। आत्मा भोक्ता नहीं, वह एक है।

सांख्यमत–खण्डन

पूर्वपक्षी—सांख्य के मत में आत्मा को कर्ता–भोक्ता न मानकर नाना पुरुष माने हैं। सांख्य का यह सिद्धान्त है:—

सत्त्व, रजस् और तमोगुण की सम-अवस्था का नाम प्रधान है। वह प्रकृति है; विकृति नहीं। विकृति नाम कार्य का है और प्रकृति नाम उपादान कारण का। वह प्रधान महत्तत्त्व का उपादान कारण है; अतः प्रकृति है और अनादि है। अतः विकृति नहीं। महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ ये सात प्रकृति-विकृति (उभयरूप) हैं। उत्तर-उत्तर की प्रकृति हैं और पूर्व-पूर्व की विकृति। तन्मात्राएँ भी भूतों की प्रकृति हैं और अहङ्कार की विकृति। इस प्रकार सात प्रकृति विकृति हैं। पाँच भूत, दस इन्द्रियाँ और एक मन ये सोलह विकृति हैं; प्रकृति नहीं। पुरुष प्रकृति और विकृति कुछ† नहीं। क्योंकि किसी पदार्थ के कारण का नाम प्रकृति और कार्य का नाम विकृति है। पुरुष किसी का कारण नहीं और किसी का कार्य भी नहीं। अतः न प्रकृति है और न विकृति हैं। अतः पुरुष असङ्ग है। सांख्यमत में पचीस तत्त्व हैं। तत्त्व = पदार्थ। सांख्यमत में ईश्वर को‡ नहीं माना। स्वतन्त्र प्रकृति जगत् का कारण है। पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए प्रकृति ही प्रवृत्त होती है; पुरुष नहीं। प्रकृति के विषय रूप परिणाम से पुरुष को भोग होता है। बुद्धिद्वारा विवेकरूप प्रकृति के परिणाम से मोक्ष होता है। यद्यपि पुरुष असङ्ग है। उसके लिए भोग और मोक्ष सिद्ध नहीं होते। तो भी ज्ञान, सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि बुद्धि के परिणाम हैं। उस बुद्धि से आत्मा

---

† मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृति र्न विकृतिः पुरुषः॥

(सांख्यकारिका ३)

‡ उपनिषदों और पुराणों का सांख्य ईश्वर को मानता है। किन्तु ईश्वरकृष्ण-रचित सांख्य-कारिका-वर्णित सांख्य में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं बताई गई।

का अविवेक है; विवेक नहीं। इसलिए आत्मा में आरोपित बन्ध-मोक्ष है; परमार्थतः नहीं। आत्मा में अविवेक से प्राप्त भोगों के कारण ही आत्मा को सांख्यमत में भोक्ता कहा है। परमार्थ से आत्मा भोक्ता नहीं; बुद्धि ही भोक्ता है। "बुद्धि आत्मा से भिन्न है" इस ज्ञान का नाम विवेक है। इसके अभाव का नाम अविवेक। इस प्रकार सांख्यमत में आत्मा असंग है, सुख-दुःख आदि बुद्धि के परिणाम हैं; अतः बुद्धि के धर्म हैं और आत्मा नाना हैं।

सिद्धान्ती—यह बात अत्यन्त विरुद्ध है। यदि सुख-दुःख आत्मा के धर्म हों तो सुख-दुःख का प्रतिशरीर भेद होने से आत्मा का भेद हो सकता है। पर ये सुख-दुःख तो आत्मा के धर्म हैं ही नहीं, किन्तु बुद्धि के धर्म हैं। अतः सुख-दुःख के भेद से बुद्धि का भेद सिद्ध होता है। आत्मा का भेद सिद्ध नहीं होता। जैसे एक ही व्यापक आकाश में नाना उपाधियों के धर्म उपाधि और आकाश के अविवेक से प्रतीत होते हैं। वैसे ही एक ही आत्मा में बुद्धि के नाना धर्म अविवेक से प्रतीत होते हैं। यह बात सांख्यमत को स्वीकार करनी चाहिए। आत्मा को असंग मानकर फिर नाना मानना व्यर्थ है। कोई आत्मा मुक्त है और दूसरों को बन्ध है (दूसरे बद्ध हैं) बन्ध-मोक्ष के इस भेद से भी आत्मा का भेद माना नहीं जा सकता। क्योंकि यदि बन्ध-मोक्ष आत्मा में मानें तभी बन्ध-मोक्ष के भेद से आत्मा का भेद सिद्ध हो। वह बन्ध-मोक्ष सांख्यवालों ने असंग आत्मा में माना ही नहीं। किन्तु बुद्धि के अविवेक से बन्ध माना है और बुद्धि के विवेक से बन्ध का मोक्ष।

जो वस्तु अविवेक से होती है और विवेक से मिट जाती है। वह वस्तु रज्जु-सर्प की भांति मिथ्या होती है। आत्मा में भी बुद्धि के अविवेक से बन्ध है और विवेक से दूर हो (मिट) जाता है। अतः बन्ध मिथ्या है। जैसे बन्ध मिथ्या

है; ऐसे आत्मा का मोक्ष भी मिथ्या है। जिस में बन्ध सत्य होता है; उसका मोक्ष भी सत्य होता है। आत्मा में बन्ध-मिथ्या है। अतः मोक्ष भी मिथ्या है। मिथ्या बन्ध-मोक्ष आकाश की भांति एक आत्मा में भी बन सकते हैं। उनके भेद से आत्मा का भेद सिद्ध नहीं होता। इसलिए सांख्यमत में आत्मा का भेद † असंगत है।

† आत्म-भेद-वादी सांख्यों से प्रश्न किया जा सकता है कि भेद किस प्रकार के आत्मा में रहता है? भेद-रहित आत्मा में? अथवा भेद-सहित आत्मा में? भेद-रहित आत्मा में भेद कहना नितान्त विरुद्ध है। क्योंकि जो सर्वथा भेद-रहित है, उसमें कोई भेद कैसे रह सकता है? यदि भेद-सहित आत्मा में भेद रखें, तो जिस द्वितीय भेद के सहित आत्मा में प्रथमभेद रखा जाता है, वह द्वितीयभेद प्रथमभेद से भिन्न है या अभिन्न? यदि अभिन्न है तो उसी भेद से युक्त आत्मा में वही भेद रहने से आत्माश्रय दोष होगा। यदि दोनों भेद भिन्न कहें तो द्वितीयभेद भेद-रहित आत्मा में तो रहेगा ही नहीं, भेद-सहित आत्मा में ही रहेगा। अब यह एक तृतीयभेद आत्मा का विशेषण बना, जिस विशेषण से युक्त आत्मा में द्वितीयभेद रखा जाता है। यह तृतीय-भेद द्वितीयभेद का स्वरूप है? अथवा प्रथमभेद का? अथवा दोनों से भिन्न है? यदि द्वितीयभेद स्वरूप है, तो आत्माश्रय, प्रथमभेद का यदि स्वरूप है तो अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। क्योंकि तृतीयभेद स्वरूप प्रथमभेद युक्त आत्मा में द्वितीयभेद और द्वितीयभेद से युक्त आत्मा में प्रथमभेद रहा। अतः प्रथम को द्वितीय की और द्वितीय को प्रथम की अपेक्षा है।

यदि तृतीयभेद को प्रथम तथा द्वितीय दोनों भेदों से भिन्न कहें। तब वह किसी चतुर्थभेद से युक्त आत्मा में ही रहेगा। यह चतुर्थभेद तृतीय या द्वितीय या प्रथम भेद से अभिन्न है? या भिन्न?। यदि तृतीयभेद से अभिन्न है, तो आत्माश्रय, द्वितीय भेद से अभिन्न है, तो अन्योऽन्याश्रय और प्रथम भेद से अभिन्न होने पर चक्रिका दोष होगा। क्योंकि चतुर्थभेद-स्वरूप प्रथम भेद से युक्त आत्मा में तृतीयभेद, तृतीयभेद से युक्त आत्मा में द्वितीय और

न्याय मत–खण्डन

वैसे ही न्यायमत में भी माना हुआ आत्मा का भेद असंगत है। क्योंकि यह न्याय का सिद्धांत है:–सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, ज्ञान के संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथकृत्व, संयोग और विभाग–ये चौदह गुण जीवरूप आत्मा में हैं। संख्या, परिणाम, पृथकृत्व, संयोग, विभाग, ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न; ये आठ गुण ईश्वर में हैं। इतना भेद हैं:—ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न नित्य हैं। जीव के तीनों अनित्य हैं। ईश्वर व्यापक और नित्य हैं। जीव नाना हैं, संपूर्ण व्यापक हैं और नित्य हैं। जीवका ज्ञान अनित्य है। अतः जब जीव में ज्ञान–गुण होता है तब तो वह चेतन कहलाता है और जब ज्ञान–गुण का नाश हो जाता है तब जडरूप बन जाता है। ईश्वर और जीव की भांति आकाश, काल, दिशा एवं मन नित्य हैं। पृथिवी–जल–तेज–वायु के परमाणु भी नित्य हैं। सूर्य के प्रकाश से झरोखे में जो सूक्ष्मरज प्रतीत होती है; उसके छठे भाग का नाम परमाणु है। वह परमाणु आत्मा की भांति नित्य है। और भी जाति आदि कितने–एक पदार्थ न्यायमत में नित्य माने हैं। वेद–विरुद्ध–सिद्धांत का विस्तार–पूर्वक लिख डालना जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी नहीं। अतः वे नहीं लिखे।

"मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ" देह में ऐसी आत्मभ्रांति से राग–द्वेष से धर्म अधर्म में प्रवृत्ति होती है। धर्म–अधर्म से शरीर–संबंध द्वारा सुख–दुःख होते हैं। इस प्रकार आत्मा के लिए संसार का कारण भ्रांतिज्ञान है। वह भ्रांतिज्ञान तत्त्वज्ञान से दूर होता है। "देह आदि

द्वितीय भेद से युक्त आत्मा में प्रथमभेद रहेगा। इस प्रकार प्रथम, द्वितीय और तृतीय भेद को परस्पर अपेक्षा है। चतुर्थभेद यदि पूर्व के तीनों भेदों से भिन्न है. तो पञ्चभेद से युक्त आत्मा में रहेगा। इसप्रकार अनवस्था होगी। अतः सांख्यसिद्धान्त 'आत्मा में भेद है'–यह सर्वथा अयुक्त है।

अखिल पदार्थों से आत्मा भिन्न है।" इस निश्चय का नाम तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञान से "मैं ब्राह्मण हूँ, मैं मनुष्य हूँ" यह भ्रांति दूर होती है। भ्रांति के नाश से राग–द्वेष का अभाव हो जाता है। राग–द्वेष के अभाव से धर्म–अधर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। प्रवृत्ति के अभाव से शरीर–संबंधरूप जन्म का अभाव हो जाता है और प्रारब्ध का भोग से नाश हो जाता है। शरीर–सम्बन्ध के अभाव से इक्कीस दुःखों का नाश हो जाता है। इन दुःखों का नाश होना ही न्यायमत में मोक्ष† है।

एक शरीर, श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना, घ्राण और मन ये छह इन्द्रियां, छहों इन्द्रियों के विषय, ज्ञान, एवं सुख–दुःख–ये इक्कीस दुःख हैं। शरीर आदि भी दुःख के जनक हैं। उन्हें भी दुःख कह दिया गया है। स्वर्ग आदि का सुख भी नष्ट हो जाने के भय से दुःख का कारण है। अतः वह भी दुःख ही है।

यद्यपि न्यायमत में श्रोत्र और मन नित्य हैं। उनका नाश नहीं हो सकता। तो भी जिस रूप से श्रोत्र और मन दुःख के कारण हैं; उस रूप का नाश हो जाता है। पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न कर देने से ही ये दुःख के कारण हैं। मोक्षकाल में वह ज्ञान श्रोत्र और मन से होता नहीं। क्योंकि कर्ण–गोलक में विद्यमान आकाश को श्रोत्र कहते हैं। आकाश श्रोत्र–इन्द्रिय होने पर भी गोलक के अभाव से ज्ञान का कारण नहीं बनता (ज्ञान नहीं होता)। ज्ञान का जनक जो श्रोत्र–इन्द्रिय का स्वरूप वही दुःख है। उसी का नाश होता है।

आत्मा के साथ मन का संयोग होने से ज्ञान होता है। हम पूछते हैं:—वह मन का संयोग न्यायमत में (क) एक की क्रिया से होता है या (ख) दोनों की क्रिया से ? जैसे (क) बाज और वृक्ष का संयोग एक बाज की ही क्रिया से होता है (ख) दो मेषों का

† "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" (न्या० सू० १।१।२)

(मेष=नरभेड़, मेढ़ा) लड़ते समय संयोग दोनों की क्रिया से होता है। वैसे विभु आत्मा में तो कभी क्रिया हो ही नहीं सकती और मोक्ष काल में मन में भी क्रिया नहीं होती। मोक्षकाल में मन में भी क्रिया नहीं होती। मोक्षकाल में संयोगवान् मन का ही अभाव होता है।

कोई एकदेशी नैयायिक त्वचा के साथ मन के संयोग को ज्ञान का कारण मानते हैं; आत्मा के संयोग को‡ नहीं। सुषुप्ति में पुरी-

‡ आत्म-संयोग का निषेध ये लोग भी नहीं करते। क्योंकि ज्ञान का समवायिकारण तो आत्मा ही है और आत्म-वृत्ति आत्ममनः-संयोग असमवायिकारण है। आत्ममनः-संयोग का निषेध कर देने से बिना असमवायी के कार्य ही नहीं होगा। सुषुप्ति की उपपत्ति के लिए त्वचा-मनःसंयोग अथवा चर्ममनः संयोग को भी कारण प्राचीनों ने माना है। उनके मत का उल्लेख इन्हीं शब्दों में किया गया है-

"त्वङ्-मनः-संयोगो ज्ञानकारणम्।" अन्ये तु सुषुप्त्यनुरोधेन चर्ममनः-संयोगस्य ज्ञानहेतुत्वं कल्पन्ते।" इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि आत्ममनः-सन्निकर्ष की कारणता का निषेध कर दिया। "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" (न्या० सू० १-१-४) सूत्र में भी पूर्वपक्षी ने सन्देह कर दिया—"न तर्हीदानीमिदं भवति—आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति।" अर्थात् सूत्र में केवल इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष को हेतु माना गया। इसी से आत्ममनः-सन्निकर्षादि निषिद्ध हो जाते हैं। फिर तो न्याय-सम्प्रदाय-प्रसिद्ध ज्ञान-प्रणाली का ही भंग हो जाता है कि आत्मा मन से, मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय पदार्थ से जब जुड़ता है; तब ज्ञान होता है।

उक्त सन्देह का निराकरण करते हुए न्याय-भाष्यकार ने कहा है—"नेदं कारणावधारणम्-एतावत्प्रत्यक्षे कारणमिति। किन्तु विशिष्टकारणवचनम्। यत्तु प्रत्यक्षज्ञानस्य विशिष्टं कारणं तदुच्यते यत्तु

तत् नामक नाड़ी में मन प्रविष्ट हो जाता है। त्वचा के साथ मन का संयोग नहीं रहता। अतः सुषुप्ति में ज्ञान नहीं होता। इनके मत में त्वचा के साथ संयोगवाला मन ही ज्ञानद्वारा दुःख का कारण होने से दुःखरूप है, केवल मन नहीं। मोक्ष में त्वचा के नष्ट हो जाने से उसके साथ संयोग नहीं रहता। अतः ज्ञान नहीं होता। मोक्षकाल में मन तो है; पर दुःख का कारण जो ज्ञान का जनक त्वचा के साथ संयोगवाला मन उसका संयोग के नाश से नाश हो गया।

इस प्रकार मोक्ष के समय परमात्मा से अलग ही दुःख-रहित होकर व्यापक आत्मा †जड़रूप रहता है। क्योंकि ज्ञानगुण से

सामान्यमनुमानादिज्ञानस्य नैतन्निवर्तत इति।" अर्थात् सूत्र में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्षज्ञान का कारण कह देने से कारणों की इयत्ता का अवधारण नहीं समझा जा सकता कि प्रत्यक्षज्ञान में केवल एक ही सन्निकर्ष कारण है; और नहीं। किन्तु प्रत्यक्षज्ञान के असाधारण कारण का उल्लेख किया है। आत्ममनः-सन्निकर्ष केवल प्रत्यक्ष का ही कारण नहीं, अपितु सभी ज्ञानों का है, अतः उसका उल्लेख नहीं किया।

इसी प्रकार यहाँ त्वचा और मन का संयोग ज्ञानसामान्य में कारण कह देने से आत्मा और मन के सन्निकर्ष का खण्डन नहीं समझा जा सकता किन्तु एक ऐसे असाधारण कारण की खोज की गई, जिससे सुषुप्ति की गई, जिससे सुषुप्ति की उत्पत्ति की जा सके।

† नैयायिकों की दृष्टि से आत्मा को जड़ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि न्यायभाष्कार ने आत्मा के लिए लिखा है—"एकश्चायं चेतनो देहेन्द्रिय-सन्घात-व्यतिरिक्तः" अर्थात् देह-इन्द्रियादि से भिन्न आत्मा चेतन है। हां, वेदान्त-सिद्धान्त में ज्ञान स्वरूपता ही चैतन्य है। नैयायिक आत्मा को ज्ञानस्वरूप नहीं मानते। अतः वेदान्त की दृष्टि से अवश्य उनका आत्मा चेतन नहीं; जड़ कहा जायगा।

आत्मा का प्रकाश होता है। जीव का सब ज्ञान इन्द्रिय-जन्य ही है; नित्य नहीं। उस इन्द्रियजन्य ज्ञान का मोक्षकाल में नाश होता है। इसलिए प्रकाश-रहित जडरूप होकर आत्मा मोक्षकाल में रहता है। यह न्याय का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में पहले कहे अनुसार सुख-दुःख एवं बंध-मोक्ष आत्मा को होता है। अतः आत्मा नाना हैं और सभी व्यापक हैं। सभी छोटे पदार्थों से संयोग न्यायमत में व्यापक का † लक्षण है। सजातीय विजातीय और स्वगत भेद का अभाव व्यापक का लक्षण नहीं। क्योंकि न्यायमत में यद्यपि आत्मा निरवयव है। अतः स्वगत-भेद का उस में अभाव भी है। तो भी सजातीय और विजातीय के भेद का अभाव नहीं। किन्तु सजातीय जो दूसरा आत्मा उसका भेद आत्मा में है। विजातीय घट आदि का भेद भी आत्मा में है। अतः सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद का अभाव व्यापक का लक्षण नहीं। किन्तु सब छोटे-मोटे पदार्थों से संयोग होना ही व्यापक का लक्षण है।

शङ्का—न्यायमत में आत्मा की भांति आकाश-काल-दिशा भी व्यापक हैं। परमाणु सूक्ष्म और निरवयव हैं। उनका सब पदार्थों के साथ संयोग बन नहीं सकता। क्योंकि यदि परमाणु सावयव हों तब तो किसी देश में आत्मा का संयोग और किसी देश में दूसरे व्यापक पदार्थों का संयोग हो सके। परमाणु सावयव हैं नहीं। किन्तु निरवयव हैं और अतिसूक्ष्म हैं। उनके साथ एक ही देश में सब व्यापक पदार्थों का संयोग होगा। वह बन नहीं सकता। क्योंकि एक संयोग से स्थान रुक जाने पर; वही दूसरे पदार्थ का संयोग बन नहीं सकता। इसलिए अनेक पदार्थ

† "कालखात्मदिशां सर्व-गतत्वं परमं महत्।" (कारिकावली २६)
सर्वंगतत्वम् = सर्वभूत-संयोगित्वम्। मूर्त्तम् = अल्पपरिणामत्वम्।

व्यापक सिद्ध नहीं हो सकते। कोई एक ही पदार्थ व्यापक बन सकता है।

समाधानः—सावयव वस्तुओं का संयोग ही अन्य सावयव वस्तु के संयोग का विरोधी होता है। जैसे जिस पृथिवी-देश में हाथ का संयोग हो; वहाँ पैर का संयोग नहीं हो सकता। निरवयव वस्तु का संयोग स्थान नहीं रोकता। अतः दूसरे के संयोग का विरोधी नहीं। यह बात अनुभव सिद्ध है। जैसे घट के जिस देश में आकाश का संयोग है; उस देश में दिशा का भी संयोग है। यदि किसी घट का देश, आकाश, काल और दिशा के बाहर हो तो उस देश में आकाश, काल-दिशा का संयोग भी न हो। उनसे बाहर तो कोई देश है नहीं। किन्तु सब पदार्थों के सब देश आकाश-काल-दिशा के अन्तर्गत ही हैं। अतः सब पदार्थों के सब देशों में आकाश काल-दिशा का संयोग है।

इस प्रकार परमाणु में भी एक ही देश में नाना (अनेक) निरवयव विभुओं का संयोग हो सकता है; कोई दोष नहीं। अतः आत्मा नाना हैं और सभी व्यापक हैं।

(सिद्धान्ती) "सब का सब पदार्थों के साथ संयोग है।" यह न्याय का सिद्धान्त ठीक नहीं। क्योंकि यदि व्यापक आत्मा अनेक स्वीकार करें तो सभी शरीरों में सभी आत्माओं का सम्बन्ध स्वीकार करना होगा। इसलिए कौन शरीर किसका है ? यह निश्चय नहीं होगा। किन्तु एक एक आत्मा के सभी शरीर होने चाहिए।

पूर्वपक्षी—जिस आत्मा के कर्मों से जो शरीर मिलता है, वही शरीर उस आत्मा का है।

सिद्धान्ती—यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि जो कर्म जिस शरीर से होते हैं, उन कर्मों के करनेवाले पूर्व शरीर से भी सब

आत्माओं का सम्बन्ध है। अतः कर्म भी सभी आत्माओं के होंगे, किसी एक के नहीं।

पूर्वपक्षी--जिस आत्मा का मनसहित शरीर है; उस आत्मा का वही शरीर कहलावेगा।

सिद्धान्ती—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि शरीर की भांति मन के साथ भी सब आत्माओं का सम्बन्ध है। उन में यह निश्चय नहीं हो सकेगा कि कौन-सा मन किस आत्मा का है ? किन्तु सभी आत्माओं के सभी मन होने चाहिए। वैसे इन्द्रियां भी सभी आत्माओं की सभी होंगी। बाहर के पदार्थों में "यह मेरा है और यह दूसरे का है" यह व्यवहार भी शरीर के कारण ही है। ये शरीर सब आत्माओं के हैं। अतः बाहर के सब पदार्थ भी सभी आत्माओं के होने चाहिए।

शङ्का—जिस आत्मा को जिस शरीर में अहंबुद्धि और मम-बुद्धि होती है। उसी आत्मा का वही शरीर है। जिससे सब आत्माओं में यह बुद्धि रह नहीं सकती। किन्तु एक धर्म एक ही धर्मी में रहता है। अतः एक ही आत्मा का शरीर होता है। जिस आत्मा का जो शरीर है; उस शरीर के सम्बन्धी मन इन्द्रियां और बाहर के पदार्थ उसी आत्मा के हैं। इस लिए व्यापक नाना आत्मा मानने में भी दोष नहीं।

समाधानः—यह बात भी नहीं बन सकती। क्योंकि यद्यपि न्यायमत में अहंबुद्धि एक ही देह में एक ही आत्मा को होती है। तो भी यह न्यायमत में सिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु सभी आत्माओं को एक ही देह में अहंबुद्धि होनी चाहिए। कारण कि न्यायमत में बुद्धि नाम ज्ञान का है। वह ज्ञान आत्मा और मन के संयोग से होता है। वह (मन के साथ संयोग) सभी आत्माओं का है। अतः मन के जैसे एक देह में एक आत्मा को

अहंबुद्धि होती है। वैसे एक ही देह में सभी आत्माओं को अहंबुद्धि होनी चाहिए।

शङ्का—यद्यपि मन का संयोग तो सब आत्माओं के साथ है। तो भी जिस आत्मा में ज्ञान का जनक अदृष्ट है; उसी आत्मा को अहंबुद्धि होती है।

समाधानः—ऐसा मान लेने पर भी सभी को ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि यदि व्यापक नाना आत्मा मानें तो एक शरीर की शुभ-अशुभ क्रियाओं से शरीर में स्थित सभी आत्माओं में अदृष्ट होना चाहिए। यह बात पहले कह ही चुके हैं। अतः यदि व्यापक नाना आत्मा मानें तो एक ही शरीर में सबको सुख–दुःखका भोग होना चाहिए। अतः "व्यापक नाना कर्ताभोक्ता आत्मा है" यह न्याय का सिद्धांत समीचीन नहीं।

हमारे सिद्धांत में तो कर्ता–भोक्ता अंतःकरण है। वे अन्तःकरण नाना हैं। व्यापक और अणु नहीं। किंतु शरीर के अनुरूप उस अंतःकरण का परिणाम है। दीपक के प्रकाश की भांति बड़े शरीर को प्राप्त करके अंतःकरण विकसित (बड़ा) और छोटे शरीर को प्राप्त करके संकुचित (छोटा) हो जाता है। यह बात सिद्धान्त–विन्दु के व्याख्यान में मधुसूदन स्वामी ने कही है। जिस अंतःकरण का जिस शरीर से संबंध है; उस अंतःकरणका उसी शरीर से भोग मिलता है।

यदि अंतःकरण को व्यापक मान लें तो सब शरीर सभी के हो जायँ और भोग भी सभी को मिलने चाहिए। पर अंतःकरण व्यापक नहीं। अतः दोष नहीं। यदि अंतःकरण को अणु मान लें तो "अंतःकरण शरीर के एक देश में रहता है" यह मानना होगा। पर यह मान्यता ठीक नहीं। क्योंकि यदि एक ही साथ पैर और मस्तक में कांटा लगे तो दोनों स्थानों पर एक ही समय पीड़ा होती है। अतः जिस स्थान में अंतःकरण हो उसी स्थान पर पीड़ा होनी चाहिए; दोनों स्थानों पर नहीं। अतः अंतःकरण अणु और व्यापक

नहीं। किंतु शरीर के अनुरूप है। अतः कोई दोष नहीं। अणु और व्यापक परिमाण से विलक्षण को मध्यंम परिमाण कहते हैं।

पूर्वपक्षीः—न्यायमत में कुछ नवीन लोग ऐसा मानते हैं कि आत्मा नाना हैं, कर्ता भोक्ता हैं; व्यापक नहीं। अतः भोग का संकर नहीं। अणु भी नहीं; अतः दो स्थानों पर पीड़ा का असंभव भी नहीं। जैसे वेदांतमत में अंतःकरण का मध्यम परिमाण है। वैसे आत्मा का भी मध्यम-परिमाण है। उसमें चौदह गुण रहते हैं।

सिद्धांती--यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि आत्मा को संकोच-विकासशाली मानें तो दीपक की प्रभा की भांति आत्मा विकारी और विनाशशील होगा। अतः मोक्ष-प्रतिपादक शास्त्र और साधन निष्फल हो जायँगे।

मध्यम परिमाण मान करके भी यदि संकोच-विकास न मानें तो कौन से शरीर के अनुरूप आत्मा को मानें-यह निश्चय नहीं होगा। यदि मनुष्य के शरीर का-सा परिमाण मानें तो जब आत्मा हाथी के शरीर को प्राप्त होता है। तब हाथी के जिस देश में आत्मा नहीं; उस देश में पीड़ा नहीं होनी चाहिए। हाथी के शरीर के अनुरूप आत्मा को मानें तो जो शरीर हाथी के शरीर से बड़े हैं, उनके एक देश में पीड़ा नहीं होनी चाहिए। सबसे बड़ा किसी का शरीर है नहीं जिसके अनुरूप आत्मा को मानें।

सबसे बड़ा विराट् का शरीर है। उसके अनुरूप यदि आत्मा मानें तो विराट् के शरीर के अन्तर्भूत सब शरीर हैं। अतः सब आत्माओं का सभी शरीरों से संबंध हो जायगा। इस विषय में पहले दोष दिखा ही आये हैं। यह नियम है कि जो मध्यम परिमाण वाली वस्तु होती है, शरीर की भांति अनित्य होती है। अतः आत्मा भी अनित्य हो जायगा। अंतःकरण का तो हमारे मत में ज्ञान से नाश होता है। अतः नित्य है। मध्यम परिमाणवाला मानने पर

भी दोष नहीं। इस प्रकार नवीन तार्किक का मत भी ठीक नहीं।

पूर्वपक्षी—यदि कोई ऐसा कहे कि आत्मा नाना और अणु हैं।

सिद्धान्ती--यह बात भी असङ्गत है। क्योंकि यदि आत्मा को कर्ता-भोक्ता मानेंगे तो अन्तःकरण के अणु-पक्ष में जो दोष कहा है वही होगा। यदि कर्ता-भोक्ता न मानें तो नाना आत्मा मानना ही व्यर्थ होगा। इसलिए एक ही व्यापक आत्मा सब शरीरों में मानना चाहिए। कर्ता-भोक्ता न मानेंगे तो अपने सिद्धान्त का ही त्याग कर बैठेंगे। क्योंकि अणुवादी का यह सिद्धान्त है कि ज्ञान-सुख-दुःख-धर्म आदि आत्मा के धर्म हैं। अतः यदि आत्मा को अणु मानें तो जितने शरीर में आत्मा नहीं। उतना मृतक समान है; उसमें पीड़ा नहीं होनी चाहिए।

पूर्वपत्ती--यदि ऐसा कहें कि आत्मा तो शरीर के एक देश में है। पर कस्तूरी गन्ध की भांति उसका ज्ञान सारे शरीर में व्याप्त है। अतः सब शरीरों में अनुकूल-प्रतिकूल के सम्बन्ध को अनुभव करता है।

सिद्धान्ती--ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि यह नियम है "जितने देश में गुणी (गुणवाला) रहता है उतने ही देश में गुण रहता है, उसके बाहर नहीं रहता"। जैसे रूप (गुण) घट आदि में से बाहर नहीं रहता। वैसे ही आत्मा में से बाहर ज्ञान भी नहीं रहता। कस्तूरी के सूक्ष्म भाग जितने देश में व्याप्त होते हैं; उतने ही देश में गन्ध व्याप्त होती है। अतः कस्तूरी का दृष्टान्त भी नहीं बन सकता। इसलिए "आत्मा अणु है" यह पक्ष भी असंगत ही है।

कहीं-कहीं श्रुति में आत्मा को अत्यन्त अणु से भी अणु कहा है; वह उसकी दुर्विज्ञेयता के कारण कहा है। जैसे अत्यन्त अणु वस्तु का मन्ददृष्टि मनुष्य को ज्ञान नहीं होता। वैसे बहिर्मुख

मनुष्य को आत्मा का भी ज्ञान नहीं होता। अतः अणु के समान है—यह श्रुति का अभिप्राय है। "आत्मा अणु है" यह अभिप्राय नहीं। क्योंकि बहुत से स्थानों पर व्यापक रूप स्वयं वेद ने ही प्रतिपादित किया है। अतः अणु नहीं। इस प्रकार "आत्मा व्यापक, मध्यम परिणाम, या अणु नाना हैं" यह कहना बन नहीं सकता।

परिशेष से ‡ एक व्यापक आत्मा है। यदि उस में धर्म-अधर्म सुख-दुःख और बन्ध-मोक्ष मानें तो किसी को सुख और किसी को दुःख, किसी को वन्ध और किसी को मोक्ष, ऐसा व्यवहार नहीं होगा। अतः धर्म आदि बुद्धि के धर्म हैं। यद्यपि बुद्धि जड़ है। उसमें भी धर्म-सुख आदि नहीं हो सकते। तो भी आत्मा के धर्म नहीं; अतः इस अभिप्राय से बुद्धि के धर्म कह देते हैं-- 'बुद्धि के धर्म हैं' इसमें अभिप्राय नहीं। बुद्धि और सुख-दुःख आदि आत्मा में अध्यस्त हैं। जो वस्तु जिसमें अध्यस्त होती है, वह उसमें परमार्थतः नहीं होती। जैसे सांप रस्सी में अध्यस्त है। वह सुख-दुःख आदि आत्मा में हैं नहीं। अध्यस्त वस्तु किसी का आश्रय नहीं होती। अतः बुद्धि भी सुख आदि का आश्रय नहीं, परन्तु अज्ञान और शुद्ध चेतन में अध्यस्त है। अन्तःकरण अज्ञान-उपहित में अध्यस्त है। अन्तःकरण उपहित में धर्म-अधर्म,

---

‡ परिशेष—"परिशेषः प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसंगात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः।" (न्यायभाष्य १-१-५) प्राप्त-प्राप्त पक्षों का निषेध कर देने पर शेष पक्ष की सिद्धान्तता का निश्चय ही परिशेष कहलाता है। जैसे प्रकृत में आत्मा के विषय में अणु, मध्यम, महत् (व्यापक) तीन विकल्प उठाये गये थे। उनमें अणु और मध्यम पक्ष का निराकरण हो जाने पर शेष रहा—व्यापक पक्ष। अतः यह निश्चय होता है कि आत्मा व्यापक है— यही सिद्धान्त है।

सुख-दुःख, और बन्ध-मोक्ष अध्यस्त हैं। इस प्रकार आत्मा में धर्म आदि के अधिष्ठानपन की अन्तःकरण उपाधि है। इसलिए अन्तःकरण के धर्म कहे हैं।

यदि अन्तःकरण-विशिष्ट में धर्म आदि को अध्यस्त कहें तो भी ठीक नहीं। क्योंकि विशेषण-युक्त का नाम विशिष्ट है। धर्म आदि के अध्यास का अधिष्ठान, (आत्मा) का अन्तःकरण विशेषण मानें तो अन्तःकरण भी धर्म-सुख-आदि का अधिष्ठान हो जायगा। पर यह अभीष्ट नहीं। क्योंकि मिथ्या वस्तु अधिष्ठान नहीं होती। इसलिए आत्मा में धर्म आदि के अध्यास का अन्तःकरण विशेषण नहीं; किन्तु उपाधि है। उपाधि का यह स्वभाव होता है कि स्वयं तटस्थ रहकर जितने देश में स्वयं होती है; उतने देश में वस्तु को जताती है। विशेषण का यह स्वभाव है कि जितने देश में स्वयं होता है; उतने देश में स्थित वस्तु को अपने सहित जताता है। विशेषणवाले को विशिष्ट और उपाधिवाले को उपहित कहते हैं।

यदि अन्तःकरण-विशिष्ट में धर्म आदि को अध्यस्त कहें तो जितने देश में अन्तःकरण है। उतने देश में स्थित चेतन भाग और अन्तःकरण दोनों को अधिष्ठानता प्राप्त होगी (दोनों अधिष्ठान बन जायँगे)। अन्तःकरण तो स्वयं भी अध्यस्त है। अतः अधिष्ठान बन नहीं सकता; इस अभिप्राय से अन्तःकरण-उपहित में धर्म आदि अध्यस्त कहे हैं। इसलिए "जितने देश में अन्तःकरण है; उतने देश में चेतन-भागमात्र में अधिष्ठानता है; अन्तःकरण में नहीं" यह बात सिद्ध हुई।

वैसे अन्तःकरण भी अज्ञान-उपहित में अध्यस्त है; अज्ञान में नहीं। अध्यस्त धर्म आदि का अधिष्ठान आत्मा है। अध्यास के अधिष्ठानपन की अन्तःकरण उपाधि है। अतः बुद्धि के धर्म कहें हैं। अविवेक से अन्तःकरण और आत्मा दोनों में प्रतीत हो रहे हैं। अतः अन्तःकरण-विशिष्ट प्रमाता के धर्म कहे हैं। धर्म

आदि अन्तःकरण के धर्म हों, या अन्तःकरण-विशिष्ट प्रमाता के धर्म हों, अथवा रज्जु-सर्प, स्वप्न के पदार्थ, गन्धर्वनगर, और आकाश की नीलता की भाँति किसी के भी धर्म न हों; पर आत्मा के धर्म तो कदापि नहीं।

यद्यपि ये आत्म में अध्यस्त हैं। तो भी जो वस्तु जिसमें अध्यस्त होती है; वह उस में परमार्थ से नहीं होती अतःराग-द्वेष, धर्म-अधर्म, सुख-दुःख और बन्ध-मोक्ष से रहित एक व्यापक आत्मा है। अध्यस्त कल्पित को कहते हैं।

यह आत्मा सत् है—जिस वस्तु का ज्ञान से अभाव हो जाता है; वह असत् कहलाती है। जिसकी निवृत्ति किसी काल में भी नहीं होती; वह वस्तु सत् कहलाती है। सब पदार्थों और उनकी निवृत्ति का अधिष्ठान आत्मा है। यदि आत्मा की निवृत्ति होती हो तो आत्मा का कोई दूसरा अधिष्ठान होना चाहिए। क्योंकि शून्य में निवृत्ति नहीं होती। यदि आत्मा और उसकी निवृत्ति का अधिष्ठान कोई दूसरा मानें तो दूसरे अधिष्ठान का तीसरा और तीसरे का चौथा इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। यदि कोई आत्मा की निवृत्ति मान भी लें तो हम उससे पूछते हैं कि उस निवृत्ति का किसी ने अनुभव किया है या नहीं ? यदि 'हां' कहें तो भी ठीक नहीं। क्योंकि जो अनुभव करनेवाला ह; वही आत्मा है और अपना स्वरूप है। उसकी निवृत्ति का अनुभव अपने मस्तक-छेदन के अनुभव का-सा है। अतः आत्मा की निवृत्ति का अनुभव नहीं हो सकता। यदि कहें कि आत्मा की निवृत्ति तो होती है, परन्तु उसकी निवृत्ति का अनुभव किसी को नहीं होता। इससे भी यही सिद्ध हुआ कि आत्मा की निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि जिस वस्तु का किसी ने अनुभव नहीं किया; वह वंध्यापुत्र की-सी होती है। अतः आत्मा की निवृत्ति नहीं होती। इसलिए आत्मा सत् है।

आत्मा चित् है—प्रकाशरूप जो ज्ञान उसे चित् कहते हैं। यदि आत्मा को अप्रकाशरूप मानें तो अनात्म जड़ वस्तु का कभी प्रकाश नहीं होता। यदि अन्तःकरण और इन्द्रियों से पदार्थों का प्रकाश मानें तो भी बनता नहीं। क्योंकि अन्तःकरण और इन्द्रियों परिच्छिन्न है, अतः कार्य हैं। जो परिच्छिन्न होता है, वह घट की भांति काय होता है। अन्तःकरण और इन्द्रियाँ परिच्छिन्न हैं, अतः कार्य हैं। देश और काल से जिसका अन्त हो, वह परिच्छिन्न कहलाता है। जो कार्य होता है, वह जड होता है। अन्तःकरण और इन्द्रियाँ भी जड़ हैं। उसके किसी वस्तु का प्रकाश हो नहीं सकता। अतः जो आत्मा सबको प्रकाशित करता है; वह प्रकाशरूप है।

पूर्वपक्षी—आत्मा प्रकाशरूप नहीं; किन्तु जड है। उसमें ज्ञान गुण है। उस ज्ञान से आत्मा और अनात्मा का प्रकाश होता है।

सिद्धान्ती—हम आप से पूछते हैं कि आत्मा का ज्ञान-गुण नित्य है या अनित्य? यदि नित्य कहें तो आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान सिद्ध होगा। यह नियम है कि जो आत्मा से भिन्न होता है; वह अनित्य होता है। यदि ज्ञान को आत्मा से भिन्न मानेंगे तो अनित्य ही ठहरेगा। नित्य मान करके आत्मा से भिन्न ज्ञान है—ऐसा नहीं कह सकते।

यदि अनित्य मानें तो घट आदि की भाँति जड़ होगा। इसलिए 'ज्ञान अनित्य है' यह भी नहीं कह सकते। किन्तु ज्ञान नित्य ही है। वह नित्य ज्ञान आत्मस्वरूप ही है। यदि अनित्य मान भी लें तो कभी आत्मा में ज्ञान होगा और कभी न भी होगा। आत्मा से भिन्न भी हो जायगा। अतः नित्य मान लेने पर भिन्न नहीं होता।

जो गुण होता है, वह गुणवाले में कभी रहता भी है और कभी नहीं भी रहता। जैसे कपड़े का नीला-पीला गुण

कभी कपड़े में रहता है और कभी नहीं भी रहता। अतः जो गुण होता है; वह † आगमापायी (आने-जानेवाला) होता है। ज्ञान नित्य होने के कारण आगमापायी नहीं। अतः आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान है।

ज्ञान को अनित्य मानें तो "अन्तःकरण और इन्द्रियों से ज्ञान उत्पन्न होता है" ऐसा मानना पड़ेगा। पर ऐसा मानना ठीक नहीं। क्योंकि सुषुप्ति में इंद्रिय आदि तो हैं ही नहीं और सुख का ज्ञान होता है। वह नहीं होना चाहिए। यदि सुषुप्ति में सुख का ज्ञान न मानें तो जागने पर "मैं सुख से सोया" जो यह सुषुप्ति के सुख की स्मृति होती है; वह नहीं होनी चाहिए। जिस वस्तु का पहले ज्ञान होता है, उसी की स्मृति होती है। अज्ञात वस्तु की स्मृति नहीं होती। सुषुप्ति के सुख की जागने पर स्मृति होती है। अतः सुषुप्ति में सुख का ज्ञान होता है। उस ज्ञान के जनक इन्द्रिय आदि सुषुप्ति में हैं नहीं। अतः ज्ञान नित्य है।

ज्ञान को छोड़कर आत्मा कभी नहीं रह सकता। अतः ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। जैसे उष्णता को छोड़कर अग्नि कभी नहीं रह सकती। अतः उष्णता अग्नि का स्वरूप है। वैसे ही ज्ञान भी आत्मा का स्वरूप है। जो आगमापायी (आने-जाने-वाला) होता है, वह गुण होता है। उष्णता और ज्ञान आगमापायी हैं नहीं, अतः आग और आत्मा के स्वरूप हैं। जो वस्तु कभी हो और कभी न हो; वह आगमापायी कहलाती है।

उत्पत्ति और विनाश अन्तःकरण की वृत्ति के होते हैं; ज्ञान के नहीं। आत्मस्वरूप ज्ञान विशेष व्यवहार का कारण नहीं। किन्तु ज्ञान-सहित-वृत्ति में आरूढ ज्ञान व्यवहार का कारण है। यह अवच्छेदवाद की रीति है।

---

† आगम = आना, उत्पत्ति, अपाय = दूर होना, विनाश।

आभासवाद में आभास-सहित वृत्ति से व्यवहार होता है। आभासद्वारा या साक्षात् वृत्तिद्वारा आत्मस्वरूप ज्ञान से ही सब व्यवहार सिद्ध होते हैं; अन्यथा नहीं होते। इस प्रकार सबका प्रकाशक ज्ञानस्वरूप आत्मा है। अतः चित् है।

आत्मा आनन्दरूप है— यदि आत्मा आनंदरूप न हो तो विषय के संबंध से जो स्वरूप-आनंद का भान होता है; वह नहीं होना चाहिए। विषयों में आनंद नहीं, यह बात पहले कह चुके हैं।

यदि विषय में आनंद हो तो जिस विषय से एक पुरुष को सुख होता है और उसी से दूसरे को दुःख होता है। जैसे अग्नि के स्पर्श से अग्नि के कीड़े को और सांप सिंह आदि का रूप देखने से सांपिन-सिंहनी आदि को आनंद है। पर दूसरों को दुःख होता है; वह नहीं होना चाहिए। सिद्धांत में तो जब आग के कीड़े को अग्नि के स्पर्श की इच्छा होती है; तब चंचल बुद्धि में स्वरूप-आनंद का भान नहीं होता। अग्नि के सम्बन्ध से क्षणभर इच्छा दूर होने पर निश्चल बुद्धि में स्वरूप-आनन्द का भान होता है। दूसरे किसी को अग्नि के सम्बन्ध की इच्छा है नहीं; अन्य पदार्थों की इच्छा है उन पदार्थों की इच्छा अग्नि के सम्बन्ध से दूर नहीं हो सकती। इसलिए चञ्चल अन्तःकरण में आग के सम्बन्ध से आनन्द नहीं होता।

शङ्का—जो इच्छारूप अन्तःकरण की वृत्ति थी; वह तो विषय-प्राप्ति से नष्ट हो चुकी और दूसरी वृत्ति का कोई निमित्त है नहीं। अतः उनकी उत्पत्ति नहीं होती और वृत्ति के बिना स्वरूप-आनन्द का भान भी नहीं होता। अतः विषय में ही आनन्द है।

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं। क्योंकि यद्यपि इच्छारूप अन्तःकरण की वृत्ति का तो अभाव है। यदि वह वृत्ति हो तो भी उसमें आनन्द का प्रकाश नहीं होगा। क्योंकि इच्छारूप वृत्ति राजस है और आनन्द का प्रकाश सात्त्विक वृत्ति में होता है।

फिर भी वाञ्छित प्राप्त पदार्थ के स्वरूप को विषय करने के लिए जो ज्ञानरूप अन्तःकरण की वृत्ति है; वह सात्त्विक है। क्योंकि सत्त्वगुण से ज्ञान होता है—यह नियम है। उस सात्त्विक वृत्ति में आनन्द का भान होता है। परन्तु वह ज्ञानरूप वृत्ति बहिर्मुख है। उसके पिछले भाग में स्थित जो अन्तःकरण-उपहित चेतन-स्वरूप आनन्द; उसका उस वृत्ति से ग्रहण नहीं होता। अतः विषय-उपहित चेतनरूप आनन्द का भान होता है। वह विषत-उपहित चेतन आत्मा से भिन्न नहीं। अतः आत्मा के आनन्द का ही विषय में भान होता है, उस ज्ञानरूप वृत्ति में विषय के साथ नेत्र आदि का सम्बन्ध ही कारण है।

अथवा ज्ञानरूप बहिर्मुख वृत्ति से दूसरी अन्तर्मुख वृत्ति उत्पन्न होती है। उसमें अन्तःकरण-उपहित चेतनरूप आनन्द का ही भान होता है। यह उत्तम सिद्धान्त है। उस वृत्ति की उत्पत्ति में इच्छा आदि का अभाव ही कारण है। जैसे इच्छा आदि से रहित एकान्त में स्थित उदासीन को बहिर्मुख ज्ञानरूप से कोई वृत्ति नहीं होती। पर आनन्द का भान होता है। अतः इच्छा आदि के अभाव-रूप कारण से अन्तर्मुख वृत्ति आनन्द का ग्रहण करती है। वांछित विषय की प्राप्ति से इच्छा आदि का अभाव होने पर ज्ञान के बाद अन्तर्मुख वृत्ति होती है। उससे अन्तःकरण-उपहित आनन्द का ही ग्रहण होता है।

वह स्वरूप-आनन्द का ग्रहण और विषय का ज्ञान अत्यन्त अव्यवहित हैं। जिससे मनुष्य को ऐसी भ्रान्ति हो जाती है कि "मैंने विषय में आनन्द अनुभव किया" पहले पक्ष से यह पक्ष उत्तम है। क्योंकि विषय की ज्ञानरूप वृत्ति से अन्तःकरण-उपहित आनन्द का तो भान होगा नहीं; किन्तु विषय-उपहित आनन्द का भान होगा। तब तो मार्ग में वृक्ष की जो ज्ञानरूप वृत्ति है, वह भी सात्त्विक है। उससे भी वृक्ष-उपहित चेतन-

स्वरूप-आनन्द का भान होना चाहिए। वैसे ही सभी ज्ञानों से ज्ञेय-उपहित चेतन-स्वरूप-आनंद का ग्रहण होना चाहिए। अतः अनात्म वस्तु की ज्ञानरूप बहिर्मुख वृत्ति से ज्ञेय-उपहित चेतन-स्वरूप-आनंद का ग्रहण नहीं होता। इस प्रकार विषय के संबंध से आत्मस्वरूप आनंद का भान होता है। यदि आत्मा आनंदरूप न हो तो विषय-संबंध से आनंद का भान नहीं हो सकता। अतः आत्मा आनंदरूप है।

आत्मा की संबंधी वस्तु में प्रेम होता है। जो वस्तु जितनी-जितनी अधिक समीप होती है; उसमें उतना-उतना अधिक प्रेम होता है। इस प्रकार बाह्य पदार्थों की अपेक्षा अन्दर के पदार्थों में अधिक प्रीति होती है। परंपरा से आत्मा के सन्बन्धी पुत्र के मित्र में प्रीति होती है। पुत्र के मित्र की अपेक्षा पुत्र में अधिक प्रीति होती है। पुत्र की अपेक्षा स्थूल-सूक्ष्म-शरीर में अधिक प्रीति होती है। स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में से भी सूक्ष्म में अधिक प्रीति होती है। पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर आत्मा के समीप है। आत्मा का आभास सूक्ष्म शरीर में है; औरों में नहीं। अतः आभास-द्वारा आत्मा का सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध है; औरों से नहीं। स्थूल-शरीर से सूक्ष्म-शरीर का सन्बन्ध है। अतः सूक्ष्म-शरीर-द्वारा स्थूल शरीर से आत्मा का सम्बन्ध है। स्थूल-शरीर-द्वारा पुत्र से सम्बन्ध है और पुत्र द्वारा पुत्र के मित्र से सम्बन्ध है। इस प्रकार उत्तर-उत्तर आत्मा के समीपवाले में अधिक प्रीति है।

जिस आत्मा के सम्बन्ध के कारण पदार्थों में प्रीति होती है। उसी आत्मा में मुख्य प्रीति है; दूसरे पदार्थों में नहीं। जैसे पुत्र के मित्र में पुत्र के सम्बन्ध के कारण ही प्रीति है। अतः पुत्र में ही प्रीति है; पुत्र के मित्र में नहीं। वैसे ही आत्मा के अधिक समीपवाले में अधिक प्रीति होती है। इसलिए आत्मा में ही सब की प्रीति है।

वह प्रीति आनंद में और दुःख के अभाव में होती है, अन्य में नहीं। अन्य पदार्थों में जो प्रीति है; वह आनंद और दुखाःभाव के कारण है। अतः आनंद और दुःखाभाव के अतिरिक्त अन्य में प्रीति नहीं। इसलिए सब की प्रीति का विषय आत्मा आनंदरूप है। दुःख का अभाव भी आत्मरूप है। कल्पित का अभाव अधिष्ठानरूप होता है। जैसे सांप का अभाव रस्सीरूप है। अतः कल्पित दुःख का अभाव भी आत्मारूप ही है। इस रीति से आत्मा आनंदरूप है।

न्यायमत में आत्मा का आनंद गुण माना है। वह ठीक नहीं। क्योंकि यदि आनंद गुण को नित्य मानें तो आगमापायी नहीं होगा। अतः आनंद आत्मा का स्वरूप ही सिद्ध होगा। नित्य आनंद न्यायमत में है भी नहीं।

यदि अनित्य मानें तो अनुकूल विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से आनंद की उत्पत्ति माननी होगी। अतः सुषुप्ति में आनंद का भान नहीं होना चाहिए। क्योंकि सुषुप्ति में विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध है नहीं। अतः आत्मा का आनंद गुण नहीं; किंतु आत्मा आनन्दरूप है। इस प्रकार आत्मा सत्-चित्-आनंदरूप है।

वह सत्, चित् और आनन्द परस्पर भिन्न नहीं; किंतु एक ही हैं। यदि ये आत्मा के गुण हों तो परस्पर भिन्न भी हों। ये तो आत्मस्वरूप ही हैं; अतः भिन्न नहीं।

एक ही आत्मा निवृत्ति-रहित है; अतः सत् है। जड़ से विलक्षण प्रकाशरूप है; अतः चित् है। दुःख से विलक्षण मुख्य प्रीति का विषय है; अतः आनंद है। उष्ण प्रकाशरूप आग; वैसे ही सत्-चित्-आनंदरूप (सच्चिदानन्द) आत्मा।

शास्त्र में ब्रह्म को सत्-चित्-आनंदरूप कहा है। अतः ब्रह्मस्वरूप आत्मा है ब्रह्म नाम व्यापक का है। देश से जिसका अन्त नहीं होता;

वह व्यापक कहलाता है। यदि आत्मा ब्रह्म से भिन्न हो तो देश से अन्तवाला होगा। "जिसका देश से अन्त होता है; उसका काल से भी अन्त होता है" यह नियम है। अतः अनित्य होगा। जिसका काल से अन्त होता है; वह अनित्य कहा जाता है। इसलिए ब्रह्म से भिन्न आत्मा नहीं।

आत्मा से भिन्न यदि ब्रह्म होगा तो अनात्म होगा। जो अनात्म घट आदि हैं; वे जड़ हैं, अतः आत्मा से भिन्न ब्रह्म भी जड हो जायगा। इसलिए ब्रह्म आत्मा से भिन्न नहीं। किंतु आत्मस्वरूप ही ब्रह्म है।

एक ही चेतन समस्त प्रपञ्च और माया का अधिष्ठान है। अतः ब्रह्म कहते हैं। अविद्या और व्यष्टि देह आदि का अधिष्ठान है; अतः आत्मा कहते हैं। 'तत्' पद का लक्ष्य ब्रह्म और 'त्वं' पद का लक्ष्य आत्मा कहलाता है। ईश्वर-साक्षी 'तत्' पद का लक्ष्य और जीव-साक्षी 'त्वं' पद का लक्ष्य है। व्यष्टि-संघात-उपहित चेतन जीवसाक्षी है और समष्टि-संघात-उपहित चेतन जीवसाक्षी है और समष्टि-संघात-उपहित चेतन ईश्वरसाक्षी है।

यद्यपि जीव और ईश्वर की एकता बन नहीं सकती। तो भी भी जीवसाक्षी और ईश्वरसाक्षी का उपाधि के भेद से भेद होने पर भी स्वरूप से भेद नहीं-एक ही हैं। जैसे मठ में के घटाकाश और मठाकाश का उपाधि भेद के बिना स्वरूप से भेद नहीं। वैसे ही आत्मा और ब्रह्म का उपाधि भेद के बिना भेद नहीं-एक ही वस्तु है।

वह ब्रह्मरूप आत्मा अजन्मा=जन्मरहित है—यदि आत्मा की का जन्म मानें तो अनित्य होगा। यह बात परलोकवादी आस्तिकों को इष्ट नहीं। क्योंकि यदि आत्मा उत्पत्ति-विनाश-वाला हो तो प्रथम जन्म में पूर्व कर्मों के बिना ही सुख दुःख का भोग और किये कर्मों का भोग के बिना नाश होगा। अतः यदि आत्मा को कर्ता-

भोक्ता भी मानें तो भी जन्म–नाश–(उत्पत्ति–विनाश) रहित ही मानना होगा ।

यदि आत्मा का जन्म मानें तो कारण के बिना किसी वस्तु का जन्म नहीं होता । अतः कारण से ही जन्म मानना होगा । यह बन नहीं सकता । क्योंकि आत्मा का जो कारण होगा; वह आत्मा से भिन्न मानना होगा । आत्मा से भिन्न अखिल जगत् आत्मा में कल्पित है । अतः आत्मा का कारण सिद्ध नहीं होता । जैसे रस्सी में कल्पित सांप रस्सी का कारण नहीं । वैसे ही आत्मा में कल्पित वस्तु आत्मा का कारण नहीं ।

जैसे एक ही रस्सी में अनेक मनुष्यों को डंडा, सांप, भूरेखा, जलधारा–चिन्ह आदि की भ्रांति होती है । उस भ्रांति में दो अंश हैं । एक सामान्य 'इदं' अंश सांप आदि विशेष अंश में सर्वत्र व्यापक है । यह साँप है, यह डंडा है, यह भूरेखा है, यह जलधारा की लकीर है" इस प्रकार सांप आदि विशेष अंश में इदं (यह) सर्वत्र व्यापक है । वह व्यापक सामान्य 'इदं' अंश रस्सी–स्वरूप है । उस सामान्य इदं (यह) अंश के ज्ञान को ही भ्रांति का कारण रस्सी (रज्जु) का सामान्यज्ञान कहते हैं । वह सामान्य 'इदं' अंश सत्य है । क्योंकि रज्जु का ज्ञान हो जाने के बाद भी उस 'इदं' अंश की प्रतीति होती रहती है । जैसे भ्रांतिकाल में "यह सांप" इस प्रकार सांप है" इस प्रकार सांप आदि के साथ 'इदं' की प्रतीति होती है । वैसे ही भ्रांति निवृत्ति के बाद भी "यह रज्जु है" इस प्रकार रज्जु के साथ मिलकर 'इदं' अंश की प्रतीति होती है । यदि 'इदं' अंश भी मिथ्या हो तो सांप आदि की भ्रांति की निवृत्ति के बाद भी उसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए । अतः सांप आदि की भ्रांति में व्यापक जो 'इदं' अंश वह सत्य है और अधिष्ठान रज्जुरूप है । परस्पर व्यभिचारी जो सांप आदि वे कल्पित हैं ।

वैसे ही सब पदार्थों में पांच अंश होते हैं—१—नाम, २—रूप,

३—अस्ति, ४—भाति और ५—प्रिय । (क) 'घट' यह दो अक्षरों का नाम (ख) गोलरूप (ग) 'है' यह अस्ति (घ) 'प्रतीत होता है' यह भाति (ङ) 'प्रिय है' यह आनन्द । [साँप आदि भी साँपिन आदि को प्रिय ही हैं] इस प्रकार सभी पदार्थों में पाँच अंश होते हैं उनमें से अस्ति-भाति-प्रियरूप तीन अंश सब पदार्थों में व्यापक हैं। नाम और रूप व्यभिचारी हैं। जो वस्तु कहीं हो और कहीं न हो; उसे व्यभिचारी कहते हैं। 'घट' नाम और 'गोल' रूप पट में नहीं। एवं 'पट' नाम और विस्तीर्ण' रूप घट में नहीं इस प्रकार सब पदार्थों में नाम-रूप अंश व्यभिचारी हैं। अस्ति-भाति-प्रिय रूप सब में अनुगत हैं। जैसे साँप-दण्ड आदि में अनुगत 'इदं' अंश सत्य और अधिष्ठान है। वैसे ही सभी पदार्थों में अनुगत अस्ति-भाति-प्रियरूप सत्य और अधिष्ठानरूप है। साँप आदि की भांति व्यभिचारी नाम-रूप कल्पित हैं और अस्ति-भाति-प्रिय सत्-चित्-आनन्दरूप हैं। अतः आत्मस्वरूप हैं। इस प्रकार सत्-चित् आनन्दरूप आत्मा में अखिल नाम-रूप प्रपञ्च कल्पित है। वह कल्पित कोई भी पदार्थ आत्मा के जन्म का कारण नहीं। अतः आत्मा अजन्मा (जन्मरहित) है।

जिस वस्तु का जन्म† (पैदा होना) होता है; उसीके सत्ता, (होना) वृद्धि (बढ़ना) परिणाम (बदलना) अपक्षय (घटना) और विनाश (नष्ट होना) ये पाँच विकार भी होते हैं।

---

† "षड् भावविकारा भवन्ति--जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति" (निरुक्त० १-२-८) छह भाव-विकार होते हैं—(१) जायते (जन्म), (२) अस्ति (सत्ता), (३) विपरिण-मते (परिवर्तन), (४) वर्द्धते (वृद्धि), (५) अपक्षीयते (शिथिलता), (६) विनश्यति (विनाश)। अभिव्यक्ति आदि-सब भाव विकार इन छहों के अन्दर आजाते हैं। अतः कार्यभाव के छह ही विकार होते हैं।

आत्मा का जन्म होता नहीं। अतः पांच विकार भी नहीं होते। अतः अजन्मा (जन्म आदि छह विकारों से रहित) आत्मा है।

आत्मा असङ्ग है--सङ्ग नाम सम्बन्ध का है। वह सम्बन्ध सजातीय-विजातीय-पदार्थों से होता है। जैसे घट का घट के साथ जो सम्बन्ध है; वह सजातीय के साथ है। घट का पट के साथ जो सम्बन्ध है; वह विजातीय के साथ है। स्वागत नाम अवयव का है। अतः पट का तंतुओं के साथ जो सम्बन्ध है; वह स्वागत के साथ है। इस प्रकार आत्मा दो या अधिक हों तो सजातीय से इसका सम्बन्ध हो सकता है; पर आत्मा एक है। अतः सजातीय आत्मा से आत्मा का सम्बन्ध नहीं। आत्मा से विजातीय अनात्मा है; वह मृगतृष्णा के जल की भाँति आत्मा में कल्पित है। कल्पित से आत्मा का सम्बन्ध हो नहीं सकता। जैसे मृगतृष्णा के जल से पृथिवी का सम्बन्ध नहीं होता। यदि सम्बन्ध हो तो ऊसर भूमि उस जल से गीली होनी चाहिए। जैसे मृगतृष्णा के जल से ऊसर भूमि का सम्बन्ध नहीं। वैसे ही आत्मा में कल्पित विजातीय अनात्मा से आत्मा का सम्बन्ध नहीं। यदि आत्मा के अवयव हों तो आत्मा का स्वागत से सम्बन्ध हो। पर आत्मा नित्य है। अतः निरवयव है, उसका स्वागत से सम्बन्ध हो नहीं सकता। इस प्रकार सजातीय-विजातीय-स्वगत सम्बन्ध नहीं, अतः आत्मा असङ्ग है।

हे शिष्य ! सत्-चित्-आनन्द ब्रह्मरूप, जन्म-आदि विकार-रहित आत्मा है "वह तू है"। आचार्य ने प्रथम प्रश्न का यह उत्तर आधे दोहे से दिया।

जगत् का कर्ता कौन है ?" इस दूसरे प्रश्न का उत्तर आधे दोहे से देते हैं:—

विभु चेतन-माया करे, जगको उत्पति भङ्ग ॥ २० ॥

अर्थात् विभु (व्यापक) चेतन के आश्रित और उसे ही विषय करनेवाली माया (सत्-असत् से विलक्षण अद्भुत-शक्तिरूप अज्ञान) से जगत् की उत्पत्ति और विनाश होता है। उत्पत्ति और विनाश कहने से 'स्थिति' का ग्रहण अर्थतः हो जाता है। अतः यह अर्थ सिद्ध हुआ कि मायायुक्त चेतन ईश्वर है। वह ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश का कारण है। इससे "जगत् का कोई कर्ता है या स्वयं ही बन गया ?" इसका उत्तर हो गया। "जगत् का कर्ता कोई जीव है या ईश्वर ?" इसका भी उत्तर मिल गया।

जगत् का कर्ता ईश्वर है—स्वयं जगत् हो नहीं सकता। यदि कर्ता के बिना जगत् हो जाय तो कुम्हार के बिना भी घट हो जाना चाहिए। अतः जगत् का कोई-न-कोई कर्ता अवश्य है। वह कर्ता सर्वज्ञ है। क्योंकि जो कार्य का कर्ता होता है; वह उस कार्य और उसके उपादान को जानकर ही करता है। इस प्रकार जगत् का कर्ता जगत् को और जगत् के उपादान को जानता है। अतः सर्वज्ञ है।

वह सर्वशक्तिमान् है—क्योंकि अल्पशक्ति वाले जीव तो जगत् रचना मन से भी सोच नहीं सकते। अतः अद्भुत जगत् का कर्ता अद्भुत शक्तिशाली है। इस प्रकार जगत् का कर्ता सर्वक्तिमान् है।

वह स्वतंत्र है—क्योंकि कम शक्तिवाला पराधीन होता है और सर्वशक्तिवाला पराधीन नहीं होता। अतः स्वतंत्र है। इस प्रकार जगत् का कर्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और स्वतंत्र है। उसे ही ईश्वर कहते हैं। अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् और पराधीन को जीव कहते हैं।

यद्यपि अल्पज्ञता आदि जीव में भी परमार्थतः नहीं। तो भी अविद्याकृत मिथ्या अल्पज्ञता आदि जीव में प्रतीत होते हैं। अतः जीव में हैं-ऐसा कह देते हैं। अविद्याकृत अल्पज्ञता आदि की भ्रांति

ही जीवता है। यह भ्रांति ईश्वर में है नहीं। किंतु मायाकृत सर्वज्ञता आदि ईश्वर में हैं। यह बात विस्तारपूर्वक आगे कहेंगे। जगत् का कर्ता जीव नहीं; ईश्वर है–यह सिद्ध हुआ। वह ईश्वर एक देश में स्थित नहीं, किंतु सर्वत्र व्यापक है। यदि एक देश में मानें तो जिस वस्तु का देश से अंत होता है; उसका काल से भी अंत होता है। अतः नित्य हो जायगा। जो अनित्य होता है; वह कर्ता से जन्य होता है। अतः ईश्वर का भी कोई कर्ता मानना पड़ेगा।

ईश्वर का कर्ता सिद्ध नहीं होता—क्योंकि स्वयं तो अपना कर्ता बन नहीं सकता। यदि अपना कर्ता स्वयं बन जाय तो आत्माश्रयदोष होगा। जहां स्वयं ही क्रिया का कर्ता (आश्रय) और स्वयं ही क्रिया का कर्म (क्रिया का विषयरूपकार्य) हो; वहां आत्माश्रय दोष होता है। जैसे कुम्हार क्रिया का कर्ता है और घट कर्म है। ऐसे ही क्रिया का कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न होते हैं; एक नहीं हो सकते। अतः आत्माश्रय दोष है। कर्म नाम कार्य का है और कार्य के विरोधी का नाम दोष है। आत्माश्रय कार्य का विरोधी है। अतः दोष है। यदि ईश्वर का कर्ता कोई दूसरा मानेंगे, तो वह भी पहले कर्ता की भांति कर्ता से जन्य ही मानना होगा। उसका कर्ता भी पहले की भांति उससे अलग ही मानना होगा। पहले ईश्वर को दूसरे कर्ता का कर्ता मानें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा।

यदि तीसरा कर्ता अन्य मान लेंगे तो उस तीसरे कर्ता का कर्ता यदि और मानेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। यदि पहला मानेंगे तो चक्रिकादोष होगा। जैसे चक्र घूमता है; वैसे ही (क) प्रथम कर्ता द्वितीयजन्य (ख) द्वितीयकर्ता तृतीयजन्य (ग) तृतीयकर्ता प्रथमजन्य (घ) वह प्रथम फिर द्वितीयजन्य। इस प्रकार कार्यकारणभाव घूमता रहेगा। चक्रिका के स्थान में कोई भी सिद्ध नहीं होता। सबकी परस्पर अपेक्षा रहती है। (१) जैसे कुम्हार का कर्ता स्वयं कुम्हार नहीं; किंतु उसका बाप है। वैसे प्रथम ईश्वर कर्ता का अन्यकर्ता है। (२) कुम्हरा

का बाप अपने पुत्र से पैदा नहीं होता ; किंतु अन्य पिता से उत्पन्न होता है। वैसे ही द्वितीयकर्ता प्रथमकर्ता से उत्पन्न नहीं होता। किंतु अन्यकर्ता से ही स्वीकार करना होगा। (३) कुम्हार का पितामह कुम्हार और उसके पिता से उत्पन्न नहीं होता। किन्तु चौथे कुम्हार के प्रपितामह से उत्पन्न होता है। (४) वैसे तृतीय कर्ता भी प्रथम और द्वितीय कर्ता से उत्पन्न नहीं होता। अतः अन्य एक चौथा कर्ता मानना होगा। उस चौथे कर्ता का अन्य पाँचवां मानना होगा। अतः अनवस्था दोष होगा। धारा का नाम अवस्था है। यदि कर्ताओं की धारा स्वीकार करें तो "कौन सा कर्ता जगत् बनाता है" यह निर्णय नहीं होगा। (५) किसी एक को कर्ता मान लेने में कोई युक्ति नहीं। युक्ति के अभाव का नाम ही विनिगमना-विरह (निश्चायक युक्ति का अभाव) है।

(६) धारा की कहीं विश्रांति मानेंगे तो जिस कर्ता पर धारा का अन्त होगा; वही जगत् का कर्ता मानना होगा। पहले का सब निष्फल हो जायँगे। इसी को प्राग्लोप कहते हैं। पहले के अभाव का नाम ही प्राग्लोप है।

ईश्वर का देश से अन्त मानेंगे तो उत्पत्ति भी माननी होगी। उत्पत्ति मानेंगे तो आत्माश्रय आदि छह दोष होंगे। ईश्वर का देश से अन्त नहीं ; अतः वह व्यापक और नित्य है।

ईश्वर और जीव का स्वरूप से अभेद

उस व्यापक ईश्वर का और जीव का स्वरूप से भेद नहीं; किन्तु उपाधि से भेद है। क्योंकि अवच्छेदवाद में-मायाविशिष्ट चेतन ईश्वर है और अविद्या-विशिष्ट चेतन जीव है। आभासवाद में-माया और आभास-विशिष्ट चेतन ईश्वर है और आभास-सहित अविद्या विशिष्ट चेतन जीव है। आभासवाद में आभास-सहित अविद्या और

माया का भेद है; चेतन का नहीं। वैसे ही अवच्छेदवाद में भी अविद्या और माया का भेद है। स्वरूप से चेतन का भेद नहीं। "अज्ञान में चेतन का प्रतिबिम्ब जीव है और बिम्ब ईश्वर है।" इस पक्ष में भी चेतन का स्वरूप से भेद नहीं। किन्तु एक ही चेतन में जीवपन और ईश्वरपन आरोपित हैं। यह बात आगे कहेंगे। इस प्रकार जगत् का कर्ता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् स्वतन्त्र ईश्वर है। वह ईश्वर व्यापक है। उसका और जीव का विशेषणमात्र से भेद है और स्वरूप से अभेद है—यह दूसरे प्रश्न का उत्तर हुआ।

"मोक्ष का साधन ज्ञान है? या कर्म है? या उपासना है? अथवा दोनों हैं?" इसका उत्तर देते हैं:—

हेतु मोछ को ज्ञान इक, नहीं कर्म नहीं ध्यान।
रज्जु–सर्प तब ही नसै, होय रज्जु को ज्ञान ॥ २१ ॥

अर्थात् मुक्ति का कारण कर्म और ध्यान (उपासना) नहीं; किन्तु ज्ञान ही है। क्योंकि यदि आत्मा में बन्ध सत्य हो तो उसका निवृत्ति रूप मोक्ष ज्ञान से न हो। किन्तु कर्म और उपासना से ही हो। पर वह बन्ध आत्मा में सत्य है नहीं, किन्तु रज्जु–सर्प की भांति मिथ्या है। उस मिथ्या की निवृत्ति अधिष्ठान के ज्ञान से ही हो सकती है। कर्म या उपासना से नहीं। जैसे रस्सी का साँप किसी क्रिया से दूर नहीं होता; केवल रस्सी के ज्ञान से दूर होता है। वैसे ही आत्मा के न जानने से प्रतीत होनेवाला बंध, उस बंध की प्रतीति और अज्ञान (न जानना) आत्मा के जानने से ही दूर होते हैं।

यदि कर्म का फल मोक्ष मानें तो अनित्य होगा। क्योंकि यह नियम है कि कृषि आदि कर्म का फल अन्न आदि है; वह अनित्य है। यज्ञ आदि कर्म का फल स्वर्ग आदि भी अनित्य है। यदि मोक्ष को भी कर्म का फल मानें तो अनित्य होगा। अतः मोक्ष कर्म का

फल नहीं। †वैसे ही यदि उपासना का फल मानें तो भी मोक्ष अनित्य ठहरेगा। क्योंकि उपासना भी मानसिक कर्म ही है। कर्म का फल अनित्य होता है। अतः उपासनारूप कर्म का फल भी मोक्ष नहीं।

कर्म करनेवाले को कर्म से पांच प्रकार का उपयोग (फल) होता है:—१ पदार्थ की उत्पत्ति, २–पदार्थ का नाश, ३–पदार्थ की प्राप्ति, ४–उस पदार्थ का विकार, ३–वैसे संस्कार। अन्यरूप की प्राप्ति का नाम विकार है। संस्कार दो प्रकार का होता है–एक मल की निवृत्ति और दूसरा गुण की उत्पत्ति। कर्म से पांच प्रकार का होनेवाला यह उपयोग (फल) मुमुक्षु को एक भी नहीं होता। अतः मुमुक्षु ज्ञान के साधन श्रवण आदि में प्रवृत्त होता है; कर्म में नहीं।

जैसे कुम्हार के कर्म से कुम्हार को घटकी उत्पत्ति का उपयोग होता है। वैसे मुमुक्षु को कर्म से मोक्ष की उत्पत्ति का उपयोग नहीं होता। क्योंकि अनर्थ की निवृत्ति और परम–आनंद की प्राप्तिरूप मोक्ष है। वह अनर्थ की निवृत्ति आत्मा में नित्य सिद्ध है। जैसे रस्सी में साँप की निवृत्ति नित्य‡ सिद्ध है। आत्मा परम–आनंद–

---

† "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते। नास्त्यकृतः कृतेन" [छां० ८–१–६] जिस प्रकार इस लोक में कर्म–जन्य (धन्यादि) फल खाने–पीने से समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार पुण्योपार्जित स्वर्ग आदि भी भोग से क्षीण हो जाता है। अतः कर्मों से अनित्य फल ही होता है; नित्य (मोक्ष) नहीं हो सकता।

‡ रस्सी में साँप प्रातीतिक होने पर भी व्यावहारिक कभी नहीं। अतः व्यावहारिक सत्तावाले सांप की निवृत्ति नित्य–सिद्ध है। इसी प्रकार आत्मा में प्रपंच, व्यावहारिक है पारमार्थिक कभी नहीं। अतः पारमार्थिक प्रपंच की आत्मा में निवृत्ति नित्य–सिद्ध है।

स्वरूप है। अतः परम-आनंद की प्राप्ति भी नित्य सिद्ध † है। इस प्रकार स्वभावसिद्ध मोक्ष की उत्पत्ति कर्म से नहीं हो सकती। जो वस्तु पहले सिद्ध नहीं होती; उसकी कर्म से उत्पत्ति होती है। सिद्ध वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती।

वेदांत-श्रवण भी मोक्ष की उत्पत्ति के लिए नहीं कहा। किंतु "आत्मा नित्यमुक्त है; कुछ भी कर्तव्य नहीं" यह बात जाननेके लिए श्रवण है। यह जानकर कर्तव्य की भ्रांति दूर होती है। वेदांत-श्रवण के बाद भी जिन्हें कर्तव्य की प्रतीति होती रहती है; उन्होंने तत्त्व नहीं जाना ‡। इसी कारण से नित्यनिवृत्ति अनर्थ की निवृत्ति और नित्य-प्राप्त आनंद की प्राप्ति वेदान्त के श्रवण का फल देवगुरु (सुरेश्वराचार्य) ने नैष्कर्म्यसिद्धि में कहा है। अतः मोक्ष की उत्पत्ति में कर्म का उपयोग नहीं हो सकता।

जैसे डंडे के प्रहाररूप कर्म का घटनाशरूप उपयोग होता है। वैसे मुमुक्षु को कर्म से किसी पदार्थ का नाशरूप उपयोग भी नहीं होता। क्योकि अन्य पदार्थ का नाश तो मुमुक्षु को वांछित है ही नहीं। बंध का नाश ही कर्म से होनेवाला उपयोग मानना होगा। वह बंध आत्मा में है नहीं। मिथ्या प्रतीत होता है, उस मिथ्या प्रतीति का नाश कर्म से हो नहीं सकता। आत्मा के यथार्थज्ञान से

---

† यह आत्मा परमानन्द नहीं, इसे परमानन्द सिद्ध करना है—यह बात नहीं। आत्मा नित्य ही परमानन्द स्वरूप है। केवल भ्रम से विपरीत ज्ञान हो जाया करता है। आत्मा का जो परमानन्द स्वरूप है। वह सदा ही सिद्ध है।

‡ "ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित् कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥ (जा०द० १।२३)

ज्ञानरूपी अमृत से तृप्त, कृतकृत्य (मुक्त) योगी के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। यदि वह कुछ अपना कर्तव्य समझता है। तब कहना होगा कि वह तत्त्ववेत्ता नहीं।

मिथ्या प्रतीति का नाश होगा। इसलिए पदार्थ के नाश में भी कर्म का उपयोग सिद्ध नहीं होता।

जैसे गमनरूप कर्म से गांव की प्राप्ति होती है। वैसे मोक्ष-प्राप्तिरूप उपयोग भी कर्म से सिद्ध नहीं होता। क्योंकि नित्यमुक्त आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति कैसे कह सकते हैं? जिसे बंध हो उसके लिए ही मोक्ष की प्राप्ति कहना, बन सकता है। आत्मा मेंबंध है नहीं। अतः मोक्ष की प्राप्ति में भी कर्म का उपयोग नहीं होता।

जैसे रसोइये को पाकरूप कर्म से अन्न का विकाररूप उपयोग होता है। वैसे मुमुक्षु को कर्म से बिकाररूप उपयोग भी नहीं सिद्ध होता। क्योंकि दूसरा तो कोई विकार हो ही नहीं सकता। हां, यदि आत्मा में पहले बंध, स्वीकारें, फिर मोक्षदशा में चतुर्भुज आदि विलक्षणरूप की प्राप्ति मानें तो अन्यरूप की प्राप्तिरूप विकार कर्म का उपयोग मुमुक्षु को हो सकता है। अन्यरूप की प्राप्ति आत्मा में स्वीकृत ही नहीं। अतः कर्म से विकाररूप उपयोग भी मुमुक्षु को नहीं सिद्ध होता।

जैसे कपड़े के धोनेरूप कर्म से मल की निवृत्तिप संस्कार होता है। वैसे मुमुक्षु को मल की निवृत्तिरूप कंस्कार भी कर्म से होनेवाला उपयोग नहीं। क्योंकि अन्य के मल की निवृत्ति तो मुमुक्षु को वांछित है नहीं। आत्मा के मल की निवृत्ति कहना होगा। पर वह आत्मा नित्य-शुद्ध है। उसमें मल है ही नहीं। अतः मल-निवृत्तिरूप संस्कार सिद्ध नहीं होता।

हां, अंतःकरण में पापरूप मल की निवृत्ति कर्म का उपयोग कहो तो हो सकता है। पर हम तो शुद्ध-अन्तःकरणवाले मुमुक्षु के संबंध में विचार कर रहे हैं। उसके अंतःकरण में भी पाप नहीं। इसलिए पापरूप मल की निवृत्तिरूप संस्कार भी मुमुक्षु के लिए कर्म का उपयोग सिद्ध नहीं हो सकता। यदि अज्ञान को मल कहें तो वह आत्मा में

है भी। परन्तु उसकी निवृत्ति कर्म से नहीं होती। क्योंकि अज्ञान का विरोधी ज्ञान है; कर्म नहीं। अतः मल-निवृत्तिरूप संस्कार में कर्म का उपयोग नहीं सिद्ध होता।

जैसे केसर में डुबानेरूप कर्म का कपड़े में लालगुण की उत्पत्तिरूप संस्कार उपयोग होता है। वैसे गुण की उत्पत्तिरूप संस्कार मुमुक्षु को कर्म का उपयोग सिद्ध नहीं होता। क्योंकि अन्य में उस गुण की उत्पत्ति तो नहीं कह सकते; आत्मा में कहनी होगी। वह आत्मा निर्गुण है। उसमें गुण की उत्पत्ति हो नहीं सकती। अतः गुणोत्पत्ति-रूप संस्कार में भी कर्म का उपयोग सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकरण में उपयोग नाम फल का है। कर्म का पांच ही प्रकार का फल होता है, अधिक नहीं। कर्म का यह पांच प्रकार का फल मुमुक्षु के लिए सिद्ध नहीं होता। अतः कर्म को छोड़कर ज्ञान के साधन श्रवण में ही मुमुक्षु प्रवृत्त होता है। उपासना भी एक प्रकार का मानसिक कर्म ही है। अत एव उसका खण्डन करने के लिए अलग युक्तियां नहीं देंगे। इस प्रकार केवल कर्म या उपासना मोक्ष का कारण नहीं; किन्तु केवल ज्ञान मोक्ष का कारण है।

ज्ञान का कर्म और उपासना से विरोध

पूर्वपक्षी—कुछ लोग †कर्म-उपासना-सहित ज्ञान को मोक्ष का

---

† आचार्य शङ्कर के पूर्ववर्ती वेदान्त के आचार्य भर्तृप्रपञ्च का समुच्चयवाद है। वे ज्ञानकर्म समुच्चय को मोक्ष का साधन मानते हैं। उनका कहना है—

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम्॥

जिस प्रकार आकाश में पक्षी दो परों से उड़ा करता है। उसी प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों से परम पद (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। भर्तृप्रपञ्च के मत का उल्लेख भगवान् शङ्कराचार्य ने अपने बृहदारण्यक-भाष्य में कई बार किया है।

कारण मानते हैं। उनका कहना है कि जैसे आकाश में पक्षी एक पंख-से नहीं उड़ सकता। दोनो पंखों से ही उड़ता है। वैसे मोक्ष लोक में भी ज्ञानरूप एक पंख से जाया नहीं जा सकेगा। एक पंख उपासना-सहित कर्म है और दूसरा है ज्ञान। उपासना भी मानसिक कर्म ही है। अतः एक पंख समझना चाहिए।

दूसरा दृष्टान्तः--जैसे सेतु के दर्शन से पाप का नाश होता है। सेतु का यह दर्शन भी प्रत्यक्षरूप ज्ञान है और श्रद्धा भक्ति-सहित यात्रा आदि नियम की अपेक्षा रखता है। जो श्रद्धा आदि से रहित मनुष्य होता है; उसे सेतु-दर्शन से फल नहीं होता। जैसे सेतु का प्रत्यक्षज्ञान फलोत्पत्ति में श्रद्धा आदि नियमों की अपेचा रखता है। वैसे ब्रह्मज्ञान भी मोत्तरूप फल की उत्पत्ति में कर्म-उपासना की अपेक्षा रखता है। जो लोग केवल ज्ञान से मोत्त मानते हैं। वे भी कर्म और उपासना को ज्ञान का कारण स्वीकार करते ही हैं। शुद्ध और निश्चल अन्तःकरण में ज्ञान होता है। अन्तःकरण शुभ कर्म से शुद्ध होता है और उपासना से निश्चल होता है। इस प्रकार अन्तः-करण की शुद्धि और निश्चलता द्वारा कर्म एवं उपासना ज्ञान के कारण स्वीकार किये हैं। जैसे ज्ञान के कारण कर्म-उपासना दोनों स्वीकारे हैं। वैसे ज्ञान के फल मोत्त के कारण भी स्वीकार करने चाहिए।

देखिए :—जैसे जल सींचना वृत्त की उत्पत्ति तथा उसके फल की उत्पत्ति का भी कारण है। वन में जल-सींचने के बिना जिन वृत्तों में फल आते हैं, उनकी जड़ों का जमीन में के जल के साथ सम्बन्ध है। अतः फल आते हैं, जल के सम्बन्ध के बिना तो वृक्ष सूख ही जाते हैं; फल नहीं आता। वैसे ही कर्म-उपासना दोनों ज्ञान की उत्पत्ति के कारण हैं और ज्ञान का फल जो मोक्ष; उसके भी कारण हैं। इस प्रकार कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों मोत्त के कारण हैं। इसलिए ज्ञानवान् को भी कर्म करना चाहिए।

अथवा—कर्म और उपासना दोनों ज्ञान की रक्षा के कारण हैं। क्योंकि यदि कर्म–उपासना का ज्ञानवान् त्याग कर देगा तो उत्पन्न हुआ ज्ञान भी जलरहित वृक्ष की भाँति नष्ट हो जायगा। क्योंकि शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान होता है। यदि ज्ञानवान् शुभ कर्म न करे तो उसे पाप होगा। उपासना के त्याग कर देने से अन्तःकरण फिर चञ्चल हो उठेगा। उस मलिन और चञ्चल अन्तःकरण में ज्ञान रहेगा नहीं। सूखी भूमि में उत्पन्न हुआ जैसे वृक्ष नहीं रहता।

अच्छा और सुनिए :—जैसे संस्कार से शुद्ध किये स्थान में वेदपाठी ब्रह्मचारी निवास करते हैं। यदि शुद्ध किया हुआ स्थान भी किसी कारण से फिर अशुद्ध हो जाय तो उस स्थान को छोड़ देते हैं। वैसे ही कर्म के त्याग से मलिन और उपासना के त्याग से चञ्चल हुए अन्तःकरण में ज्ञान नहीं रहता। अतः कर्म और उपासना ज्ञान की रक्षा के कारण हैं। इस प्रकार चाहे (क) कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों को मोक्ष का कारण स्वीकार करें, चाहे (ख) ज्ञान की रक्षा के कारण कर्म–उपासना स्वीकार करें, और केवल ज्ञान मोक्ष का कारण स्वीकार करें। दोनों प्रकार से ज्ञानवान् के लिए कर्म और उपासना कर्तव्य हैं (करने चाहिए)। यह समुच्चयवाद है।

सिद्धांती—आप का यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि जो देह से भिन्न आत्मा को नहीं जानता; उससे कर्म नहीं होगा। जन्मान्तर के भोग के लिए कर्म किये जाते हैं। देह को आग में जला देते हैं। उससे जन्मान्तर का भोग सिद्ध नहीं होता। अतः "शरीर से भिन्न आत्मा का ज्ञान कर्म का कारण है।" शरीर से भिन्न आत्मा का भी कर्ता–भोक्तारूप से ज्ञान कर्म का कारण है। "मैं पुण्य–पाप का कर्ता हूँ और पुण्य–पाप का मुझे फल मिलेगा" ऐसा जिसे ज्ञान है; वही कर्म करता है। ज्ञानवान् को आत्मा का ऐसा ज्ञान है नहीं।

किंतु "पुण्य-पाप और सुख-दुःख से रहित असंग ब्रह्मरूप आत्मा है" ऐसा वेदांत-वाक्य से ज्ञान होता है। वह ज्ञान कर्म का कारण नहीं, उलटा विरोधी है। अतः ज्ञानवान् से कर्म नहीं हो सकता।

"कर्ता कर्म और फल का भेदज्ञान कर्म का कारण है।" ज्ञानवान् को कर्ता कर्म और फल की आत्मा से भिन्न प्रतीति नहीं होती। सब आत्मस्वरूप ही प्रतीत होता है। इसलिए भी ज्ञानवान् से कर्म नहीं हो सकता। भाष्यकारने बहुत प्रकार से ज्ञानवान् के लिए कर्म का अभाव प्रतिपादित किया है। कर्म का और ज्ञान का फल से विरोध है। इसलिए भी ज्ञान और कर्म का समुच्चय सिद्ध † नहीं होता। (क) कर्म का फल अनित्य संसार है। (ख) ज्ञान का फल नित्य मोक्ष है।

आत्मा में जाति-आश्रम-अवस्था का अध्यास कर्म का कारण है। क्योंकि जाति-आश्रम-अवस्था के योग्य भिन्न-भिन्न कर्म कहे हैं। अतः जाति आदि का अध्यास कर्म का कारण है। यद्यपि जाति-आश्रम-अवस्था देह के धर्म हैं और कर्मी को देह में आत्म-

† ज्ञान और कर्म का समुच्चय दो प्रकार का होता है—(१) सम-समुच्चय और (२) क्रम-समुच्चय।

(१) सम-समुच्चय—जिस प्रकार तत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन है उसी प्रकार कर्म भी मोक्ष का साधन है। दोनों का साथ-साथ अनुष्ठान आवश्यक है। एक-एक से मोक्षक प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः श्रवणादि ज्ञान-साधनों-का और अग्निहोत्रादि-कर्मों का साथ-साथ अनुष्ठान करना चाहिए।

(२) क्रम-समुच्चय—कर्मानुष्ठान से अंतःकरण शुद्ध होता है। शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान के साधनों का सम्पादन करने से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष होता है। इस प्रकार कर्म को साक्षात् मोक्षसाधन न मानकर साधन-साधन मानना क्रम-समुच्चय है। इन दोनों में से शाङ्करमतानुसार समसमुच्चय त्याज्य और क्रमसमुच्चय उपादेय है।

बुद्धि है नहीं। किंतु कर्मी देह से भिन्न आत्मा को कर्ता जानता है। यह बात पहले कह आये हैं। अतः जाति-आश्रम-अवस्था की प्रतीति आत्मा में कर्मी को भी सिद्ध नहीं होती। तो भी देह से भिन्न आत्मा का कर्मी को अपरोक्ष ज्ञान नहीं। किंतु शास्त्र से परोक्षज्ञान है और देह में आत्मज्ञान अपरोक्ष है। यदि देह से भिन्न आत्मा का अपरोक्ष-ज्ञान हो तो देह में अपरोक्ष आत्मज्ञान का विरोधी ठहरे। परोक्षज्ञान का अपरोक्षज्ञान से विरोध है नहीं। अतः देह से भिन्न कर्ता आत्मा का ज्ञान और देह में आत्मबुद्धि दोनों एक व्यक्ति को हो सकते हैं।

देखिए:—मूर्ति में ईश्वरज्ञान शास्त्र-जन्य होने से परोक्ष है और पाषाण बुद्धि अपरोक्ष है। उनका विरोध नहीं। दोनों एक ही व्यक्ति को होते हैं। रस्सी में जिसे साँप से अपरोक्ष भेद-ज्ञान है। उसे अपरोक्ष साँप की भ्रांति दूर होती है; अतः यह नियम सिद्ध हो गया कि अपरोक्ष भ्रांति का अपरोक्ष ज्ञान से विरोध है, परोक्ष से नहीं। अतः देह से भिन्न आत्मा का परोक्षज्ञान और देह में आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान दोनों कर्म के कारण हैं। देह से भिन्न कर्तारूप से आत्मा का ज्ञान भी कर्म का कारण है। कर्तारूप से आत्मा का ज्ञान भ्रांतिरूप है। भ्रांति विद्वान् को होती नहीं। इसलिए भी कर्म का अधिकार नहीं। जब देह में अपरोक्ष आत्मबुद्धि होती है; तभी देह के धर्म (जाति-आश्रम-अवस्था) प्रतीत होते हैं। विद्वान् को देह में आत्मबुद्धि भी नहीं। किंतु ब्रह्मरूप से आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान है। अतः जाति-आश्रम-अवस्था की भ्रांति के अभाव के कारण भी विद्वान् को कर्म का अधिकार नहीं।

उपासना भी "मैं उपासक हूँ और देव उपास्य हैं" इस बुद्धि से होती है। विद्वान् को उपास्य-उपासक-भाव प्रतीत नहीं होता। "देह आदि संघात मेरा और देव का स्वप्नकी भांति कल्पित है,

एवं चेतन एक है।" यह विद्वान् का निश्चय होता है। अतः ज्ञान का उपासना से विरोध है।

आपने जो पक्षी के उड़ने का दृष्टान्त दिया; वह भी ठीक नहीं; क्योंकि पक्षी के दो पंख एक काल में रहते हैं। उनका परस्पर विरोध नहीं। ज्ञान का कर्म और उपासना से विरोध है। एक काल में हो नहीं सकते।

सेतु के† ज्ञान का दृष्टान्त भी नहीं बन सकता। क्योंकि सेतु का दर्शन दृष्टफल का कारण नहीं। किंतु अदृष्टफल का कारण है। जो फल प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, वह दृष्टफल कहलाता है। जैसे भोजन का फल तृप्ति प्रत्यक्ष है। अतः भोजन दृष्टफल का कारण है। वैसे सेतु के दर्शन से प्रत्यक्ष फल प्रतीत होता नहीं। किंतु पाप का नाशरूप फल शास्त्र से जाना जाता है। जो फल शास्त्र से जाना जाता है; वह प्रत्यक्ष नहीं होता। उसे अदृष्टफल कहते हैं।

अतएव जैसे यज्ञ आदि कर्म स्वर्ग आदि अदृष्टफल के कारण हैं। वैसे सेतु-दर्शन भी पाप के नाशरूप अदृष्ट फल का कारण है। शास्त्र ने अदृष्टफल के कारण के साथ फलोत्पत्ति के लिए जितने सहायक कहे हैं, उन्हीं के सहित वह फल का कारण होता है, अकेला नहीं। अतः श्रद्धा-नियम आदि-सहित सेतु का दर्शन पाप-नाशरूप फल का कारण है; श्रद्धा नियम आदि-रहित कारण नहीं। क्योंकि सेतु के दर्शन से प्रत्यक्ष तो कुछ फल प्रतीत होता नहीं। केवल शास्त्र से जाना जाता है। वह शास्त्र श्रद्धा आदि-सहित सेतुदर्शन से फल-बोधित करता है। केवल दर्शन से फल की उत्पत्ति में कुछ प्रमाण नहीं। अतः सेतु का दर्शन फलोत्पत्ति में श्रद्धा-नियम-भक्ति की अपेक्षा रखता है।

ब्रह्मविद्या अपने फल की उत्पत्ति में कर्म-उपासना की अपेक्षा

---

† सेतु-भगवान् राम का समुद्र में बांधा रामेश्वर से लङ्का तक का बांध।

नहीं रखती। क्योंकि यदि ब्रह्मविद्या का फल भी स्वर्ग की भांति लोक विशेष अदृष्ट हो; वह लोक विशेष भी अकेली ब्रह्म विद्या से शास्त्र ने बोधित न किया हो; किन्तु कर्म–उपासना की सहायता से बोधित किया हो; तो ब्रह्मविद्या भी सेतु के दर्शन की भांति फल की उत्पत्ति में कर्म–उपासना की अपेक्षा रक्खे। ब्रह्मविद्या का वह फल (मोक्ष) अदृष्ट तो है नहीं। किंतु मोक्ष नित्यप्राप्त है और भ्रांति से बंध प्रतीत होता है। उस भ्रांति की निवृत्ति ही ब्रह्म विद्या का फल है। भ्रांति की वह निवृत्ति केवल ब्रह्मविद्या से हमें प्रत्यक्ष है और रज्जु ज्ञान से सर्प भ्रांति की निवृत्ति सब को प्रत्यक्ष है। अतः अधिष्ठान–ज्ञान का भ्रांति की निवृत्ति दृष्ट फल है।

दृष्ट फल की उत्पत्ति जितनी सामग्री से प्रत्यक्ष प्रतीत होती है; उतनी सामग्री दृष्ट फल का कारण कहलाती है॥ जैसे तुरी † तंतु–वेम ‡ से पटकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष है। अतः तुरी–तंतु–वेम पट के कारण हैं। केवल भोजन से तृप्तिरूप फल प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। अतः केवल भोजन तृप्ति का कारण है। वैसे ही अकेले अधिष्ठान ज्ञान से भ्रांति की निवृत्ति प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। अतः अधिष्ठान का अकेला ज्ञान ही भ्रांति की निवृत्ति का कारण है। जैसे रज्जु का ज्ञान भ्रांति की निवृत्ति में दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता। वैसे ही बंध की भ्रांति के अधिष्ठान नित्यमुक्त आत्मा का ज्ञान भी बंधभ्रांति की निवृत्ति में कर्म उपासना की अपेक्षा नहीं रखता।

जो लोग ज्ञान के फल मोक्ष को स्वर्ग की भांति लोक विशेष अदृष्ट स्वीकारते हैं। वह वेदवाक्य से विरुद्ध पड़ता है। क्योंकि "ज्ञानवान् के प्राण किसी लोक में नहीं जाते" यह वेद में कहा है। लोकविशेष

† तुरी=करघे की वह लकड़ी जिस पर कपड़ा लिपटता जाता है।

‡ वेम=जिस नली के सहारे बाने का सूत इधर से–उधर फेंका जाता है। उस नली को वेम कहते हैं।

मानने में स्वर्ग की भांति मोक्ष अनित्य होगा। अतः लोक विशेषरूप मोक्ष नहीं।

जो मोक्ष को लोक विशेष मानते हैं; उन्हें भी अकेले ज्ञान से ही मोक्षलोक की प्राप्ति माननी होगी। क्योंकि शास्त्र-प्रति पादित अर्थ, शास्त्र के अनुसार ही माना जाता है। शास्त्र अकेले ज्ञान से मोक्ष बतलाता है। अतः अकेला ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। कर्म उपासना और ज्ञान तीनों नहीं।

वृक्ष का दृष्टांत भी युक्तियुक्त नहीं ; क्योंकि यद्यपि जल का सींचना वृक्ष की उत्पत्ति और रक्षा में कारण है। तो भी वृक्ष के फल की उत्पत्ति में कारण नहीं। पुराने वृक्ष में जलसेचन उसकी रक्षा के लिए है; फल के लिए नहीं। जल से पुष्ट वृक्ष ही फल का कारण है; जल-सेचन नहीं। वैसे ही कर्म-उपासना का भी-ज्ञान की उत्पत्ति में उपयोग है, मोक्ष में नहीं। अतः ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व ही अंतःकरण की शुद्धि और निश्चलता के लिए कर्म और उपासना करनी चाहिए; ज्ञान के बाद मोक्ष के लिए नहीं।

ज्ञान के पूर्व भी जब तक अंतःकरण में मल और विक्षेप हों तभी तक कर्म और उपासना करनी चाहिए। जिस जिज्ञासु का शुद्ध और निश्चल अंतःकरण हो; वह श्रवण के विरोधी कर्म-उपासना का त्याग कर दे। मल नाम पाप का है। वह अशुभ वासना का कारण है। जबतक मल होता, तभी तक अशुभ वासना होती है। जब अशुभ वासना न उठे तब मल नहीं रहा-ऐसा निश्चय करना चाहिए। अंतःकरण की चञ्चलता और एकाग्रता अनुभव सिद्ध है। अतः उत्तम जिज्ञासु और विद्वान्‌के लिए कर्म और उपासना व्यर्थ है।

आपने जो कहा था कि "ज्ञान की रक्षा के लिए कर्म और उपासना करनी चाहिए। जैसे जल के कारण उत्पन्न वृक्ष की जल से रक्षा होती है। जल के संबन्ध के बिना बढ़ा हुआ वृक्ष भी सूख जाता है। वैसे कर्म और उपासना से उत्पन्न ज्ञान की कर्म-उपासना से

रक्षा होती है। यदि ज्ञानी कर्म नहीं करेगा तो फिर अंतःकरण मलिनं और चञ्चल हो जायगा। उस मलिन और चञ्चल अंतःकरण में सूखी भूमि में वृक्ष की भांति उत्पन्न हुआ ज्ञान भी नष्ट हो जायगा। अतः ज्ञानवान् भी कर्म-उपासना करे।"

वह भी ठीक नहीं; क्योंकि आभास-सहित या चेतन-सहित अंतःकरण की "मैं असंग ब्रह्म हूँ" यह वृत्ति वेदांत का ज्ञान फलरूप है। उसका कर्म-उपासना के बिना नाश होगा या चेतनस्वरूप ज्ञान का नाश होगा[? यदि ऐसा कहें कि स्वरूपज्ञान तो नित्य है। उसका नाश और रक्षा तो हो नहीं सकती। पर वेदान्त के फल ब्रह्मविद्यारूप ज्ञान की उत्पत्ति कर्म-उपासना से होती है। उत्पन्न हुई विद्या भी कर्म-उपासना के त्याग से नष्ट हो जाती है। अतः उसकी रक्षा के लिए कर्म और उपासना करनी चाहिए। यह भी ठीक नहीं। क्योंकि एक बार उत्पन्न हुई अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति से अज्ञान और भ्रान्ति का नाशरूप फल उसी समय सिद्ध हो जाता है। अज्ञान और भ्रान्तिनाश के बाद फिर वृत्ति की रक्षा की आवश्यकता नहीं।

आपने जो यह कहा कि "ज्ञानवान् को कर्मों के त्याग से पाप होता है"। वह भी बन नहीं सकता। क्योंकि शुभ कर्मों का त्याग पाप का कारण नहीं। किन्तु निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान ही पाप का कारण है। यह बात भाष्यकार ने कई प्रकार से कही है। अतः कर्म के त्याग से पाप नहीं होता। ज्ञानवान् को तो किसी प्रकार से भी पाप नहीं लगता। क्योंकि पुण्य और उनका आश्रय अन्तःकरण परमार्थ से हैं ही नहीं। अविद्या से मिथ्या प्रतीत होते हैं। वह अविद्या और मिथ्या प्रतीति ज्ञानवान् को है ही नहीं। अतः ज्ञानवान् को शुभ कर्म के त्याग से या अशुभ कर्म के अनुष्ठान से पाप नहीं लगता।

यहां यह सिद्धान्त है कि मन्द और दृढ दो प्रकार का ज्ञान होता है। संशय-आदि-सहित ज्ञान मन्दज्ञान कहलाता है और संशय-आदि-रहित-ज्ञान दृढ ज्ञान कहलाता है। जिसे दृढ ज्ञान होता है; उसे किंचिन्मात्र भी कर्तव्य नहीं रहता। एक बार उत्पन्न हुआ संशय-आदि-रहित अन्तःकरण की वृत्तिरूप जो ज्ञान वही अविद्या का नाश कर देता है। भले वह ज्ञान भी दूर हो जाय तो भी भली-भाँति जाने हुए आत्मा में फिर भ्रान्ति नहीं होती। क्योंकि भ्रान्ति का कारण अविद्या एक बार उत्पन्न हुए ज्ञान से नष्ट हो चुकी। अतः भ्रान्ति और अविद्या के अभाव से वृत्तिज्ञान की आवृत्ति का कुछ उपयोग नहीं।

जीवन्मुक्ति के आनन्द के लिए यदि वृत्ति की आवृत्ति की जरूरत समझी जाती हो तो बार-बार वेदान्त के अर्थ का ही चिन्तन करते रहना चाहिए। वेदान्त के अर्थ-चिन्तन से ही बारबार ब्रह्माकार वृत्ति होती है, कर्म उपासना से नहीं। क्योंकि कर्म और उपासना का अन्तःकरण की शुद्धि और निश्चलता-द्वारा ही ज्ञान में उपयोग है, दूसरे किसी प्रकार से नहीं। विद्वान् के अन्तःकरण में पाप और चञ्चलता नहीं। राग-द्वेष-द्वारा पाप और चञ्चलता का का कारण अविद्या है। उस अविद्या का ज्ञान से नाश हो जाता है। अतः विद्वान् के लिए पाप और चञ्चलता के अभाव से कर्म-उपासना का उपयोग नहीं।

ज्ञानी के प्रारब्ध की विलक्षणता

पूर्वपक्षी—राग-द्वेष-आदि अन्तःकरण के सहज धर्म हैं। जबतक अन्तःकरण है; तबतक ज्ञानवान् के भी राग-द्वेष का सर्वथा नाश नहीं होता। उस राग-द्वेष से ज्ञानवान् का भी अन्तःकरण चञ्चल हो जाता है। अतः चञ्चलता दूर के लिए ज्ञानवान् को भी उपासना करते रहना चाहिए। माना कि ज्ञानवान् को अन्तःकरण की चञ्चलता

से विदेह-मोक्ष में कुछ हानि नहीं होती। तो भी जीवन्मुक्ति के लिए चञ्चलता दूर करने के वास्ते उपासना करनी ही चाहिए।

सिद्धान्ती—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जिसके अन्तःकरण में दृढ बोध हो गया है। उसे समाधि और विक्षेप समान हैं। अतः अन्तःकरण की निश्चलता के लिए किसी यत्न का आरम्भ विद्वान् के लिए सिद्ध नहीं होता। तो भी विद्वान् की प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रारब्ध के अधीन है। प्रारब्ध कर्म सब का विलक्षण है। (क) किसी विद्वान् की प्रारब्ध जनक आदि की भांति भोग का कारण है और (ख) किसी की शुकदेव-वामदेव आदि की भांति निवृत्ति का कारण है। जिसे भोग का कारण प्रारब्ध है; उसे प्रारब्ध से भोग की इच्छा और भोग के साधनों का यत्न होता है। जिसे निवृत्ति का कारण प्रारब्ध होती है; उसे जीवन्मुक्ति के आनंद की इच्छा होती है और भोगों में ग्लानि होती है।

जिसे जीवन्मुक्ति के आनन्द की इच्छा होती हो, उसे चाहिए कि वह ब्रह्माकार वृत्ति की आवृत्ति के लिए वेदांत-अर्थ का चिंतन करता रहे; उपासना नहीं। कारण कि अंतःकरण की निश्चलता-मात्र से ब्रह्मानन्द का विशेषरूप से भान नहीं होता; किन्तु ब्रह्माकार वृत्ति से ही होता है। वह ब्रह्माकार वृत्ति वेदांत-चिंतन से ही होती है; उपासना से नहीं। विद्वान् के अंतःकरण की चञ्चलता भी वेदांत के चिंतन से दूर हो जाती है। अतः अंतःकरण की निश्चलता के लिए भी उपासना में प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार से दृढ बोध हो गया है, उसकी कर्म और उपासना में प्रवृत्ति नहीं होती।

जिसे मन्दबोध है। वह भी मनन और निदिध्यासन ही करे, कर्म-उपासना नहीं। क्योंकि जिसे मन्दबोध हुआ है, वह उत्तम जिज्ञासु है। उत्तम जिज्ञासु के लिए मनन और निदिध्यासन के बिना दूसरा कर्तव्य नहीं। यह बात शारीरक दर्शन में सूत्रकार और भाष्यकार ने कही है।

विद्वान् के लिए तो मनन और निदिध्यासन भी कर्तव्य नहीं। † विद्वान् जीवन्मुक्ति के आनन्द के लिए मनन और निदिध्यासन में जो प्रवृत्त होता है, वह भी अपनी इच्छा से। यदि "मैं वेद की आज्ञा नहीं मानूंगा तो मुझे जन्म–मरण संसार मिलेगा" इस बुद्धि से जो क्रिया की जाती है, वह कर्तव्य कहलाती है। जन्म आदि की बुद्धि विद्वान् को होती नहीं। अतः अपनी इच्छा से विद्वान् जो मनन और निदिध्यासन करता है, वह कर्तव्य नहीं। इस प्रकार मन्दबोध या दृढ़बोध जिसे होता है; उसके लिए कर्म–उपासना कर्तव्य नहीं।

जिसे बोध नहीं हुआ होता। किंतु आत्मा के जानने की तीव्र इच्छा होती है, भोग की नहीं। उसका अंतःकरण शुद्ध है। अतः वह भी उत्तम जिज्ञासु ही है। उसे भी बोध के लिए श्रवण आदि ही कर्तव्य हैं, कर्म–उपासना नहीं। कर्म–उपासना का फल तो उसे पहले ही प्राप्त है।

ज्ञान की सामान्य इच्छा से जो श्रवण में प्रवृत्त हुआ है और जिसका अंतःकरण भोगों में आसक्त है, वह मन्दजिज्ञासु है। उसे भी श्रवण को छोड़कर पुनः कर्म–उपासना में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए कर्म–उपासना का फल जो अंतःकरण की शुद्धि; वह उसे श्रवण से

---

† विद्यारण्यस्वामी ने (तृप्ति० २६०, २३१) में लिखा है—

"शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम्।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः॥
विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्ययात्।
देहात्मतत्त्वविपर्यासं न कदाचिद् भजाम्यहम्॥

जिन्हें ब्रह्म का ज्ञान नहीं, वे श्रवण करें, जिन्हें संशय है, वे मनन करें; मुझे अज्ञान नहीं, संशय नहीं। फिर मैं क्यों श्रवण–मनन करूं। जिसे विपरीत ज्ञान है, वह निदिध्यासन करे। मुझे विपर्यय है ही नहीं। अतः मेरे लिए निदिध्यासन की भी आवश्यकता नहीं।

ही हो जायगी। श्रवण की आवृत्ति से अंतःकरण का दोष दूर हो जाने पर इस जन्म में या दूसरे जन्म में या ब्रह्मलोक में ज्ञान हो जायग। आवृत्ति नाम बार बार के अभ्यास का है।

जो श्रवण को छोड़कर कर्म-उपासना में प्रवृत्त होता है, वह आरूढपतित है।

१—इस रीति से ज्ञानवान् और उत्तम जिज्ञासु का कर्म उपासना में अधिकार नहीं। २—वेदान्त-श्रवण में प्रवृत्त हुए मन्द जिज्ञासु का भी अधिकार नहीं। जिसे ज्ञान की इच्छा तो है, पर बुद्धि भोगों में आसक्त है। अतः श्रवण में प्रवृत्त हुए मन्द जिज्ञासु का निष्काम कर्म और उपासना में अधिकार है। जिसे भोग में आसक्ति है, ज्ञान की इच्छा है नहीं, ऐसे बहिर्मुख का सकाम कर्मों में भी अधिकार नहीं। इसलिए ज्ञानवान् को कर्म-उपासना का अधिकार नहीं। ज्ञान कर्म और उपासना का विरोधी है।

कर्म-उपासना दृढबोध के विरोधी नहीं; किन्तु मंद बोध के विरोधी हैं

कर्म-उपासना भी अन्तःकरण की शुद्धि और निश्चलता द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति के तो कारण हैं, पर ज्ञान की उत्पत्ति के बाद यदि कर्म-उपासना करें तो उत्पन्न हुआ ज्ञान नष्ट हो जायगा अतः ज्ञान के विरोधी हैं, रक्षा के कारण नहीं, क्योंकि "मैं कर्ता हूँ और यज्ञ आदि मुझे करने चाहिए, यज्ञ आदि का स्वर्ग आदि फल है," इस भेदबुद्धि से कर्म होता है, "मैं उपासक हूँ और देव उपास्य हैं" इस भेदबुद्धि से उपासना होती है, यह दोनों प्रकार की बुद्धि "सब ब्रह्म है" इस बुद्धि को दूर करके होती है, अतः कर्म-उपासना ज्ञान के विरोधी हैं,

यद्यपि ज्ञानवान् आत्मा को असङ्ग जानता है, तो भी देह का भोजन आदि व्यवहार या जनक आदि की भांति राज्य-पालन

आदि अधिक व्यवहार करता है। उस व्यवहार का ज्ञान विरोधी नहीं और व्यवहार ज्ञान का विरोधी † नहीं; क्योंकि जिस आत्म स्वरूप को ज्ञान से असङ्ग जान लिया है; उस में यदि व्यवहार प्रतीत हो तो व्यवहार का विरोधी ज्ञान और ज्ञान का विरोधी व्यवहार हो सकता है। विद्वान् को आत्मा में व्यवहार प्रतीत होता नहीं। किन्तु समस्त व्यवहार देह आदि के आश्रित है। आत्मा में व्यवहार-सहित देह आदि का सम्बन्ध है नहीं-इस बुद्धि से सभी व्यवहार करता है। इसी लिए विद्वान् की प्रवृत्ति भी निवृत्ति ही है।

---

† विद्यारण्यस्वामी ने पञ्चदशी तृप्ति० १७६, १७७, १७९ में स्पष्ट कहा है—

विद्यारब्धे विरुध्येते न भिन्न-विषयत्वतः।
जानद्भिरप्यैन्द्रजालविनोदो दृश्यते खलु॥
जगत्सत्यत्वमापाद्य प्रारब्धं भोजयेद् यदि।
तदा विरोधी विद्याया भोगमात्रान्न सत्यता॥
यदि विद्यापह्नुवीत जगत् प्रारब्धघातिनी।
तदा स्यान्नतु मायात्व-बोधेन तदपह्नवः॥

विद्या और प्रारब्ध दोनों परस्पर विरुद्ध नहीं, क्योंकि विद्या केवल जगत् को मिथ्या बताती है, भोग का अपलाप नहीं करती और प्रारब्ध का केवल सुख-दुःख देने में आग्रह है; सुखादि की सत्यता में नहीं। इन्द्रजाल के रहस्य को जाननेवाले भी इन्द्रजाल-विनोद देखते ही हैं।

यदि प्रारब्धकर्म जगत् की सत्यता सिद्ध करके भोग दे। तब अवश्य विद्या का विरोधी होगा। केवल भोग देने से विद्या का विरोधी नहीं हो सकता।

अथवा यदि विद्या ही जगत् का अपलाप कर देती कि जगत् किसी प्रकार है ही नहीं। तब वह प्रारब्ध कर्म की विरोधिनी होती। जगत् को केवल मिथ्या कह देने से प्रारब्ध का विरोध नहीं होता। क्योंकि भोग तो मिथ्या का भी हो सकता है।

बहिर्मुख मनुष्य मुझ ज्ञानी के आचरण को देखकर कर्म-उपासना करें" इस अभिप्राय से आत्मा को असङ्ग जानकर एवं देह-वाक्-अन्तःकरण के आश्रित क्रिया को समझ कर यदि ज्ञानी कर्म-उपासना भी करे तो वे ज्ञान के विरोधी नहीं। क्योंकि जिस आत्मा को विद्वान् ने असंग जान लिया है; उसे यदि कर्ता समझकर कर्म-उपासना करे तो ये ज्ञान के विरोधी हो सकते हैं। पर विद्वान् का आत्मा की असंगरूपता का दृढ़ निश्चय, कर्म-उपासना से दूर नहीं होता। अतः आभासरूप कर्म और उपासना दृढ ज्ञान के विरोधी नहीं। इसलिए जनक आदि ने आभासरूप कर्म किये हैं।

आत्मा को असंग जानकर एवं अन्य व्यवहार की भाँति देह आदि के धर्म समझकर विद्वान् जो शुभ कर्म करता है; वे आभासरूप कर्म हैं। उनका ज्ञान से विरोध नहीं। भाष्यकार ने ज्ञान के साथ कर्म-उपासना का जो विरोध कहा है; वह आत्मा में कर्ता बुद्धि से किये जानेवाले कर्म और उपासना का कहा है; आभासरूप से किये जानेवालों का नहीं।

मन्दबोध के तो आभासरूप कर्म और आभासरूप उपासना भी विरोधी हैं। क्योंकि संशय-आदि-सहित बोध को मन्दबोध कहते हैं। जिसके अन्तःकरण में "आत्मा असंग है या नहीं?" ऐसा कभी संशय हो जाय तो वह बार बार "आत्मा असङ्ग है; मुझे किञ्चिन्मात्र भी कर्तव्य नहीं" इस अर्थ का चिन्तन करे। इससे संशय दूर हो जाने से दृढ़बोध हो जाता है। यदि कर्म-उपासना करेगा तो उत्पन्न हुए मन्दबोध के दूर हो जाने पर "मैं कर्ता-भोक्ता हूँ" यह विपरीत निश्चय हो जायगा। इसलिए मन्दबोध की उत्पत्ति से पहले-पहले ही कर्म-उपासना करे; बाद में नहीं। यदि मन्दबोधवाला कर्म-उपासना करेगा तो उत्पन्न हुआ बोध नष्ट हो जायगा।

दृष्टान्त—पक्षी अपने अण्डे को पंख उगने से पहले-पहले सेता है और पंख उगने के बाद नहीं। यदि पंख उगने के बाद भी अण्डे को सेता रहे तो शिशु पक्षी के पंख उस अण्डे के जल से गल जायँ। वैसे ही ज्ञान की उत्पत्ति से पहले-पहले ही कर्म-उपासना का सेवन करना चाहिए; ज्ञान की उत्पत्ति के बाद नहीं। यदि ज्ञान की उत्पत्ति के बाद भी कर्म-उपासना का सेवन होता रहेगा तो शिशु-पक्षी के पंखों की भाँति मन्द ज्ञान का नाश हो जायगा। प्रौढ पक्षी की जैसे अण्डे के सम्बन्ध से हानि नहीं होती; वैसे दृढबोध की भी हानि नहीं होती और प्रौढ पक्षी की भांति दृढबोध को कर्म-उपासना से कुछ फल भी नहीं। इस प्रकार ज्ञानवान् को मोक्ष के लिए कुछ भी करना नहीं पड़ता। यह तीसरे प्रश्न का उत्तर हुआ।

आचार्य ने शिष्य को जो उत्तर दिये वे वेद के अनुसार हैं। अतः यथार्थ हैं। यह दिखाते हैं—

सिष्य कह्यो जो तोहिं मैं, सर्व वेद को सार।
लहै ताहि अनयास ही, संसृति नसै अपार ॥ २२ ॥

हे शिष्य! मैंने जो तुझसे कहा है; वह सब वेदों का सार है। अतः इस पर विश्वास रख। इस के जानने से अनायास (बिना यत्न के ही) अपार संसृति (जन्म-मरणरूप) संसार का नाश हो जायगा।

यत्न का नाम आयास है और उसके अभाव का नाम यद्यपि अनायास है, तो भी छन्द ठीक बैठाने के लिए 'अनयास' रख दिया गया है। भाषा में (हिन्दी में) छन्द ठीक बैठाने के लिए "गुरु के स्थान पर लघु और लघु के स्थान पर गुरु" रख देने की छूट है। एवं मोक्ष के स्थान पर 'मोछ' भी पढ़ सकने का सम्प्रदाय है।

लघु गुरु, गुरु लघु होत है, वृत्त हेतु उच्चार।
रु ह्वै अरु की ठौर मैं, अब की ठौर बकार ॥२३॥

† संयोगी क्ष न क पर ख न, नहीं टवर्ग–णकार।
भाषा में ऋ लृ ह्र नहीं, अरु तालव्य शकार ॥२४॥

अर्थात्—निम्न लिखित अक्षर भाषा में (पुरानी हिन्दी में) नहीं लिखे जाते। कोई लिख डाले तो कवि लोग अशुद्ध कह देते हैं। पुरानी हिन्दी में; 'क्ष' के स्थान पर 'छ' 'ष' के 'ख'। 'ण' के 'न'। 'ऋ–लृ' के 'रि–लि' और 'श' के स्थान पर 'स' लिखे जाते थे। पर अब खड़ीबोली में नहीं।

"जगत् का कर्ता ईश्वर है; वह तुझसे भिन्न नहीं और सत्–चित्–आनंदरूप ब्रह्म तू है" यह आचार्य ने कहा। अब कृपा करके उसे ही दुहरा रहे हैं।

दीनता को त्यागि नर, अपनो स्वरूप देखि,
तू तौ सुद्ध ब्रह्म अज, दृश्य को प्रकासी है।
आपनै अज्ञान तैं, जगत् सब तू ही रचै,
सर्व को संहार करै, आप अविनासी है॥
मिथ्या परपंच देखि, दुःख जिन आनि जिय,
देवन को देव तू तौ सब सुखरासी है।

† संयोगी न, क्ष न, कपर ख न। अर्थात् जहाँ संयुक्त वर्ण के रखने से छन्द ठीक नहीं बैठता, वहाँ संयुक्त वर्ण नहीं रखा जाता। इसीलिए प्रपंच के स्थान में परपंच, पुरुषार्थ के स्थान पर पुरुषारथ आदि रख दिया गया है। इसी प्रकार क्ष न रखकर, ख और कपरक ख (दुक्ख) न रखकर दुख लिखा गया है।

जीव जग ईस होय, माया सैं प्रभासैं तूंहि,
जैसैं रज्जु सांप सीप, रूप ह्वै प्रभासी है ॥२५॥
राग जारि लोभ हारि, द्वेष मारि मार वारि,
वार वार मृगवारि, पारवार पेखिये।
ज्ञान भान आनि तम, तम तारि, भाग त्याग,
जीव सीव भेद छेद, वेदन सु लेखिये ॥
वेद को विचार सार, आपकूं संभारि यार,
टारि दास पास आस, ईस की न देखिए।
निश्चल तूं चल न अचल चलदल छल,
नभ-नील तलमल, तासूं न विसेखिये ॥२६॥

ज्ञान के साधन कहते हैं-हे शिष्य ! राग=पदार्थों में जो दृढ आसक्ति; उसे जारि=जला करके लोभ को हारि=नष्ट करके, द्वेष को मारि=छोड करके, और मार=काम को वारि=दूरकर।

राग-द्वेष-लोभ-काम के ग्रहण से सभी राजसी-तामसी वृत्तियों का ग्रहण है। अतः समस्त राजसी और तामसी वृत्तियों का नाश कर † यह अर्थ निकला। राजसी और तामसी वृत्तियां ज्ञान की विरोधी हैं। इनका नाश किये बिना ज्ञान नहीं होता। अतः इनकी निवृत्ति जिज्ञासु को अपेक्षित है।

---

† राग का नाश—विषयों में दोष-दर्शन से होता है।
लोभ का नाश—अर्थ में अनर्थ-दर्शन से होता है।
द्वेष का नाश—काम की निवृत्ति से होता है।
काम की निवृत्ति—पदार्थ-चिन्तनादिनी निवृत्ति से होती है।

विवेक, वैराग्य, शम-आदि षट् संपत्ति और मुमुक्षुता; ज्ञान के इन चार साधनों में से विवेक प्रधान है। क्योंकि विवेक से वैराग्य आदि उत्पन्न होते हैं। अतः आचार्य विवेक का उपदेश करते हैं—हे शिष्य ! पारवार=संसार को वार वार=बार बार मृगवारि=मृग-तृष्णा के जल के समान मिथ्या जान। (पारवार=संसार, अपारवार=आत्मा)। पारवार को मिथ्या कहने से अपारवार मिथ्या नहीं, किंतु सत्य है। यह बात सिद्ध हो जाती है। जैसे मदारी का खेल देखाते हुए पुत्र से पिता कहता है "देखो बेटा ! मदारी के बनाये ये आम आदि सब झूठे हैं" इस कथन से मदारी को झूठा नहीं जानता; किंतु सत्य जानता है। वैसे ही जगत् को मिथ्या (झूठा) कहने से आत्मा को सत्य जान लेगा; इस अभिप्राय से आचार्य ने पारावार को मिथ्या कहा।

इस प्रकार "जगत् मिथ्या है और आत्मा सत्य है" इस विवेक का उपदेश दिया। इस विवेक से दूसरे साधन स्वयमेव उत्पन्न हो जाते हैं। अतः विवेक के उपदेश से सब साधनों का उपदेश अर्थतः समझ लेना चाहिए। ज्ञान के बहिरंग साधन कह दिये। अब अंतरंग साधन कहते हैं—हे शिष्य ! ज्ञानरूपी भानु को आनि (श्रवण से संपादित करके) तम (अज्ञानरूप) तम (अंधेरे) को, तारि (नष्ट कर)। (तम नाम अज्ञान और अँधेरे का है) अँधेरा उपमान है और अज्ञान उपमेय है। पहला 'तम' शब्द उपमेय का वाचक है और दूसरा उपमान का।

जाकूं उपमा दीजिये, सो उपमेय बखान।
जाकी उपमा दीजिये, सो कहिये उपमान ॥२७॥

ज्ञान का स्वरूप अन्य शास्त्रों में नाना प्रकार का माना है। अतः यहाँ महावाक्य के अनुसार ज्ञान का स्वरूप कहते हैं:और जीव-ईश्वर में अविद्या और माया भाग का त्याग करके जो उनका भेद

प्रतीत होता है, उसे छेद्=दूर कर। जीव-ईश्वर में जो वेदन=चेतनभाग है; उसे भेदरहित जान। इस कथन से यह बात कही जा चुकी कि महावाक्यों में भाग-त्याग लक्षणा से जीव-ईश्वर की एकता जान। शिव के स्थान पर 'सीव' पढ़ा है। तीसरे पाद का अर्थ स्पष्ट है। पूर्व-कथित अर्थ को संक्षेप से चौथे पाद में कहते हैं:—हे शिष्य! चल=विनाशी देहादि संघात तू नहीं। किंतु अचल=अविनाशी ब्रह्म तू है। चलदल=अश्वत्थ-(पीपल)-रूप संसार छल=मिथ्या है। जैसे नभ में नीलता और तलमल=कटाहरूपता है नहीं, किंतु मिथ्या प्रतीत होती है। वैसे संसार भी आत्मा में नहीं; मिथ्या प्रतीत होता है। श्रुति-स्मृति में † वृक्षरूप से संसार का वर्णन आता

---

† "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" (कठोपनिषत् ६, १) ऊर्ध्व=उत्कृष्ट (परमानन्द अद्वय) मूल है जिसका। ऐसा यह संसारवृक्ष अवाक्शाखः=निकृष्ट (हिरण्यगर्भादि) शाखाएं हैं जिसकी। यह एक सनातन (अनादि) अश्वत्थ=(न श्वोऽयं स्थातेति) क्षणभंगुर है। स्मृतियों में भी इस वृक्ष का सुन्दर वर्णन मिलता है--

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १५-१) पुराणों में भी आया है--

अव्यक्तमूलप्रभवः तस्यैवानुग्रहोत्थितः।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः॥
महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा।
धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।
एतद् ब्रह्मवनं चैव ब्रह्माचरति नित्यशः॥
एतच्छित्वा च भित्वा च ज्ञानेन परमासिना।
ततश्चात्मरतिं प्राप्य यस्मान्नावर्तते पुनः॥

है। अतः वृक्ष के वाचक चलदल शब्द का संसार के लिए प्रयोग किया है। मोक्ष का साधन ज्ञान है। यह बात दूसरे ढंग से कहते हैं-

बंध मोछ गेह देहवान ज्ञानवान जान,
राग रु विराग दोइ, धजा फररात है।
विषै विषै सत्य भ्रम, भ्रममति वात तात,
हललात प्रात रात, घरी न ठहरात है॥
सांछ्य साछी पूतरी, अनूजरी रु ऊजरी द्वै,
देखि रागी त्यागी, ललचात जन जात है।
चञ्चल अचल भ्रम, ब्रह्म लखि रूप निज,
दुःख कूप आनन्द, स्वरूप मैं समात है॥ २८॥

हे शिष्य! देहवान् (देहाभिमानी) अज्ञानी और ज्ञानवान्, बन्ध और मोक्ष के गेह=धाम हैं। अज्ञानी बन्ध का धाम और ज्ञानी मोक्ष का धाम (भवन)। राग और विराग उनकी ध्वजाएँ हैं। जैसे ध्वजा (झण्डा) राजनगर का चिह्न होता है। वैसे ही राग और वैराग्य उनके चिह्न हैं। अज्ञानी का राग चिह्न है और ज्ञानी का वैराग्य। अज्ञानी में भी वैराग्य होता है। अतः अज्ञानी के वैराग्य से ज्ञानी के वैराग्य की विलक्षणता दिखाते हैं:—हे तात! विषय=शब्द आदि में सत्यभ्रम=सत्यपन की भ्रांति और भ्रममति=रज्जु-सर्प की भांति विषय भ्रमरूप है। यह मति (निश्चय) वायु की भांति राग और वैराग्य को हिला देता है। जैसे वायु ध्वजा को चञ्चल कर देती है। वैसे ही विषय में सत्यबुद्धि और भ्रमबुद्धि राग और वैराग्य को चञ्चल कर देती है, शिथिल नहीं होने देती। विषय में सत्यबुद्धि से राग की

शिथिलता दूर होती है और विषय में भ्रमबुद्धि से वैराग्य की शिथिलता दूर होती है।

विषय असत्य हैं। अतः उनमें सत्यबुद्धि भ्रान्तिरूप है; यह बात बताने के लिए कवित्त में 'सत्यभ्रम' कहा। सत्यबुद्धि नहीं कहीं। भ्रान्तिज्ञान और भ्रान्तिज्ञान का विषय मिथ्या वस्तु दोनों को भ्रम कहते हैं। इस कथन से अज्ञानी के वैराग्य से ज्ञानी के वैराग्य का भेद कहा। क्योंकि अज्ञानी का वैराग्य विषय में मिथ्याबुद्धि से उत्पन्न नहीं हुआ होता। अतः मन्द है। "विषय मिथ्या हैं" यह बुद्धि अज्ञानी को नहीं होती।

यद्यपि शास्त्र की युक्ति से अज्ञानी भी मिथ्या जानता है। तो भी "विषय मिथ्या हैं" यह अपरोक्ष-मति ज्ञानवान् को ही होती है; अज्ञानी को नहीं होती। अतः अज्ञानी की विषय में परोक्ष मिथ्याबुद्धि से अपरोक्ष सत्य भ्रान्ति दूर नहीं होती। इस प्रकार अज्ञानी को विषय में जब वैराग्य होता है; तब परोक्ष मिथ्याबुद्धि है सही। परोक्ष मिथ्याबुद्धि से प्रबल अपरोक्ष सत्यबुद्धि है। अतः अज्ञानी की परोक्ष मिथ्याबुद्धि वैराग्य का कारण नहीं, किन्तु प्रबल सत्यबुद्धि से विषय में राग ही होता है और जो वैराग्य भी होता है; वह भी मिथ्याबुद्धि से नहीं। किन्तु विषय में दोषदृष्टि से होता है।

ज्ञानवान् अखिल प्रपञ्च को अपरोक्षरूप से मिथ्या जानता है। उस अपरोक्ष मिथ्याबुद्धि से अपरोक्ष सत्यबुद्धि दूर हो हो जाती है। अतः राग का कारण विषय में सत्यबुद्धि तो ज्ञानी को है नहीं। वैराग्य का कारण विषय में मिथ्याबुद्धि ज्ञानी को है। यदि ज्ञानी को विषय में सत्यबुद्धि फिर हो जाय तो राग भी पुनः हो सकता है और वैराग्य दूर हो सकता है। पर अपरोक्षरूप से मिथ्या जाने हुए पदार्थों में फिर सत्यबुद्धि

नहीं होती। जैसे अपरोक्षरूप से रस्सी में मिथ्या जाने हुए साँप में फिर सत्यबुद्धि नहीं होती। वैसे ही ज्ञानी को भी फिर से सत्यबुद्धि नहीं होती। इस प्रकार राग की उत्पत्ति और वैराग्य की निवृत्ति ज्ञानी को नहीं होती। अतः ज्ञानी का वैराग्य दृढ है।

दोषदृष्टि से जो अज्ञानी को वैराग्य होता है; वह तो दूर हो जाता है। क्योंकि जिन पदार्थों में आज दोषदृष्टि होती है; उन पदार्थों में दूसरे समय सम्यक् बुद्धि भी हो सकती है। जैसे सब मनुष्यों को स्त्री सहवास के बाद स्त्री में दोषदृष्टि होती है और कालान्तर में फिर सम्यक्-बुद्धि हो जाती है। इस प्रकार जब दोषदृष्टि दूर होती है; तब अज्ञानी का वैराग्य भी दूर हो जाता है। अतः अज्ञानी को दृढ वैराग्य नहीं होता। इसलिए राग† अज्ञानी का और वैराय ज्ञानी का चिह्न कहा।

दूसरे भी चिह्न कहते हैं—हे शिष्य! जैसे भवन पर पूतरि=हाथी आदि की मूर्ति होती है। वैसे बन्ध के धाम=भवन-रूप अज्ञानी और ज्ञानी के अन्तःकरण में साक्ष्य-साक्षी पुतली है। अज्ञानी के अन्तःकरण में साक्ष्यरूपी पुतली है और ज्ञानी के अन्तःकरण में साक्षीरूपी पुतली है। साक्षी के विषय प्रपञ्च को साक्ष्य कहते हैं। साक्ष्यरूप पुतली अनूजरी=मलिन है और साक्षीरूपी पुतली ऊजरी=शुद्ध है। आगे का अर्थ स्पष्ट है। चञ्चलभ्रम निजरूप लखि और अचल ब्रह्म निजरूप लखि इस क्रम से अन्वय है।

† रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः॥ (नैष्कर्म्य० ४।६७)

जिस चित्त में राग है, उसमें बोध नहीं अबोध ही रहेगा। क्योंकि जिस वृक्ष के कोटर में आग है उस पर हरियाली कैसे रहेगी?

भागत्याग लक्षण का कवित्त में विशेषतया ग्रहण किया है। अतः उसे जानने के लिए लक्षण के भेद कहते हैं।

त्रिविध लच्छना कहत हैं, कोविद बुद्धि-निधान।
जहती अरु अजहती पुनि, भागत्याग जिय जान ॥ २९ ॥
आदि दोइ नहिं सम्भवै, महावाक्य मैं तात।
भागत्यागतैं रूप निज, ब्रह्मरूप दरसात ॥ ३० ॥

शिष्य बोला (अर्धशङ्कर छन्द)

अब लच्छना प्रभु कहत काकूँ, देहु यह समुझाय
पुनि भेद ताके तीनि तिनके, लच्छनहु दरसाय ॥ ३१ ॥

अर्थात्—(सामान्य ज्ञान के बाद विशेष का ज्ञान होता है। जैसे सामान्य ब्राह्मण का ज्ञान होने के बाद सारस्वत आदि विशेष का ज्ञान होता है। वैसे लक्षणा सामान्य का ज्ञान होने पर जहती आदि विशेष का ज्ञान होगा। लक्षणा का सामान्य रूप जाने बिना जहती आदि विशेष रूपों का ज्ञान होगा नहीं। इस अभिप्राय से) शिष्य पूछता है कि हे प्रभो ! लक्षणा किसे कहते हैं ? यह मैं नहीं जानता। अतः लक्षणा का सामान्य रूप समझाकर उसके बाद जहती आदि तीन भेदों के अलग अलग लक्षण समझाइए ? छन्द के लिए प्रभो को प्रभु पढ़ा है [वर्तमान हिन्दी (खड़ी बोली) में दोनों रूप होते हैं] भाषा-सम्प्रदाय के कारण लक्षणा को 'लच्छना' और लक्षण को 'लच्छन' पढ़ा।

गुरुजी बोले (शङ्कर छन्द)

श्रुति चित निज एकाग्र करि, अब शिष्य सुनि मम बानि।
ज्यूँ लच्छना अरु भेद ताके, लेहु नीके जानि।
सुनि वृत्ति है द्वैभांति पदकी, सक्ति तामैं एक।
तहां लच्छना पुनि जानि दूजो, सुनहु सो सविवेक॥ ३२॥

अर्थात् पद का जो अर्थ के साथ सम्बन्ध;† वह वृत्ति है। वह दो प्रकार की है। एक शक्ति और दूसरी लक्षणा। उनका सविवेक (विवेक-सहित) अर्थ और लक्षण सुन।

---

† किसी एक शब्द के सुनने से कोई एक नियत अर्थ जाना जाता है; सब अर्थ नहीं। अतः प्रत्येक शब्द का अपने किसी विशेष अर्थ से अवश्य सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध का स्वरूप क्या है—यह जानने के लिए सन्देह किया गया है—पूरण-प्रदाह-पाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः" (न्यायसूत्र २।१।५३) अर्थात् शब्द और अर्थ का यदि कुछ सम्बन्ध होता, तो शब्द के समीप पदार्थ होता जैसे 'घट' शब्द मुख में बोला जाता है, वहीं घड़ा भी होता। फिर तो 'क्षुर' 'असि' आदि शब्दों के उच्चारण करने पर छुरा और तलवार मुँह में आ धमकती; मुख ही कट-फट जाता। 'लड्डू' या 'पहाड़' शब्द का उच्चारण करते ही मुख भर जाता। शबर स्वामी ने भी कहा है—स्याच्चेदर्थेन सम्बन्धः, क्षुर-मोदक-शब्दोच्चारणे मुखस्य पाटन-पूरणे स्याताम्।" (मीमांसा-भाष्य १।१।५)

उत्तर दिया गया है—"यो ह्यत्र व्यपदेश्यः सम्बन्धस्तमेकं न व्यपदिशति भवान् प्रत्याय्यस्य प्रत्यायकस्य च यः संज्ञा-संज्ञि-लक्षण इति।" (मीमांसा भाष्य १।१।५) अर्थात् शब्द और अर्थ का सम्बन्ध हम संयोग नहीं कहते कि क्षुर-मोदक आदि शब्दों के उच्चारण से मुख फटता या भरता। अपितु हम बोधक शब्द और बोध्य अर्थ का सम्बन्ध

शक्ति-लक्षण

या पदतैं या अर्थकी, ह्वै सुनते हि प्रतीति।
ऐसी इच्छा ईस को सक्ति न्याय की रीति॥ ३३॥

जिस पद से (घटपद से) जिस सारे अर्थ की सुनते ही प्रतीति (ज्ञान) सबको हो जाता है—ऐसी ईश्वर की इच्छा को न्याय-शास्त्र में शक्ति कहते हैं।

अपनी रीति के अनुसार शक्ति का लक्षण

सामर्थ्य पदकी सक्ति जानहु, वेद-मत-अनुसार।
सो वह्नि मैं जिम दाह की है, सक्ति त्यूं निरधार॥ ३४॥

अर्थात् घटपद के श्रोता के लिए कलशरूप अर्थ के ज्ञान करने का जो घटपद में सामर्थ्य है; वही घटपद में शक्ति है। वैसे ही पटपद के श्रोता के लिए वस्त्ररूप अर्थ के ज्ञान करने का जो पटपद में सामर्थ्य है; वही पटपद में शक्ति है।

दृष्टान्त—जैसे आग में अपने से मिलते ही वस्तु को जलाना रूप सामर्थ्य (शक्ति) है। वैसे श्रोता के कान से मिलते ही वस्तु के ज्ञान करने का जो पद में सामर्थ्य है; उसी का नाम शक्ति है। जैसे अग्नि में दाहकी शक्ति है, वैसे जल में गीला करने की,

---

मानते हैं—संज्ञा-संज्ञि-लक्षण (बोध्यबोधकरूप)। न्यायसूत्रकारने भी यही-कहा है—"न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य" (२।१।५५) अर्थात् मुख कटने-फटने का सन्देह आप का असंगत है क्योंकि शब्द से अर्थ विशेष का बोध समयकारित=संकेत-जन्य है। संकेत का अर्थ है—"अस्य शब्दस्येदमर्थजामभिधेयम् इत्यभिधानाभिधेय-नियम-नियोगः।" 'अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधक है'—ऐसे नियम का उपदेश ही संकेत है। यहाँ भी ग्रन्थकार ने अग्रिम पद्य में यही स्पष्ट किया है।

प्यास बुझाने की और पिण्ड बांधने की जो समर्थता है; वही शक्ति है। इस प्रकार सभी पदार्थों में अपना अपना कार्य करने का सामर्थ्य है। वही शक्ति कहलाती है। यह वेदान्त का सिद्धान्त कहा है। इसी का निर्धार (निश्चय) कर। पूर्वोक्त न्याय की रीति त्यागने योग्य है।

शिष्य बोला शंकर (छंद)

ननु वह्नि मैं नहिं सक्ति भासै, वह्नि बिन कछु और।
है हेतुता जो दाह की, सो वह्नि मैं तिहि ठौर॥
इम पदनहू मैं वर्ण बिन कछु, सक्ति भासत नाहिं।
या हेतु तैं जो ईस इच्छा, सक्ति मो मति माहिं॥३५॥

(ननु शब्द संदेह का‡ वाचक है)

अग्नि में निज स्वरूप से भिन्न शक्ति नहिं भासै (प्रतीत नहीं होती)। पूर्व कथित दाह का कारण जो अग्नि में सामर्थ्य है; वही अग्नि में शक्ति है। यह बन नहीं सकता। क्योंकि दाह की जनकता अकेली अग्नि में ही है। आगम में अप्रसिद्ध सामर्थ्य मानकर उसमें कारणता मानने का और प्रसिद्ध आग में कारणता न मानने का कुछ प्रयोजन नहीं। जैसे दृष्टान्त में शक्ति का संभव नहीं। इम (इस प्रकार) पदों में भी वर्णों का जो समुदाय (पदों का स्वरूप) उससे अलग शक्ति प्रतीत नहीं होती और उसका कुछ प्रयोजन भी नहीं।

‡ "प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु" इस अमरकोष के अनुसार 'ननु' के अर्थ होते हैं—प्रश्न, निश्चय, अनुज्ञा, अनुनय और आमन्त्रण। प्रकृत में प्रश्नार्थक है। शिष्य का प्रश्न बिना सन्देह के हो नहीं सकता, अतः सन्देह का भी सूचक है।

इसलिए ईश्वर की इच्छारूप जो न्याय-सिद्धांतानुसार शक्ति है; वही मेरी बुद्धि में ठीक जँचती है।

गुरु जी बोले—

प्रतिबंध होते वह्नि तैं नहिं, दाह उपजै अंग।
उत्तेजक रु जब धरैं तब, फिरि दहै वह्नि स्वसंग॥
ह्वै वह्निमैं जो हेतुता, तौ दाह ह्वै सब-काल।
जो नसै उपजै वह्नि होते, हेतु सक्ति सु बाल॥३६॥

अंग! (हे प्रिय!) प्रतिबंधक के होने पर आग से दाह नहीं होता-आग जलाती नहीं। जब उत्तेजक समीप रख देते हैं; तब प्रतिबंधक के होने पर भी स्वसंग (अग्नि से संबद्ध) पदार्थ का दाह होता है। यदि शक्ति के बिना केवल आग को दाह का कारण मान लें तो सब काल (उत्तेजक-रहित प्रतिबंधक काल में भी) प्रतिबंधक-रहित काल की भाँति दाह होना चाहिए। क्योंकि दाह का कारण केवल अग्नि उस काल में भी है। हमारे सिद्धान्त में अग्नि की शक्ति या शक्ति-सहित अग्नि दाह का कारण है; केवल अग्नि नहीं।

जहां प्रतिबंधक है; वहां प्रतिबंधक से आग का नाश या तिरोधान नहीं होता। पर आग की शक्ति का नाश या तिरोधान होता है। अतः दाह का कारण शक्ति या शक्तिसहित आग का अभाव होने से दाह नहीं होता।

जहां प्रतिबंधक के समीप उत्तेजक रख दिया है। वहां प्रतिबंधक ने तो आग की शक्ति का नाश या तिरोधान कर दिया है। परंतु उत्तेजक ने पुनः आग की शक्ति का प्रादुर्भाव कर दिया। इसलिए प्रतिबंधक के होने पर भी उत्तेजक के माहात्म्य (प्रभाव) से दाह का कारण शक्ति या शक्ति-सहित अग्नि के होने से दाह होता है।

चौथे पाद का अक्षरार्थ यह है:—हे बाल ! जो अज्ञाततत्त्व नसै (प्रतिबंधक से नष्ट होता है) है और उपजै (उत्तेजक से पैदा होता) है। सु (सो = वह) शक्ति दाह का कारण है।

कार्य के विरोधी को प्रतिबंधक कहते हैं। प्रतिबंधक के होने पर भी कार्य के साधक को उत्तेजक कहते हैं।

आग के प्रतिबन्धक और उत्तेजक मणि-मन्त्र-औषध हैं। जिस मणि या मन्त्र अथवा औषध की समीपता से दाह नहीं होता; वह प्रतिबन्धक है। जिस मणि-मंत्र-औषध की समीपता से प्रतिबन्धक के होने पर भी दाह होता है; वह उत्तेजक है।

सिष रीति यह सब वस्तु में तूं, सक्ति लेहु पिछानी
बिन सक्ति नहिं कछु काज होवै, यहै निश्चै मानी ॥ ३७ ॥

अर्थात् हे शिष्य ! तू आग की भाँति जल आदि सब पदार्थों में शक्ति पहचान। शक्ति के बिना किसी कारण से कार्य नहीं होता। आधे शङ्कर छन्द से शक्ति का प्रयोजन कहा। पहले शिष्य ने प्रश्न किया था कि "शक्ति आग से भिन्न प्रतीत नहीं होती ?"। उसके समाधान के लिए शक्ति का अनुभव दिखाते हैं—

अब † सक्ति या में है नहिं, वह सक्ति उपजी और।
यह सक्ति को परसिद्ध अनुभव, लोपि है किस ठौर ॥ ३८ ॥

† इस छन्द का यह भाव है—कि अब प्रतिबन्धक के रहने पर अग्नि में पहले की दाहक शक्ति नहीं रहती और प्रतिबन्धक के हटा लेने पर अथवा उत्तेजक के लाने पर अग्नि में दूसरी दाह-शक्ति पैदा हो जाती है। यह शक्ति-विषयक प्रसिद्ध अनुभव कैसे (लोप होगा) मिटेगा ? अर्थात् अग्नि में यदि शक्ति नाम की कोई वस्तु नहीं तो प्रतिबन्धक के लाने पर किसका नाश होता और उत्तेजक के लाने पर किसकी उत्पत्ति होती है। अतः शक्ति नाम का एक तत्त्व मानना ही होगा।

स्वसिद्धान्तानुसार शक्ति का स्वरूप और शक्ति में प्रमाण कहा गया।

अन्यमत की शक्ति का खण्डन

जो सक्ति ईस की सो, पदन के न नजीक।
मत न्याय को अन्याय या विधि, सक्ति जानि अलीक ॥३९॥

अर्थात् जो ईश्वर की इच्छारूप पद में शक्ति कही; वह बन नहीं सकती। क्योंकि ईश्वर की इच्छा ईश्वर का धर्म है। अतः ईश्वर में ही रहता है। अतः जो इच्छा है, वह पद की शक्ति है—यह कहना नहीं बनता। यदि पद का धर्म शक्ति हो तो 'पद की शक्ति' कह सकते हैं। अतः पद का सामर्थ्यरूप ही पद की शक्ति है। ईश्वर की इच्छा पद के पास तक भी नहीं। उसे पद की शक्ति कैसे कह सकते हैं ?। (अलीक नाम झूठ का है)।

वैयाकरणों के सिद्धान्तानुसार शक्ति का लक्षण

योग्यता जो अर्थ की पद-मांहि सक्ति सु देखि।
यूं कहत वैयाकरन भूषन, कारिका हरि लेखि ॥ ४० ॥

अर्थात् पद में जो अर्थ की योग्यता ‡ (अर्थ के ज्ञान की कारणता) है; वही पद में शक्ति है। इस प्रकार वैयाकरण-भूषण ग्रन्थ में हरि की कारिका का प्रमाण देकर शक्ति कही है। या वैयाकरणों के भूषणों (उत्तम वैयाकरणों) ने हरि की कारिका (श्लोक) देखकर कही है।

---

‡ इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा ॥

जिस प्रकार घटादि विषयों की नेत्रादि इन्द्रियों में अनादि प्रत्यक्ष-कारणता रूप योग्यता है। उसी प्रकार शब्दों में भी अर्थबोध-कारणता ही योग्यता है। वही शक्ति है।

सुन शिष्य वैयाकरन-मत मैं, प्रबल दूषन एक।
सामर्थ्य पद मैं है न वा यह, पूछि ताहि विवेक ॥
भाखै जु है तौ सक्ति मानहु, ताहि लोक-प्रसिद्ध ।
कहि नाहि जो असमर्थ पद सो योग्य ह्वै यह सिद्ध ॥४१॥
असमर्थ है पद अर्थ योग्य रु, कहत ही सविरोध ।
जो और दूषन देखनो तौ, ग्रन्थ दर्पन सोध ॥४२॥

हे शिष्य ! व्याकरण के शक्ति-विषयक मत में एक प्रबल दूषण है। वैयाकरण से पूछना चाहिए कि "आप के मत के अनुसार पद में सामर्थ्य है या नहीं ?"। यदि 'हां, कहे तो वेदांत-मत में प्रतिपादित शक्ति ही सिद्ध हुई।

अर्थात् यदि वैयाकरण भी पद में शक्ति मानें तो फिर पद में अर्थज्ञान के उत्पन्न करनेवाले योग्यतारूप कारण को शक्ति मानना उनका मिथ्या ठहरेगा। कहने का यह अभिप्राय है कि यदि वे पद में सामर्थ्य मानते हैं तो सामर्थ्य से भिन्नरूप शक्ति माननी योग्य नहीं। किन्तु सामर्थ्यरूप ही शक्ति है-ऐसा मानना चाहिए। क्योंकि सामर्थ्य; बल, शक्ति जोर-ये शब्द एकार्थक हैं। लोक में जोरहीन को सामर्थ्यहीन बलहीन, और शक्तिहीन कहते हैं। भूने हुए दाने के विषय में कहते हैं कि इसमें अंकुरोत्पत्ति का सामर्थ्य (शक्ति=जोर=बल) नहीं। इस प्रकार सामर्थ्य और शक्ति की एकता लोक में प्रसिद्ध है। अग्नि में भी सामर्थ्यरूप ही शक्ति निर्णीत है। यही पद में माननी चाहिए। पद में सामर्थ्य मान लेने के बाद फिर उससे भिन्न योग्यता को शक्ति मानना लोकप्रसिद्धि को धता बताना है।

यदि कहें कि हम तो सामर्थ्य को ही योग्यता कहते हैं तो हमारा मत ही सिद्ध हुआ।

यदि वे फिर कहें कि-यदि हम सामथ्य को मानें तभी सामर्थ्य-रूप शक्ति पद में हो सकती है। हम सामर्थ्य ही नहीं मानते। अतः अर्थ-ज्ञान की जनकतारूप योग्यता ही पद में शक्ति है।

उनसे पूछना चाहिए कि सामर्थ्य का अभाव केवल पद में स्वीकार करते हैं या अग्नि आदि सभी पदार्थों में ? यदि सभी पदार्थों में सामर्थ्य का अभाव कहें तो पहले ही युक्ति से खण्डन कर चुके हैं। केवल पद में सामर्थ्य का अभाव मानने पर दोष तो नहीं आता। क्योंकि यदि आग आदि सब पदार्थों में शक्ति न मानें तो प्रति-बंधक से दाह का अभाव सिद्ध नहीं होगा। यह द्वितीय पक्ष में दोष है; प्रथम पक्ष में नहीं। क्योंकि आग आदि सब पदार्थों में तो सामर्थ्यरूप शक्ति है। अतः प्रतिबंधक से दाह का अभाव हो सकता है। परंतु पद में अर्थज्ञान की जनकतारूप योग्यता से भिन्न सामर्थ्य-रूप शक्ति नहीं। किन्तु पद में अर्थ की योग्यता ही शक्ति है। यह प्रथम पक्ष है। उसमें प्रतिबंधक से दाह का न होना रूप दोष तो नहीं तो भी पद में भी अग्नि की भांति सामर्थ्य अवश्य मानना चाहिए। यह बात दो पदों से "नाहिं जो" से "सविरोध" तक कही गई। अर्थ नाहिं=पद में सामर्थ्य नहीं मानते तो असमर्थपद योग्य (ज्ञान का जनक) है। यह सिद्ध (मतका निश्चय) है-यह असंगत है। क्योंकि पद असमर्थ है और अर्थयोग्य=अर्थज्ञान का जनक है। यह वाक्य तो ऐसा सविरोध=विरोध-सहित है। जैसे कोई कहे कि "यह नपुंसक अमोघवीर्य है"। सामर्थ्य-सहित का नाम समर्थ्य है और सामर्थ्य-रहित का नाम असमर्थ। असमर्थ से कुछ कार्य नहीं होता। यह लोक में प्रसिद्ध है। अतः असमर्थ पद से भी अर्थ का ज्ञानरूप कार्य हो नहीं सकता। इसलिए पद में सामर्थ्य मानना चाहिए। जब पद में सामर्थ्य मान ही लिया तब पद में शक्ति भी सामर्थ्यरूप ही माननी चाहिए। इस प्रकार अर्थज्ञान की जनकतारूप योग्यता पद में शक्ति नहीं। किंतु सामर्थ्य-

रूप ही शक्ति है। यदि व्याकरण मत में दूसरे दोष देखने हों तो शक्तिनिरूपण-प्रकरण में 'दर्पण' नामक ग्रन्थ सोध=देखना चाहिए। वे दूषण कठिन होने के कारण यहां नहीं दिखाये।

भट्ट-रीत्यनुसारी शक्ति-लक्षण

सम्बन्ध पदको अर्थ सैं, तादात्म्य सक्ति सु वेद।
इम भट्ट के अनुसारि भाखत, ताहि भेदाभेद ॥ ४३ ॥

अर्थात्—पद का अर्थ के साथ जो तादात्म्य सम्बन्ध; उसे भट्ट के अनुयायी शक्ति कहते हैं। वेद (तू ऐसा जान)। ताहि (उस तादात्म्य को) भेदाभेदरूप मानते हैं। यह उनका अभिप्राय है कि अग्नि पद का अंगार-अर्थ से अत्यन्त भेद नहीं। यदि अत्यन्त भेद हो तो जैसे अग्नि पद से अत्यन्त भिन्न जल आदि की अग्नि पद से प्रतीति नहीं होती। वैसे ही अग्नि पद से अंगाररूप अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। पद से अत्यन्त भिन्न अर्थ की प्रतीति नहीं होती।

जैसे पद का अपने अर्थ से अत्यन्त भेद नहीं; वैसे अत्यन्त अभेद भी नहीं। यदि वाच्य-वाचक का अत्यन्त अभेद हो तो जैसे अग्नि पद के वाच्य अङ्गार से मुख जल जाता है; वैसे अङ्गार के वाचक आग-पद के उच्चारण से भी मुख जल जाना चाहिए। पर उच्चारण से दाह नहीं होता। अतः अत्यन्त अभेद भी नहीं। अग्नि-पद का अङ्गाररूप अर्थ से भेदसहित अभेद है। भेद है; अतः दाह नहीं होता। अभेद है, अतः अग्नि-पद से जल आदि की भाँति अङ्गार की अप्रतीति नहीं हो सकती। जैसे अग्नि पद का अंगाररूप अर्थ से भेदसहित अभेद है। वैसे उदक, वन, जल, दक, जीवन, इन पदों का पानीरूप अर्थ से भेद-सहित अभेद है। यदि अत्यन्त भेद हो तो जैसे उदक-आदि

पदों से अत्यन्त भिन्न अग्नि आदि की प्रतीति नहीं होती, वैसे ही जलरूप अर्थ की भी उदक-आदि-पदों से प्रतीति नहीं होगी। अतः अत्यन्त भेद नहीं। अत्यन्त अभेद भी नहीं। यदि अत्यन्त अभेद हो तो जैसे पानी से मुख में शीतलता होती है; वैसे उदक-आदि-पदों के उच्चारण से भी शीतलता होनी चाहिए। परन्तु पदों से शीतलता होती नहीं। अतः अत्यन्त अभेद नहीं। किन्तु भेद-सहित अभेद होने से दोष नहीं। इस प्रकार सर्वत्र वाचक पदों का भेद-सहित अभेद है। उस भेद-सहित अभेद को ही भट्टानुयायी तादात्म्य सम्बन्ध और भेदाभेद कहते हैं। वह भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध ही सब पदों में अपने अपने अर्थ की शक्ति है। तादात्म्य सम्बन्ध से अलग सामर्थ्यरूप शक्ति नहीं। भेदाभेद में युक्तियां दिखा ही दी गईं। अब प्रमाण देते हैं:—

यह ओं अच्छर ब्रह्म है यूं, कहत वेद अभेद।
पुनि बानि मैं पद अर्थ बाहरि, देखियत यह भेद ॥ ४४॥

अर्थात् मांडूक्य आदि वेद-वाक्यों में "ओं अक्षर ब्रह्म है" यह कहा है। वहाँ व्याकरण की रीति से प्रकाशरूप सबका रक्षक ॐ अक्षर का अर्थ है। ऐसा ब्रह्म है। अतः ॐ अक्षर ब्रह्म का वाचक है और ब्रह्म वाच्य है। यदि वाच्य-वाचक का आपस में अत्यन्त भेद हो तो वाचक ॐ अक्षर का और वाच्य ब्रह्म का मांडूक्य आदि में अभेद न कहते। "ॐ अक्षर ब्रह्म है" इस प्रकार अभेद कहा है। अतः वाच्य-वाचक के अभेद में वेदवचन प्रमाण है। सब लोगों की प्रतीति से भी वाच्य-वाचक का भेद सिद्ध है। क्योंकि आग आदि शब्द वाणी में है और उनके अंगार आदि अर्थ वाणी से बाहर चूल्हे आदि में। वैसे ॐ अक्षररूप पद वाणी में है और उसका अर्थ ब्रह्म वाणी में नहीं। किन्तु वाणी से

बाहर (अपनी महिमा) में है। यद्यपि ब्रह्म व्यापक है, अतः वाणी में ब्रह्म का अभाव नहीं; तो भी ब्रह्म में वाणी है और वाणी में ब्रह्म नहीं। इस प्रकार सब मनुष्यों को पद वाणी में और अर्थ वाणी से बाहर प्रतीत होता है। अतः पद का और अर्थ का भेद लोक में प्रसिद्ध। वाच्य-वाचक के भेद में सब लोगों का अनुभव प्रमाण है। इनके अभेद में वेदवचन प्रमाण हैं। अतः पद का अर्थ के साथ भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध अप्रमाणित नहीं। किन्तु प्रमाणसिद्ध है। प्रसंगप्राप्त दूसरे स्थल पर भी भेदाभेद दिखाते हैं—

जो गुन गुनी औ जाति व्यक्ती, क्रिया अरु तद्वान।
संबंध लखि तादात्म्य इनको, कार्य कारण सान ॥ ४५ ॥

अर्थात् रूप-गन्ध आदि गुण हैं। उनके आश्रय को गुणी कहते हैं। जैसे रूप आदि का आश्रय भूमि गुणी है। अनेकों में रहनेवाला एक धर्म जाति कहलाता है। जैसे सब ब्राह्मणों के शरीरों में एक ब्राह्मणत्व है। शूद्रों में शूद्रत्व, सब जीवों जीवत्व, पुरुषों में पुरुषत्व एवं सब घटों में घटत्व है। जिसे लोक में ब्राह्मणपन, शूद्रपन, जीवपन, पुरुषपन घटपन कहते हैं। वही ब्राह्मण आदि शरीरों में ब्राह्मणत्व आदि जाति है। जाति के आश्रय ब्राह्मण आदि व्यक्ति कहलाते हैं। गमन-आगमन आदि क्रिया है। तद्वान=क्रिया का आश्रय। इतने पदार्थों का तादात्म्य सम्बन्ध होता है। यह लखि=जान। कार्य-कारण को सान=गुण गुणी आदि में मिला।

यह अभिप्राय है कि कार्यकारण का भी गुणगुणी की भांति तादात्म्य सम्बन्ध है। गुण और गुणी का, जाति और व्यक्ति का, क्रिया और क्रियावान् का एवं कार्य और कारण का तादात्म्य सम्बन्ध है। तादात्म्य=भेदसहित अभेद।

यद्यपि निमित्त कारण का और कार्य का तो भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध नहीं; तो भी उपादान कारण का और कार्य का भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध ही है। जैसे घट के निमित्त कारण कुम्हार आदि हैं। उनका घटरूप कार्य से अत्यन्त भेद भी है। पर उपादान कारण मिट्टी के पिण्ड और घटरूप कार्य का भेद-सहित अभेद है। यदि मिट्टी के पिण्ड से घट अत्यन्त भिन्न हो तो जैसे मिट्टी के पिण्ड से अत्यन्त भिन्न तेल की उत्पत्ति नहीं होती; वैसे घट की उत्पत्ति भी नहीं होनी चाहिए। उपादान कारण का कार्य से अत्यन्त अभेद हो तो भी मृत्पिंड से घट की उत्पत्ति नहीं होगी। क्योंकि अपने स्वरूप से अपनी उत्पत्ति नहीं होती। अतः उपादान कारण का कार्य से भेद-सहित अभेद है। अतः अत्यन्त भेदपक्ष का दोष नहीं आता। भेद है; इसलिए अभेद पक्ष का दोष नहीं आता। इस प्रकार उपादान कारण का कार्य से भेदाभेद सिद्ध है।

प्रतीति से भी उपादान से कार्य का भेदाभेद सिद्ध होता है। "यह मृत्पिंड है और यह घट है" इस भिन्न प्रतीति से भेद सिद्ध होता है। विचार-पूर्वक देखें तो घट के बाहर-भीतर मिट्टी से बिना (भिन्न) कुछ प्रतीत नहीं होता। मिट्टी ही मिट्टी प्रतीत होती है। अतः अभेद सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार उपादान कारण का कार्य से भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध है। वैसे गुण और गुणी का भी भेदाभेद है। यदि घट के रूप का घट से अत्यन्त भेद हो तो जैसे घट से पट का अत्यन्त भेद है, वह पट घट के आश्रित नहीं। वैसे घट का रूप भी घट के आश्रित नहीं होना चाहिए। यदि गुण और गुणी का अत्यन्त अभेद हो तो भी घट का रूप घट के आश्रित सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि अपना आश्रय आप नहीं होता। अतः गुण-गुणी का भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध है। यही युक्ति

जाति-व्यक्ति तथा क्रिया-क्रियावान् के भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध में भी जाननी चाहिए। जिस मत का खण्डन करना हो उसमें बहुत-सी युक्तियां देने का कुछ प्रयोजन नहीं होता। अतः दूसरी युक्तियां नहीं दिखाई।

भट्टमत-खण्डन

एक वस्तु को एक मैं भेद-अभेद विरुद्ध।

जुक्ति-जुक्त यातैं कहत, यह मत सकल असुद्ध ॥ ४६ ॥

यह अभिप्राय है—यद्यपि एक घट में अपना अभेद है और परका भेद है; तो भी जिसका अभेद है, उसका भेद नहीं और जिसका भेद है, उसका अभेद नहीं। इसलिए एक वस्तु का भेद-अभेद विरुद्ध कहा है। एक वस्तु का (घट का) अपने में अभेद और पर में भेद है। पर जिसमें अभेद है, उसमें भेद नहीं और जिसमें भेद है, उसमें अभेद नहीं। इस अभिप्राय से एक वस्तु में एक वस्तु का भेद और अभेद विरुद्ध कहा है।

भेद और अभेद आपस में विरोधी हैं। एक वस्तु में जिसका अभेद होता है, उसका भेद और जिसका भेद होता है, उसका अभेद विरुद्ध हैं। अतः वाच्य-वाचक, गुण गुणी, जाति-व्यक्ति, क्रिया-क्रियावान्, उपादानकारण और कार्य का जो भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध माना है, वह अशुद्ध (ठीक नहीं) है।

पहले वाच्य-वाचक के भेदाभेद में प्रमाण कहा कि "वाणी में वाचक और बाहर वाच्य" अतः भेद। श्रुति में "ॐ अक्षर ब्रह्म कहा है, अतः अभेद। इसका समाधान यह है—

प्रनववर्न अरु ब्रह्म को, कह्यो जु वेद अभेद।

तामैं अन्य रहस्य कछु, लख्यो न भट्ट सुभेद ॥ ४७ ॥

अर्थात् प्रणववर्ण=ॐ अक्षर और ब्रह्म का वेद में जो अभद

कहा है, उस वेद-वचन का वाच्य-वाचक के अभेद में तात्पर्य नहीं। किन्तु उसमें और ही रहस्य (गुप्त अभिप्राय) है। सो भेद (वह रहस्य) कुमारिल भट्ट नहीं समझ सके।

जहां ॐ अक्षर को ब्रह्म कहा है। उस वाक्य का ॐ अचर और ब्रह्म के अभेद में तात्पर्य नहीं। किन्तु "ॐ अक्षर की ब्रह्मरूप से उपासना करे" इस अर्थ में तात्पर्य है। जिसकी उपासना का विधान किया है, उस उपास्य के स्वरूप का यह नियम नहीं कि "जैसी उपासना का विधान, वैसा ही उपास्य का स्वरूप होता है।" किन्तु जैसा वस्तु का स्वरूप है, उसे छोड़कर अन्य स्वरूप की भी उसमें उपासना करते हैं।

जैसे शालिग्राम और नर्मदेश्वर की विष्णु तथा शिवरूप से उपासना का विधान है। वहां शङ्ख-चक्र आदि सहित चतुर्भुज मूर्ति शालिग्राम की नहीं तथा गंगा-भूषित जटाजूट-डमरू-चर्म-कपालिका-सहित भद्रामुद्रा में शरणागत को त्रिगुण रहित आत्मा का उपदेश करनेवाली मूर्ति नर्मदेश्वर की नहीं। किन्तु दोनों शिलारूप हैं। शास्त्र की आज्ञा से उस शिलारूप की दृष्टि छोड़कर दोनों में क्रम से विष्णुरूप और शिवरूप की उपासना करते हैं। अतः उपास्य के स्वरूप के अधीन उपासना नहीं होती। किन्तु विधि के अधीन होती है। जैसे शास्त्र का वचन विधान करे वैसे ही उपासना करनी चाहिए।

जैसे छन्दोग्य उपनिषद् में पञ्चाग्निविद्या प्रकरण में स्वर्गलोक, मेघ, भूमि, पुरुष और स्त्री इन पांच पदार्थों की अग्निरूप से उपासना कही है। श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न और वीर्य इन पांच पदार्थों की पञ्चाग्नि की आहुतिरूप उपासना कही है। वहाँ स्वर्ग आदि अग्नि नहीं और श्रद्धा-सोम-आदि आहुति नहीं। तो भी वेद की आज्ञा से स्वर्गलोक आदि की अग्निरूप से और श्रद्धा आदि की आहुतिरूप से उपासना करते हैं।

इस प्रकार ॐ अत्तर की ब्रह्मरूप से उपासना कही है। ॐ अत्तर ब्रह्मरूप है नहीं। तो भी ब्रह्मरूप से उपासना सिद्ध होती है। उपासना वाक्य में वस्तु के भेद की अपेक्षा नहीं। किन्तु भिन्न वस्तु की भी अभिन्नरूप से उपासना होती है।

विचार-पूर्वक देखें तो ब्रह्म के वाचक ॐ अक्षर का तो अपने वाच्य ब्रह्म से अभेद भी बन सकता है। घट आदि अन्य पदों का अपने अपने जडरूप अर्थ से अभेद सिद्ध नहीं होता। क्योंकि सब नाम-रूप ब्रह्म में कल्पित हैं। कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती। किन्तु अधिष्ठानरूप ही होती है। अतः ॐ अक्षर ब्रह्मरूप है। घट आदि पदों का जडरूप अपना अर्थ अधिष्ठान नहीं। किन्तु वाच्य-सहित घट-आदि पद ब्रह्म में कल्पित हैं और ब्रह्म उनका अधिष्ठान है। अतः ब्रह्म से तो सबका अभेद बन भी सकता है। पर घट आदि पदों का अपने जडरूप वाच्य अर्थ से किसी प्रकार अभेद वन नहीं सकता। इसलिए भट्ट-मत में वाच्य और वाचक का अभेद असंगत है।

जो वाच्य-वाचक का केवल भेद स्वीकार करते हैं, उनके मत में भट्ट ने यह दोष दिखाया है कि यदि घट पद का वाच्य घट पद से अत्यन्त भिन्न हो तो जैसे घट पद से अत्यन्त भिन्न वस्त्ररूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती; वैसे घट पद से अत्यन्त भिन्न कलशरूप अर्थ की प्रतीति भी नहीं होगी। यदि घट पद से वाच्य को भिन्न मानकर उसकी घटपद से प्रतीति मानेंगे तो जैसे घट पद से अत्यन्त भिन्न कलशरूप अर्थ की प्रतीति होती है। वैसे घट पद से अत्यन्त भिन्न वस्त्र की भी प्रतीति होनी चाहिए। यह दोष भी उनके मत में है जो सामर्थ्य या इच्छारूप शक्ति नहीं मानते।

जो शक्ति स्वीकार करते हैं; उनके मत में यह दोष नहीं।

क्योंकि घट पद का वाच्य कलश और उसका अवाच्य वस्त्र आदि दोनो घट पद से भिन्न हैं। परन्तु घट पद में कलशरूप अर्थ के ज्ञान करने की शक्ति है। दूसरों के अर्थों के ज्ञान करने की शक्ति नहीं। अतः घट पद से कलशरूप अर्थ को छोड़कर दूसरे अर्थों की प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार जिस पद में जिस अर्थ की शक्ति है; उस पद से उसी अर्थ की प्रतीति होती है; दूसरे अर्थों की नहीं। अतः वाच्य-वाचक के अत्यन्त भेद में दोष नही । उनका भेद-सहित अभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

जैसे भेद और अभेद आपस में विरोधी हैं, वैसे उपादान कारण का कार्य से भेद-सहित अभेद नहीं अपितु केवल भेद है। केवल भेद में जो दोष कहा है, वह नैयायिक और शक्तिवादी के मत में नहीं। क्योंकि कारण-कार्य के अत्यन्त भेद में यह दोष है। यदि मिट्टी के पिण्ड से अत्यन्त भिन्न घट की उत्पत्ति हो तो अत्यन्त भिन्न तेल की भी मृत्पिण्ड से उत्पत्ति होनी चाहिए। यदि अत्यन्त भिन्न तेल की उत्पत्ति नहीं होगी तो अत्यन्त भिन्न घट की भी उत्पत्ति मृत्पिण्ड से नहीं होनी चाहिए।

यह दोष नैयायिकों के मत में नहीं। क्योंकि सब वस्तुओं की उत्पत्ति में नैयायिक प्रागभाव को कारण मानते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति में दण्ड-चक्र-कुम्हार कारण हैं, वैसे घट का प्रागभाव भी घट का कारण है। घट का वह प्रागभाव घट के उपादान कारण मिट्टी के पिण्ड में रहता है, दूसरों में नहीं। तेल का प्रागभाव तिलों में रहता है, दूसरों में नहीं। इस प्रकार सब कार्यों का प्रागभाव अपने अपने उपादान कारण में रहता है। जिस पदार्थ में जिसका प्रागभाव होता है, उस पदार्थ से उसकी उत्पत्ति होती है, दूसरों की नहीं। जैसे मृत्पिण्ड में घट का प्रागभाव है। अतः मृत्पिण्ड से घट की ही उत्पत्ति होती है, तेल की नहीं।

तिलों में तेल का प्रागभाव रहता है। अतः तिलों से तैल की ही उत्पत्ति होती है, घट की नहीं। ऐसे सब कार्यों में प्रागभाव कारण है। अतः कार्यकारण का अत्यन्त भेद मानने पर भी नैयायिकों के मत में दोष नहीं।

सामर्थ्यरूप शक्तिवादी के मत में भी दोष नहीं। क्योंकि मृत्पिण्ड में घट की सामर्थ्यरूप शक्ति है; तेल की नहीं। तिलों में तैल की सामर्थ्यरूप शक्ति है; घट की नहीं। इसलिए मृत्पिण्ड से घट की ही उत्पत्ति होती है; तेल की नहीं। वैसे तिलों से तेल की ही उत्पत्ति होती है, घट की नहीं। इस प्रकार उपादान कारण का और कार्य का अत्यन्त भेद मानने में भी दोष नहीं।

भेदाभेद असङ्गत है।

भेद में और अभेद में जो दोष भट्ट ने दिखाये हैं, उन दोनों पक्षों के वे दोष भट्ट के मत में अवश्य रहते हैं। क्योंकि भट्ट ने भेदसहित अभेद माना है। इससे यह सिद्ध होता है कि कार्य–कारण का भेद भी है और अभेद भी।

भेद है; तो भेदपक्ष में दिखाये दोष होंगे। अभेद है; तो अभेदपक्ष में दिखाये दोष होंगे। जैसे चोरी का दोष और जूए का दोष किसी एक एक मनुष्य में है। यदि किसी में दोनों व्यसन हैं तो चोरी–द्यूत दोनों के दोष लगेंगे। वैसे गुण–गुणी आदि के भेदाभेद मानने में भेदपक्ष और अभेदपक्ष दोनों के दोष होंगे।

शक्तिवादी के मत में केवल भेद मानने से दोष नहीं। क्योंकि गुणी में गुण के धारन करने की शक्ति है; दूसरों की नहीं। अतः भेदपक्ष में जो दोष कहा था कि जैसे घट के रूप आदि घट से भिन्न हैं; वैसे पट आदि भी घट से भिन्न हैं। रूप आदि की भाँति पट आदि भी घट में रहने चाहिए। अथवा पट आदि की भाँति

रूप आदि भी नहीं रहने चाहिए। ये दोष जो शक्ति नहीं मानते उनके मत में हैं। शक्तिवादी के मत में केवल भेद मानने से भी दोष नहीं। उलटा, भट्टमत में भेद और अभेद दोनो मानने से दोनों के पक्षों के दोष उक्त दृष्टान्त से सिद्ध हो जाते हैं। एवं भेद-अभेद विरोधी धर्म का असम्भव दोष है। वैसे जाति-व्यक्ति का और क्रिया-क्रियावान् का भी केवल भेद है। तो भी व्यक्ति में जाति धारन करने की शक्ति है और क्रियावाले में क्रिया धारन करने की शक्ति है। दूसरों के धारन करने की शक्ति नहीं। इस प्रकार उपादान और कार्य का तथा गुण और गुणी आदि का भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध असङ्गत है। सबका आपस में भेद मानने में जो दोष भट्टजी ने दिखाये हैं, उन्हें शक्तिवादियों की शक्ति निगल जाती है।

यद्यपि वेदान्त सिद्धान्त में भी कार्य-गुण-जाति-क्रिया का उपादान-गुणी-व्यक्ति-क्रियावान् से अत्यन्त भेद नहीं। किन्तु तादात्म्य सम्बन्ध ही स्वीकार किया है। तो भी वेदान्त-मत में भेदा-भेदरूप तादात्म्य नहीं। किन्तु भेद और अभेद से विलक्षण अनिर्वचनीय रूप तादात्म्य † सम्बन्ध स्वीकारा है। भेद से विलक्षण है, अतः भेदपक्ष में दोष नहीं। अभेद से विलक्षण है; अतः अभेदपक्ष में के दोष नहीं। इस प्रकार भेदाभेद से विलक्षण अनिर्वचनीय तादात्म्य सम्बन्ध है। परन्तु भेदाभेदरूप तादात्म्य असङ्गत है। इसलिए "वाच्य-वाचक का भेदाभेदरूप तादात्म्य

† सिद्धान्त में कल्पित भेदसहित वास्तव अभेद का नाम तादात्म्य है। इसे ही अनिर्वचनीय तादात्म्य कहते हैं। क्योंकि यह वास्तविक भेद से विलक्षण तथा कल्पित अभेद से विलक्षण है। यही भेदाभेद-विलक्षणता कहनी होगी। नहीं तो जिसमें भेद सर्वथा नहीं वह सम्बन्ध नहीं बन सकेगा और जिसमें अभेद नहीं वह तादात्म्य सम्बन्ध नहीं कहला सकता।

सम्बन्ध ही शक्ति है" यह भट्ट के अनुयायियों का मत समीचीन नहीं। किन्तु पद के सुनते ही अर्थ का ज्ञान करने का जो सामर्थ्य है; वही पद में शक्ति है। यहां तक शक्ति का निरूपण हुआ।

लक्षणा-निरूपण

लक्षणा के ज्ञान में शक्य का ज्ञान उपयोगी है। क्योंकि शक्य-सम्बन्ध लक्षणा का स्वरूप है। शक्य के ज्ञान के विना सम्बन्धरूप लक्षणा का ज्ञान नहीं होता। अतः शक्य का लक्षण कहते हैं—

ह्वै पद मैं जा अर्थ की, सक्ति सक्य सो जान।
वाच्य अर्थ पुनि कहत तिहि, वाचक पदहि पछान ॥ ४८ ॥

अर्थात् जिस पद में जिस अर्थ की शक्ति होती है; उस पद का वह अर्थ शक्य जान=समझो। शक्य अर्थ को वाच्य अर्थ भी कहते हैं। जैसे अग्निपद में अङ्गाररूप अर्थ की शक्ति है। अतः अग्निपद का अङ्गार शक्य अर्थ है—इसे वाच्य-अर्थ भी कहते हैं। वाच्य-अर्थ के बोधक पद को वाचक कहते हैं।

लक्षणा-भेदोंके लक्षण

सक्य को सम्बन्ध जो, स्वरूप जानि लच्छन को,
लच्छना सो भान जाको, लच्छ सु पिछानिये।
वाच्य अर्थ सारो त्यागि, वाच्य को सम्बन्ध जहां,
होई परतीति तहां, जहती बखानिये।
वाच्यजुत वाच्य के, सम्बन्धी का जु ज्ञान होय,
ताहि ठौर लच्छना, अजहतीहि मानिये।
एक वाच्य भागत्याग, होत तहां भागत्याग,
दूजो नाम जहती-अजहती प्रमानिये ॥ ४९ ॥

अर्थात्—शक्य=वाच्य अर्थ का जो सम्बन्ध=मिलाप; वह लत्तणाका स्वरूप (लत्तण) जानि=समझ कर। जिस अर्थ का पद की शक्ति से ज्ञान न हो; किन्तु लत्तणा से भान (ज्ञान) हो; वह पद का लक्ष्य-अर्थ है। एक पाद से लत्तणा का स्वरूप कह दिया। लत्तणा के जहती आदि तीनों भेदों के लक्षण एक एक पाद से कहते हैं—"वाक्य" इत्यादि से जहां वाच्य-अर्थ को बिलकुल छोडकर वाच्य-अर्थ के सम्बन्धी की प्रतीति हो; वहां जहती लत्तणा होती है। जैसे किसी ने कहा कि "गङ्गा में झोंपड़ी है" यहां गङ्गापद की तीर में जहती लत्तणा है। क्योंकि गङ्गापद का वाच्य अथ देव-नदी का प्रवाह है। उसमें झोपडी की स्थिति असम्भव है। अतः बिलकुल वाच्य अर्थ को छोड़कर तीर में गङ्गापद की जहती लक्षणा है। वाच्य के सम्बन्ध का नाम लक्षणा है। यहां गङ्गापद के वाच्य प्रवाह का तीर के साथ संयोग सम्बन्ध है। अतः गङ्गापद के वाच्य जो तीर के साथ सम्बन्ध वह लत्तणा वाच्य का बिलकुल त्याग है; अतः जहती लत्तणा है। "वाच्यजुत" इत्यादि तीसरे पाद से अजहती लक्षणा दिखाते हैं:—वाच्यजुत=वाच्य अर्थ सहित, वाच्य के सम्बन्धी का जिस पद से ज्ञान हो; उस पद में अजहती लत्तणा होती है। जैसे किसी ने कहा "शोण दौड़ता है" यहां शोणपद की लाल रङ्गवाले घोड़े में अजहती लत्तणा है। क्योंकि शोण नाम लाल रङ्ग का है। अतः शोणपद का वाच्य लाल रङ्ग है। वह अकेला दौड़ नहीं सकता। इसलिए शोणपद के वाच्य लाल रङ्ग के सहित घोडे में अजहती लत्तणा है। गुण और गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं:—लाल भी रूप का भेद होने से गुण है। शोणपद के वाच्य लाल गुण का गुणी घोड़े के साथ जो तादात्म्य सम्बन्ध है; वह लत्तणा है। वाच्य का त्याग नहीं; अधिक का ग्रहण है। अतः अजहती लक्षणा है।

"एक वाच्य" इत्यादि चौथे पाद से भागत्याग लक्षणा

दिखाते हैं:—जहां पदों के वाच्य अर्थ में से एक भाग का त्याग हो और एक भाग का ग्रहण हो; वहां भागत्याग लक्षणा होती है। भागत्याग को जहती-अजहती लक्षणा भी कहते हैं। जैसे पहले देखे हुए पदार्थ को किसी दूसरे स्थान पर देखकर कोई कहे कि "यह वह है" यहां भागत्याग लक्षण है क्योंकि भूतकाल में और अन्यदेश में स्थित वस्तु को 'वह' कहते है। अतः भूत (अतीत) काल-सहित और अन्य देश-सहित वस्तु 'वह' पद का वाच्य अर्थ है वर्तमान काल समीप देश में स्थित वस्तु को 'यह' कहते हैं। अतः वर्तमान काल-सहित और समीपदेश में स्थित वस्तु 'यह' पद का वाच्य अर्थ है। अतीत काल-सहित अन्य देश-स्थित जो वस्तु वही वर्तमानकाल और समीप देश-सहित है; यह समुदाय का वाच्य अर्थ है। यह वन नहीं सकता; क्योंकि अतीत काल और वर्तमान काल का विरोध है। एवं अन्यदेश और समीप देश का विरोध है। इसलिए दोनों पदोंमें से वाच्यभाग देशकाल का त्याग करके वस्तु मात्र में दोनों पदों की भाग-त्याग लक्षणा है। "तत्त्वमसि" महावाक्य में लक्षणा दिखाने के लिए 'तत्' पद और 'त्वं पद का वाच्य अर्थ दिखाते हैं:—

'तत्' पद-वाच्य-निरूपण

सर्वसक्ति सर्वज्ञ विभु, ईस स्वतन्त्र परोच्छ।
मायी 'तत्' पदवाच्य सो, जामैं बन्ध न मोच्छ ॥५०॥

अर्थात् सर्वशक्ति=सब प्रकार के सामर्थ्यवाला, सर्वज्ञ=सब कुछ जाननेवाला, विभु=व्यापक, ईश=सबका प्रेरक; स्वतन्त्र=कर्म के अधीन नहीं, परोक्ष=जीव के प्रत्यक्ष का अविषय, मायी=जिसके अधीन माया हो, बन्ध-मोक्ष-रहित=जिसमें बन्ध होता है, उसका मोक्ष होता है। ईश्वर में बन्ध भी नहीं और

उसका मोक्ष भी नहीं। इतने धर्मोंवाला ईश्वर 'तत्' पद का वाच्य अर्थ है।

'त्वं' पदवाच्य-निरूपण

कहे धर्म जो ईसके, सब तिन तैं विपरीत।

है जिहि चेतन जीव तिहि, त्वं-पदवाच्य प्रतीत ॥ ५१ ॥

अर्थात् जो ईश्वर के धर्म कहे; उनसे विपरीत धर्म जिसमें हों; वह जीव चेतन 'त्वं' पद का वाच्य प्रतीत=समझो। इसका यह भाव है कि जीव—१—अल्पशक्ति, २—अल्पज्ञ, ३—परिच्छिन्न, ४—अनीश, ५—कर्म के अधीन, ३—अविद्यामोहित, ७—बन्ध-मोक्ष-वाला और ८--प्रत्यक्ष है। क्योंकि अपना स्वरूप किसी को परोक्ष नहीं होता; †प्रत्यक्ष ही होता है। यद्यपि ईश्वर को भी अपना स्वरूप प्रत्यक्ष है; तो भी ईश्वर का स्वरूप जीवों को प्रत्यक्ष नहीं। अतः परोक्ष कहा है। जीव के स्वरूप को जीव और ईश्वर दोनों जानते हैं। अतः प्रत्यक्ष कहा है। इतने धर्मोंवाला जीव चेतन 'त्वं' पद का वाच्य कहलाता है।

महावाक्य मैं एकता, ह्वै दोनों की भान।

सो न बनै यातैं सुमति, लच्छय-लच्छनहिं जान ॥ ५२ ॥

अर्थात् सामवेद की छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक मुनि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को जगत् की उत्पत्ति करनेवाले ईश्वर को समझा कर उससे कहा 'तत्त्वमसि', इसका यह वाच्य अर्थ है:—तत्=वह-जगत् की उत्पत्ति करनेवाला सर्वशक्ति-सर्वज्ञता आदि

† यद्यपि सभी जीवों को अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता। तो भी अपने विशिष्टरूप अर्थात् अन्तःकरण विशिष्ट चेतन का अहं-अहं रूप से ब्रह्मज्ञान से पूर्व भी प्रत्यक्ष होता है।

धर्मों सहित ईश्वर त्वं=तू अल्पशक्ति–अल्पज्ञता आदि धर्मों वाला जीव असि=है। यहां "वह तू है" इस कथन से जीव ईश्वर की एकता वाच्य अर्थ में प्रतीत होती है। वह वन नहीं सकती। क्योंकि सर्वशक्ति और अल्पशक्ति, सर्वज्ञ और अल्पज्ञ, विभु और परिछिन्न, स्वतन्त्र और कर्माधीन, परोक्ष और प्रत्यक्ष' माया जिसके अधीन और अविद्या-मोहित (मायापति और मायादास) को एक कहना, "आग ठण्डी है" इस कथन के समान है। अतः हे सुमति! लच्छनहिं=लक्षणा से लक्ष्य अर्थ समझो, क्योंकि वाक्य अर्थ में विरोध है।

आदि दोय नहिं सम्भवै, महावाक्य मैं तात।
भागत्याग यातैं लखहु, ह्वै जातैं कुसलात॥ ५३॥

हे तात! महावाक्य में पहली दो लक्षणाएँ (जहती और अजहती) हो नहीं सकतीं। इसलिए महावाक्य में भाग-त्याग लक्षणा समझनी चाहिए कि जिससे कुसलात=विरोध का परिहार हो सके॥ ५३॥

जहती की असम्भवता

ज्ञेय जु साक्षी ब्रह्मचित्, वाच्यमांहि सो लीन।
मानै जहती लच्छना, ह्वै कछु ज्ञेय नवीन॥ ५४॥

अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्त का ज्ञेय साक्षी चेतन और ब्रह्मचित्= ब्रह्मचेतन है। वह साक्षी चेतन और ब्रह्मचेतन त्वंपद तथा तत्पद के वाच्य में लीन (प्रविष्ट) है। जहाँ जहती लक्षणा होती है; वहां सम्पूर्ण वाच्य का त्याग करके वाच्य का सम्बन्धी अन्य ज्ञेय होता है। अतः महावाक्य में जहती लक्षणा मानें तो वाच्य में आगत चेतन से नवीन=और कुछ ज्ञेय होगा। चेतन से भिन्न असत् जड दुःखरूप है। उसके जानने से पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। अतः महावाक्य में जहती लक्षणा नहीं।

अजहती की असम्भवता

वाच्यहु सारो रहत है, जहां अजहती मीत ।

वाच्य अर्थ सविरोध यूं, तजहु अजहती रीत ॥ ५५ ॥

हे मीत !=प्रिय ! जहां अजहती लक्षणा होती है; वहां वाच्य-अर्थ सारा लिया जाता है और वाच्य से अधिक का ग्रहण होता है। महावाक्य में यदि अजहती लक्षणा मानें तो वाच्य-अर्थ सारा लिया जायगा। परन्तु महावाक्यों में वाच्य-अर्थ सविरोध= विरोध-सहित है। विरोध दूर करने के लिए ही तो लक्षणा स्वीकार करते है। अजहती मानने से महावाक्य का विरोध दूर नहीं हो सकता। इसलिए अजहती लक्षणा महावाक्यों में नहीं हो सकती।

भागत्याग-लक्षण

त्यागि विरोधी धर्म सब, चेतन शुद्ध असङ्ग ।

लखहु लच्छनातैं सुमति, भागत्याग यह अङ्ग ॥ ५६ ॥

अङ्ग=हे प्रिय ! 'तत्'-पद का वाच्य ईश्वर और 'त्वं'-पद का वाच्य जीव इनके आपस में विरोधी धर्मों को छोड़कर शुद्ध असङ्ग चेतन लक्षणा से लखहु=समझो। इसका नाम भाग-त्याग लक्षणा है। यहां यह सिद्धान्त है:—ईश्वर का स्वरूप अनेक प्रकार का अद्वैत ग्रन्थों में कहा है।

विवरण ग्रन्थ में:—अज्ञान में प्रतिबिम्ब जीव है और बिम्ब ईश्वर। विद्यारण्य के मत में:—शुद्ध-सत्त्वगुण-सहित माया में आभास ईश्वर है और मलिन-सत्त्वगुण-सहित अन्तःकरण का उपादान कारण अविद्या के अंश में आभास जीव है।

यद्यपि पञ्चदशी-ग्रन्थ में विद्यारण्य-स्वामी ने अन्तःकरण में आभास को जीव कहा है। तो भी अन्तःकरण के आभास को यदि

जीव मानें तो सुषुप्ति में अन्तःकरण रहता नहीं। अतः वहां जीव का भी अभाव होना चाहिए। प्राज्ञरूप जीव सुषुप्ति में रहता है। इसलिए विद्यारण्य-स्वामी का यह अभिप्राय समझना चाहिए कि "अन्तःकरणरूप परिणाम को प्राप्त अविद्या के अंश में आभास जीव है।" वह अविद्या का अंश सुषुप्ति में भी रहता है। अतः प्राज्ञ का अभाव नहीं।

अकेला आभास † ही जीव और ईश्वर नहीं। किन्तु माया का अधिष्ठान चेतन और मायासहित आभास ईश्वर है। अविद्या अंश का अधिष्ठान चेतन और अविद्या के अंश सहित आभास जीव है। ईश्वर की उपाधि में शुद्ध सत्त्वगुण है; अतः ईश्वर में सर्वशक्ति-सर्वज्ञता आदि धर्म हैं। जीव की उपाधि में मलिन सत्त्वगुण है, अतः जीव में अल्पशक्ति अल्पज्ञता आदि धर्म हैं। इसे आभासवाद कहते हैं। विवरण के मत में यद्यपि जीव और ईश्वर दोनों की उपाधि एक ही अज्ञान है। अतः दोनों अल्पज्ञ होने चाहिए। तो भी जिस उपाधि में प्रतिबिम्ब पड़ता है; उसका यह स्वभाव है कि वह अपने में पड़े प्रतिबिम्ब को ही दुष्ट (दोषसहित) करती है; बिम्ब को नहीं।

जैसे दर्पणरूप उपाधि में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है। ग्रीवा-पर का मुख बिम्ब है। प्रतिबिम्बा में दर्पणरूप उपाधि के श्याम-पीत-लघुता आदि अनेक दोष प्रतीत होते हैं पर ग्रीवापर के बिम्ब में प्रतीत नहीं होते वैसे ही दर्पण स्थानीय अज्ञान में प्रतिबिम्ब रूप जीव में अज्ञानकृत अल्पज्ञता आदि दोष हैं और बिम्बरूप ईश्वर

---

† केवल आरोपित वस्तु की प्रतीति नहीं होती। जैसे सर्प की प्रतीति रज्जु से भिन्न नहीं होती। अपितु रज्जु से अभिन्न हो कर ही होती है। इस प्रकार आभास केवल (अधिष्ठान-विनिमुक्त) रह नहीं सकता। अधिष्ठान-सहित आभास ही ईश्वर या जीव कहना होगा; केवल नहीं।

में नहीं। अतः ईश्वर में सर्वज्ञता† आदि हैं और जीव में अल्पज्ञता आदि हैं।

आभास और प्रतिबिम्ब का इतना भेद है, कि आभासपक्ष में आभास मिथ्या है। प्रबिम्बवाद में प्रतिबिम्ब मिथ्या नहीं; किन्तु सत्य है। क्योंकि प्रतिबिम्बवादी का यह सिद्धान्त है:—दर्पण में जो मुख का प्रतिबिम्ब वह मुख की छाया नहीं। कारण कि छाया का यह स्वभाव है—जिस दिशा में छायावाले के मुख-पीठ आदि होते हैं, उसी दिशा में छाया के भी मुख-पीठ आदि होते हैं। दर्पण में के प्रतिबिम्ब के मुख-पीठ आदि बिम्ब के मुखपीठ आदि से विपरीत होते हैं। अतः दर्पण को विषय करने के लिए नेत्रद्वारा निकली हुई जो अन्तःकरण की वृत्ति, वह दर्पण को विषय करके तत्काल ही दर्पण से निवृत्त होकर ग्रीवापर के मुख को विषय करती है।

जैसे भ्रमण के वेग से अलात का चक्र प्रतीत होता है। वस्तुतः चक्र नहीं होता। वैसे दर्पण और मुख को देखते समय वृत्ति के वेग से मुख का दर्पण में भान होता है। वस्तुतः मुख ग्रीवा पर ही है। दर्पण में नहीं और छाया भी नहीं। वृत्ति के वेग से जो दर्पण में मुख की प्रतीति, वही प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार दर्पणरूप उपाधि के सम्बन्ध से ग्रीवापर का मुख ही बिम्बरूप और प्रतिबिम्बरूप प्रतीत होता है। विचार करने पर बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है नहीं। वैसे ही अज्ञानरूप उपाधि के सम्बन्ध से असङ्ग चेतन में बिम्बस्थानीय ईश्वरभाव और प्रतिबिम्बस्थानीय

---

† ईश्वर में अल्पज्ञतादि न रहने के कारण सर्वज्ञतादि का केवल व्यवहार होता है; वस्तुतः सर्वज्ञतादि धर्म ईश्वर में नहीं रहते। क्योंकि इस वाद में शुद्ध चेतन ही बिम्ब है = ईश्वर है। उसमें किसी प्रकार का धर्म नहीं रह सकता।

जीवभाव प्रतीत होता है। पर विचारदृष्टि से ईश्वरता और जीवता है नहीं। अज्ञान से चेतन में जो जीवभाव की प्रतीति है; वही अज्ञान में प्रतिबिम्ब कहलाता है। इसलिए बिम्बपन और प्रतिबिम्बपन तो मिथ्या हैं। स्वरूप से प्रतिबिम्ब सत्य है। क्योंकि बिम्ब–प्रतिबिम्ब का स्वरूप दृष्टान्त में तो मुख है और दार्ष्टान्त में चेतन है। वह मुख और चेतन सत्य हैं। इस प्रकार स्वरूप से सत्य होने के कारण प्रतिबिम्ब को सत्य कहते हैं। आभास का स्वरूप छाया मानते हैं; अतः मिथ्या है। यह आभासवाद और प्रतिबिम्बवाद का भेद है।

कुछ ग्रन्थों में—शुद्ध–सत्त्वगुण–सहित मायाविशिष्ट चेतन ईश्वर कहा है। मलिन–सत्त्वगुण–सहित अन्तःकरण की उपादान अविद्या के अंश–विशिष्ट चेतन जीव कहलाता है। इसे अवच्छेद-वाद कहते हैं।

वेदान्त की सभी प्रक्रियाएँ अद्वैत आत्मा को जताने के लिए हैं। अतः जिस प्रक्रिया से जिज्ञासु को बोध हो, वही उसके लिए ठीक है। तो भी वाक्यवृत्ति और उपदेश–सहस्री में भाष्य-कारने आभासवाद ही लिखा है। अतः † आभासवाद ही मुख्य है।

---

† आभासास–वाद में दो मत हैं—(१) केवल आभास को जीव–मानने-वाले और (२) अधिष्ठान और उपाधि–सहित आभास को जीव माननेवाले। प्रथम पक्ष में भाग–त्याग लक्षणा 'तत् त्वमसि' वाक्य में स्वीकृत नहीं। अपितु जहल्लक्षणा मानी जाती है और 'अहं ब्रह्मास्मि'—यहाँ बाध सामाना-धिकरण्य माना जाता है। क्योंकि इस मत में 'अहं' का अर्थ है केवल बुद्धिगत आभासरूप जीव। वह समूचा मिथ्या है; ब्रह्म कक्षा में नहीं आ सकता।

इस मत में एक बहुत ही निर्बलता यह है कि मुमुक्षुजनों की मोक्ष में प्रवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि मोक्ष–अवस्था में जीव का स्वरूप (आभास) सर्वथा मिट जायगा। अपने को मिटाने के लिए कौन तैयार होगा ? जैसे लोग

इसकी रीति से:—१-माया, २-माया में आभास और ३-माया का अधिष्ठान के चेतन, वह सर्वज्ञता आदि धर्म सहित ईश्वर है; वही 'तत्' पद का वाच्य है। १-व्यष्टि अविद्या, २-उसमें आभास और ३-उसका अधिष्ठान चेतन; वह अल्पशक्ति-अल्पज्ञता आदि धर्म-सहित जीव है; वही 'त्वं' पद का वाच्य है। इन दोनों की 'तत्त्वमसि' वाक्य से एकता बोधित की है। पर यह बन नहीं सकती इसलिए:—

(क) आभास-सहित माया और मायाकृत सर्वशक्ति-सर्वज्ञता आदि धर्म, इतने वाच्य भाग को छोड़कर चेतन भाग में 'तत्' पद की भाग त्याग लक्षणा है। (ख) वैसे ही आभास-सहित अविद्या-अंश और अविद्याकृत अल्पशक्ति-अल्पज्ञता आदि धर्म जो 'त्वं' पद का वाच्य भाग, उसे छोड़कर चेतन भाग में त्वं पद की भाग-त्याग लक्षणा है। इस प्रकार त्याग लक्षणा से ईश्वर और जीव के स्वरूप

वैशेषिकी मुक्ति से डरते हैं कि उस अवस्था में केवल जड पत्थर-सा होकर रहना होगा। वह फिर भी अच्छी है, कि वहां स्वयं तो मिटेंगे नहीं। उक्त आभास-वाद में तो अपने को बलि-वेदी पर चढ़ा देना ही होगा।

दूसरी बात यह है कि इस मत से बन्धन में पड़ा कौन ? जीव (आभास) और मुक्त होगा कौन ? शुद्ध चेतन। यह वैय्यधिकरण्य भी अनुचित है। इन सब बातों का किसी-न-किसी प्रकार से समाधान करना, किसी का मुख भले ही बन्द कर दे ? पर मन को सन्तोष न दे सकेगा।

द्वितीय मत में जीव-कोटि में तीन आ जाते हैं—आभास, उपाधि (बुद्धि) और कूटस्थ। अब 'तत् त्वमसि' आदि में आभास और उपाधि भाग का त्याग करके शेष भाग में लक्षणा करनी होती है। बन्धन में पड़नेवाला जीव-भावापन्न कूटस्थ और वही मुक्त होनेवाला है। अतः वैय्यधिकरण्य भी नहीं। और भी कोई दोष नहीं। अतः यह पहले से श्रेष्ठ है। पंचदशीकारका यही मत है। घटाकाश आदि के दृष्टान्तों से इस मत की सुन्दर व्याख्या की है।

में लक्ष्य जो चेतन भाग उसकी एकता 'तत्त्वमसि' † महावाक्य ने बोधित की है।

वैसे ही 'अयम् आत्मा ब्रह्म' इस महावाक्य में आत्मा पद का जीव वाच्य है और ब्रह्म पद का ईश्वर वाच्य है। ब्रह्म पद का शुद्ध वाच्य नहीं; ईश्वर ही वाच्य है। यह चौथी तरंग में प्रतिपादित कर चुके हैं। पूर्ववत् दोनों पदों की लक्षणा है। लक्ष्य अर्थ परोक्ष नहीं, यह अर्थ जताने के लिए 'अयम्' पद है। अयम् (सबका अपरोक्ष) आत्मा ब्रह्म है—यह वाक्यार्थ है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य में 'अहं' पद का जीव वाच्य है और 'ब्रह्म' पद का ईश वाच्य है। दोनों पदों की चेतन भाग में लक्षणा है। "मैं ब्रह्म हूँ" यह वाक्य का अर्थ है। "प्रज्ञानमानंदं ब्रह्म" इस महावाक्य में 'प्रज्ञान' पद का जीव वाच्य है और 'ब्रह्म' पद का वाच्य ईश। पूर्ववत् लक्षणा है। लक्ष्य जो ब्रह्म आत्मा, वह आनन्द गुणवाला नहीं; किन्तु आनन्द-स्वरूप है। यह अर्थ बोधित करने के लिए 'आनन्द' पद है। आत्मा से अभिन्न ब्रह्म आनन्दरूप है-यह वाक्य का अर्थ है।

जैसे महावाक्यों में भागत्याग लक्षणा है, वैसे ही दूसरे वाक्यों में सत्य, ज्ञान, आनन्द पद भी शुद्ध ब्रह्म को ही भागत्याग लक्षणा से बोधित करते हैं; शक्ति से नहीं। क्योंकि शुद्ध ब्रह्म किसी पद का वाच्य नहीं—यह सिद्धान्त है। इसलिए सभी पद विशिष्ट के वाचक हैं और शुद्ध के लक्षक।

माया की आपेक्षिक सत्यता और चेतन की नैरपेक्षिक सत्यता दोनों सम्मिलित रूप से 'सत्य' पद का वाच्य है। नैरपेक्षिक सत्य लक्ष्य है।

† चार महावाक्यों में 'तत् त्वमसि'—यह उपदेशवाक्य और शेष तीनों अनुभव वाक्य हैं।

बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान और स्वयंप्रकाश ज्ञान दोनों मिले–मिलाये 'ज्ञान' पद के वाच्य है और स्वयंप्रकाश भाग लक्ष्य है।

विषय–सम्बन्ध–जन्य सुखाकार सात्त्विक अन्तःकरण की वृत्ति और परम प्रेम का आस्पद (स्थान) स्वरूपसुख, ये दोनों मिलित 'आनन्द' पद के वाच्य है और वृत्ति भाग को छोड़कर स्वरूप भाग लक्ष्य है। इस प्रकार सभी पदों की शुद्ध लक्षणा संक्षेप–शारीरक में प्रतिपादित की है।

कवित्तः––

'गङ्गामैं घोष' जहति,–लच्छना या ठौर लखि,
'सोन धावै' लच्छना, अजहति जनाइये।
'सोई यह वस्तु' इहां, लच्छना है भागत्याग,
दूजौ नाम जहती, अजहति सुनाइये॥
'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य में भागत्याग,
लच्छना न जहति, अजहति बताइये।
'ब्रह्म काहु पद को न, वाच्य यूं बखानैं वेद,
यातैं सर्व पदनमैं, रीति यूं लखाइये॥ ५७॥
माया मांही सत्यता जु, और भांति भाखियत,
ब्रह्म मांहि सत्यता सु, और भाँति भाखिये।
दोउ मिली सत्यपद–वाच्य मुनि भाखत हैं,
ब्रह्म मांहि सत्यता सु, लच्छय भाग राखिये॥

बुद्धिवृत्ति संवित द्वै–मिले ज्ञानपद वाच्य,
संवित स्वरूप लच्छय बुद्धिवृत्ति नाखिये ।
आत्म औ विषय को सुख, वाच्य पद आनन्द को
विषै सुख त्यागि आत्म–सुख लच्छय आखिये ।। ५८ ।।

शङ्का—महावाक्यों में का विरोध दूर करने के लिए दोनों पदों में लक्षणा मानी है। कुछ लोग कहते हैं कि एक पद में लक्षणा मानने से ही विरोध दूर हो जाता है। दोनों पदों में लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं।

एक हि पदमैं लच्छना, मानै नहीं विरोध ।
दोय पदनमैं लच्छना, निष्फल कहत सुबोध ।। ५९ ।।

सुबोध (सुज्ञ) को पदों में लक्षणा मानना निष्फल बताते हैं। क्योंकि एक ही पद में लक्षणा मानने से विरोध दूर हो जाता है। इसका यह मतलब है कि यद्यपि सर्वज्ञता आदि विशिष्ट की अल्पज्ञता आदि के साथ एकता बन नहीं सकती। फिर भी एक पद के लक्ष्य शुद्ध की विशिष्ट के साथ एकता बन सकती है। दृष्टान्त—जैसे "शूद्र मनुष्य ब्राह्मण है" में शूद्रत्व धर्म–विशिष्ट मनुष्य की ब्राह्मणत्व धर्म–विशिष्ट के साथ एकता कहना विरुद्ध है। पर "मनुष्य ब्राह्मण है" में शूद्रत्व–धर्मरहित शुद्ध मनुष्य को ब्राह्मणत्व–विशिष्टता कहने में विरोध नहीं। वैसे ही अल्पज्ञता–आदि–धर्म–विशिष्ट चेतन की और सर्वज्ञता–आदि–धर्म–विशिष्ट की एकता विरुद्ध भी है। परन्तु जीववाचक पद और ईशवाचक पद की चेतन में लक्षणा मानकर चेतन मात्र की सर्वज्ञता आदि–धर्म–विशिष्ट के साथ या अल्पज्ञता आदि विशिष्ट के साथ एकता कहने में विरोध नहीं। इसलिए दो पदों में लक्षणा माननी युक्तियुक्त नहीं। समाधानः—

कवित्तः--

लच्छना जो कहै एक–पदमांहि ताकूँ यह,
पूछि दोय पदन मैं, कौनसेमैं लच्छना ?
प्रथम या द्वितीयमैं, कहै ताहि भाखि यह,
वाक्यन को होयगो, विरोध मूढ लच्छना ॥
तीन वाक्य मध्य जीव, वाचक प्रथम पद,
'तत्त्वमसि' यामैं आदि, पद ईस लच्छना।
प्रथम द्वितीय को नेम नहि बनै यातैं,
भाखत द्वै पदन मैं, लच्छना सुलच्छना ॥ ६० ॥

जो एक पद में लक्षणा मानते हैं। उनसे पूछना चाहिए कि दोनों पदोंमें से कौन से पद में लक्षणा है ? यदि कहें कि सब महावाक्यों के प्रथम पद में लक्षणा है; दूसरे में नहीं। अथवा सब महावाक्यों के दूसरे पद में लक्षणा है; प्रथम पद में नहीं। हे शिष्य ! तू उससे कह कि हे मूढलक्षण ! पहले या दूसरे पद में यदि नियमतः लक्षणा सब वाक्यों में मानें तो वाक्यों का पारस्परिक विरोध होगा। क्योंकि तीन वाक्यों ['अहं ब्रह्मास्मि' 'प्रज्ञान मानन्दं ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म'] में जीववाचक पद पहले है। 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में आदि (प्रथम) पद ईशलक्षण (ईश्वर का बोधक) है। यदि सर्वत्र पहले पद में लक्षणा मानें तो तीन वाक्यों का तो यह अर्थ होगा—"चेतन सर्वज्ञता आदि विशिष्ट अंश सब ईश्वररूप हैं" और 'तत्त्वमसि' वाक्य का यह अर्थ होगा कि "चेतन अल्पज्ञता आदि विशिष्ट संसारी जीवरूप है"। क्योंकि तीन वाक्यों में जीववाचक पद पहले है। उसकी

चेतनभाग में लच्चणा है और दूसरे (द्वितीय) ईश्वरवाचक पद के वाच्य का ग्रहण है। 'तत्त्वमसि' में प्रथम ईशवाचक पद की चेतनभाग में लच्चणा है और द्वितीय जीववाचक पद के वाच्य का ग्रहण है। इस प्रकार यदि लच्चणा का नियम करें तो वाक्यों का परस्पर विरोध होगा।

यदि सब वाक्यों के द्वितीय पद में लक्षणा मानें तो (क) तीन वाक्यों में पूर्व जीवपद के वाच्य का ग्रहण और उत्तर ईशपद की चेतनभाग में लक्षणा होगी। अतः "अल्पज्ञता आदि धर्मविशिष्ट चेतन है" यह तीन वाक्यों का अर्थ होगा। (ख) 'तत्त्वमसि' में आदि (प्रथम) ईशपद के वाच्य का ग्रहण और द्वितीय जीवपद की चेतनभाग में लक्षणा है। अतः "सर्वज्ञता आदि धर्मविशिष्ट चेतन है" यह 'तत्त्वमसि' का अर्थ होने से परस्पर विरोध ही होगा। इस प्रकार पहले या दूसरे पद में लक्षणा का नियम नहीं हो सकता। अतः सुलक्षणा (सुन्दर लक्षणोंवाले) आचार्य दोनों पदों में लच्चणा भाखत (कहते) हैं।

पूर्वपक्षी--पहले या दूसरे पद में लक्षणा है। हम ऐसा नियम नहीं करते। किन्तु सब वाक्यों में जो ईश्वर-वाचक पद है; उसमें लक्षणा है। यह नियम करेंगे। वह ईश्वर-वाच पद चाहे पूर्व हो चाहे उत्तर। अतः वाक्यों का परस्पर विरोध नहीं। इसका समाधानः-

ईस पदहि लच्छक कहै, सब अनर्थ की खानि।

ज्ञेय होय श्रुतिवाक्य मैं, ह्वै पुरुषारथ हानि॥ ६१॥

अर्थात् यदि ईश्वरवाचक पद को ही लक्षक मान लेंगे तो सब अनर्थ, अल्पज्ञता, पराधीनता, जन्म-मरण आदि दुःख के साधन की खान संसारी जीव ही श्रुतिवाक्यों में ज्ञेय ठहरेगा। अतः पुरुषार्थ = मोक्ष तो चौपट हो जायगा। इसका यह भाव है--यदि ईश्वरवाचक पद में ही लच्चणा मानें तो महावाक्यों का यह अर्थ

होगा--'तत्पद का लक्ष्य जो अद्वय असंग मायामल-रहित चेतन, वह काम, कर्म, अविद्या के अधीन, अल्पाज्ञ, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न, पुण्य-पाप, सुख-दुःख, जन्म-मरण, गमन-आगमन-आदि अनन्त अनर्थों का पात्र है" यदि महावाक्यों का ऐसा ही अर्थ हो तो जिज्ञासु को इसी अर्थ में बुद्धि स्थिर करनी होगी। जिसमें बुद्धि की स्थिति होती है; उसी में प्राण निकलने के बाद जाता है, अतः वेदवाक्यों का विचार करने से मुमुक्षु को अनर्थ की ही प्राप्ति होगी। आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी। अतः "ईश्वरवाचक पद में लक्षणा है, जीववाचक में नहीं" यह नियम असङ्गत है।

पूर्वपक्षी--सब महावाक्यों में जो जीववाचक पद हैं; उन्हीं में लक्षणा है, ईशवाचकों में नहीं। अतः पुरुषार्थ की हानि नहीं। क्योंकि यदि जीववाचक पद में लक्षणा मान लें तो महावाक्यों का यह अर्थ होगा--"जो त्वं पद का लक्ष्य चेतन भाग है, वह सर्वशक्ति, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र, जन्म आदि बन्ध-रहित ईश्वररूप है।" इस अर्थ में बुद्धि की स्थिरता से जिज्ञासु को [illegible] अन्त में ईश्वरभाव की ही प्राप्ति होगी। इसलिए जीववाचक पद में लक्षणा का नियम करते हैं। इसका समाधानः--

सादी त्वंपद लछ्य कहु, कैसे ईस-स्वरूप ?।

यातैं दो पद लच्छना, भाखत जति-वर-भूप ॥ ६२ ॥

अर्थात् त्वं पद का लक्ष्य जो साक्षी, वह ईश्वररूप कैसे ? यह कहिए। अर्थात्--त्वं पद के लक्ष्य को ईश्वररूप कहना बनता नहीं। अतः यति (संन्यासियों) में वर (श्रेष्ठ) उनके भी भूप (स्वामी) दोनों पदों में लक्षणा भाखत (मानते) हैं। इसका यह भाव है--"जो जीववाचक पद में लक्षणा मानता है, और ईशवाचक में नहीं। उससे यह पूछा जाता है कि (क) त्वं पद की लक्षणा व्यापक चेतन में है या (ख) जितने देश में जीव की उपाधि है उतने देश में स्थित साक्षी चेतन में त्वं पद की लक्षणा

है ? यदि व्यापक चेतन में त्वंपद की लक्षणा कहें तो यह बनता नहीं। क्योंकि वाच्य अर्थ में जिसका प्रवेश होता है; उसमें भाग-त्याग लक्षणा होती है। पर वाच्य में व्यापक चेतन का प्रवेश है नहीं। किन्तु जीवपन की उपाधिदेश में स्थित साक्षी चेतन का वाच्य में प्रवेश है। अतः साक्षी चेतन में ही त्वंपद की लक्षणा है, व्यापक चेतन में नहीं। उस साक्षी चेतन में सब के हृदयों का प्रेरण और अखिल प्रपञ्च में व्यापकता आदि ईश्वर के धर्मों का असम्भव है। साक्षी सदा अपरोक्ष है। उसमें परोक्षतारूप ईश्वर-धर्म का सर्वथा असम्भव है। माया-रहित को माया-विशिष्ट कहना भी असम्भव है। जैसे दण्ड रहित को दण्डी और संस्कार-रहित द्विज-बालक को संस्कार-विशिष्ट नहीं कहा जा सकता। इसलिए यदि साक्षी चेतन का ईश्वर से अभेद कहें तो महावाक्य असम्भव-अर्थ के प्रतिपादक सिद्ध हो जायँगे।

दोनों पदों में लक्षणा मान लेने पर दोष नहीं आता। क्योंकि एकता के विरोधी धर्मों को छोड़कर दोनों पदों में प्रकाशरूप चेतन जो वाच्यभाग; उस सर्व-धर्म-रहित चेतन में दोनों पदों की लक्षणा है।

उपाधि और उपाधिकृत धर्मों से चेतन का भेद है; स्वरूप से नहीं। उपाधि और उपाधिकृत धर्मों का त्याग कर देने से दोनों पदों के लक्ष्य चेतन की एकता हो सकती है। जैसे घटाकाश में घटदृष्टि के त्याग देने पर मठ-विशिष्ट आकाश से एकता नहीं बन सकती और मठ-दृष्टि के त्याग देने से एकता बन जाती है।

तत् त्वं, त्वं तत्, रीति यह, सब वाक्यन मैं जानि।

जातैं होय परोच्छता, परिच्छिन्नता हानि॥ ६३॥

अर्थात् सब वाक्यों में 'तत् त्वम्, 'त्वं तत्' इस प्रकार ओत-प्रोत-भाव रीति समझनी चाहिए। ऐसा ओत-प्रोत-भाव करने से

वाक्यों के अर्थों में परोक्षता और परिछिन्नता की भ्रांति की हानि होती है। (क) 'तत् त्वम्' यह कहने से तत्पद के अर्थ का त्वंपद के अर्थ से अभेद कहा। वह त्वंपद का अर्थ साक्षी नित्य अपरोक्ष है। अतः परोक्षता–भ्रांति की हानि हुइ। (ख) 'त्वं–तत्' यह कहने से त्वं पद के अर्थ का तत्-पद के अर्थ से अभेद कहा। वह तत् पद का अर्थ व्यापक है। अतः परिच्छिन्नता–भ्रांति की हानि हुई। वैसे 'अहं ब्रह्म' 'प्रज्ञानं–ब्रह्म' 'आत्मा ब्रह्म' से परिच्छिन्नता की हानि हुई। 'ब्रह्म अहम्' 'ब्रह्म प्रज्ञानम्' 'ब्रह्म आत्मा' से परोक्षता की हानि हुई।

जीव–ब्रह्म की एकता, कहत वेद–स्मृति–बैन।
सिष्य तहां पहिचानिये, भागत्याग की सैन ॥६४॥

हे शिष्य ! जहां वेदवचन और स्मृतिवचन जीव–ब्रह्म की एकता कहें। वहां सर्वत्र भाग–त्याग लक्षणा का संकेत समझना ॥६४॥

अस सिष गुरु–उपदेस सुनि, भौ ततकाल निहाल।
भलै विचारै याहि जो, ताके नसत जंजाल ॥६५॥

सोरठा—मिथ्या गुरु–सुरबानि, कियो ग्रन्थ उपदेश यह।
सुनत करत तम हानि, यह ताकी भाषा करी ॥६६॥

दोहा:—अगृध देवकूँ स्वप्न मैं, यह किय गुरु–उपदेस।
नस्यो न तहु दुखमूल वह, मिथ्या बन को वेस ६७

अगृधदेव बोला

भगवन यह तुम ग्रन्थ पढ़ायो। अर्थसहित सो मो हिय आयो।
वन दुख मूल तऊ मुहिं भासै, कहु उपाय जातैं यह नासै ॥६८॥

गुरुदेव बोले—

बोले गुरु सुनि सिष की बानी । सुनि सिष ह्वै जातैं बनहानी ॥
अस उपाय को और नहीं है । बनका नासक हेतु यही है ॥६९॥
महावाक्य को अर्थ विचारहु । 'मैं अगृध' यूं टेरि पुकारहु ।
सुनि पुनि वाक्य विचारे चेला ।
'अहं अगृध' यह दीनो हेला ॥७०॥
निद्रा गई नैन परकासे । वन गुरु ग्रन्थ सबै वह नासे ॥
भयो सुखी बनदुख विसरायो ।
हुतो अगृध निजरूप सु पायो ॥७१॥
दोहाः—अगृध देव मैं नीदतैं, भौ बनदुख जिहि रीति ।
आतम मैं अज्ञान तैं, त्यों जगदुःख परतीति ॥७२॥
ज्यों मिथ्या गुरु-ग्रन्थतैं, मिथ्या बन संहार ।
त्यूं मिथ्या गुरु-वेद तैं, मिथ्या जग परिहार ॥७३॥
लच्छ्य अर्थ लखि वाक्य को, ह्वै जिज्ञासु निहाल ।
निरावरन सो आप है, दादू दीन-दयाल ॥७४॥

विचार-सागर की गुरु-वेद-आदि-साधन
मिथ्या-वर्णन नामक छठी
तरंग संपूर्ण ।

—

सप्तम तरंग

जीवन्मुक्ति-विदेहमुक्ति-वर्णन

उत्तम मध्यम कनिष्ठ तिहु, सुनि अस गुरु उपदेश।
ब्रह्म आत्म उत्तम लख्यो, रह्यो न संसै लेस ॥ १ ॥

अर्थात् यद्यपि गुरुजी ने तीनों को साथ-साथ उपदेश दिया तो भी गुरु के उपदेश से साक्षात्कार उत्तम अधिकारी तत्त्वदृष्टि को ही हुआ ॥ १ ॥

भ्रमन करत ज्यूं पवनतैं, सूको पीपर-पात।
सेष कर्म प्रारब्धतैं, क्रिया करत दरसात ॥ २ ॥
कबहुक चढि रथ बाजि-गज, बाग-बगीचे देखि।
नग्नपाद पुनि एकले, फिर आवत तिहिं लेख ॥ ३ ॥
विविध वेष सज्या सयन, उत्तम भोजन-भोग।
कबहुक अनसन गिरि गुहा, रजनि-सिलया-संयोग ॥
करि प्रनाम पूजन करत, कहुं जन लाख हजार।
उभै लोकतैं भ्रष्ट लखि, कहत कर्मी धिक्कार ॥ ५ ॥
जो ताकी पूजा करत, संचित सुकृत सु लेत।
दोषदृष्टि तिहि जो लखै, ताहि पाप-फल देत ॥ ६ ॥
ऐसै ताके देह को, बिना नियम व्यवहार।
कबहु न भ्रम सन्देह ह्वै, लह्यो तत्त्व निर्धार ॥ ७ ॥
नहिं ताकूं कर्त्तव्य कछु, भयो भेद-भ्रम नास।
उपज्यो वेद प्रमानतैं, अद्वय ब्रह्मप्रकाश ॥ ८ ॥

ज्ञानी के व्यहारमै कोऊ कहत है नेम ।
त्रिपुटि तजै दुखहेतु लखि, लहै समाधि सप्रेम ॥ ९ ॥
ह्वै किञ्चित् व्यवहार जो, भिच्छासन–जल–पान ।
भूलै नाहिं समाधि सुख, ह्वै त्रिपुटी तैं ग्लान ॥१०॥
लहै प्रयत्न समाधि को, पुनि ज्ञानी इह हेत ।
जो समाधि सुख तजि भ्रमत, नर–कूकर–खर–प्रेत ॥११॥
गौडपाद मुनि–कारिका, लिख्यो समाधि–प्रकार ।
ज्ञानी तजि विच्छेप यूँ, लहै सकल सुखसार ॥ १२ ॥
अष्ट अङ्ग बिन होत नहि, सो समाधि सुखमूल ।
अष्ट अङ्ग ते अब सुनो, जे समाधि अनुकूल ॥ १३ ॥
पांच पांच यम नियम लखि, आसन बहुत प्रकार ।
प्रानायाम अनेकविध, प्रत्याहार विचार ॥ १४ ॥
छठो धारना ध्यान पुनि, अरु सविकल्प समाधि ।
अष्ट अङ्ग ये साधि के निर्विकल्प आराधि ॥ १५ ॥
सुनि समाधि कर्तव्यता, तत्त्वदृष्टि हँसि देत ।
उत्तर कछु भाखत नहीं, लखि तिहि बकत सप्रेत ॥ १६॥

अर्थात् जैसे सप्रेत = प्रेतसहित (भूत के आवेशवाला) बकत = अन्यथा बकवाद करता है; ऐसा समझकर तत्त्वदृष्टि मुस्करा दिया ।

भाव यह है कि ज्ञानवान् के शरीर व्यवहार में अज्ञान और उसका कार्य भेद–भ्रान्ति, एवं भेद–भ्रम के कार्य राग–द्वेष तो है नहीं । किन्तु ज्ञानवान् के भी प्रारब्ध कर्म शेष रहते हैं । वही उसके व्यवहार में निमित्त हैं । वह प्रारब्ध कर्म पुरुषों के भेद से

अनेक प्रकार का होता है। अतः ज्ञानी के प्रारब्ध कर्म जन्य व्यवहार का नियम नहीं। यह सिद्धान्त पक्ष है।

कुछ † लोग ऐसा कहते हैं कि ज्ञानि के व्यवहार में दूसरे किसी कर्म का तो नियम नहीं। पर ज्ञानवान् के लिए निवृत्ति का नियम है। यदि प्रवृत्ति भी होती है तो देह टिकाने के लिए भिक्षाशन और कौपीन-मात्र आच्छादन ग्रहण करने में होती है। क्योंकि ज्ञान होने से पहले जिज्ञासा के समय विषयों में दोषदृष्टि से वैराग्य होता है। वह वैराग्य ज्ञान की उत्पत्ति के बाद भी दोषदृष्टि के कारण तथा बिषयों में मिथ्या-बुद्धि होने के कारण रहता ही है। अपरोक्षरूप से जाने हुए पदार्थों में सत्य बुद्धि नहीं होती। दोषदृष्टि से राग नहीं होता। राग से ही प्रवृत्ति होती है। ज्ञानी को राग हो नहीं सकता। शरीर-निर्वाह के लिए भोजन आदि में प्रवृत्ति तो राग के विना भी प्रारब्ध कर्म से हो सकती है।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं। सञ्चित, आगामी, और प्रारब्ध। इनमें (क) पूर्वजन्मों में किए हुए फलारम्भ-रहित कर्मों को सञ्चित कहते हैं। (ख) भविष्यत् कर्म आगामी कहलाते हैं। (ग) पूर्व-शरीरों में किये हुए वर्तमान शरीर के कारण कर्मों को प्रारब्ध कहते हैं। सञ्चितकर्मों का ज्ञान से नाश हो जाता है। ज्ञानवान् को आत्मा में कर्तृत्व की भ्रान्ति नहीं। अतः उसके लिए आगामी कर्म भी नहीं हो सकते। जिन प्रारब्धकर्मों ने ज्ञानी के शरीर का आरम्भ किया है, वही प्रारब्ध कर्म शरीर-स्थिति के लिए भिक्षा आदि में प्रवृत्ति कराते हैं। प्रारब्ध कर्मों का बिना भोगे नाश नहीं होता।

---

† शंकरानन्द स्वामी आदि, जो ज्ञान में केवल संन्यासी का ही अधिकार मानते हैं।

कहीं-कहीं † ऐसा लिखा है कि सञ्चित और आगामी कर्म की भाँति ज्ञानी के प्रारब्ध कर्म भी नहीं रहते, अतः भोजन आदि की प्रवृत्ति भी सम्भव नहीं। आशय यह है कि ज्ञानी की दृष्टि में आत्मा से कर्म और उसके फल का सम्बन्ध नहीं। अतः आत्मा में सब कर्मों के निषेध के अभिप्राय से प्रारब्ध का निषेध किया है। ज्ञान से पहले किये प्रारब्ध का ज्ञानी के शरीर को भोग नहीं मिलता। क्योंकि सूत्रकार ने यह लिखा है कि (क) ज्ञानी के सञ्चित कर्म का ज्ञान से नाश हो जाता है। (ख) आगामी का सम्बन्ध नहीं होता और (ग) प्रारब्ध का भोग से नाश होता है। अतः प्रारब्ध के बल से शरीर-निर्वाहक क्रिया ज्ञानी की होती है; अधिक नहीं।

परन्तु कर्म नाना प्रकार के हैं। जहां एक कर्म नाना शरीरों का आरम्भक होता है। ऐसे कर्म से रचे हुए प्रथम शरीर में जिसे ज्ञान होता है। वहां ज्ञानवान् को दूसरे शरीरों की प्राप्ति होनी चाहिए। क्योंकि जिसने फल का आरम्भ किया है; वह प्रारब्ध कहलाता है। उसका बिना भोग के नाश नहीं होता। अनेक शरीरों का कारण कर्म एक है। इसने जो प्रथम शरीर पैदा किया; उसमें ज्ञान हो गया। उस कर्म के फलरूप ज्ञान के बाद भी अन्य शरीर बाकी रहते हैं। अतः ज्ञानवान् को भी दूसरे शरीरों की प्राप्ति होनी चाहिए।

यदि आप कहें कि प्रारब्ध का फल जितने शरीर होते हैं; उतने ज्ञानी को भी मिलते हैं। प्रारब्ध के भोग से अधिक नहीं मिलते। अतः ज्ञान भी सफल होता है। यह भी ठीक नहीं। क्योंकि वेद का ढिंढोरा है:—ज्ञानवान् के प्राण परलोक में या इस लोक के अन्य शरीर में नहीं जाते। किन्तु अन्तःकरण और

† अपरोक्षानुभूति तथा विवेकचूडामणि आदि ग्रन्थों में।

इन्द्रियों सहित वहीं लीन† हो जाते हैं।" प्राणों के गमन बिना दूसरे शरीर की प्राप्ति हो नहीं सकती। अतः ज्ञानवान् को प्रारब्ध शेष से दूसरे शरीर मिलते हैं। यह कहना बन नहीं सकता। किन्तु इसका यह समाधान है:—

जहां अनेक शरीरों का आरम्भक एक कर्म होता है। वहां अन्तिम शरीर में ही ज्ञान होता है। पूर्व शरीरों में ज्ञान नहीं होता। क्योंकि अनेक शरीरों का आरंभक प्रारब्ध ही ज्ञान का प्रतिबंधक है। जैसे-विषयों में आसक्ति, बुद्धि की मंदता और भेदवादी के वचनों में विश्वास-ये तीनों ज्ञान के प्रतिबंधक हैं। वैसे ही विलक्षण ‡ प्रारब्ध भी ज्ञान का प्रतिबंधक है।

जहां ज्ञान का प्रतिबंधक होने पर ज्ञान-साधन श्रवण आदि होते हैं; वहां ज्ञान नहीं होता। किंतु प्रतिबंधक के दूर हो जाने पर प्रथम जन्म में किये हुए श्रवण आदि से ही दूसरे शरीर में ज्ञान होता है। जैसे वामदेव ने § पूर्वजन्म में श्रवण आदि किये थे। पर प्रारब्ध का फल एक शरीर शेष होने पर ज्ञान नहीं हुआ। किंतु श्रवण आदि करते-करते वर्तमान शरीर का पात होने के बाद अन्य शरीर की प्राप्ति हो जाने पर पूर्व जन्म में किये हुए श्रवण आदि से गर्भ में ही ज्ञान हो गया था। अतः ज्ञान हो जाने के बाद दूसरे शरीर का संबंध नहीं होता। पर वर्तमान शरीर की चेष्टा प्रारब्ध से होती रहती है। वह भी उतनी कि जितनी निर्वाह के लिए अनिवार्य है। रागजन्य

---

† "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, अत्रैव समवलीयन्ते" (बृहदारण्यको० ४—४—६)

‡ विलक्षण=जन्मान्तर का हेतु प्रारब्ध।

§ वामदेव की ही भांति ऋषभदेव के पुत्र भरतराज का भी प्रारब्ध शेष था। अतः उसी जन्म में ज्ञान नहीं हुआ। इनका प्रारब्ध तीन जन्मों का शेष था। तीसरे जन्म में बिना उपदेश के ही ज्ञान हो गया।

अधिक चेष्टा नहीं होती। इसलिए सब प्रकार की प्रवृत्तियों से रहित ज्ञानी होता है। इस प्रकार निवृत्ति-प्रधान ज्ञानी का व्यवहार होता है।

शंका—मन का स्वभाव अति चञ्चल है। निरालंब (आश्रय रहित) मन की स्थिति नहीं होती। किसी आलंबन से ही मन की स्थिति होती है। अतः मन के किसी आलंबन की प्राप्ति के लिए भी ज्ञानवान् की प्रवृत्ति होती है।

समाधानः—माना कि समाधिहीन मनुष्य का मन चञ्चल होता है। तो भी समाधि से मन पर विजय हो जाती है और ज्ञानवान् समाधि में स्थित होता है। अतः ज्ञानवान् की प्रवृत्ति नहीं होती।

उस समाधि के आठ अंग होते हैं :—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और सविकल्प समाधि; इन आठ अंगों से समाधि होती है। पाँच यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह। पाँच ही नियमः—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय. और ईश्वर-प्रणिधान। पर ज्ञानसमुद्र ग्रन्थ में दस-दस प्रकार के यम और नियम कहे हैं। वह पुराणों की रीति के अनुसार हैं। पर वेदांत-संप्रदाय में यम-नियम के पाँच-पाँच ही हैं।

आसन के भेद अनन्त हैं। उनमें से-१-स्वस्तिक, २-गोमुख, ३-वीर, ४-कूर्म, ५-पद्म, ६-कुक्कुट, ७-उत्तान, ८-कूर्मक, ९-धनुष, १०-मत्स्य, ११-पश्चिमोत्तान, १२-मयूर, १३-शव, १४-सिंह, १५-भद्र, १६-सिद्ध आदि-आदि चौरासी आसन योग संबंधी ग्रन्थों में लिखे हैं। इनके लक्षण भी वहां दिये हैं। ग्रन्थ के बढ़ जाने के भय से और वेदांत में अत्यंत उपयोगी न होने से हम इनके लक्षण यहां नहीं दे रहे। इन में भी सिंह, भद्र, पद्म और सिद्ध ये चार आसन प्रधान हैं। चारों में भी सिद्ध-आसन बहुत ही प्रधान है। उसका यह लक्षण हैः—बायें पाँव की एड़ी मलस्थान और मूत्रस्थान के बीच की सीवन पर दबाकर रखे। भ्रकुटियों के बीचो-बीच दृष्टि टिकाकर स्थाणु (खंभे) की भांति सीधी और निश्चल शरीर-स्थिति रखनी

सिद्धासन कहलाता है। कुछ लोगों का कहना है कि बायें पांव की एड़ी सीवन पर न रखकर मूत्र स्थान पर रखे और उस पर दायें पांव की एड़ी रखे। शेष सब पूर्व की भाँति करे। यह सिद्धासन अतिप्रधान है। क्योंकि कितने-एक आसन तो रोगनाश के कारण हैं। कुछ आसन ऐसे हैं जिनसे समाधि के अंग प्राणायाम आदि किये जाते हैं। पर सिद्धासन समाधिकाल में होता है। इसलिए अति प्रधान है। इसे ही वज्रासन, मुक्तासन और गुप्तासन भी कहते है।

आसनसिद्धी के बाद प्राणायाम भी करना चाहिए। यद्यपि वह प्राणायाम बहुत प्रकार का है। फिर भी उसका संक्षेप से यह लक्षण है। नासिका के बायें छिद्र के द्वारा इडा नामक नाडी से वायु का भरना पूरक, दायें छिद्र में से पिंगला नामक नाड़ी से वायु का निकालना रेचक और सुषुम्णा नाड़ी में रोककर रखना कुंभक कहलाता है। इस प्रकार पूरक, रेचक और कुंभक को प्राणायाम कहते हैं। वह दो प्रकार का है-एक अगर्भ और दूसरा सगर्भ। प्रणव के उच्चारण-रहित प्राणायाम को अगर्भ और उसके उच्चारण-सहित को सगर्भ कहते हैं। विषयों से सभी इन्द्रियों के निरोध का नाम प्रत्याहार है। अंतराय-सहित अंतःकरण की स्थिति धारणा कहलाती है। अंतराय-रहित अद्वितीय वस्तु में अंतःकरण का प्रवाह ध्यान कहलाता है। व्युत्थान-संस्कारों को दबाकर निरोध संस्कारों के प्रगट होने से जो अंतःकरण का एकाग्रतारूप परिणाम है; वह समाधि है। उसके दो भेद हैः—एक सविकल्प समाधि और दूसरी निर्विकल्प समाधि। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप त्रिपुटी-भान-सहित अद्वितीय ब्रह्म में अंतःकरण की वृत्ति की स्थिति सविकल्प समाधि है। वह भी दो प्रकार की है—एक शब्दानुविद्ध और दूसरी शब्दाननुविद्ध। "अहं ब्रह्मास्मि" इस शब्द से अनुविद्ध (सहित) शब्दानुविद्ध और शब्दरहित शब्दाननुविद्ध कहलाती है। त्रिपुटी के

भान से रहित अखंड ब्रह्माकार अंतःकरण की वृत्ति की स्थिति निर्विकल्प समाधि कही जाती है। इस प्रकार सविकल्प और निर्विकल्प समाधि के दो भेद हैं। उनमें से सविकल्प समाधि साधन है और निर्विकल्प है फल। साधनरूप सविकल्प समाधि में यद्यपि त्रिपुटीरूप द्वैत प्रतीत होता है। जैसे मिट्टी के विकारों को मिट्टीरूप जान लेने से विवेकी को मिट्टी के विकार घट आदि प्रतीत तो होते हैं, पर मिट्टीरूप से। वैसे ही सविकल्प समाधि में त्रिपुटी-द्वैत ब्रह्मरूप ही प्रतीत होता है।

निर्विकल्प समाधि में भी सविकल्प समाधि की भाँति त्रिपुटीरूप द्वैत भी रहता है। पर उसकी प्रतीति नहीं होती। जैसे जल में नमक मिला देने पर आँख से उसकी प्रतीति नहीं होती; वहां होता अवश्य है।

सविकल्प और निर्विकल्प समाधि का भेदः—(क) सविकल्प समाधि में ब्रह्मरूप से द्वैत की प्रतीति होती है। (ख) निर्विकल्प-समाधि में त्रिपुटीरूप द्वैत की अप्रतीति होती है।

सुषुप्ति से निर्विकल्प समाधि का भेदः—

(क) सुषुप्ति में अंतःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति का अभाव होता है। (ख) निर्विकल्प समाधि में ब्रह्माकार वृत्ति तो अंतःकरण की होती है। पर उसका भान नहीं होता। इस प्रकार १–सुषुप्ति में तो वृत्ति-सहित अंतःकरण का अभाव होता है। २–निर्विकल्प समाधि में वृत्तिसहित अंतःकरण † तो होता है। पर उसकी प्रतीति नहीं होती।

---

† निर्विकल्प समाधि में अन्तःकरण यदि न रहे तो योगी का शरीर सीधा स्थिर न रह सकेगा, अपि तु वैसे ही शिथिल होकर गिर जायगा, जैसे निद्रा अवस्था में गिर जाता है। शरीर की दृढ स्थिति को देखकर जाना जाता है कि निर्विकल्प समाधि में अन्तःकरण अपने कारण अज्ञान में विलीन नहीं होता। गौडपादाचार्य ने कहा है—

निर्विकल्प समाधि में अन्तःकरण की ब्रह्माकार की वृत्ति का कारण सविकल्प समाधि का अभ्यास है। इसलिए साधनरूप आठ अङ्गों में सविकल्प समाधि गिनी है। निर्विकल्प समाधि फल है। वह निर्विकल्प समाधि भी दो प्रकार की होती है, एक अद्वैत-भावनारूप और दूसरी अद्वैतावस्थानरूप। (क) जो अद्वैत ब्रह्माकार अन्तःकरण की अज्ञातवृत्ति-सहित होती है; वह अद्वैतभावनारूप निर्विकल्प समाधि कहलाती है। (ख) जिस समाधि में अभ्यास अधिक हो जाने से ब्रह्माकार वृत्ति भी शान्त हो जाती है; उस वृत्ति रहित को अद्वैतावस्थानरूप † निर्विकल्प समाधि कहते हैं।

जैसे तपे हुए लोहे पर पानी की बूंद गिराने से उसी में प्रविष्ट हो जाती है। वैसे अद्वैतभावनारूप समाधि के दृढ अभ्यास से अत्यन्त प्रकाशमान ब्रह्म में वृत्ति का लय हो जाता है। यह अद्वैतावस्थानरूप निर्विकल्प समाधि फल है और अद्वैतभावना रूप निर्विकल्प उसका साधन है।

(क) सुषुप्ति में वृत्ति का लय अज्ञान में होता है। (ख) अद्वैतावस्थान समाधि में वृत्ति का लय ब्रह्म-प्रकाश में ‡ होता

लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः॥ (गौ० का० ३-३५)

† ज्ञान की सात भूमियों में यह अद्वैतावस्थान ही अन्तिम अवधि है।

‡ यहां यह शङ्का हो सकती है कि कार्य का अपने उपादान कारण में सदैव लय हुआ करता है। जैसे घटादि का मृत्तिका में, न कि आकाश में। तपे लोहे पर जल बिन्दु भी अपने उपादान अग्नि में लीन होते हैं; लोहे में नहीं। तब तो अद्वैतावस्था में भी मन ब्रह्म में कैसे लीन होगा? इसका समाधान यह है—उत्तम अवस्था में रजोगुण और तमोगुण का तिरोधान हो कर शुद्ध सत्वगुण की वृद्धि हो जाती है। उसी सत्वगुणरूप उपादान कारण में

है। (क) सुषुप्ति का आनन्द अज्ञान-आवृत है और (ख) समाधि में निरावरण ब्रह्मानन्दक भान होता है।

निर्विकल्प समाधि में चार विघ्न होते हैं। १--लय २--विक्षेप, ३—कषाय और ४—रसास्वाद। आलस्य या नींद से वृत्ति के अभाव का नाम लय है। उस लय से सुषुप्ति के समान अवस्था हो जाती है; ब्रह्मानन्द का भान नहीं होता। अतः जब नींद-आलस्य आदि कारणों से वृत्ति का अपने उपादान अन्तःकरण में लय होता दिखाई दे तब योगी सावधान होकर नींद आदि को रोककर वृत्ति को जगावे। इस लयरूप विघ्न के विरोधी नींद-आलस्य-विरोध-सहित वृत्ति के प्रवाहरूप जागरण को गौड़पादाचार्य चित्तसंबोधन ‡ कहते हैं।

अन्तःकरण का लय होता है, निर्विकार ब्रह्म में नहीं। फिर भी उस सत्त्व में ब्रह्म प्रकाश की इतनी प्रबल अभिव्यक्ति होती है कि औपचारिक रूप से अन्तःकरण का लय उसी में कहा जाता है। अथवा उस ब्रह्मविद्वरिष्ट की दृष्टि से गुणादि प्रतीत नहीं होते। अतः ब्रह्म में ही लय कह दिया गया है। गौडपादाचार्य ने माण्डूक्यकारिका में कहा है—

"यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥ (३-४६)

‡ लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्॥ (३-४४)

योगशास्त्र में लय, विक्षेप, कषाय और सुखास्वाद--यह चार समाधि के अन्तराय (विघ्न) बताये हैं। इनके दूर करने का उपाय यह है कि लय (नींद) आने पर चित्त को सदा जगाते रहना चाहिए। विक्षिप्त को शान्त, सकषाय (रागादि दोषों से युक्त) चित्त को जानकर उससे सावधान होकर, शान्त चित्त को विषय-रसास्वाद की ओर न जाने देना चाहिए।

विक्षेप का यह मतलब है कि जैसे बाज या बिल्ली से डरकर चिड़िया घर में आ घुसे। वहां तत्काल स्थान दिखाई न दे। फिर बाहर आकर भय या मृत्युरूप दुःख को प्राप्त हो। वैसे ही अनात्म पदार्थों को दुःख का कारण जानकर अद्वैतानन्द को विषय करने के लिए अन्तर्मुख हुई जो वृत्ति; उसका विषय चेतन अतिसूक्ष्म है। अतः क्षणभर वृत्ति की स्थिति के बिना उसी समय चेतनस्वरूप आनन्द का लाभ नहीं होता। अतः अन्तर्मुख वृत्ति होने पर भी जबतक वृत्ति ब्रह्माकार नहीं होती तब तक बाह्य पदार्थो में दोषभावना से वृत्ति की बहिर्मुखता योगी न होने दे। किन्तु वृत्ति की अन्तर्मुखता ही स्थापित करे। विक्षेपरूप विघ्न के विरोधी, योगी के प्रयत्न को गौड़पादाचार्य 'सम' कहते हैं।

राग आदि दोषों को कषाय कहते हैं। राग आदि दो प्रकार के हैं। एक बाह्य और दूसरे आन्तर। जिनके विषय स्त्री-पुत्र-धन आदि वर्तमान होते हैं; वे बाह्य कहलाते हैं और भूत या भावी का चिन्तनरूप मनोराज्य आन्तर कहलाता है। ये दोनो प्रकार के राग आदि समाधि में प्रवृत्त हुए योगी में हो नहीं सकते। क्योंकि चित्त की पाँच भूमिकाएँ हैं। उनमें पहली क्षेप नाम भूमि का, दूसरी मूढता; तीसरी विक्षेप, चौथी एकाग्रता और पांचवीं निरोध भूमिका है। लोकवासना†, देहवासना‡ शास्त्रवासना() आदि रजोगुण का परिणाम जो दृढ़-अनात्मवासना

---

† लोकवासना—संसार में मेरी सदा स्तुति ही हो, निन्दा कभी नहीं-इस प्रकार के संस्कारों को लोकवासना कहते हैं।

‡ देहवासना—स्थूल या सूक्ष्म शरीर की स्वस्थता और अमरता की कामना।

() शास्त्रवासना—समस्त शास्त्रों के अध्ययन और दृढ़ानुभव की कामना।

उसे क्षेप कहते हैं। निद्रा-आलस्य आदि तमोगुण के परिणाम को मूढ़ता कहते हैं। ध्यान में प्रवृत्त चित्त की कादाचित्क (कभी-कभी) होनेवाली बाह्य प्रवृत्ति को विक्षेप कहते हैं। अन्तःकरण का अतीत परिणाम और वर्तमान परिणाम जब समानाकार हो जाता है तो वही एकाग्रता कहलाता है। एकाग्रता का यह लक्षण पतञ्जलिने योगदर्शन में किया है। इसका यह भाव है कि समाधिकाल में योगी के अन्तःकरण में एकाग्रता होती है। वह एकाग्रता वृत्ति का अभावरूप नहीं। किन्तु अन्तःकरण के जितने परिणाम समाधिकाल में होते हैं; वे सभी ब्रह्म को ही विषय करते हैं। इसलिए अन्तःकरण के अतीत परिणाम और वर्तमान परिणाम ब्रह्माकार होने के कारण समानाकार हो जाते हैं। उस एकाग्रता की वृद्धि को निरोध कहते हैं। अन्तःकरण की ये पांच भूमिकाएँ हैं; (भूमिका = अवस्था)। इन भूमिकाओं सहित अन्तःकरण के क्रम से ये नाम हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। उनमें से क्षिप्त और मूढ अन्तःकरण का तो समाधि में अधिकार ही नहीं। विक्षिप्त अन्तःकरण को अधिकार है। एकाग्र और निरुद्ध अन्तःकरण समाधिकाल में ही होते हैं। ऐसा योग के ग्रन्थों में लिखा है।

शङ्का—राग आदि दोषों सहित अन्तःकरण क्षिप्त ही होता है। उस क्षिप्त अन्तःकरण का योग में अधिकार ही नहीं। फिर यह कैसे कहा कि राग आदि दोषरूप कषाय समाधि में विघ्न † हैं?।

---

† कोई लड़का स्कूल में दाखिल हो गया, नित्य पढ़ने जाता है। किसी दिन ज्वर आ गया। अब वह लड़का कह सकता है कि ज्वर ने मुझे स्कूल जाने से रोक दिया। ज्वर मेरी पढाई का विघ्न है। किन्तु वह गोद का बालक जो अभी स्कूल में दाखल हो नहीं हुआ। वह अपने ज्वर को पढ़ाई

समाधानः—बाह्य या आन्तर † जो राग आदि हैं; वे तो क्षिप्त अंतःकरण में ही होते हैं और उसका समाधि में अधिकार भी नहीं। पर अनेक जन्मों में पहले अनूभूत जो बाह्य आंतर राग-द्वेष उनके सूक्ष्म संस्कार विक्षिप्त आदि अंतःकरण में भी हो सकते हैं। इसलिए राग और द्वेष का नाम कषाय नहीं। किंतु राग-द्वेष आदि के संस्कार कषाय कहलाते हैं। वे संस्कार जबतक अंतःकरण में रहते हैं, तबतक दूर नहीं होते। अतः समाधिकाल में भी अंतःकरण में रहते हैं। परन्तु राग-द्वेष आदि के उद्भूत (प्रकट) संस्कार ही समाधि के विरोधी हैं। अनुद्भूत (अप्रकट) संस्कार विरोधी नहीं। यदि समाधि में प्रवृत्त योगी को राग-द्वेष के संस्कार प्रकट हो जायँ तो विषयों के दोष-दर्शन से उन्हें दबा देना चाहिए।

विक्षेप और कषाय का भेद

बाह्य विषयाकार वृत्ति को विक्षेप कहते हैं। योगी के प्रयत्न से जहां वृत्ति अंतर्मुख तो हो जाती हैं; पर राग आदि के उद्भूत संस्कारों से अंतर्मुख बनी हुई वृत्ति भी रुक जाती है और ब्रह्म को विषय नहीं करती, उसे कषाय कहते हैं। विषयों में दोष--दर्शन-सहित योगी के प्रयत्न से कषाय विघ्न की निवृत्ति होती है।

रसवाद का मतलब है कि योगी को ब्रह्मानन्द का अनुभव भी होता है और विक्षेपरूप दुःख की निवृत्ति का भी अनुभव होता है। कहीं

का विघ्न नहीं कह सकता। इसी प्रकार रागादि-सहित चित्त का प्रवेश ही समाधि में नहीं, फिर उसके राग आदि-समाधि के विघ्न कैसे होंगे ?

† विद्यारण्यस्वामी ने 'जीवन्मुक्तिविवेक' में तीन प्रकार के राग आदि बताये हैं=(१) उद्युक्त (कार्य-तत्पर) (२) आशा, (३) वासना।

(१) उद्युक—बाह्य प्रवृत्ति के जनक रागादि।

(२) आशा—मनोराज्यरूप रागादि।

(३) वासना—पूर्वजन्म में अनुभूत रागादि के संस्कार।

कहीं दुःख की निवृत्ति से भी आनंद होता है। जैसे भार ढोनेवाले मनुष्य के सिर पर से भार उतार देने से उसे आनंद होता है। उस आनंद में दूसरा तो कोई विषय कारण नहीं। किंतु भार-जन्य दुःख की निवृत्ति से ही यह कहा जाता है कि "मुझे आनंद हुआ है"। अतः दुःख की निवृत्ति भी आनंद का कारण है। वैसे ही योगी को समाधि में विक्षेप-जन्य दुःख की निवृत्ति से जो आनंद होता है; उसका अनुभव ही रसास्वाद कहलाता है।

यदि दुःख-निवृत्ति-जन्य आनंद के अनुभव से ही योगी अलंबुद्धि कर बैठे तो सकल-उपाधि-रहित ब्रह्मानंदाकार वृत्ति के अभाव से उसका (ब्रह्मानंद का) अनुभव नहीं होगा। अतः दुःख-निवृत्ति-जन्य आनंद का अनुभवरूप रसास्वाद भी समाधि में विघ्न है।

वांछित की प्राप्ति के बिना भी विरोधी की निवृत्ति से आनंद की उत्पत्ति होती है। जैसे पृथिवी में निधि है। उस पर महाविषैला साँप रहता है। निधि प्राप्त करनेसे पहले भी निधि-प्राप्ति का विरोधी जो साँप है; उसकी निवृत्ति से आनंद होता है। यदि कोई साँप की निवृत्ति के आनंद में ही अलंबुद्धि कर बैठे और उद्यम छोड़ दे तो निधि प्राप्ति का परम आनंद प्राप्त नहीं होगा। वैसे ही अद्वैत ब्रह्मरूप निधि है। देह आदि अनात्म पदार्थों की प्रतीतिरूप विक्षेप साँप है। विक्षेपरूप साँप की निवृत्ति-जन्य जो अवान्तर-आनंदरूपी रसका अनुभवरूप आस्वादन है; वह निधिरूपी अद्वैत ब्रह्म की प्राप्ति से जन्य महा आनंद की प्राप्ति का प्रतिबंधक होने से विघ्न कहलाता है।

अथवा रसास्वाद का दूसरा यह मतलब है कि सविकल्प समाधि के बाद निर्विकल्प समाधि होती है। सविकल्प समाधि में त्रिपुटी प्रतीत होती है। अतः सविकल्प समाधि का आनंद त्रिपुटी-रूप उपाधि-सहित होने से सोपाधिक कहलाता है। निर्विकल्प समाधि में त्रिपुटी प्रतीत नहीं होती। अतः निरुपाधिक आनंद

निर्विकल्प समाधि में ही होता है। इस प्रकार सविकल्प के बाद निर्विकल्प समाधि के आरंभ में भी सविकल्प समाधि के सोपाधिक आनंद को छोड़ नहीं सकता। किंतु उसी का अनुभव करता रहता है, वही रसास्वाद है। यह दोनों प्रकार का रसास्वाद निर्किल्प समाधि के परम आनंद के अनुभव का विरोधी होने से विघ्न है। इसे छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार निर्विकल्प समाधि में चार विघ्न होते हैं। ये चारो समाधि के आरंभ में ही होता हैं। इसलिए सावधानता से चारो विघ्नों को रोक कर समाधि में परम आनंद का जो विद्वान् अनुभव करते हैं। वेही जीवन्मुक्त हैं। इस रीति से ज्ञानी का चित्त निरालम्ब नहीं होता।

जब प्रारब्ध के बल से समाधि से उत्थान होता है। तब भी समाधि मे जो परम आनन्द का अनुभव किया है। उसकी स्मृति होती रहती है। अतः उत्थानकाल मे भी ज्ञानी का चित्त निरालम्ब नहीं।

ज्ञानवान् की जो भोजन आदि मे प्रवृत्ति होती है। वह केवल प्रारब्ध से ही होती है। परन्तु भोजन आदि व्यवहार में ज्ञानी खेद मानकर प्रवृत्त होता है। क्योंकि भोजन आदि मे प्रवृत्ति भी समाधि-सुख की विरोधी है। जिसे भोजन आदि शरीर-निर्वाह की प्रवृति ही खेदरूप प्रतीत होती है। उसकी अधिक प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार बहुत आचायों ने यही पक्ष माना है। जीवन्मुक्ति का आनन्द भी बाह्य प्रवृत्ति मे नहीं होता। किन्तु निवृत्ति में ही होता है। इसलिए जीवन्मुक्ति के सुखार्थी ज्ञानवान् की बाह्य प्रवृत्ति हो नहीं सकती।

ज्ञानी पर कुछ अंकुश नहीं। प्रारब्ध से व्यवहार सिद्ध होता है—

ज्ञानवान् के लिए निवृत्ति का भी नियम नहीं बन सकता। क्योंकि निवृत्ति में या प्रवृत्ति मे वेद की आज्ञारूप विधि तो ज्ञानी के लिए है नहीं। जिससे ज्ञानी के व्यवहार में नियम हो। अतः

ज्ञानी निरंकुश है। उसका व्यवहार प्रारब्ध से होता है। (क) जिस ज्ञानी का प्रारब्ध भिक्षा-भोजन-मात्र फल का कारण है। उसकी भिक्षा-भोजन-मात्र में प्रवृत्ति होती है। (ख) जिसका प्रारब्ध अधिक भोग का कारण होता है। उसकी अधिक में भी प्रवृत्ति हो सकती है।

शंका—जिसका प्रारब्ध भिक्षा-भोजन-मात्र का कारण होता है। उसे ही ज्ञान होता है।' जिसका प्रारब्ध अधिक व्यवहार का कारण होता है; उसे ज्ञान नहीं होता। अतः भिक्षा-भोजन आदि व्यवहार से अधिक व्यवहार ज्ञानी का नहीं होता। जिसकी अधिक प्रवृत्ति होती है; वह ज्ञानी नहीं ?

समाधान—याज्ञवल्क्य-जनक आदि को ज्ञानी कहा गया है। सभा पर विजय पाने से धन-संग्रह-व्यवहार याज्ञवल्क्य का तथा राज्यपालन-व्यवहार जनक का लिखा है। योगवासिष्ठ में अनेक ज्ञानी पुरुषों के व्यवहार नाना प्रकार के वर्णित किये हैं। अतः ज्ञानी के लिए प्रवृत्ति का नियम नहीं।

यद्यपि याज्ञवल्क्य ने सभा पर विजय पाने के बाद विद्वत्संन्यास-रूप निवृत्ति का ही धारण किया है और प्रवृत्ति में ग्लानि के कारण नाना दोष कहे हैं। "विद्वत्संन्यास से पहले याज्ञवल्क्य को ज्ञान नहीं था" ऐसा नहीं कह सकते। किन्तु ज्ञान तो पहले भी था) परन्तु विद्वत्संन्यास से पहले जीवन्मुक्ति का आनन्द प्राप्त नहीं हुआ था। अतः जीवन्मुक्ति के आनन्द के लिए सब संग्रह का त्याग किया है। याज्ञवल्क्य का प्रारब्ध कुछ समय तक अधिक भोग का कारण था। इसके आगे कम (न्यून) भोग का कारण था। इसलिए पहले तो याज्ञवल्क्य को अधिक भोग प्राप्त हुए और फिर ग्लानि से उसने सब भोगों का त्याग किया। (क) जनक का प्रारब्ध आजीवन राज्यपालन आदि समृद्धि भोग का कारण बना। अतः सदा त्याग का अभाव ही रहा और भोगों से ग्लानि भी नहीं हुई। (ख)

वामदेव आदि का प्रारब्ध न्यून (थोड़े) भोग का कारण हुआ है। उनके लिए सदा भोगों में ग्लानि से प्रवृत्ति का अभाव ही कहा है। (ग) योगवासिष्ठ में ऐसा प्रसंग आता है कि शिखरध्वज की ज्ञान के बाद अधिक प्रवृत्ति हुई। इस प्रकार नाना प्रकार के विलक्षण व्यवहार ज्ञानी पुरुषों के कहे हैं। उन सभी का ज्ञान समान है और उसका फल मोक्ष भी समान † है। प्रारब्ध-भेद से व्यवहार-भेद है। व्यवहार की न्यूनता से जीवन्मुक्ति के सुख की अधिकता और व्यवहार की अधिकता से जीवन्मुक्ति के सुख की न्यूनता होती है।

इसमें कुछ लोग शंका ‡ करते हैं कि जो जीवन्मुक्ति के सुख को

---

† विद्यारण्यस्वामी ने पञ्चदशी में कहा है—

"आरब्धकर्मनानात्वाद् बुधानामन्यथान्यथा।
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः॥
स्वस्वकर्मानुसारेण वर्ततां ते यथा तथा।
अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः॥"

'ज्ञानियों का प्रारब्ध कर्म भिन्न-भिन्न होता है। अतएव उनकी प्रवृत्तियां विचित्र देखी जाती हैं। उनकी कुछ प्रवृत्तियों को देखकर 'ब्रह्मज्ञान से मुक्ति होती है'—इस सिद्धान्त में सन्देह नहीं कर लेना चाहिए। ज्ञानी भले ही अपने-अपने कर्म के अनुसार कुछ भी करते देखे जायँ। सभी को ज्ञान समान और ज्ञान से मुक्ति भी समान ही होती है। (चित्रदीप २८७-२८८)

‡ विद्यारण्य स्वामी ने यही शङ्का और उसका समाधान किया है—

जीवन्मुक्तिरियं मा भूज्जन्माभावे त्वहं कृती।
तर्हि जन्मापि तेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात् कृती भवान्॥
क्षयातिशयदोषेण स्वर्गो हेयो यदा तदा।
स्वयं दोषतात्मायं कामादिः किं न हीयते॥

छोड़कर तुच्छ भोगों में प्रवृत्त होता है। वह विदेहमोत्त को भी छोड़कर वैकुण्ठ आदि लोगों की इच्छा करके जायगा।

यह शंका हो नहीं सकती। क्योंकि जीवन्मुक्ति के सुख का त्याग और भोगों में प्रवृत्ति तो ज्ञानी के प्रारब्धबल से होती है। विदेह-मोक्ष का त्याग और परलोक में जाना हो नहीं सकता। क्योंकि ज्ञानी के प्राण बाहर नहीं जाते। अतः परलोक में जाना सिद्ध नहीं होता। विदेहमोत्त का त्याग भी बन नहीं सकता। क्योंकि ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो करके प्रारब्ध-भोग के बाद स्थूल-सूक्ष्म-शरीराकार अज्ञान का चेतन में लय विदेहमोत्त है। वह अवश्यमेव होता है। यदि मूल अज्ञान बाकी रहे या नष्ट हुए अज्ञान की फिर उत्पत्ति हो जाय तो विदेहमोत्त का अभाव हो। उस मूल अज्ञान का विरोधी ज्ञान हो जाने से अज्ञान बाकी नहीं रहता और प्रमाण से नष्ट हुए अज्ञान की फिर से उत्पत्ति नहीं होती। अतः विदेहमोक्ष का अभाव नहीं होता।

पहले सिद्धान्त किया गया कि बोध हो जाने के अनन्तर भी कामादि दोषों का त्याग जीवन्मुक्ति के सुख के लिए करना चाहिए। इस पर किसी ने शंका की कि बोध हो जाने पर विदेहमुक्ति में सन्देह नहीं रहा। फिर तो कामादिका परित्याग यदि न किया जाय तो हानि क्या? उत्तर दिया गया—फिर तो जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द से वञ्चित रहेंगे। शंकावादी ने कहा—हमें वह आनन्द चाहिए ही नहीं। इस पर सिद्धान्ती ने कहा—जो व्यक्ति तुच्छ सांसारिक भोगों की लिप्सा में जीवन्मुक्ति का आनन्द भी छोड सकता है; वह स्वर्ग आदि की तृष्णा में विदेहमुक्तिपद से भी त्याग-पत्र दे सकता है। शंकावादी यदि कहे कि स्वर्गसुख नश्वर और उत्तम-मध्यम-हीन आदि श्रेणियों में बँटा होने से उपादेय नहीं हो सकता। तब सिद्धान्ती का उत्तर है—जब दोषयुक्त स्वर्ग भी उपादेय नहीं, तब स्वयं दोषस्वरूप काम आदि-उपादेय कैसे हो सकते हैं? अतः ज्ञानी को भी उचित है कि कामादि त्याग करके रमणीयचरण बनकर लोकमान्य बने।

विदेहमोक्ष के त्याग और परलोक गमन में ज्ञानी की इच्छा भी नहीं हो सकती। क्योंकि (क) ज्ञानी को इच्छा केवल प्रारब्ध से होती है। जितनी सामग्री के बिना प्रारब्ध का भोग न हो सके; उतनी सामग्री को प्रारब्ध रचती है। इच्छा के बिना भोग नहीं हो सकता। अतः ज्ञानी की इच्छा भी प्रारब्ध का फल है। (ख) दूसरे लोक में या इस लोक में अन्य शरीर का संबंध ज्ञानी को प्रारब्ध से भी नहीं होता। यह बात पहले इसी तरंग में कह आये हैं। इसलिए ज्ञानी को प्रारब्ध से विदेहमोक्ष के त्याग की या परलोक के गमन की इच्छा नहीं होती।

ज्ञानी की मंद प्रारब्ध से जीवन्मुक्ति के सुख की विरोधी प्रवृत्ति—

जीवन्मुक्ति के सुख के विरोधी वर्तमान शरीर में अधिक भोग की इच्छा तो भिक्षाभोजन आदि की भांति जनक आदि को हो सकती है।

यहां यह रहस्य है:—ज्ञानी की बाह्य प्रवृत्ति जीवन्मुक्ति की विरोधी नहीं। किंतु जीवन्मुक्ति के विलक्षण सुख की विरोधी है। क्योंकि आत्मा नित्यमुक्त है। अविद्या से बंध प्रतीत होता है। जिस समय ज्ञान होता है; उसी समय अविद्याकृत बंधभ्रम नष्ट हो जाता है। ज्ञान हो जाने पर पुनः बंध-भ्रांति नहीं होती। शरीर की विद्यमानता में बंध की भ्रांति का अभाव होना जीवन्मुक्ति है। देह आदि की प्रवृत्ति और निवृत्ति में ज्ञानी को बन्ध की भ्रांति आत्मा में नहीं होती। इसलिए बाह्य प्रवृत्ति से भी जीवन्मुक्ति दूर नहीं होती। पर बाह्य प्रवृत्ति में जीवन्मुक्त को विलक्षण सुख नहीं होता। अंतःकरणके एकाग्रतारूप परिणाम से सुख होता है। वह एकाग्रतारूप परिणाम बाह्य प्रवृति में नहीं होता।

इस प्रकार प्रारब्ध-भेद से ज्ञानी पुरुष के व्यवहार नाना प्रकार के हैं। परन्तु जिसका प्रारब्ध अधिक प्रवृत्ति का कारण होता है।

उसका वह मंद प्रारब्ध † समझना चाहिए। क्योंकि अधिक प्रवृत्ति एकाग्रता की विरोधी है। एकाग्रता के बिना निरुपाधिक आनंद प्रतीत नहीं होता। यह बात समाधि-निरूपण में कह आये हैं।

जो पहले ‡ कहा कि "ज्ञानावान् को सब अनात्म पदार्थों में मिथ्या बुद्धि होती है; राग नहीं होता। अतः प्रवृत्ति नहीं हो सकती।" यह भी ठीक नहीं।

क्योंकि जैसे देह में ज्ञानी को मिथ्याबुद्धि भी होती है। फिर भी देह के अनुकूल भिक्षा आदि में केवल प्रारब्ध से प्रवृत्ति होती है। वैसे ही जिसका अधिक भोग का प्रारब्ध होता है; उस ज्ञानी की अधिक प्रवृत्ति भी हो सकती है। जैसे मदारी के खेल को मिथ्या जानने पर भी सब लोगों की प्रवृत्ति होती है। वैसे ही सब पदार्थों में ज्ञानी की मिथ्याबुद्धि होने पर भी प्रवृत्ति हो सकती है।

यदि कहें कि जिसकी जिस पदार्थ में दोषदृष्टि होती है; उसकी उस पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं होती। ज्ञानी की अन्य पदार्थों में दोषदृष्टि होती है; राग नहीं होता। अतः प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि जिस अपथ्य सेवन में रोगी ने अन्वय-व्यतिरेक से दोष निश्चय कर लिया है। उस अपथ्य सेवन में प्रारब्ध से जैसे रोगी की प्रवृत्ति हो जाती है। वैसे प्रारब्ध से ज्ञानी

† मन्द-प्रारब्ध--निकृष्ट प्रारब्ध। जैसे कोई धन-धान्य-योवन से सम्पन्न व्यक्ति विविधि रोगों के कारण अपने वैभव का उपभोग नहीं कर सकता। उसका रोग-प्रद प्रारब्ध निकृष्ट कहा जाता है। उसी प्रकार जो ज्ञानी अपने अधिक प्रवृत्ति देनेवाले प्रारब्ध के कारण समाहित नहीं हो पाता। बिना समाधान के अपने जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द से वञ्चित रह जाता है। ऐसे प्रारब्ध को मन्दा (निकृष्ट) कहा जाता है।

‡ छठी तरङ्ग में।

की सब व्यवहारों में प्रवृत्ति दोषदृष्टि होने पर भी हो सकती है। अतः ज्ञानी के लिए व्यवहार का नियम नहीं। यह पक्ष विद्यारण्य स्वामी ने विस्तार-पूर्वक तृप्तिदीप में ‡ प्रतिपादित किया है। समाधिरूप नियम की विधि सुन करके तत्त्वदृष्टि हँस पड़ा।

भ्रमन करत कछु काल यूं, तत्वदृष्टि सुज्ञान।
भोगे निज प्रारब्ध तब, लीन भये तिहि प्रान ॥ १६ ॥

---

‡ तृप्तिदीप में कहा है--

विवेके जाग्रति सति दोष-दर्शन-लक्षणे।
कथमारब्धकर्मापि भोगेच्छां जनयिष्यति॥
नैष दोषो यतोऽनेकविधं प्रारब्धमीक्ष्यते।
इच्छानिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम्॥
अपथ्यसेविनश्चौरा राजदार-रता अपि।
जानन्त एव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्धकर्मतः॥
प्रश्नोत्तराभ्यामेवैतद् गम्यतेऽर्जुनकृष्णयोः।
अनिच्छापूर्वकं चास्ति प्रारब्धमिति तच्छृणु॥
नानिच्छन्तो नचेच्छन्तो परदाक्षिण्यसंयुताः।
सुखदुःखे भजन्त्येतत्परेच्छापूर्वकर्म हि॥

(१५१, १५२, १५३, १५८, १६२)

शङ्का—दोष-दर्शनरूप विवेक के रहते-रहते प्रारब्ध कर्म भी ज्ञानी में भोग की इच्छा कैसे उत्पन्न कर सकेगा ?

समाधान--दोष-दर्शन रहने पर भी प्रारब्ध भोग की इच्छा पैदा कर सकता है। क्योंकि ज्ञानी का प्रारब्ध अनेक प्रकार का होता है—(१) इच्छा-प्रारब्ध, (२) अनिच्छा-प्रारब्ध, (३) परेच्छा-प्रारब्ध।

अर्थात् प्रारब्ध भोग के बाद ज्ञानी के प्राण कहीं नहीं जाते। अतः "तत्त्वदृष्टि के प्राण लीन हो गये" यह कहा गया। ज्ञानी के शरीर-त्याग में काल विशेष की अपेक्षा नहीं होती। चाहे उत्तरायण में चाहे दक्षिणायन में देह-पात हो वह सर्वथा मुक्त होता है। वैसे ही देश विशेष की अपेक्षा भी नहीं। काशी† आदि पवित्र देशों में या अत्यंत मलिन देशों में ज्ञानी का देहपात हो; वह सर्वथा मुक्त है। वैसे ही आसन विशेष की भी अपेक्षा नहीं। चाहे पृथ्वी पर शव-

---

(१) इच्छाप्रारब्ध—स्वेच्छा-द्वारा भोग-प्रद कर्म । जैसे कुपथ्य-सेवन करनेवाला रोगी, चोर, व्यभिचारी आदि अपने भावी कुफल को जानते हुए भी स्वेच्छा-पूर्वक कुपथ्य-सेवन आदि करते हैं--इस प्रकार के प्रारब्ध का नाम इच्छाप्रारब्ध है।

(२) अनिच्छाप्रारब्ध—ऐसा प्रारब्ध, जिसका फल, इच्छा न रहने पर भी भोगना पडे। अर्जुन ने इसके विषय में ही भगवान् कृष्ण से पूछा है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

भगवन्! किस प्रबल तत्त्व की प्रेरणा से यह पुरुष इच्छा न रहने पर भी पापाचार कर बैठता है?

(३) परेच्छा प्रारब्ध—अपनी इच्छा या अनिच्छा न रहने पर भी दूसरे की इच्छा पर निर्भर रहकर किसी की प्रेरणा से मनुष्य सुख-दुःख भोगने में प्रवृत्त होता है। कई बार दूसरे पर उपकार करने के लिए मनुष्य दूसरे की इच्छा-पूर्ति के लिए कार्य करता है। इस प्रारब्ध को परेच्छा-प्रारब्ध कहते हैं।

† देहः पततु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथवा।
ज्ञानसम्प्राप्तिसमये सर्वथा मुक्त एव सः॥

ज्ञानी की देह चाहे काशी में चाहे चाण्डाल के घर छूटे। वह ज्ञान होते ही सर्वथा मुक्त हो चुका है। (पैङ्गलो० ४-५)

आसन से या सिद्ध आसन से देहपात हो। इसी प्रकार भले सावधान होकर ब्रह्म चिंतन करते हुए का भले रोग व्याकुल हाहा शब्द पुकारते हुए का देहपात हो। वह सर्वथा मुक्त ‡ है। क्योंकि जिस समय ज्ञान से अज्ञान निवृत्त हो गया; उसी समय ज्ञानी मुक्त हो चुका। इसलिए ज्ञानी को विदेह-मोक्ष में देश-काल-आसन आदि की अपेक्षा नहीं।

उपासक को देश, काल आदि की अपेक्षा है

यद्यपि भीष्म पितामह आदि ज्ञानी माने गये हैं। उन्होंने उत्तरायण के बिना प्राणों का त्याग नहीं किया। फिर भी वे अधिकारी पुरुष हैं। अतः उपासकों के उपदेश के लिए उन्होंने काल विशेष की प्रतीक्षा की है।

वसिष्ठ भीष्म आदि के अधिकारी होने के कारण ही अनेक जन्म हुए हैं। क्योंकि अधिकारी पुरुषों का एक कल्पतक प्रारब्ध होता है। कल्प के अंदर ही इच्छाबल से उन्हें अनेक शरीर प्राप्त होते रहते हैं। फिर भी आत्मस्वरूप में उन्हें जन्म-मरण की भ्रांति नहीं होती। अतः वे जीवन्मुक्त हैं। उन अधिकारी पुरुषों का सारा व्यवहार दूसरों के उपदेश के लिए है। इससे भिन्न ज्ञानियों के व्यवहार में कोई नियम नहीं होता। इसी अभिप्राय से तत्त्वदृष्टि के देहपात के संबंध में देश-काल आदि कुछ नहीं कहा।

---

‡ नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन् भुवि।
मूर्च्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान् भ्रान्तिर्न सर्वथा ॥

ज्ञानी प्राणान्त-समय चाहे नीरोग हो, बैठा हो या रोगी हो पृथिवी पर लोट रहा हो; अथवा मूर्च्छित हो। किसी प्रकार भी प्राण छोड़े उसके पास भ्रान्ति कभी नहीं फटक सकती। (पञ्च॰ भूतविवेक १०६)

अदृष्टिका देश आदि की अपेक्षा सहित देहपात

दूजो शिष्य अदृष्टि तिहि, गंगातट सुभ थान ।
देस इकंत पवित्र अति, कियो ब्रह्म को ध्यान ॥१८॥

शास्त्ररीति तजि देहकूं, पूरब-कह्यो जु राह ।
जाय मिल्यो सो ब्रह्म सैं पायो अधिक उछाह ॥१९॥

अर्थात् ज्ञानी को तो देशकाल की अपेक्षा नहीं होती । पर उपासक को अवश्य होती है । यदि उत्तम देश और उत्तम उत्तरायण आदि काल में उपासक शरीर छोड़े तो उपासना का फल होता है । ज्ञानी को मरने के समय सावधानतापूर्वक ज्ञेय की स्मृति की अपेक्षा नहीं पर उपासक को मरने के समय ध्येय के स्वरूप की स्मृति की अपेक्षा है । (क) जिस ध्येय का पहले ध्यान किया है; उसकी स्मृति मरने के समय होनी ही चाहिए तभी उपासना का फल होता है । (ख) जैसे ध्येय की स्मृति होनी चाहिए वैसे ही ध्येय ब्रह्म की प्राप्ति का जो मार्ग पाँचवीं तरङ्ग में कहा है; उसकी भी स्मृति होनी चाहिए । क्योंकि मार्ग चिन्तन भी उपासना का अंग है ।

ज्ञान के लिए श्रवण करने में देश, काल और आसन की अपेक्षा नहीं । ध्यान में उत्तम देश, निरन्तर काल और सिद्ध आदि आसनों की अपेक्षा है । इसलिए अदृष्टि का उत्तम देश; गंगातीर पर स्थिति, और मरने के समय भी योगशास्त्र की रीति के अनुसार देहपात कहा गया ।

सब शास्त्रों को ब्रह्मज्ञान की कारणता

तर्कदृष्टि पुनि तीसरो, लहि गुरुमुख उपदेस ।
अष्टादस प्रस्थान जिन, अवगाहन करि बेस ॥ २० ॥
जेति बानी बैखरी, ताको अलं पिछान ।
हेतु मुक्ति को ज्ञान लखि, अद्वय निश्चय ज्ञान ॥२१॥

अर्थात् तर्कदृष्टि नामक तीसरे ने गुरु-मुख से उपदेश सुना। उस सुने हुए अर्थ में दूसरे शास्त्रों का विरोध दूर करने के लिए सभी शास्त्र पढ़े और विचारे। अंत में यही निश्चय किया कि १. सब शास्त्रों का परम प्रयोजन मोक्ष है। २. मोक्ष का साधक ज्ञान है। ३. वह ज्ञान अद्वय निश्चयरूप है। ४. भेदनिश्चय यथार्थ ज्ञान नहीं। ५. सभी शास्त्र साक्षात् या परपरा से ब्रह्मज्ञान के कारण हैं।

शंका—संस्कृत वैखरी वाणी के अठारह प्रस्थान हैं। उनमें से कोई कर्म का, कोई विषय-सुख के उपायों का और कोई ब्रह्म से भिन्न देवों की उपासना का प्रतिपादन करता है। ज्ञान के लिए जो न्याय-सांख्य आदि शास्त्र हैं; वे भी भेदज्ञान को ही यथार्थज्ञान कहते हैं। इसलिए सभी अद्वैत ब्रह्म के बोधक नहीं बन सकते।

समाधान--सब शास्त्रों के कर्ता सर्वज्ञ और कृपालु थे। उनके बनाये मूल सूत्रों का तो वेद के अनुसार ही अर्थ है। परन्तु उनके व्याख्याकारों को भ्रम हो गया है। मूल सूत्रकारों के अभिप्राय से विलक्षण अर्थ कर डाला है। पर वेद के विरुद्ध उन सूत्रों का अर्थ है नहीं। किंतु सब शास्त्रों का वेदानुसारी अर्थ है। तर्कदृष्टि ने उत्तम संस्कारों के कारण यह निश्चय किया।

विद्या के अष्टादश प्रस्थान ये हैं—चार वेद, चार उपवेद, छह वेद के अंग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। इस प्रकार वैखरी वाणीरूप विद्या के अठारह भेद हैं, इन्हें प्रस्थान कहते हैं।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चार वेद हैं। उनमें कुछ वचन ज्ञेय ब्रह्म का; कुछ वचन ध्येय का और बाकी के कर्म का बोधन करते हैं। कर्मबोधक वेद वचनों का भी अंतःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान ही प्रयोजन है। प्रवृत्ति में किसी वेदवचन का अभिप्राय नहीं। किंतु निषिद्ध स्वाभाविक प्रवृत्ति से रोकने में अभिप्राय है। अतः अभिचार आदि कर्मों के प्रतिपादक अथर्ववेद का भी निवृत्ति में तात्पर्य है। जो लोग द्वेष से शत्रु के मारने में प्रवृत्त होते हैं; वे विष

देकर या आग लगाकर शत्रु को न मारें। इसीलिए अभिचार कर्म श्येनयाग आदि कहे हैं। शत्रु को मारने के लिए जो कर्म किया जाता है उसका नाम अभिचार है। ऐसा श्येन नाम यज्ञ हैं।

श्येनयाग के बोधक वेदवचन का यह अर्थ नहीं कि शत्रुमारण की कामनावाला श्येनयाग में प्रवृत्त हो। किंतु जिसे शत्रु को मारने की इच्छा होती है; उसे श्येनयाग से भिन्न विषदान आदि शत्रुमारक उपायों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। इस प्रकार द्वेष प्राप्त विषप्रदान आदि की निवृत्ति में ही श्येनयाग-बोधक वेद वचन का अभिप्राय है; प्रवृत्ति में नहीं। क्योंकि प्रवृत्ति तो द्वेष से प्राप्त ही है। ‡ अन्य से प्राप्त प्रवृत्ति में वाक्य का अभिप्राय नहीं होता। इस रीति से सारे अथर्ववेद का निवृत्ति में तात्पर्य है। अन्य तीनों वेदों में कर्म के बोधक वाक्यों का अंतःकरण की शुद्धि के द्वारा ज्ञान में उपयोग स्पष्ट है।

ऐसे ही चार उपवेद हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद और अर्थवेद। इनमें आयुर्वेद के कर्ता ब्रह्मा, प्रजापति, अश्विनीकुमार धन्वन्तरि आदि हैं। चरक वाग्भट्ट आदि कृत चिकित्साशास्त्र आयुर्वेद है। वात्स्यायनकृत कामशास्त्र भी आयुर्वेद के अंतर्भूत है। क्योंकि कामशास्त्र के विषय वाजीकरण स्तम्भन आदि भी चरक आदि ने लिखे हैं। उस आयुर्वेद का वैराग्य में ही अभिप्राय है। क्योंकि आयुर्वेद की रीति से रोग आदि की निवृत्ति होने पर भी पुनः (दुबारा) रोग आदि उत्पन्न हो जाते हैं। अतः लौकिक उपाय तुच्छ हैं। इस अर्थ में आयुर्वेद का अभिप्राय है। औषध देने आदि से पुण्य होने के कारण अंतःकरण की शुद्धि द्वारा भी ज्ञान में उपयोग है।

वैसे ही-विश्वामित्रकृत धनुर्वेद में आयुधों का निरूपण किया है। आयुध चार प्रकार के हैं मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त और यंत्रमुक्त।

‡ शबरस्वामी ने मीमांसा-भाष्य में लिखा—"अनन्यलभ्यः शब्दार्थः" शब्द का अभिप्राय उसी अर्थ में होता है, जो अन्य निमित्त से प्राप्त न हो।

मुक्त=हाथ से फेंके जानेवाले चक्र आदि। अमुक्त=तलवार आदि। मुक्तामुक्त=बरछी आदि। यंत्रमुक्त=बाण-गोली आदि। इस प्रकार चार प्रकार के आयुध हुए। इनमें मुक्त आयुध को अस्त्र और अमुक्त को शस्त्र कहते हैं। इन चार प्रकार के आयुधों के ब्रह्मा, विष्णु, पशुपति, प्रजापति, अग्नि, वरुण आदि देवता और मन्त्र भी कहे गये हैं। क्षत्रियकुमार अधिकारी कहे हैं। उनका अनुसरण करनेवाले ब्राह्मण आदि भी अधिकारी माने गये हैं। उनके चार भेद हैं:—पदाति, रथारूढ, अश्वारूढ और गजारूढ। युद्ध करने के समय कैसा शकुन होना चाहिए और कैसा मङ्गल करना चाहिए—ये सब धनुर्वेद के पहले पाद में कहे हैं। आचार्य का लक्षण तथा आचार्य से शस्त्र-ग्रहण करने की रीति धनुर्वेद के दूसरे पाद में कही है। गुरु-संप्रदाय से प्राप्त हुए शस्त्रों का अभ्यास तथा मन्त्रसिद्धि देवता-सिद्धि का प्रकार तीसरे पाद में कहा है। सिद्ध हुए मन्त्रों का प्रयोग चौथे पाद में कहा है। इतना अर्थ आयुर्वेद में है। वह प्रजापति आदि से विश्वामित्र को प्राप्त हुआ है। विश्वामित्र ने प्रकट किया है; उससे धनुर्वेद उत्पन्न नहीं हुआ। दुष्ट चोर आदि से प्रजापालनरूप क्षत्रिय के धर्म का बोधक धनुर्वेद है। अतः उसका भी अंतःकरण-शुद्धि से ज्ञान द्वारा मोक्ष में ही अभिप्राय है। वैसे ही। गांधर्ववेद भरत ने प्रकट किया है। उसमें स्वर, ताल, मूर्च्छना-सहित, गीत, नृत्य और वाद्य का निरूपण विस्तारपूर्वक किया है। देवता का आराधन और निर्विकल्प समाधि की सिद्धि गांधर्ववेद का प्रयोजन कहा है। अतः उसका भी अंतःकरण की एकाग्रता से ज्ञान द्वारा मोक्ष ही प्रयोजन है। वैसे ही—

अर्थवेद भी नाना प्रकार का है। यथा नीतिशास्त्र, अश्वशास्त्र, शिल्पशास्त्र, सूपकारशास्त्र, (पाकशास्त्र) आदि धनप्राप्ति के उपाय-बोधक शास्त्र अर्थवेद कहलाता है। धन-प्राप्ति के सभी उपायों में

निपुण मनुष्य को भी भाग्य के बिना धन की प्राप्ति नहीं होती। अतः अर्थवेद का भी वैराग्य में ही तात्पर्य है। वैसे ही।

चारो वेदों के छह अंग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और पिंगल हैं। ये वेद के उपयोगी होने के कारण उसके अंग कहलाते हैं। उनमेंसे—

शिक्षा के कर्ता पाणिनी हैं। वेदों के शब्दों में अक्षरों के स्थान का ज्ञान तथा उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का ज्ञान शिक्षा से होता है। वेदों के व्याख्यानरूप अनेक प्रातिशाख्य ग्रन्थ भी शिक्षा के अंतर्भूत हैं।

वेदबोधित कर्मों के अनुष्ठान की रीति कल्पसूत्रों से जानी जाती है। यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण ऋत्विक् कहलाते हैं। उनके करने योग्य भिन्न भिन कर्मों के प्रकार के बोधक कल्पसूत्र हैं। उन कल्पसूत्रों के कर्ता कात्यायन आश्वलायन आदि मुनि हैं। अतः कल्पसूत्र भी वेदों के उपयोगी होने से वेद के अंग हैं।

व्याकरण से वेदों के शब्दों की शुद्धता का ज्ञान होता है। वह व्याकरण सूत्ररूप में आठ अध्यायों में पाणिनि ने लिखा है। कात्यायन ने उन सूत्रों के व्याख्यानरूप वार्तिक और पतंजलि ने भाष्य लिखा है। दूसरे व्याकरण वैदिक शब्दों पर विचार नहीं करते। अतः वे पुराण आदि के उपयोगी तो हैं। पर वेद-उपयोगी नहीं। पाणिनिकृत व्याकरण वेद के शब्दों को भी सिद्ध करता है। अतः वेद का अङ्ग है।

यास्कनामक मुनि ने त्रयोदश अध्यायों में निरुक्त लिखा है। उसमें वैदिक मंत्रोमें के अप्रसिद्ध पदों के अर्थबोध के लिए नामों का निरूपण किया है। अतः वैदिक अप्रसिद्ध पदों के अर्थज्ञान में उपयोगी होने के कारण निरूक्त भी वेद का अंग है यास्ककृत पञ्च-अध्यायरूप संज्ञाओं का (नामों का) बोधक निघंटु भी निरुक्त के

अन्तर्भूत है। अमरसिंह-हेम-आदिकृत सभी नामबोधक कोश निरुक्त के अतर्भूत हैं।

आदित्य-गर्ग-आदि-कृत ज्योतिष भी वेद का अंग है। क्योंकि वैदिक कर्मों के आरम्भ में काल का ज्ञान अवश्य चाहिए। वह कालज्ञान ज्योतिष से होता है। अतः वेद का अंग है।

पिङ्गलमुनि ने सूत्रों में छन्दों पर आठ अध्याय लिखे हैं। उनसे वैदिक-गायत्री-आदि छन्दों का ज्ञान होता है। अतः पिङ्गलकृत सूत्र भी वेद के अंग हैं।

इन छहो वेद के अंगों में जो वेदोपयोगी अर्थ नहीं; उसका प्रसङ्गागत वर्णन किया है, प्रधानतया नहीं। इसलिए जो वेद का प्रयोजन है, वही छहो अंगों का प्रयोजन है, भिन्न नहीं।

व्यासमुनिकृत अठारह पुराण हैं। जैसे १-ब्रह्म, २-पद्म, ३-वैष्णव, ४-शैव, ५-भागवत, ६-नारदीय, ७-मार्कण्डेय, ८-आग्नेय ९-भविष्य १०-ब्रह्मवैवर्त, ११-लैंग, १२-वाराह, १३-स्कंद, १४-वामन, १५-कौर्म, १६-मात्स्य, १७-गारुड़ और १८-ब्रह्माण्ड।

कालीपुराण आदि और भी बहुत-से पुराण हैं। पर वे उपपुराण कहलाते हैं। कुछ लोग उनकी संख्या अठारह बताते हैं। पर ऐसा कोई नियम नहीं। वे बहुत अधिक हैं।

भागवत दो हैं—एक वैष्णव भागवत और दूसरा भगवती (देवी) भागवत। दोनों की श्लोक-संख्या समान अर्थात् अठारह अठारह हजार है। बारह बारह स्कन्ध हैं। उनमें एक पुराण है; दूसरा उपपुराण। दोनो ही व्यासकृत हैं और दोनो ही प्रमाण हैं।

जैसे पुराण व्यासरचित हैं, वैसे कुछ उपपुराण भी व्यासजी ने रचे हैं। दूसरे उपपुराण पराशर आदि सर्वज्ञ मुनियों ने रचे हैं। अतः उपपुराण भी प्रमाण हैं।

जो उपनिषदों का अर्थ है; वही उपपुराण-सहित पुराणों का अर्थ है। यह बात आगे कही जायगी।

न्याय-वैशेषिक सूत्रों का फल

गौतमजी ने पांच अध्यायों में न्यायसूत्र लिखे हैं। उनमें युक्तियों का प्रधान्य है। युक्ति के चिन्तन से मनुष्य की बुद्धि तीव्र हो जाती है। वह मनन करने में समर्थ हो जाता है। अतः युक्ति-प्रधान न्यायसूत्रों का भी मननद्वारा वेदान्तजन्य ज्ञान ही फल है। कणाद नामक मुनिने दस अध्यायों में वैशेषिक सूत्र लिखे हैं। उनका भी न्याय में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

मीमांसा का फल

मीमांसा के दो भेद हैं—एक धर्म-मीमांसा और दूसरी ब्रह्म-मीमांसा। धर्म-मीमांसा (पूर्व-मीमांसा) और ब्रह्म-मीमांसा (उत्तर-मीमांसा)। धर्म-मीमांसा के बारह अध्याय हैं। इनका कर्ता जैमिनी है। इनमें कर्म करने की विधि बतलाई गई है। अतः विधिपूर्वक कर्म में प्रवृत्ति धर्म-मीमांसा का फल है। कर्मप्रवृत्ति से अन्तःकरण-शुद्धि, उससे ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष। इस प्रकार धर्म-मीमांसा का मोक्ष फल है। धर्म-मीमांसा के बारह अध्यायों में परस्पर अर्थ का भेद ‡ है। वह कठिन है। अतः नहीं लिखा।

‡ धर्म-मीमांसा—याग, दान आदि कर्मों को ही वहां धर्म कहा गया है। उसका निरूपण १२ अध्यायों में इस क्रम से किया गया है—

धर्मो द्वादशलक्षणया व्युत्पाद्यस्तत्र लक्षणैः।
प्रमाण-भेद-शेषत्व-प्रयुक्ति-क्रम-संज्ञकाः॥
अधिकारोऽतिदेशश्च सामान्येन विशेषतः।
ऊहो बाधश्च तन्त्रं च प्रसङ्गश्चोदिताः क्रमात्॥

संकर्षण काण्ड पाँच अध्यायरूप जैमिनिकृत है। उसमें उपासना कही गई है। उसका भी धर्म-मीमांसा में अन्तर्भाव है।

ब्रह्म-मीमांसा के चार अध्याय हैं। उसके कर्ता व्यासजी हैं। एक एक (क) अध्याय के चार चार पाद हैं। उनमें के प्रथम अध्याय का यह अर्थ है कि सभी उपनिषद्वाक्य ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, अन्य का नहीं। (ख) उपनिषद् वाक्यों का मन्दबुद्धि मनुष्य को आपस में विरोध प्रतीत होता है। उसका परिहार दूसरे अध्याय में किया है। (ग) ज्ञान तथा उपासना के साधन का विचार तीसरे अध्याय में किया है। (घ) ज्ञान और उपसना का फल चौथे अध्याय में कहा है।

यह ब्रह्म-मीमांसारूप शारीरक शास्त्र ही सब शास्त्रों में प्रधान है। मुमुक्षु के लिए यही उपादेय है। इसके व्याख्यानरूप ग्रन्थ यद्यपि अनेक हैं। तो भी श्रीशङ्करकृत भाष्यरूप व्याख्यान ही मुमुक्षु को सुनना चाहिए। ज्ञानद्वारा उसका मोक्षफल स्पष्ट ही है।

१--प्रथम अध्याय में धर्म के विधि, आदि प्रमाणों का निरूपण है।

२--द्वितीय अध्याय में याग, होम आदि धर्म-भेद का निरूपण है।

३--तृतीय अध्याय में कर्मों के अङ्गाङ्गी भाव का प्रतिपादन है।

४--चतुर्थ में किस पदार्थ का प्रयोजक कौन है-यह विचार किया गया है।

५--पञ्चम में कर्मों के अनुष्ठानोपयोगी क्रम आदि कहे गये हैं।

६--षष्ठ में कर्म में किसका अधिकार, किसका नहीं-यह बताया गया है।

७--सप्तम में सामान्य अतिदेश कहा गया है।

८--अष्टक में विशेष अतिदेश । ९--नवम में ऊह का विचार है।

१०--दशम में पदार्थों के परस्पर बाध्य बाधक भाव का निरूपण है।

११--एकादश में तंत्रोपकार बताया है।

१२--द्वादस में प्रसङ्ग कहा गया है

स्मृतियों के कर्ता और प्रयोजन

मनु; याज्ञवल्क्य, विष्णु, यम, अंगिरा, वसिष्ठ, दक्ष, संवर्त्त, शातातप, पराशर, गौतम, शङ्ख, लिखित, हारीत, अपस्तंब, शुक्र, बृहस्पति, व्यास, कात्यायन, देवल, नारद, आदि आदि सर्वज्ञ हुए हैं। इन्होंने वेद के अनुसार स्मृतिग्रन्थ बनाये हैं। यही धर्मशास्त्र कहलाता है। इनमें वर्ण और आश्रमों के कायिक, वाचिक एवं मानसिक धर्म कहे हैं। इनका भी अन्तःकरण की शुद्धिद्वारा ज्ञान हो जाने के बाद मोक्ष ही फल है।

व्यासकृत महाभारत का और वाल्मीकिकृत रामायण का भी धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव है। देवता-आराधन के लिए जो मन्त्रशास्त्र है। उसका भी धर्मशास्त्र में ही अन्तर्भाव है। अन्तःकरण-शुद्धि आराधन का प्रयोजन है। साख्यशास्त्र, योगशास्त्र, वैष्णवतन्त्र, शैवतन्त्र आदि का भी धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव है। क्योंकि इनमें भी उपासनारूप मानस-धर्म का निरूपण है।

सांख्यशास्त्र का फल

षड्-अध्यायरूप सांख्यशास्त्र के कर्ता कपिल हैं। इसके पहले अध्याय में विषयनिरूपण, दूसरे में महत्तत्त्व-अहङ्कार-आदि प्रधान के कार्यों का निरूपण, तीसरे में विषयों से वैराग्य, चौथे में विरक्तों की आख्यायिका, पांचवें में दूसरे पक्षों का खण्डन, और छठे में समस्त अर्थ का संक्षेप से संग्रह किया है। प्रकृति-पुरुष के विवेक से पुरुष की असङ्गता का ज्ञान सांख्यशास्त्र का प्रयोजन है। इसका भी त्वं पद के लक्ष्य-अर्थ-शोधनद्वारा महावाय-जन्य ज्ञान में उपयोग होने से मोक्ष ही फल है।

योगशास्त्र का फल

योगशास्त्र के चार पाद हैं। पतञ्जलिजी इसके कर्ता हैं। ये शेष का अवतार थे। एक ऋषि सन्ध्या वन्दन कर रहे थे। उनकी

अञ्जलि में प्रगट हो करके ये पृथिवी पर पड़े थे। इसलिए इन्हें पतंजलि कहते हैं। इन्होंने शरीर का रोगरूपी मल दूर करने के लिए चिकित्साका (चरक) ग्रन्थ, वाणी का अशुद्ध उच्चारणरूप मल दूर करने के लिए पाणिनीय-व्याकरण पर महाभाष्य, और अन्तःकरण का विक्षेपरूप मल दूर करने के लिए योगशास्त्र रचा। इसके पहले पाद में चित्तवृत्ति की निरोधरूप समाधि का और उसके साधन अभ्यास-वैराग्य आदि का वर्णन है। विक्षिप्त चित्त की समाधि के साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि-ये समाधि के आठ अंग दूसरे पाद में कहे हैं। तीसरे में योग की विभूतियों का वर्णन है। चौथे में योग का फल मोक्ष कहा है। इस प्रकार योगशास्त्र भी ज्ञानसाधन निदिध्यासन के सम्पादन द्वारा मोक्ष का कारण है। शारीरक सूत्र में जो सांख्ययोग का खण्डन किया है, वह उनके उपनिषद् विरोधी व्याख्यानों का खण्डन है, सूत्रों का नहीं। न्यायवैशेषिक के भी विरुद्ध व्याख्यान का ही खण्डन है।

पाञ्चरात्र-पशुपत आदि का फल

नारद ने पञ्चरात्र नाम का तन्त्र कहा है। उसमें कहा है कि वासुदेव में अन्तःकरण स्थापित करना चाहिए। उसका भी अन्तःकरण की स्थिरता से ज्ञानद्वारा मोक्ष ही फल है। सभी वैष्णव ग्रन्थ पञ्चरात्र के अन्तर्भूत हैं। वैसे ही पाशुपत तन्त्र में पशुपति का आराधना कहा है। उसके कर्ता पशुपति हैं। उसका भी अन्तःकरण की निश्चलता द्वारा मोक्ष का साधन ज्ञान फल है।

शैवग्रन्थों का फल और वाममार्ग

सभी शैवग्रन्थ पाशुपत तन्त्र के अन्तर्भूत हैं। वैसे ही गणेश, सूर्य एवं देवी की उपासना के बोधक ग्रन्थों का चित्त की निश्चलता द्वारा मोक्ष ही फल है। इन सबका धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव है।]

देवी की उपासना के बोधक ग्रन्थों में दो सम्प्रदाय हैं। एक दक्षिण सम्प्रदाय और दूसरा उत्तर सम्प्रदाय। उत्तर सम्प्रदाय को ही वाममार्ग कहते हैं। दक्षिण सम्प्रदाय की रीति के अनुसार जिन ग्रन्थों में देवी की उपासना है, वे तो धर्मशास्त्र के अन्तर्गत हैं। किन्तु जिन ग्रन्थों में वाममार्ग का निरूपण है, वे धर्मशास्त्र से विरुद्ध हैं। अतः अप्रामाणिक और त्याज्य हैं।

यद्यपि वामतंत्र शिव का बनाया हुआ है, फिर भी सब शास्त्रों और वेद से विरुद्ध होने के कारण प्रमाण नहीं। जैसे विष्णु के अवतार बुद्ध ने नास्तिक ग्रन्थ लिखे, वे वेदविरुद्ध हैं। अतः प्रमाण नहीं। वैसे ही शिवकृत वामतंत्र भी अत्यन्त विरुद्ध है। मदिरा आदि अत्यन्त अशुद्ध पदार्थों का उसमें ग्रहण करना लिखा है। उत्तम पदार्थों के जो नाम हैं; वेही लोगों को ठगने के लिए मलिन पदार्थों के रख लिये। मदिरा का नाम तीर्थ। एवं मांस का शुद्ध, मदिरापात्र का पद्मा, प्याज का व्यास, लशुन का शुकदेव, शराब बनानेवाले का दीक्षित, वेश्यासेवी का प्रयागसेवी, चमारी आदि चाण्डालीसेवी का काशीसेवी ब्राह्मण, अत्यन्त व्यभिचारिणी का योगिनी, और अत्यन्त व्यभिचारी का योगी एवं भैरवी चक्र में स्थित चाण्डालादि को भी ब्राह्मण कहते हैं। ऐसा ऐसा कितने प्रकार का उनका निषिद्ध व्यवहार है। पूजा के समय अनेक दोषोंवाली स्त्री को उत्तम शक्ति कहते हैं। चाण्डालजाति की अति व्यभिचारिणी रजस्वला स्त्री को देवीबुद्धि से पूजते हैं। उसकी जूठी शराब पीते हैं। अधिक शराब पीने से यदि वमन हो जाय तो उसे जमीन पर नहीं गिरने देते। किन्तु आचार्य के साथ सभी उसे सावधानी से खाते हैं। वमन को भैरवी कहते हैं। उसके मूत्रस्थान में जीभ डालकर मन्त्रजाप करते हैं। १—मदिरा, २—मांस, ३—मत्स्य, ४—मुद्रा और ५—मन्त्र इन पांच मकारों का भोग और मोक्ष के लिए सेवन करते हैं। पहले और दूसरे मकार को अप्रसिद्ध नामों

से व्यहृत करते हैं। एवंविध वामतंत्र का सब–का–सब व्यवहार इस लोक और परलोक से भ्रष्ट कर देता है। इसी कारण से अनेक लोग वाममार्ग का सेवन करते हैं, लोकनिन्दित होने के कारण गुप्त रखते हैं। कहां तक कहें वामतन्त्र की गति–विधि देख कर तो म्लेच्छ को भी रोमांच हो जाता है। ऐसा निन्दित वामतन्त्र है। सर्वभक्षी जो जो खा जाते हैं; वह सब निन्दित मार्ग वामतन्त्र में लिखा है। इतने नीच व्यवहार हैं कि लिखने में भी सङ्कोच होता है। अतः विशेष प्रकार से नहीं लिखे। सर्वथा वामतंत्र त्याग देनेके ही योग्य है।

नास्तिक–मत

नास्तिक–मत भी छोड़ देने के योग्य है। नास्तिकों के छह भेद हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रांतिक, वैभाषिक, चार्वाक और दिगम्बर। ये छहो वेदों को प्रमाण नहीं मानते। उनका आपस में विलक्षण सिद्धान्त† है। माध्यमिक शून्यवादी है। योगाचार के मत में सभी पदार्थ–विज्ञान से भिन्न नहीं। विज्ञान ही तत्त्व है। वह विज्ञान क्षणिक है। सौत्रांतिक के मत में विज्ञान का

---

‡ माध्यमिक आदि के मतों का संक्षिप्त वर्णन नारायण भट्ट ने मानमेयोदय के एक श्लोक में बहुत सुन्दर किया है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्,
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्यति सौत्रान्तिकः,
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥

'बौद्धों में मुख्य मत माध्यमिक का माना जाता है। माध्यमिक समस्त प्रपञ्च को शून्य का विवर्त मानता है। योगाचार के मत में विज्ञान की सत्ता मानी गई है और यह विश्व उस विज्ञान का विवर्त है। सौत्रान्तिक के मत

आकार बाह्य पदार्थ विषय के बिना नहीं होता। अतः विज्ञान से बाह्य पदार्थों का अनुमान होता है। इस प्रकार सौत्रांतिक के मत में अनुमान प्रमाण के विषय बाह्य पदार्थ हैं। प्रत्यक्ष नहीं, स्थिर नहीं, किन्तु सभी पदार्थ क्षणिक हैं। वैभाषिक के मत में बाह्य पदार्थ त्तणिक तो हैं। पर प्रत्यक्ष-प्रमाण के विषय हैं। इतना भेद है। ये चारो मत सुगत के हैं। चार्वाकमत में पदार्थ त्तणिक नहीं। पर उसके मत में देह ही आत्मा है। दिगम्बर के मत में आत्मा देह से भिन्न है। पर जितना देह का परिमाण है; उतना ही आत्मा का परिमाण है। इस प्रकार इनका आपस में ही मतभेद है और इनके मतों की आपस में विलक्षणता है। ये सब वेद के विरोधी हैं, अतः नास्तिक हैं। इसी कारण से इनके मतों का प्रतिपादन और खण्डन विशेषता से नहीं लिखा।

वाममार्ग और नास्तिकमतों के ग्रन्थ यद्यपि संस्कृत में हैं, फिर भी वेदबाह्य हैं। अतः वेद के अनुसारी विद्याप्रस्थान अठारह ही हैं।

काव्य-साहित्य का तात्पर्य

मम्मट आदि ने जो साहित्यग्रन्थ लिखे हैं; उनका भी अन्तर्भाव कामशास्त्र में हो जाता है। वैसे ही सभी काव्योंमें से किसी का कामशास्त्र में और किसी का धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव है। इस प्रकार विद्या के अठारह प्रस्थान ही ब्रह्मज्ञानद्वारा मोक्ष के कारण हैं। कोई-कोई परम्परा से ज्ञान का कारण है। तर्कदृष्टि ने सभी शास्त्रों का यह अभिप्राय निश्चित किया।

में विज्ञान से बढ़कर विषय की भी सत्ता मानी गई है। किन्तु वह विषय क्षणिक तथा अनुमेय माना गया है। वैभाषिकों ने विषय को प्रत्यक्ष भी मान लिया। हाँ, विषय में क्षणभङ्गुरता इन्हें भी मान्य है।'

सुनि प्रसिद्ध विद्वान पुनि, मिल्यो आप तिहि जाय ।
निश्चय अपनो ताहि तिहि, दीनो सकल सुनाय ॥ २२ ॥

अर्थात् गुरुमुख से सुने हुए अर्थ में बुद्धि की स्थिरता के लिए सब शास्त्रों के अभिप्रायों का विचार किया । फिर भी संदेह पैदा हो गया कि शास्त्रों का जो अभिप्राय मैंने निश्चित किया है; वही है ? या कोई दूसरा ? क्योंकि तर्कदृष्टि को कनिष्ठ अधिकारी कहा है। अतः बार-बार कुतर्क से सन्देह होता है। उसकी निवृत्ति के लिए दूसरे विद्वानों के निश्चय से अपने निश्चय की एकता करने के लिए गया ।

तर्कदृष्टिके बैन सुनि, सो बोल्यो बुध सन्त ।
जो मोसूं तैं यह कह्यो, सोइ मुख्य सिद्धान्त ॥ २३ ॥
संसय सकल नसाय यूं, लख्यो ब्रह्म अपरोच्छ ।
जग जान्यो जिन सब असत, तैसैं बन्ध रु मोच्छ ॥२४॥
सेष रह्यो प्रारब्ध यूं, इच्छा उपजी येह ।
चलि तत्कालहि देखिये, जननि जनक जुत गेह ॥२५॥

अर्थात्—ज्ञानी का सब व्यवहार अज्ञानी की भांति प्रारब्ध से होता है। यह पहले कह आये हैं। अतः इच्छा हो सकती है। कहीं-कहीं शास्त्र में ऐसा लिखा है "ज्ञानी को इच्छा नहीं होती"। उसका यह अभिप्राय बिलकुल नहीं कि ज्ञानी का अन्तःकरण पदार्थ के इच्छारूप परिणाम को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि अन्तःकरण के इच्छा आदि सहज धर्म हैं। अन्तःकरण यद्यपि भूतों के सत्त्वगुण का कार्य कहा है; रजोगुण-तमोगुण-सहित सत्त्वगुण का कार्य है; अकेले सत्त्वगुण का नहीं। यदि अकेले सत्त्वगुण का कार्य हो तो चलस्वभाव अन्तःकरण का नहीं होना

चाहिए। एवं राजसीवृत्ति काम-क्रोध आदि और तामसीवृत्ति मूढता आदि किसी अन्तःकरण की नहीं होनी चाहिए। इसलिए केवल सत्त्वगुण का अन्तःकरण कार्य नहीं। किन्तु अप्रधान-रजोगुण-तमोगुण-सहित प्रधान-सत्त्वगुणवाले भूतों से अन्तःकरण उत्पन्न होता है। अतः अन्तःकरण में तीनो गुण रहते हैं। वे तीनो गुण भी मनुष्यों के जितने अन्तःकरण हैं उनमें बराबर बराबर नहीं, कम और अधिक हैं। अतः गुणों की कमी और अधिकता से सबके बिलक्षण स्वभाव हैं। इस प्रकार तीनो गुणों का कार्य अन्तःकरण है। जबतक अन्तःकरण रहता है; तबतक रजोगुण का परिणामरूप इच्छा का अभाव नहीं बन सकता। अतः "ज्ञानी को इच्छा नहीं होती;" इसका यह अभिप्राय है कि अज्ञानी और ज्ञानी दोनों की इच्छा तो समान होती है; परन्तु अज्ञानी इच्छा आदि को आत्मा के धर्म जानता है और ज्ञानी को जिस समय इच्छा आदि होते हैं; उस समय भी आत्मा के धर्म इच्छा आदि को नहीं समझता। किन्तु काम, सङ्कल्प, सन्देह, राग, द्वेष, श्रद्धा, भय, लज्जा, इच्छा आदि अन्तःकरण के परिणाम हैं— ऐसा समझता है। इस रीति से इच्छा आदि ज्ञानी को होते भी हैं। पर आत्मा के धर्म इच्छा आदि ज्ञानी को प्रतीत नहीं होते। अतः ज्ञानी में इच्छा का अभाव कहा है। तन-मन-वचन से ज्ञानी जो व्यवहार करता है, वह सब उसे आत्मा में प्रतीत नहीं होता। किन्तु सभी क्रियाएँ तन-मन-वचन में प्रतीत होती हैं। "आत्मा असङ्ग है" यह ज्ञानी का निश्चय होता है। अतः सभी व्यवहार करके भी ज्ञानी अकर्ता रहता है। इसी कारण से श्रुति में यह कहा है कि "ज्ञान के बाद वर्तमान शरीर में किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों के फल पुण्य-पाप का सम्बन्ध नहीं होता"। प्रारब्ध-बल से अज्ञानी की भांति सब व्यवहार और उनकी इच्छा हो सकती है।

शुभसन्तति का वृत्तान्त

शुभसन्तति राजा को छोड़कर तीनो पुत्र निकल पड़े थे, वहां उनकी कथा कही। अब पिता का वृत्तान्त कहते हैं।

पुत्र गये लखि गेहतैं, पितुचित उपज्यों खेद।
सूनो राज न तिनि तज्यो, नहिं यथार्थ निर्वेद ॥ २६ ॥

अर्थात् जब तीनो बेटे घरमें से भाग निकले तब राजा को तीव्र वैराग्य का अभाव होने के कारण वियोग का दुःख हुआ। अतः विषयभोगों का सुख नहीं हुआ। बाहर निकलने की इच्छा की, पर पुत्रों के चले जाने के कारण सूना राज्य छोड़ा नहीं जा सकता। इस कारण भी दुःख हुआ। यदि तीव्र वैराग्य होता तो सूना राज्य भी छोडा जा सकता था। पर तीव्र वैराग्य हुआ नहीं; किन्तु मन्द हुआ। अतः राज्य त्याग नहीं सका। उधर भोगों में आसक्ति नहीं-दोनों प्रकार से दुःख ही दुःख है। यथार्थ निर्वेद=तीव्र वैराग्य। मन्दवैराग्य का फल उपास्य की जिज्ञासा है कहते हैं--

चौपाईः—

सुभसन्तति पितु सो बडभागा, भयो प्रथम तिहिं मन्द विरागा।
जिज्ञासा उपजी यह ताकूँ, देव ध्येय को ध्याऊं जाकूँ ॥२७॥
पण्डित निरनो करन बुलाये। यथायोग्य आसन बैठाये ॥
प्रस्न कियो यह सबके आगै। अस को देव न सोवै जागै ॥२८॥
पुरुषारथहित जन जिहि जाचै। भक्तिमानके मनमैं राचै ॥
सुनि यह पृथिवीपतिकी बानी। इक तिनमैं बोल्यो सुज्ञानी ॥२९॥

विष्णु–उपासक का उत्तर

सुन राजा तुहि कहूँ सु देवा । सिव विरश्चि लागे जिहि सेवा ।
सङ्ख–चक्र–धारी हितकारी । पद्म–गदाधर पर–उपकारी ॥३०॥
मङ्गल–मूरति विस्नु कृपालू । निज सेवक लखि करत निहालू ।
सक्ति–गनेस–सूर–सिव जे हैं । सब आज्ञा ताकी मैं ते हैं ॥३१॥
भारत†सकल ग्रन्थ यह भाखै । पद्मपुरान–तापनी () आखै ।

विस्नुरूप तैं उपजत सब ही ।
परैं भीर जाचैं तिहि तब ही ॥ ३२ ॥

विविध वेषको धरि अवतारा । सब देवन कूँ देत सहारा ।
यातैं ताकी कीजै पूजा । विस्नु समान सेव्य नहीं दूजा ॥ ३३॥
विस्नुभक्त सिव उत्तम कहिये । तद्यपि सेव्य–स्वरूप न लखिये ।

रूप अमङ्गल सिवको सब सम ।
ध्यान करैं नहिं ताकौ यूँ हम ॥ ३४ ॥

राख डमरु गज चर्म कपाला । धरै आप किहिं करै निहाला ।
ताको पूत गनेस हु तैसो । रूप विलच्छन नरपसु जैसो ॥३५॥
सठ हठतैं ध्यावत जो देवी । तामसरूप धरत तिहिं सेवी ।

तिय निंदित असुची न पवित्रा ।
औगुन गिनैं न जात विचित्रा ॥ ३६ ॥

कपटकूटको आकर कहिये । पराधीन निज तन्त्र न लहिये ।
ऐसो रूप जु चहिये जाकूँ । सो सेवहु नर खर–सम ताकूँ ॥३७॥

---

† महाभारत । () विष्णुतापिनी उपनिषत् ।

भ्रमत फिरै यह निसदिन भानू। रहत न निश्चल छन इक थानू।
भ्रमतो फिरै उपासक ताको।
तेहि समान सेवक जौ जाको ॥ ३८ ॥

आन देव यातैं सब त्यागै। सेवनीय इक हरि नित जागै।
पूजन ध्यान करन विधि जो है। नारद पञ्चरात्र मैं सो है ॥३९॥

अर्थात् विष्णु को छोड़कर प्रसिद्ध जो चार देवों की उपासनाएँ हैं; उनमें एक-एक का निषेध करने से ही स्मार्त उपासना का भी निषेध हो जाता है। क्योंकि पांचो देवों की समबुद्धि से उपासना करने का नाम स्मार्त उपासना है। "शिव आदि चारो देव विष्णु के समान नहीं"-इस प्रकार के निषेध से भी स्मार्त उपासना का निषेध अर्थात् हो गया है।

शिव-सेवक का उत्तर

सिवसेवक मुनि सुनि तिहि बैना।
क्रोध-सहित बोल्यो चल नैना ॥
सुनु राजन बानी इक मोरी।
जामैं वचन प्रमान करोरी ॥ ४० ॥
सिव समान आन को कहिये ?
मांगै देत जाहि जो चहिये ॥
सब विभूति हरिकूँ दै मांगी।
धरत विभूति आप नित त्यागी ॥ ४१ ॥
चर्म कपाल हेतु इहि धारै।
सम नहिं उत्तम अधम विचारै ॥

नग्न रहत उपदेसत येही ।

नहिं विराग सम सुख ह्वै केही ॥ ४२ ॥

अर्थात् विष्णुसेवक ने चर्म-कपाल आदि निन्दित वस्तुओं के धारण करने का आक्षेप किया था। उसका यह समाधान है कि महादेव को सब पदार्थों में समबुद्धि है। दूसरे पाद का अन्वय यह है:--सम विचारै=उत्तम अधम नहीं विचारै।

सदावर्त ऐसो दे भारी । कासी पुरी भरे नर-नारी ।

सो सायुज्य मुक्ति कूँ जावै । गर्भ-वास-सङ्कट नहिं पावै ॥४३॥

सिव समान नर नारी ते सब ।

लहत सुदिव्य भोग सगरे तब ॥

करत आप अद्वय उपदेसा ।

तजत लिङ्ग यूं ब्रह्म प्रवेसा ॥ ४४ ॥

ऊंच नीच रंचहु नहिं देखै ।

मुक्ति सबन कूँ दै इक लेखै ॥

सिव-समान राजन ! को दाता ?

भक्त अभक्त सबन को त्राता ॥ ४५ ॥

विस्नु सुभाव सुन्यो हम ऐसो ।

जगमैं जग प्राकृत ह्वै तैसो ॥

त्राता भक्त, अभक्त न त्राता ।

यह प्रसिद्ध सब जगमैं नाता ॥ ४६ ॥

हरि सेवक, हर सेव्य बखान्यो ।

रामचन्द्र रामेश्वर मान्यो ॥

स्कंदपुरान व्यास बहु भाख्यो ।
हरि सेवक हर सेव्य हि राख्यो ॥ ४७ ॥
कह्यो जु भारत पद्मपुराना ।
सब देवन तैं हरि अधिकाना ॥
भारत तातपर्य नहिं देख्यो ।
जो अप्पय दीच्छित बुध लेख्यो ॥ ४८ ॥

अर्थात् वैष्णव ने जो यह कहा था कि महाभारत आदि ग्रन्थों में विष्णु को सब देवों का पूज्य कहा है, वह सिद्ध नहीं होता। क्योंकि महाभारत का तात्पर्य देखने से तो शिव की ही ईश्वरता प्रतीत होती है। यह †अप्पय दीक्षित नामक विद्वान् ने सारे पुराण-इतिहास का तात्पर्य लिखा है। महाभारत में यह प्रसंग है:—जब अश्वत्थामा ने नारायण अस्त्र और आग्नेय अस्त्र का प्रयोग किया। उससे सेना का तो बहुत संहार हुआ। पर पांचों पांडवों में से कोई नहीं मरा। तब वे रथ छोड़ कर धनुर्वेद और आचार्य को धिक्कारते धिक्कारते वन की ओर चले। मार्ग में भगवान् व्यासदेव जी मिले। इन्होंने कहा कि "हे ब्राह्मण! तुम वेद और आचार्य को मत धिक्कारो। ये कृष्ण और अर्जुन दोनों नारायण और नर का अवतार हैं। इन्होंने शिव का पूजन बहुत किया है। इसलिए इनकी भक्ति के अधीन होकर त्रिशूली महादेव इनके रथ के आगे रहते हैं। इन

† अप्पय दीक्षित—दक्षिण भारत (कांची के अड़प्पल गांव) के रहनेवाले थे। इनका जीवन-समय ई० १५२० से १५९३ तक माना जाता है। इन्होंने सिद्धान्तलेश-जैसे सौ से अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बनाये हैं। वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदी के कर्ता भट्टोजीदीक्षित भी, इन्हीं अप्पय्यदीक्षित के शिष्य थे। ये परम शैव थे।

पर किये अनेक अस्त्रों के सामर्थ्य को महादेव जी नष्ट कर देते हैं।"
इस महाभारत के प्रसंग से नारायणरूप कृष्ण की विभूति महादेवजी की कृपा से उत्पन्न हुई है यही सिद्ध होती है। अतः विष्णुचरित्र के प्रतिपादक सभी ग्रन्थ शिव की अधिकता प्रतिपादित करते हैं। क्योंकि उन ग्रन्थों में विष्णु को सेव्य कहा है। वह विष्णु महाभारत के प्रसंग से शिव का भक्त है। जिस शिव की भक्ति करने से विष्णु सेव्य बनते हैं। वही शिव परम सेव्य हैं। इस प्रकार अप्पय दीक्षित ने सब वैष्णव ग्रन्थों का प्रतिपाद्य शिव कहा है।

सिव सबको प्रतिपाद्य बखान्यो।
भक्तन मैं उत्तम हरि गान्यो।
ईस देव पद सब मैं कहिये।
महत–सहित इक सिव मैं लहिये ॥४९॥

[अर्थात् महादेव, महेश शिव को कहते हैं। दूसरे तो केवल देव और ईश कहलाते हैं]

सिव ते भिन्न असिव जो कहिये
तिहिं तजि सिव कल्यान हि लहिये।
जलसायी जिहिं नाम बखान्यो
सो जागै यह मिथ्या गान्यो ॥५०॥

अर्थात् कल्याण को शिव कहते हैं। उससे भिन्न अशिव है। इससे तो यही मतलब निकलता है कि शिव को छोड़कर अन्य सभी देवता अशिव (अकल्याणरूप) हैं। उन अकल्याणरूप देवताओं का त्याग करके शिव की उपासना करनी चाहिए।

विख लख जब सब कूँ उपज्यो डर
निर्भय किये सकल गर धरि गर।

जाको पूत गनेस कहावै।
विघ्नजाल तत्काल नसावै ॥५१॥
कारज मैं कारन गुन होवै।
यूं सिव विघ्न मूल तैं खोवै।
जन्ममरण' दुःख विघ्न कहावै
तिहिं समूल सिव-ध्यान नसावै ॥५२॥
सेवन योग्य सदासिव एका
जागे सहित समाधि विवेका।
तन्त्र पासुपत रीति जु गावै
त्यूँ पूजन जरि ध्यान लगावै ॥ ५३ ॥
नारद्-पंचरांत्र-मत झूठो। यह परिमल परसङ्ग अनूठो।
यातैं सिव सेवाचित लावै। पुरुषारथ जो चहै सु पावै॥ ५४॥

अर्थात् नारद पञ्चरात्र के मत का सूत्रभाष्य में खण्डन किया है। उसके अनुसारी रामानुज आदि नवीन वैष्णवों के मत का खण्डन † कल्पतरु की टीका परिमल में किया है।

गणेश-पूजक का उत्तर

सिवको पूत गनेस बतायो। कारनगुन कारजमैं गायो।
सुनि गनेस को पूजक बोल्यो।
अस किय कोप सिंहासन डोल्यो ॥ ५५ ॥

---

‡ कल्पतरु--ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य की (वाचस्पति-कृत) व्याख्या भामती है। भामती की व्याख्या है---कल्पतरु, जो कि अमलानन्द की कृति है। और उसकी भी व्याख्या है--(अप्पय्यदीक्षिय-रचित) कल्पतरु-परिमल।

राजन सुन दोनूँ ये झूठे। वचन सत्यसम कहत अनूठे।
सिवको पूत गनेस बतावै। पराधीनता तामैं गावै ॥ ५६ ॥
कहूँ प्रसङ्ग सुनहु इक ऐसो। लिख्यो व्यास भगवत मुनि जैसो।
चढै त्रिपुर मारन कूँ सारै। हरिहर सहित देव अधिकारै ॥५७॥

नहिं गनेस को पूजन कीनो।
त्रिपुर न रह्यहु तिनतैं छीनो ॥
पुनि पछताय मनाय गनेसा
त्रिपुर विनास्यो रह्यो न लेसा ॥ ५८ ॥
भये संमर्थ किये जिहि पूजा
सेवन योग्य सु इक नहिं दूजा।
राजपूत दसरथ को जैसे
बिघ्न हरन सिवको सुत तैसे ॥ ५६ ॥
व्यास गनेस-पुरान बनायो
सबको हेतु गनेस बतायो।
हरि-हर-बिधि-रवि-सक्ति-समेता
† तुण्डी तैं उपजत सब तेता ॥ ६० ॥
करत ध्यान जिहिं छन मनमैं
नासत विघ्न प्रधान गनन मैं।
विघ्न हरन यूँ जागत निसदिन
भक्ति-सहित सेवहु तिहि अनछन ॥ ६१ ॥

† तुण्डी = गणेश।

देवी के भक्त का उत्तर

हेतु गनेस सक्ति को सुनि के
‡ भगत भागवत उचर्यो गुनि के ।
सुन राजन बानी मम साची ।
तीनूं सकल कहत ये काची ॥ ६२ ॥
सूने देव सक्ति बिन सारे
मृतक देह-सम लखि हत्यारे ।
सक्तिहीन असमर्थ कहावै
सो कैसे कारज उपजावै ॥६३॥
जिन बहु सक्ति उपासन धारी ।
तातैं भये सकल अधिकारी ।
हरि हर सूर गनेश प्रधाना
तिनमैं सक्ति देखियत नाना ॥६४॥
सक्ति लोक मैं भाखत जाकूं
रूप भगवती को लखि ताकूं ।
लाख करोरि मात्रिकागन पुनि
तन्त्र ग्रन्थ लखि अंस सकल गुनि ॥६५॥

अर्थात् भगवती के दो रूप हैं; एक सामान्य और दूसरा विशेष। सब पदार्थों में अपना कार्य करने की जो सामर्थ्यरूपशक्ति है; वह भगवती का सामान्यरूप है। आठ भुजाओं आदि-सहित मूर्ति, विशेषरूप है। सामान्यरूप शक्ति के संख्यारहित अनंत अंश हैं।

‡ भगतभागवत = भगवती का भक्त ।

जिसमें शक्ति के कम अंश हों; वह अल्पशक्ति (असमर्थ) कहाता है। जिसमें शक्ति के अधिक अंश होते हैं; वह समर्थ कहा जाता है। विष्णु-शिव आदि में शक्ति के अंश अधिक हैं। अतः वे अधिक समर्थ कहे जाते हैं। इस प्रकार भगवती की सामान्यरूप जो शक्ति उसके अंशों की अधिकता से विष्णु है। शक्ति से रहित हों तो जैसे प्राणों के विना शरीर अमंगलरूप होता है, वैसे ही सभी देव हत्यारे (अमंगलरूप) हो जायँ। अतः जिस शक्ति की अधिकता से देवों की महिमा प्रसिद्ध है, वह महिमा शक्ति की ही है; उन देवों की नहीं। विष्णु, शिव, आदि ने भगवती की सामान्यरूप शक्ति की अधिक उपासना की है। अतः उनमें शक्ति के अंश अधिक हैं। यह अभिप्राय भगवती भक्त का है।

जैसे भगवती के निराकाररूप शक्ति के अनंत अंश हैं, वैसे साकाररूप के भी अनंत अंश हैं। उन साकार अंशों में कालीरूप प्रधान है। माहेश्वरी, वैष्णवी, गौरी, गणेश आदि भी प्रधान अंश हैं। विष्णु को भगवती की उपासना से इसके वैष्णवी नामक अंश की प्राप्ति हुई। ऐसे ही दूसरे देवों को भी भगवती की उपासना से अपने माहेश्वरी आदि अंशों का लाभ हुआ है। उनमें भी भगवती के विष्णु और शिव दोनों प्रधानभक्त हैं। क्योंकि ध्याता को ध्येयरूप की प्राप्ति ही उपासना की परम अवधि है। विष्णु और शिव को उपासना से ही ध्येयरूप की प्राप्ति हुई है। अतः प्रधान उपासक हैं। आगे यही प्रकार है।

काली ताको अंस प्रधाना
माहेश्वरी आदि लखि नाना।
हरि हर ब्रह्म सकल तिहि ध्यावै
निज निज अंस कृपा तिहि पावै ॥ ६६ ॥

ध्येयरूप ध्याता ह्वै जब ही
सिद्ध उपासन लखिये तब ही।
अस उपासना हरि अरु हरकी
नारी मूर्ति धरी तजि नरकी ॥६७॥

अमृतमथन प्रसंग मैं, हरि मोहिनी–स्वरूप।
अर्ध अंग सिव को लसै, देवीरूप अनूप ॥६८॥

अर्थात्—जब समुद्र–मथन से अमृत प्रगट किया गया; तब सुरों और असुरों में विवाद छिड़ गया। विष्णु उसे–मिटानें में असमर्थ ठहरे। उस समय अपनी उपास्यरूप भगवती का ऐसा एकाग्र चित्त से ध्यान किया कि स्वयं विष्णु ही उपास्यरूप को प्राप्त हो गये। उस रूप के माहात्म्य से असुर भी उनके अनुकूल हो गये। वैसे ही शिव ने भी समाधि में भगवती का ऐसा ध्यान किया जिससे शिव का अर्धविग्रह उपास्यरूप बना। (स्यात् विक्षेप से समाधि का अभाव हो गया होगा जिससे शिव का सारा विग्रह उपास्यरूप नहीं बना) इस प्रकार सभी देव भगवती के उपासक हैं। वह उपासना दो प्रकार से होती है––दक्षिण आम्नाय से और उत्तर आम्नाय से दक्षिण आम्नाय कह दिया गया।

अब उत्तर आम्नाय कहते हैं:––

भक्त भगवती के हर हरि हैं। इन सम कौन उपासन करि हैं।
तदपि महामाया जो ध्यावै। तुरत सकल पुरुषारथ पावै ॥६९॥
नहिं साधन जगमैं अस औरा। उपजैं भोग मोच्छ इक ठौरा।
भक्त भगवती कोजो जग मैं। भोगै भोग न आवत भग मैं॥
सिवकृत तन्त्र रीति यह गाई। भक्ति भगवती अति सुखदाई।

पञ्च मकार न तजिये कबहू। जिनहि सनातन सेवत सबहू॥
कृस्नदेव बलदेव सुज्ञानी। प्रथमा पिवत सदा ज्युं पानी।
और प्रधान पुरातन जेते। सेवत सकल मकारहि तेते॥७२॥
तिन सेवनकी जो विधि सारी। सिव निज मुख भाखी उपकारी।
सिवको वचन धरै जो मनमैं। लहै सुभोग मोच्छ इक तनमैं॥७३॥
ग्रन्थ भागवत व्यास बनायो। उपपुरान काली समुझायो।
भक्ति भगवती की इक गाई। पूजाविधि सगरी समुझाई॥७४॥
ध्याता सकल भगवती के हैं। हरि हर सूर गनेस जिते हैं।
सकल पिये प्रथमा मतिवारे। पूजत सक्ति मग्न मन सारे॥७५॥
जगजननी जागै इक देवी। परमानन्द लहै तिह सेवी।

सूर्यभक्त का उत्तरः—

सूर्यभक्त भगवती को यह सुनि।
क्रोध—सहित बोल्यो इक मुनि पुनि॥७६॥
सुन राजन बानी इक मोरी।
भाखूं झूठ न सपथ करोरी।
अति पापिष्ठ नीच मत याको।
श्रवन सनेह सुन्यो तैं जाको॥७७॥
औगुन जिते बखानत जगमैं।
ते गिनियत गुनगन या मगमैं!
मद्य मलिन ही तीरथ राखत।
सुद्ध नाम आमिष को आखत॥७८॥

कहत और यूं सब विपरीता।
संभु-तंत्र-सेवी मति-रीता ‡।
दच्छिन संप्रदाय जो दूजी।
जद्यपि श्रेष्ठ अनेकन पूजी ॥७६॥
तद्यपि बिन भानू सब अंधे।
इन सबके मन जिनमैं बंधे।
करत भानु सगरो उजियारो।
ता बिन होत तुरत अंधियारो ॥८०॥
और प्रकाशक जगमैं जेहैं।
अंश सबैं सूरज के ते हैं।
भानु समान कौन हितकारी।
भ्रमत आप परहित मति-धारी ॥८१॥
काल अधीन होत सब कारज।
ताहि त्रिविध भाखत आचारज।
वर्तमान भावी अरु भूता।
सूरज क्रिया करत यह सूता ॥८२॥
या विधि सकल भानु तैं उपजै।
भस्म होत सब जब वह कुपिजै।
भानुरूप द्वै-भांति पिछानहु।
निराकार साकारहिं जानहु ॥ ८३ ॥

‡ 'रीता = रिक्तवचन अर्थात् युक्ति और प्रमाणों से शून्य है।

निराकार परकास जु कहिये।
नामरूप मैं व्यापक लहिये।
अधिष्ठान सबको सो एका।
जगत विवर्त जिहि ह्वै अविवेका ॥८४॥

'अहंभानु' अस वृत्ति उदै जब।
तामैं प्रगटि विनासत तम तब ॥८५॥

अर्थात्—सूर्य के दो रूप हैं—एक निराकार प्रकाश और दूसरा साकार प्रकाश। उन दोनों में से जो निराकार प्रकाश है; वह सभी नाम-रूपों में व्यापक है। इसे वेदान्ती 'भाति' शब्द से व्यवहृत करते हैं। वही निराकार प्रकाश सूर्य का सामान्यरूप है और समस्त जगत् का अधिष्ठान है। उसको न जानने से ही जगत्रूपी विवर्त पैदा होता है। वही निराकार प्रकाश अन्तःकरण की वृत्ति में प्रतिबिम्ब सहित ज्ञान कहलाता है। जब 'अहं भानु' ऐसी अन्तःकरण की वृत्ति प्रकाश के प्रतिबिम्ब-सहित होती है, तब अज्ञान की निवृत्ति से जगत की निवृत्ति हो जाती है।

सुनि सकाररूप यह ताको।
होय चांदिना† दिन मैं जाको ॥

ताके अंश और बहुतेरे।
चन्द तारका दीप घनेरे ॥८६॥

यातैं द्वैविध भानु बतायो।
ज्ञेय ध्येय को भेद जनायो।

† चांदिना=प्रकाश, ज्ञान।

वेद सकल याही कूं भाखत ।
रूप प्रकास सत्य तिहि आखत ॥८७॥

अर्थात्—निराकार और साकार भेद से भानु के जो दो रूप हैं। उनमें से निराकाररूप ज्ञेय है और साकाररूप ध्येय है। इसे वेदान्तों में (उपनिषदों में) निर्गुण और सगुणभेद से दो प्रकार का ब्रह्म कहा है।

जामें लेस न तम को कब ही।
लखि तिहि जग जन जागत सब हीं ॥८८॥

कबहु न सोवै सो यूं जागै।
ध्यान करत ताको तम भागै।
और हि जागत भाखत सगरे।
राजन जानि झूठ ते झगरे ॥८६॥

ऐसे पांच उपासक बोले।
निज गुण अवगुण परके खोले।
पंडित और अनेक जु आये।
भिन्न भिन्न निज मत समुझाये ॥६०॥

अर्थात् जैसे पाँच उपासकों ने परस्पर विरुद्ध वचन कहे। वैसे ही अनेक पंडितों ने भी अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार विरुद्ध ही कहा। जैसे इन पांचों का परस्पर विरुद्ध मत है। वैसे जो स्मार्तपंडित पांचों देवों में भेदबुद्धि नहीं रखते, उनका मत भी इन सबसे विरुद्ध है। क्योंकि वैष्णव का यह मत है कि विष्णु के समान दूसरा कोई देव नहीं। सभी विष्णु के भक्त हैं। ।जो विष्णु के राम—कृष्ण—नारायण आदि नामों को अन्य देवों के नामों के

समान जानता है; वह नामापराधी† है। उसे राम आदि नामों के उच्चारण का यथार्थ फल नहीं होता। इस प्रकार सभी के मतों में अपने अपने उपास्यदेव के समान दूसरे देवता नहीं। स्मार्तमत के सभी देव समान हैं। अतः स्मार्तमत भी पांचों से ही विरुद्ध है।

षट् शास्त्रों की परस्पर विरुद्धता

१-सांख्य, २-पातंजल, ३-न्याय, ४-वैशेषिक, ५-पूर्वमीमांसा, और ६-उत्तरमीमांसा। इनका मत भी परस्पर विरुद्ध है। क्योंकि सांख्यशास्त्र में ईश्वर का अंगीकार नहीं। योग ने निरपेक्ष प्रकृति-पुरुष के विवेक ज्ञान से मोक्ष माना है। पातंजलशास्त्र में ईश्वर माना है और समाधि से मोक्ष स्वीकार किया है। यह विरोध है। न्यायमत में चार प्रमाण और वैशेषिकमत में दो प्रमाण माने हैं—यह विरोध है। न्याय-वैशेषिक का और भी आपस में बहुत विरोध है। वह जिज्ञासु के लिए अपेक्षित नहीं। अतः नहीं लिखा।

---

† नामापराधी—नामापराध करनेवाला। नामापराध दश हैं—

सन्निन्दाऽसति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधीः,
अश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागो हि धर्मान्तरैः,
साम्यं नाम्नि जपे शिवस्य च हरे र्नामापराधा दश ॥

वे दश दोष हैं—(१) सत्पुरुषों की निन्दा, (२) असत् (दुर्जन) पुरुषों के सामने नाम की महिमा गाना, (३) श्रीश (विष्णु) का ईश (शिव) से भेद बताना, (४) शिव का विष्णु से भेद, (५) श्रुति में श्रद्धा न होना, (६) शास्त्रों में अविश्वास, (७) गुरुवाक्यों पर भी विश्वास न होना, (८) नाम-कीर्तन से सभी पाप तो नष्ट हो ही जायंगे—इस अभिमान में आकर निषिद्ध पापाचरण और विहित का त्याग कर देना, (१०) राम, कृष्ण आदि नामों को गाय, बैल के नामों के समान समझना।

पूर्वमीमांसा में ईश्वर का अंगीकार नहीं। मोक्षरूप नित्यसुख का भी अंगीकार नहीं, किंतु कर्मजन्य विषयसुख ही पुरुषार्थ है।

उत्तरमीमांसा में ईश्वर और मोक्ष का अंगीकार है। विषयसुख पुरुषार्थ नहीं। उत्तरमीमांसा का यह मत इस ग्रन्थ में स्पष्ट है। सब शास्त्रों का इससे विरोध है। इसमें भेद का खण्डन और अभेद का प्रतिपादन है। इस रीति से सभी शास्त्रों के सिद्धांत परस्पर विरुद्ध हैं।

वचन विरुद्ध सुने जब राजा
यह संसे उपज्यो तिहि ताजा।
इनमैं कौन सत्य बुध भाखत
युक्ति समान सकल सम आखत ॥६१॥
संसै सोक दुःखित यूं जियमैं
को उपास्य यह लख्यो न हियमैं।
चिंता हृदय हुई यह जाकूं
निज संदेह सुनाऊं काकूं ॥६२॥

तर्कदृष्टि की पिता से मिलाप

शास्त्र–निपुन पंडित जग जेते
सुने विरुद्ध वकत यह तेते।
यूँ चिन्तित बहु काल भयो जब
तर्कदृष्टि तिहि आय मिल्यो तब ॥ ६३ ॥

मिले परस्पर ते उभै, पुत्र पिता जिहि रीति।
करि प्रनाम आसिष दुहुँ†, आसन लहे सप्रीति ॥९४॥

तर्कदृष्टि का पिता को उपदेश

निज पितु चिन्ता सहित लखि, सुत बोल्यो यह बात।
को चिंता चित रावरे‡, मुख प्रसङ्ग नहिं तात ॥ ९५ ॥

सुभसन्तति सुतकी सुनि बानी।
तिहि भाखी निज सकल कहानी।
चित चिंताको हेतु सुनायो
को उपास्य यह तत्त्व न पायो ॥ ९६ ॥
तर्कदृष्टि सुनि पितु के बैना
बोल्यो सुभसन्तति सुख-देना।
कारनरूप उपास्य पिछानहु
ताके नाम अनन्तहि जानहु ॥ ९७ ॥
कारजरूप तुच्छ लखि तजिये
यह सिद्धान्त वेद को भजिये।
रचे व्यास इतिहास पुराना
तिन मैं यहि मत नहिं नाना ॥ ९८ ॥
मन मैं मर्म न लखत जु पण्डित
करत परस्पर मत ते खण्डित।

---

† पुत्र ने प्रणाम किया, पिता ने आशीर्वाद दिया। फिर दोनों अपने-अपने आसन पर सप्रेम बैठ गये। ‡ चित्त रावरे = आपके चित्त में।

नीलकण्ठ पण्डित बुध नीको
किये ग्रन्थ भारत को टीको ॥ ९९ ॥
तिन यह प्रथम हि लिख्यो प्रसङ्गा।
श्रुति सिद्धान्त कह्यो जो चंगा ॥ १०० ॥

शङ्का—सब पुराणों के कर्ता एक ही व्यास हैं। उन्होंने स्कन्दपुराण में स्वतन्त्रता आदि ईश्वर-धर्म शिव के कहे हैं। दूसरे देवों को शिव की कृपा से ही सब विभूतियां प्राप्त हुई हैं। अतः जीवधर्म कहे। वैसे ही विष्णुपुराण और पद्मपुराण में विष्णु की ईश्वरता कही। दूसरे पुराणों और उपपुराणों में विष्णु-शिव से भिन्न गणेश आदि की ईश्वरता कहीं। इस प्रकार व्यास के वाक्यों में बिरोध प्रतीत होता है।

समाधानः—सभी† ईश्वर हैं। जिस प्रकरण में अन्य देव की निन्दा है; "उसकी उपासना नहीं करनी चाहिए" इसमें व्यासका अभिप्राय नहीं। किन्तु विष्णुपुराण में शिव आदि की निन्दा और विष्णु की स्तुति, उपासना में प्रवृत्ति का कारण है। वैसे ही शिवपुराण में विष्णु अदि की निन्दा भी उनकी उपासना के त्याग के लिए नहीं। किन्तु उनकी निन्दा शिव की उपासना में प्रवृत्त करने के लिए है। यदि एक प्रकरण में दूसरे की निन्दा उपासना के त्याग के लिए हो तो सब की उपासना का त्याग हो जायगा। इसलिए दूसरे की निन्दा एक की स्तुति के लिए है; त्याग के लिए नहीं।

दृष्टान्त--वेद में अग्निहोत्र के दो काल कहे हैं। एक सूर्योदय से पहले का और दूसरा सूर्योदय के बाद का, वहीं उदयकाल के प्रसङ्ग में अनुदयकाल की निन्दा की है और अनुदयकाल के प्रसङ्ग

† सभी--गणेश आदि सभी देव।

में उदयकाल की निन्दा की है। यदि वहां निन्दा का तात्पर्य त्याग माना जाय तो दोनो कालों में होम का त्याग सिद्ध होगा। पर नित्य कर्म का त्याग हो नहीं सकता। इसलिए उदयकाल की स्तुति के लिए अनुदयकाल की निन्दा है और अनुदयकाल की स्तुति के लिए उदयकाल की निन्दा है। वैसे ही एक देव की उपासना के प्रसङ्ग में दूसरे की निन्दा का एक की स्तुति में तात्पर्य है; दूसरे की निन्दा में तात्पर्य नहीं।

जैसे शाखा-भेद से कोई उदयकाल में होम करता है और कोई अनुदय काल में। पर फल दोनों का समान है। वैसे ही इच्छा (रुचि) भेद से पांच देवोंमें से जिसकी उपासना कोई करता है; उसी से ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो जाती है। ब्रह्मलोक में भोग भोगने के बाद विदेहमोक्ष होता है।

यद्यपि विष्णु आदि की उपासना से वैकुंठलोक आदि की प्राप्ति पुराणों में कही है; ब्रह्मलोक की नहीं। तो भी उत्तम उपासक विदेह-मुक्ति के अधिकारी देवयानमार्ग से† सभी ब्रह्मलोक में ही जाते हैं। पर एक ही ब्रह्मलोक विष्णु के उपासक को वैकुण्ठरूप प्रतीत होता है। वहां के रहनेवाले सभी चतुर्भुज पार्षदरूप प्रतीत होते हैं और स्वयं चतुर्भुजमूर्ति हो जाता है। वैसे ही

† सभी मार्ग हैं चार— (१) देवयान, (२) पितृयान, (३) जायस्व-म्रियस्व और (४) मोक्षमार्ग।

(१) देवयान—सूर्यमण्डल का भेदन करके ब्रह्मलोक तक जाने का मार्ग। इसे अर्चिः मार्ग भी कहते हैं।

(२) पितृयान—चन्द्रमण्डल का भेदन करके इन्द्रलोक तक जाने का मार्ग। इसे धूममार्ग भी कहते हैं।

(३) जायस्व-म्रियस्व—बार बार पैदा होना और मरना।

(४) मोक्षमार्ग—ब्रह्मज्ञान। जिससे तुरन्त मोक्ष की प्राप्ति होती है।

शिव के उपासक को ब्रह्मलोक ही शिवलोक प्रतीत होता है। वहां के निवासी और स्वयं भी त्रिनेत्रमूर्ति प्रतीत होते हैं। इस प्रकार सभी उपासकों को ब्रह्मलोक ही अपने अपने उपास्य का लोक प्रतीत होता है। क्योंकि यह नियम है कि देवयान मार्ग के बिना अन्य मार्ग से जो जाते हैं। वे सब संसार में वापस आ जाते है। देवयान मार्ग अकेले ब्रह्मलोक का ही है। इसलिए विदेहमोक्ष के योग्य सभी उपासक ब्रह्मलोक में जाते हैं। उस ब्रह्मलोक की ऐसी अद्भुत महिमा है कि उपासक की इच्छा के अनुसार सभी सामग्रियों सहित वह ब्रह्मलोक ही उन्हें प्रतीत होता है। इस रीति से पांचो देवों के उपासकों को समान फल होता है।

शङ्का—पांचो देवों के नाम-रूप भिन्न भिन्न कहे हैं। ईश्वर एक है। उसके नाम-रूप हो नहीं सकते ?

समाधान—परमार्थ से नाम-रूप परमात्मा में है ही नहीं। मन्दबुद्धि के लिए उपासनार्थ नाम-रूप-रहित परमात्मा के मायाकृत कल्पित नाम-रूप कहे हैं। अतः एक परमात्मा में मायाकृत कल्पित नाम-रूप अनेक हो सकते हैं। इस प्रकार सभी पुराणों के वाक्यों का विरोध दूर हो जाता है।

पुराण-वाक्यों में विरोध की शंका का मुख्य समाधान तो यह है कि विष्णु, शिव, गनेश, देवी; सूर्य आदि जो जो एक एक के नाम हैं। वे सभी कारण ब्रह्म के नाम हैं और कार्य ब्रह्म के भी। जैसे मायाविशिष्ट कारण को ब्रह्म कहते हैं और वैसे कार्य हिरण्यगर्भ को भी ब्रह्म कहते हैं। इसी प्रकार कारण ब्रह्म को विष्णु, शिव, गणेश, देवी और सूर्य पद, बोधित करते हैं और पांच ही कार्य ब्रह्म को भी बोधित करते हैं। एवं पांचो पदों के जो नारायण, नीलकंठ, विघ्नेश, शक्ति, भानु आदि अनन्त पर्याय हैं; वे सभी कारण ब्रह्म और कार्यब्रह्म दोनों को

ही बोधित करते हैं। प्रसङ्ग से कहीं कारण ब्रह्म को और कहीं कार्य ब्रह्म को। जैसे सैंधव पद घोड़े और नमक दोनों को ही बोधित करता है। (भोजन-प्रसङ्ग में सैंधव पद नमक को और गमन-प्रसङ्ग में घोड़े को बोधित करता है)। विष्णुपुराण में विष्णु; नारायण आदि पद कारण ब्रह्म के बोधक हैं और शिव, गणेश; सूर्य आदि पद कार्य ब्रह्म के।

१—वैष्णवग्रन्थों में विष्णु की स्तुति और शिव आदि की निन्दा से व्यास का यह अभिप्राय है कि "कारण ब्रह्म उपास्य है और कार्य ब्रह्म उपास्य नहीं।"

२—स्कन्द पुराण आदि शैवग्रन्थों में शिव, महेश आदि पद कारण ब्रह्म के बोधक हैं और विष्णु, गणेश, देवी, सूर्य आदि पद कार्य ब्रह्म के बोधक हैं। अतः उनमें भी कारण ब्रह्म की स्तुति और कार्य ब्रह्म की निन्दा है।

३—गणेशपुराण में गणेशपद कारण ब्रह्म का वाचक और विष्णु, शिव, आदि पद कार्य ब्रह्म के वाचक हैं। अतः कारण की स्तुति और कार्य की निन्दा है।

४—कालीपुराण में काली, देवी आदि पद कारण-ब्रह्म के बोधक और विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य आदि पद कार्य ब्रह्म के बोधक हैं। अतःकालीपद-बोध्य कारण की स्तुति और विष्णु-शिव आदि पद बोध्य कार्य की निन्दा है।

५—सौरपुराण में सूर्य-भानु-पद-बोध्य कारण-ब्रह्म है। उसकी स्तुति और अन्यपद-बोध्य कार्य की निन्दा है।

इस प्रकार सभी पुराणों में कार्यकारण के संज्ञारूप संकेत का तो भेद है। पर उपादेय और हेय अर्थ का भेद नहीं। सभी पुराणों में कारण ब्रह्म की उपासना उपादेय हैं और कार्य ब्रह्म की उपासना हेय है। अतः सब-के-सब पुराण एक ही कारण ब्रह्म की उपास्यता बोधित करते हैं। उनका आपस में कुछ विरोध नहीं।

यद्यपि चतुर्भुज, त्रिनेत्र, सतुण्ड, अष्टभुज आदि मूर्तियां माया के परिणाम हैं और चेतन के विवर्त हैं। इसलिए कार्य हैं; उनकी भी उपासना का विधान है। फिर भी उन अष्टभुज आदि मूर्तियों का जो माया-विशिष्ट कारण है, विचार करने पर उससे भेद नहीं। अतः उन आकारों का बाध करके कारण-रूप से उनकी उपासना में तात्पर्य है। क्योंकि आकार कार्य है। अतः तुच्छ है और कारण सत्य है। जिसकी मन्दबुद्धि आकार में ही स्थिर हो जाती है। वह शास्त्रोक्त उसी आकार की उपासना करे। उससे भी बुद्धि निश्चल हो करके कारण ब्रह्म की उपासना में स्थिर हो जाती है।

कारण ब्रह्म की उपासना का यह प्रकार है—कि "ब्रह्म जगत् का कारण है, वह सत्यकाम सत्यसङ्कल्प है, सर्वज्ञ है, स्वतन्त्र है, सबका प्रेरक है, और कृपालु है, ऐसे ईश्वर के कर्मों का चिन्तन करे। मूर्तिचिन्तन में शास्त्रों का तात्पर्य नहीं।

शास्त्रों में जो अनेक मूर्तियों का विधान है, वह उपासना के लिए नहीं। किन्तु सभी मूर्तियां कारण ब्रह्म की उपलक्षण हैं। जो वस्तु किसी के एक देश में कभी कभी रहकर उसी का व्यावर्तन करती है; वह उपलक्षण कहलाती है। जैसे "कौएवाला देवदत्त का घर है" में देवदत्त के घर का कौआ उपलक्षण है। क्योंकि घर के एकदेश में कौआ वैठा है और वह कभी-कभी बैठता है; सदा नहीं। दूसरे घरों से देवदत्त के घर का ब्यावर्तक है। जैसे जगत् का कारण ब्रह्म है। उसके एक देश में मूर्ति होती है और कभी-कभी होती है। चतुर्भुज आदि मूर्तियां कारण ब्रह्म में ही होती हैं; दूसरे में नहीं। अतः व्यावर्तक होने से उपलक्षण हैं।

उपलक्षण का यह प्रयोजन होता है कि विशेष्य वस्तु के स्वरूप का ज्ञान हो जाय। जैसे कौए से देवदत्त के घर का ज्ञान होता है; अन्य प्रयोजन कौए से नहीं। वैसे ही चतुर्भुज आदि

आकारों से निराकार कारण ब्रह्म का ज्ञान ही उपासना के लिए मूर्तियों के प्रतिपादन का प्रयोजन है और कुछ प्रयोजन नहीं।

मन्दबुद्धि लोग शास्त्रों का अभिप्राय न समझने के कारण उन आकारों में ही आग्रह कर बैठते हैं। श्याल–सारमेय–न्याय से आपस में कलह करते हैं। (श्याल = सारमेय = कुत्ता, न्याय = दृष्टान्त) दृष्टान्त इस प्रकार है—

किसी के साले का नाम उत्फालक था और साले के शत्रु का नाम था धावक। उसने अपने कुत्ते का नाम धावक रख छोड़ा था और पड़ौसी के कुत्ते का नाम था—उत्फालक। जब उस मनुष्य की स्त्री पहले पहल आई तो दोनो कुत्ते आपस में सदा लड़ते ही रहते थे। जबजब उसका पति श्वसुर आदि उत्फालक को गालियां निकालते और अपने धावक की प्रशंसा करते थे। तब यह देखकर स्त्री को भ्रम हुआ कि मेरे भाई को गालियां निकालते हैं। उसके शत्रु की बड़ाई करते हैं। इसलिए रुष्ट होकर पति से क्लेश करने लगी। जैसे उनका अभिप्राय जाने बिना ही समान–संज्ञा के भ्रम से झगड़ा किया। वैसे ही वैष्णवग्रन्थों में शिव आदि नाम ले कर कार्य ब्रह्म की निन्दा की है। यह अभिप्राय न समझने के कारण ही शैव आदि दुःखी होते रहते हैं और विष्णु आदि नाम लेकर की हुई कार्य की निन्दा को न समझकर वैष्णव दुःखी होते रहते हैं।

सभी पुराणों का यह अभिप्राय है कि (क) कारण ब्रह्म उपास्य है। (ख) कार्य ब्रह्म त्याज्य है। मायाविशिष्ट चेतन को कारण ब्रह्म कहते हैं और मायाकृत कार्यविशिष्ट चेतन को कार्यब्रह्म कहते हैं। यही अर्थ महाभारत की नीलकण्ठी टीका के आरम्भ में लिखा है।

॥सुभ सन्तति सुनि सुतके बैना। उपज्यो जियमैं किंचित चैना।

पुनि तिन प्रस्न कियो निज पूतहि ।
सास्त्र परस्पर कहत असूतहि ॥ १०१ ॥

अर्थात्—शुभसन्तति को पुराणविषयक विरोध की शङ्का दूर हो जाने से चैन (सुख) हुआ। पर शास्त्रों की परस्पर विरोध शङ्का नहीं मिटी। अतः किञ्चित् सुख हुआ, पूर्णतया नहीं। असूत=विरुद्ध।

शुभसन्तति बोला

तिन मैं सत्य कौन सो कहिये
जाको अर्थ बुद्धि मैं लहिये ॥ १०२ ॥
तर्कदृष्टि सुनि निज पितु बानी
बोल्यो वचन सु परम प्रमानी ।

तर्कदृष्टि बोला

उत्तर मीमांसा उपदेसा
वेद–विरुद्ध न जामे लेसा ॥ १०३ ॥
सास्त्र पंञ्च ते वेद विरुद्धं
यातैं जानहु तिनहिं असुद्धं ।
किञ्चित अंश वेद अनुसारी
लखि वहु ग्रहत मन्द अधिकारी ॥ १०४ ॥

अर्थात्—यद्यपि षट् शास्त्रों के कर्ता सर्वज्ञ माने हैं। सांख्य के कपिल, योग के पतञ्जलि–(शेषावतार), न्याय के गौतम, वैशेषिक के कणाद, पूर्वमीमांसा के जैमिनि और उत्तरमीमांसा के कर्ता व्यास हैं। इन सभी का माहात्म्य प्रसिद्ध है। अतः इनके वचनरूप शास्त्र भी सब बराबर–बराबर प्रमाण मानने चाहिए। तो भी

सब वाक्यों में प्रबल प्रमाण वेदवाक्य हैं। क्योंकि वेदों के कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर हैं। उनमें भ्रम, संदेह और † विप्रलिप्सा दोष नहीं हो सकता। इन शास्त्रों के कर्ता जीव हैं। इनमें भ्रम आदि दोष हो सकते हैं। शास्त्रकारों की जो सर्वज्ञता है; वह योग-माहात्म्य से प्राप्त हुई है। अतः वे युंजान योगी हैं। ईश्वर की सर्वज्ञता स्वभावसिद्ध है। अतः वे युक्त योगी हैं। जिन्हें चिंतनकरने से पदार्थों का ज्ञान होता है; वे युंजान योगी और जिसे सदा एकरस सभी पदार्थ अपरोक्ष प्रतीत होते हैं, वह युक्तयोगी–ऐसे ईश्वर ही हैं। युक्तयोगीकृत वेदवचन प्रबल हैं और युंजानयोगीकृत शास्त्रवचन दुर्बल। अतः वेदानुसारी शास्त्र प्रमाण हैं और वेदविरुद्ध अप्रमाण। पांच शास्त्र कैसे–वेदविरुद्ध हैं, यह शारीरक आदि ग्रन्थों में स्पष्ट कर दिया गया है। उत्तरमीमांसा किसी अंश में भी वेद से विरुद्ध नहीं। अतः प्रमाण है। किसी एक अंश में शास्त्रों को वेद के अनुसार देख करके मंदबुद्धि उनमें विश्वास कर बैठता है, पर हैं वे बहुत अंशों में वेदबिरुद्ध ही। अतः त्याज्य हैं।

यदि किसी–एक अंश में वेदानुसारी होने से ही वे उपादेय समझे जायँ तो जैनशास्त्रों ने क्या बिगाड़ा है? अहिंसा–अंश में वे भी वेदानुसारी हैं; उपादेय होने चाहिए। पर उपादेय नहीं; किंतु त्याज्य हैं।

यद्यपि सुगत (बुद्ध) ईश्वर का अवतार है। उसके वचन भी वेद के समान प्रमाण मानने चाहिए। पर वे विप्रलिप्सा के लिए (असुरों को ठगने के लिए) प्रकट हुए थे। अतः उनके वचन सर्वथा अप्रमाण हैं। इसलिए सब अंशों में वेद के अनुसार होने से उत्तरमीमांसा ही मुमुक्षुओं को उपादेय है।

यद्यपि उत्तरमीमांसा व्यास के बनाये सूत्र हैं। उनके व्याख्यान

† विप्रलिप्सा—ठगने की इच्छा।

भी अनेकों ने भिन्न भिन्न किये हैं। फिर भी पूज्यपाद शंकराचार्य जी का व्याख्यान ही वेदानुसार है; दूसरे नहीं। यह बात हम पांचवों तरङ्ग में दिखा आये हैं। अतः दूसरे पांचों ही शास्त्र अप्रमाण हैं। पहले इसी तरङ्ग में सभी शास्त्रों की जो मोक्षोपयोगिता कही है; वह तर्क दृष्टि के सारग्राही विवेक के कारण कही है। जैसे किसी का शत्रु किसी पर तलवार से प्रहार करे। लहू निकलने से दैववशात् उसका रोग मिट जाय तो सारग्राही मनुष्य तलवार मारने को भी उपकार मान लेता है। (कुब्बी के मारी लात, कुब्बी का कुब्ब दूर हो गया-वाली बात है) वैसे ही अन्य शास्त्रों से भी किसी प्रकार अंतः-करण की शुद्धि या निश्चलता हो जाने से मनुष्य शान्त हो जाता है और वेद के अनुसार निश्चय करके मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यदि सर्वथा उन्हीं में ही चिपटा रहे तो अन्धगो-लांगूल-न्याय से अनर्थ को प्राप्त होता है। अतः सभी शास्त्रों को छोड़कर अद्वैत व्याख्यान के कारण उत्तरमीमांसा ही उपादेय है।

अंधगो-लांगूल-न्यायः—किसी सेठ के आभूषणों से मंडित लड़के को चोर उठा ले गये। वन में जाकर उसके आभूषण उतार लिये और उसकी आंखें फोडकर उसे वहीं छोड़कर चले गये। यदि कोई निर्दय धूर्त उस रोते हुए बच्चे को मदोन्मत्त सांड की पूंछ पकड़ा दे कौर कह दे कि देखना इसकी पूंछ न छोड़ना, यह तुझे तेरे गांव पहुँचा देगा। वह दुःखी अबोध बालक उसके वचन पर विश्वास करके दुःख उठाता-उठाता मर जाता है। वैसे ही विषयरूपी चोर विवेकरूपी आंख को फोड़कर संसार रूपी वन में फेंक देता है। वहां भेदवादी निर्दय वंचक अन्य शास्त्रों के सिद्धांत में आग्रह कराते हैं और यह कहते हैं कि-"हमारा उपदेश ही तुझे मोक्ष प्राप्ति का कारण होगा, इसे छोड़ना मत"। इनके वाक्यों पर विश्वास करने से पुरुषार्थ के सुख से वंचित हो जाता है। जन्म-मरण के महा दुःख को भोगता रहता है। इसलिए दूसरे सभी शास्त्र त्याज्य हैं।

तर्क दृष्टि के वचन सुनि, सुभसंतति तिहि तात ।
संसै सोक नस्यो सकल, लह्यो हिये कुसलात ॥१०५॥

कारन ब्रह्म उपासना, करी बहुत चित लाय ।
तर्कदृष्टि निज लखि गुरु, राज समाज चढ़ाय ॥१०६॥

अर्थात् तर्कदृष्टि पुत्र होते हुए भी उत्तम उपदेश देने के कारण गुरुपद को प्राप्त हो गया । यह ब्रह्मविद्या का ही माहात्म्य है ।

कछू वतीत्यो काल तब, तजि राजा निज-प्रान ।
ब्रह्मलोक मैं सो गयो, मुनि जहँ जात सध्यान ॥१०७॥

अर्थात् राजे के मरने का देशकाल नहीं कहा । कारण कि उपासक के मरने में देश काल की अपेक्षा नहीं होती । दिन में मरे या उत्तरायण में, पवित्रभूमि में मरे या अपवित्र में, सब प्रकार से उपासना के बल से देवयान मार्गद्वारा ब्रह्म लोक की प्राप्ति होती है । अदृष्टि के प्रसंग में जो देशकाल की अपेक्षा कह आये हैं, वह योग-सहित उपासक के लिए है । केवल ईश्वर के शरणागत उपासक के लिए इसकी आवश्यकता नहीं । यह बात सूत्रकार एवं भाष्यकार ने कही है ।

राजकाज सब तब कियो, तर्कदृष्टि हुसियार ।
लग्यो न रंचक रंग तिहि, लख्यो ब्रह्म निर्धार ॥१०८॥

अंत भयो प्रारब्ध को, पायो निश्चल गेह ।
आतम परमातम मिल्यो, देह खेह मैं छेह ॥१०९॥

अर्थात् देह का खेह=राख, छेह=अंत, आत्मा=कूटस्थ साक्षी । उसका परमात्मा से अभेद । यद्यपि कूटस्थ का परमात्मा से

सदा अभेद है। फिर भी उपाधिकृत भेद है। उपाधि के लय से उपाधिकृत भेद का अभाव हो जाता है। परमात्मा से अभेद कहने का मतलब है कि विदेहमुक्ति में ईश्वर से अभेद हो जाता है; शुद्ध चेतन ब्रह्म से नहीं। यह बात शारीरक भाष्य क चौथे अध्याय में कही है। वहां यह प्रसंग आता है कि—

(क) विदेह–मुक्ति में सत्यसंकल्प आदि रूप की प्राप्ति जैमिनि के मत के अनुसार कही। (ख) औडुलौमि के मतानुसार सत्यसंकल्प आदि का अभाव कहा है। (ग) सिद्धांन्तमत में सत्यसंकल्प आदि का भाव और अभाव दोनो कहे है। उसका यह अभिप्राय है—विदेहमुक्ति में ईश्वर से अभेद हो जाता है। जिससे ईश्वर में के सत्यसंकल्प आदि मुक्त में भी आ जाते हैं। ऐसा दूसरे जीव कहते हैं। पर ईश्वर तो परमार्थ दृष्टि से शुद्ध है। उसमें कोई गुण नहीं। किंतु निर्गुण है। अतः सत्य–संकल्प आदि का अभाव है।

यद्यपि संसार–दशा में भी जीव परमार्थ से निर्गुण है, शुद्ध है। फिर भी जीव को संसार–दशा में अविद्या से कर्ता–भोक्तापन प्रतीत होता है। ईश्वर को कभी आत्मा में या दूसरे में संसार–प्रतीत नहीं होता। अतः सदा असंग निर्गुण शुद्ध है। जो अभेद ईश्वर से है; वही शुद्ध से भी है।

यदि ईश्वर के साथ के अभेद को शुद्ध ब्रह्म के साथ का अभेद न मानें तो ईश्वर को शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। क्योंकि जीव की भाँति ईश्वर को उपदेशजन्य ज्ञान और विदेह–मोक्ष तो कभी हो नहीं सकता। यदि उसका सदा प्राप्तरूप शुद्ध नहीं तो जीव से भी नीचा ईश्वर सदाबद्ध ठहरेगा। अतः मानना चाहिए कि ईश्वर को आवरण नहीं, उपदेश–जन्यज्ञान की अपेक्षा नहीं, आवरण के अभाव से भ्राँति नहीं, अतः नित्य सर्वज्ञ है और नित्यमुक्त है। माया और उसका (माया का) कार्य

आत्मा में प्रतीत नहीं होता। अतः सदा असंग है। इसी लिए शुद्ध है। इस प्रकार ईश्वर से हुआ अभेद ही शुद्ध चेतन से अभेद है।

दृष्टान्त से भी ईश्वर से अभेद ही सिद्ध होता है। जैसे मठ में घट का अभाव हो तो मठाकाश में घटाकाश का लय होता है; महाकाश में नहीं। वैसे विद्वान् का शरीर ईश्वरकृत ब्रह्माण्ड में लीन होता है और अखिल ब्रह्माण्ड ईश्वर-शरीर माया के अंतर्भूत है। विद्वान् का आत्मा विदेह-मोक्ष में ब्रह्माण्ड से बाहर नहीं जाता। अतः ईश्वर से अभेद होता है। जो मठाकाश में घटाकाश का अभेद हुआ, वह मठाकाश भी महाकाश रूप ही है। वैसे ही ईश्वर से अभेद होता है। वह ईश्वर शुद्ध ब्रह्म ही है, अतः शुद्ध ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।

यह विचार सागर कियो, जामैं रत्न अनेक।
गोप्य वेद सिद्धांत तैं, प्रगट लहत सवेविक ॥ ११० ॥
सांख्य न्याय मैं श्रम कियो, पढ़ि व्याकरण अशेष।
पढ़े ग्रन्थ अद्वैत के, रह्यो न एकहु शेष ॥ १११ ॥
कठिन जु और निबन्ध हैं, जिन मैं मत के भेद।
श्रम तैं अवगाहन किये, निश्चलदास सवेद ॥ ११२ ॥
तिन यह भाषा-ग्रन्थ किय, रश्च न उपजी लाज।
तामैं यह इक हेतु है, दया-धर्म-सिरताज‡ ॥ ११३ ॥

‡ दया-धर्म-सिरताज—संस्कृत के दुरूह ग्रन्थ मरुभूमि के गहरे अगाध कूप हैं। उनका जल वही पी सकता है, जिसके पास उतनी लम्बी डोरी हो और मजबूत डोल। फिर वहां से पानी निकालने का अपार भीम-बल हो। व्याकरण, काव्य, कोष आदि के लम्बे, गम्भीर अध्ययन के बिना संस्कृत के दर्शनों का रस-पान नहीं किया जा सकता। इस कठिनता को देखकर हिन्दी भाषी जिज्ञासुओं पर दया आई। महात्मा श्रीनिश्चलदास जी ने अपनी तपस्या

बिन व्याकरण न पढ़ि सकै, ग्रन्थ संस्कृत मंद ।
पढ़ै याहि अनयासहि, लहै सु परमानन्द ॥ ११४ ॥
दिल्ली तैं पच्छिम दिशा, कोस अठारह गाम ।
तामैं यह पूरो भयो, 'किहडौली' तिहि नाम ॥ ११५ ॥
ज्ञानी मुक्ति विदेह मैं, जासौं होय अभेद ।
दादू आदू रूप सो, जाहि बखानत वेद ॥ ११६ ॥
नामरूप व्यभिचारि मैं, अनुगत एक अनूप ।
दादू पद को लच्छ्थ है, अस्ति-भांति-प्रियरूप ॥ ११७ ॥

इति श्री श्रौतमुनि-महामण्डल-शिरोमणि-भगवत्पाद-श्री
स्वामिस्वयम्प्रकाशानन्दजी के शिष्य, राष्ट्रभाषा-
पतञ्जलि स्वामी निगमानन्द परमहंस से अनूदित
श्री स्वामी निश्चलदासकृत विचार-सागर की
जीवन्मुक्ति-विदेह मुक्ति-वर्णन नामक
सातवीं तरङ्ग संपूर्ण ।

ॐ तत् सत्

(सम्पूर्णोऽयं ग्रन्थः)

और दीर्घ आराधना के बल पर संस्कृत दर्शनों का रस ले इस मधुर सागर की रचना कर दी। जिसमें सभी प्यासे पेट भर मीठा पानी पी कर अपनी चिर पिपासा दूर कर सकते हैं। साधारण से साधारण व्यक्ति भी इससे पूरा लाभ उठा सकता है।

षट् दर्शनों का सार

(क) पूर्वमीमांसा दर्शन में—

१—'जगत्' स्वरूप से अनादि अनन्त प्रवाहरूप संयोग-वियोगवाला माना है।
२—'जगत् का कारण' जीव, अदृष्ट और परमाणु माने हैं।
३—'ईश्वर' नहीं माना।
४—'जीव' जड–चेतनात्मक विभु, नाना, कर्ता–भोक्ता माना है।
५—'बंधकारण' निषिद्ध कर्म माने हैं।
६—'बन्ध' नरक आदि दुखों का सम्बन्ध माना है।
७—'मोक्ष' स्वर्ग–प्राप्ति मानी है।
८—'मोक्ष—साधन' वेदविहित कर्म माने हैं।
९—'अधिकारी' कर्म–फलासक्त माना है।
१०—'प्रकटकर्ता' आचार्य जैमिनि हैं।
११—'प्रधानकांड' कर्मकाण्ड है।
१२—'वाद' आरम्भवाद है।
१३—'आत्म–परिमाण–संख्या' विभु और नाना हैं।
१४—'प्रमाण' छह माने हैं।
१५—'ख्याति' अख्याति (प्रभाकर ने) मानी है।
१६—'सत्ता' जीव और जगत् की परमार्थ सत्ता मानी है।
१७—'उपयोग' चित्त–शुद्धि मानी है।

(ख) उत्तर–मीमांसा (वेदान्त) दर्शन में—

१—'जगत्' नामरूपात्मक माया का परिणाम और चेतन का विवर्त है।
२—'जगत् का कारण' अभिन्न–निमित्तोपादान ईश्वर है।
३—'ईश्वर' माया–विशिष्ट चेतन।
४—'जीव' अविद्या–विशिष्ट चेतन।

५—'बन्धकारण' अविद्या।
६—'बन्ध' अविद्या और तत्कार्य।
७—'मोक्ष' अविद्या–तत्कार्य–निवृत्ति–पूर्वक ब्रह्म की प्राप्ति।
८—'मोक्ष–साधन' ब्रह्मात्मैक्यज्ञान।
९—'अधिकारी' मल–विक्षेप–रहित।
१०—'प्रकटकर्ता' वेदव्यास।
११—'प्रधानकाण्ड' ज्ञानकाण्ड।
१२—'वाद' विवर्तवाद।
१३—'आत्म–परिमाण–संख्या' विभु और एक।
१४—'प्रमाण' छह।
१५—'ख्याति' अनिर्वचनीय।
१६—'सत्ता' परमार्थरूप आत्मसत्ता और व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक जगत्–सत्ता।
१७—'उपयोग' तत्त्वज्ञान–पूर्वक मोक्ष।

(ग) न्याय–दर्शन में–

१—'जगत्' परमाणुओं से आरब्ध संयोग–वियोग–जन्य आकृति–विशेष।
२—'जगत् का कारण' परमाणु और ईश्वर आदि नौ। (देखो पृष्ठ १७४)
३—'ईश्वर' नित्य, इच्छा–ज्ञान आदि गुणोंवाला विभु कर्ता विशेष।
४—'जीव' ज्ञान आदि चौदह–गुणोंवाला कर्ता–भोक्ता, जड़, विभु, नाना।
५—'बन्धकारण' अज्ञान।
६—'बन्ध' इक्कीस दुःख। (देखो षष्ठ तरंग, पृष्ठ २११)
७—'मोक्ष' इक्कीस दुःखों का ध्वंस।
८—मोक्ष–साधन' इतर–भिन्नात्मक ज्ञान।
९—'अधिकारी' दुःख–जिहासु कुतर्की।
१०—'प्रकट–कर्ता' गौतम।
११—'प्रधानकाण्ड' ज्ञानकाण्ड।

१२—'वाद' आरम्भवाद।
१३—'आत्म-परिमाण-संख्या' विभु और नाना।
१४—'प्रमाण' चार (प्रत्यक्ष—अनुमान—उपमान और शब्द)
१५—'ख्याति' अन्यथाख्याति।
१६—'सत्ता' जीव और जगत् की परमार्थ सत्ता।
१७—'उपयोग' मनन।

(घ) वैशेषिक-दर्शन में-

'कर्ता' कणाद हैं। 'प्रमाण' दो हैं (प्रत्यक्ष और अनुमान)। शेष सब न्याय-दर्शन के अनुसार है।

(ङ) सांख्य-दर्शन में-

१—'जगत्' प्रकृति-परिणाम तेईस तत्वरूप।
२—'जगत् का कारण' त्रिगुणात्मक प्रकृति।
३—'ईश्वर' नहीं।
४—'जीव' असंग, चेतन, विभु, नाना, भोक्ता।
५—'बंधकारण' अविवेक।
६—'बंध' अध्यात्मादि त्रिविध दुःख।
७—'मोक्ष' त्रिविध-दुःख-ध्वंस।
८—'मोक्ष-साधन' प्रकृति-पुरुष-विवेक।
९—'अधिकारी' संदिग्ध विरक्त।
१०—'प्रकटकर्ता' कपिल।
११—'प्रधानकाण्ड' ज्ञानकाण्ड।
१२—'वाद' परिणामवाद।
१३—आत्म-परिमाण-संख्या' विभु और नाना।
१४—'प्रमाण' तीन (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द)।
१५—'ख्याति' अख्याति।

१६—'सत्ता' जीव और जगत् की परमार्थ सत्ता।

१७—'उपयोग' त्वं--पदार्थ--शोधन।

(च) योगदर्शनमें-

१—'जगत्' प्रकृति–परिणाम तेईस तत्त्वात्मक।

२—'जगत् का कारण' कर्मानुसार प्रकृति और तन्नियामक ईश्वर।

३—'ईश्वर' क्लेश--कर्म--विपाकाशय--असंबद्ध पुरुषविशेष।

४—'जीव' असङ्ग, चेतन, विभु, नाना, कर्ता--भोक्ता।

५—'बंधकारण' अविवेक।

६—'बंध' प्रकृति--पुरुष--संयोग--जन्य अविद्या आदि पंच क्लेश।

७—'मोक्ष' प्रकृति--पुरुष--संयोगाभाव--पूर्वक अविद्या आदि पांच क्लेश की निवृत्ति।

८—'मोक्षसाधन' निर्विकल्प–समाधि–पूर्वक विवेक।

९—'अधिकारी' विक्षिप्त चित्तवाला।

१०—'प्रकटकर्ता' पतञ्जलि।

११—'प्रधानकाण्ड' उपासनाकाण्ड।

१२—'वाद' परिणामवाद।

१३—'आत्मा–परिमाण–संख्या' विभु और नाना।

१४—'प्रमाण' तीन।

१५—'ख्याति' अख्याति।

१६—'सत्ता' जीव–जगत्–परमार्थ सत्ता।

१७—'उपयोग' चित्त की एकाग्रता। †

---

† विचार–चन्द्रोदय से अनूदित।

विचारसागर में आये हुए हिन्दी पद्यों का संस्कृत-श्लोको में अनुवाद

पद्यनिर्माता—

आशुकवि श्रीस्वामी विद्यानन्दजी व्याकरणाचार्य-न्याय-मीमांसा-तीर्थ (प्रज्ञाचक्षु)

ॐ

अथ प्रथमः तरंगः

नत्वा वागीश्वरीं, देवीं, विद्या-बुद्धि-प्रदान् गुरून् ।
अनुवाद-मिषेणात्र, निदिध्यासनमाश्रये ॥ १ ॥
यत् प्रकाशं सुखं नित्यं, नाम-रूपाश्रयो विभु ।
मतेर्लक्ष्यमलक्ष्यं चाऽमेयं शुद्धं तदस्म्यहम् ॥ २ ॥
अब्धेरिव ममानन्त्यं, विवर्त्ता वीचिवत् सुराः ।
पञ्च हेरम्ब-वैकुण्ठ-शक्ति-शङ्कर-भास्कराः ॥ ३ ॥
ईशः कृपालुः सर्वज्ञो, योगिभिर्य उपास्यते ।
स भाति मयि चिन्मात्रे, मृषा हेतुरुपाधिना ॥ ४ ॥
अविज्ञाते जगत् सत्यं, विज्ञाते च न किञ्चन ।
लोलमाल्ये फणाटोपो, न नष्टो न तिरोहितः ॥ ५ ॥
रामं बिजिज्ञास्य निरस्य कामम्-
भक्त्यै यदाप्त्यै कृतिनो यतंते ॥
सोऽहं भवच्छेदकरः समर्च्यो
नमेय मीड्यं कमिवात्मनोऽन्यम् ॥ ६ ॥
यः स्वात्मबोधो गुरुणा, दादुना मतिसाधुना ।
निश्चलायोपदिष्टोऽसौ, सिन्धौ सेतुरिवाश्रितः ॥ ७ ॥
द्वैतापहारिसिद्धान्तै, रगाधैः श्रुतिवारिभिः ।
विचारसामरं पूर्णं, धीरास्तरत मोदतः ॥ ८ ॥
सूत्रैश्च वार्तिकै र्भाष्यैः बुध्यन्ते नाल्पबुद्धयः ।
तस्माद् वेदान्तवाक्यानां, सुपठं सारमारभे ॥ ९ ॥
हिन्दीकवीनां विख्याता, ग्रन्थाश्चेद् बहवो नु किम् ।
न याति संशयस्तैस्तु विचार-सागरं बिना ॥ १० ॥
विनाऽनुबन्धै रुचिराः प्रबन्धाः-
प्रेक्षावतां नेक्षणमाद्रियन्ते ।
अतोऽनुबन्धान् चतुरो वदामि-
प्रवर्तनां येन कुशाग्रबुद्धिः ॥ ११ ॥

प्रयोजनं सद्विषयोऽधिकारी-
सम्बन्ध एषां त्रिविधश्चतुर्णाम् ।
चत्वार एते विदिता विधिज्ञैः-
निबोध तत्राधिकृतं प्रशान्तम् ।। १२ ।।
धौतं मलं कर्मभिरप्युपास्त्या-
विक्षेपदोषो मनसोऽपनीतः ।
स्यादेक मेवावरणं चतुर्भिः-
युतोऽधिकारी सुदृढै रुपायैः ।। १३ ।।
विवेकः साधनेष्वाद्यो, वैराग्यं तदनन्तरम् ।
शमादीनां च सम्पत्तिः षण्णां तुर्या मुमुक्षुता ।। १४ ।।
अविनाश्यचलो ह्यात्मा, विनश्वरं चलं जगत् ।
एवंबोधो विवेकः स्याद्, उदितेऽस्मिन् मतिर्भवेत् ।। १५ ।।
स्वरूपतो धर्मतश्च नित्यात्मा, दिगादि न ।
परिणामः सदसती, पृथग् ग्राह्ये विवेकतः ।। १६ ।।
आब्रह्मभुवनान् भोगान् जिहासेदवितृष्णयन् ।
अमोहपाको वैराग्यमुक्तं विविदिषुश्चरेत् ।। १७ ।।
शमो दमस्ततः श्रद्धा समाधानं तुरीयकम् ।
विषयेभ्यो मनोरोधः शम उक्तो मनीषिभिः ।
दमो ग्रहस्त्विन्द्रियाणां माद्यतां वश्यमंकुशम् ।। १९ ।।
श्रुतौ च गुरुवाक्ये च याऽऽस्था सदनुमागमे ।
विश्वासः स भवेत् श्रद्धा विभौ नानृतधारणा ।। २० ।।
मलविक्षेपयोरत्यन्तं समाधानं विलोपनम् ।
समाहितिस्तु पर्यायो, न समाधिः क्रियोज्झितेः ।। २१ ।।
भोग्ये विषधिया मुञ्चन् कर्माणि सह साधनैः ।।
ग्लायेत् पश्यन् स्त्रियं स्वर्णमुपरामः शुचिव्रतः ।। २२ ।।
क्षुत्पिपासे तापशीते मानामानौ भयाभये ।
मृष्यमाणः स्वभावेन, तितिक्षां भजते बुधः ।। २३ ।।

शमादिषट्क-साहित्यम् एकं सम्भूय साधनम् ।
नोक्तं नवत्वं सुतरां साधनानां चतुष्टयम् ॥ २४ ॥
अहंकारादि-भूम्यन्तः प्रपञ्चो बन्ध उच्यते ।
तन्निवृत्या पर-ब्रह्म-प्रेप्सा-ज्ञेया मुमुक्षुता ॥२५॥
श्रवणादि त्रयञ्चैव विवेकादि चतुष्टयम् ।
तत्त्वंपदार्थ शुद्धिश्चेत्यष्टौ धारय यत्नतः ॥ २६ ॥
अष्टौ तत्रान्तरङ्गाणि, यज्ञादौ बहिरङ्गता ।
अन्तरङ्गमुपादाय, बहिरङ्गं परित्यज ॥ २७ ॥
तपोऽनाशक-दानार्चा-ब्रह्मचर्यैरथेब्यया ।
वेदानुवचनेनैनं जिज्ञासन्त इति श्रुतिः ॥ २८ ॥
श्रवणं तत्त्वनिर्धारो मननं तस्य युक्तिभिः ।
निदिध्यासनमित्येते तत्त्व-शोधन-पूर्वकाः ॥ २९ ॥
प्रमाणसंशयं श्रुत्या मत्या छिन्धि प्रमेयगम् ।
सैवाऽसंभावना द्वेधा शास्त्रे ब्रह्मणि च क्रमात् ॥ ३० ॥
भावनां विपरीतां तु निदिध्यासनतो जहि ।
दृढात्माकारया वृत्याऽनात्मवृत्तेः तिरस्क्रिया ॥ ३१ ॥
विषय-ग्रन्थ-सम्बन्धो निरूपक-निरूप्यता ।
प्राप्य-प्रापक-सम्बन्धः स्यात् फलेनाधिकारिणः ॥ ३२ ॥
जीवे ब्रह्मणि चाभेदो विषयः शास्त्र-विद्ययोः ।
भेदवादो विमूढानां, मृत्युः नानात्व-दर्शनम् ॥ ३३ ॥
प्रयोजनं परानन्द-प्रत्यक्-तादात्म्य-वेदनम् ।
स्वरूपप्राप्त्या बन्धस्य समूलस्य निवर्तनम् ॥ ३४ ॥
नन्वस्य नित्य-सुख-चिन्मयरूप मुक्तम् ।
अप्राप्तलाभ इह कीदृश इष्यतेऽर्थः ।
मैवं स्वरूपमपि सद्गुरुवाक्यलब्धम्-
अस्मर्यमाण-कर-कङ्कण-मोह-तुल्य म्॥ ३५ ॥

विध्वंसो भावरूपस्य कोऽज्ञानस्येति चेत् शृणु।
निवृत्ति र्नान्याऽधिष्ठानाद् रज्जुज्ञानादहिर्गतः ॥ ३६ ॥
योऽनुबन्ध--तरङ्गं तु प्रथमं धारयेद् धिया।
सद्यस्तस्य हरेद् बन्धं गुरु र्दातु र्दयान्वितः ॥ ३७ ॥

इति प्रथमस्तरङ्गः सपूर्णः

अथ द्वितीयः तरंगः

अनुबन्धाः पूर्वमुक्ता उपाया येऽनुशासने।
वैशद्यं वर्णये तेषां विशेषं सोपपत्तिकम् ॥ १ ॥
दुःख--त्रयापघाताय सर्वो वांछति लौकिकः।
समूलानर्थनाशं तु न वष्टि न च चेष्टते ॥ २ ॥
ज्ञानजन्या भवेदिच्छा सानुभूतस्य वस्तुनः।
नानुभूतं क्वचिद् ब्रह्म तत् कथं प्राप्तुमिष्यताम् ॥ ३ ॥
भोगेऽभिलाषो जन्तूनां स्पृहा मोक्षाय नादृता।
नाधिकारी भवेद् रीत्या पठेद् ग्रन्थं य उत्सुकः ॥ ४ ॥
जीव--ब्रह्मैक्य--विषयः सत्यादभेदादसङ्गतः।
ब्रह्माऽक्लेश--क्रियापाकं जीवो बद्धो दुराशयः ॥ ५ ॥
नाध्यासेन विना बन्धो मेये माने च दोषतः।
सामान्य--ज्ञानतोऽध्यासो हेत्वभावे कथं भवेत् ॥ ६ ॥
निवृत्ति र्ज्ञानतस्तस्य सत्यज्ञानेन युज्यते।
नो अनादि हृतं किञ्चित् न विलासस्य बन्धता ॥ ७ ॥
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रायश्चित्तं चतुर्विधम्।
विहितं स्यान्निषिद्धं तु क्रियमाणमभुक्तकम् ॥ ८ ॥
सन् प्रपञ्चः साध्यमिष्टं प्रत्यवायो निमित्ततः।
नित्यकर्मकृतो मोक्ष इत्यैकभविकं मतम् ॥ ९ ॥

कुतर्केऽस्मिन् समाधानं, शृणु--दुःख--त्रय--क्षतिः ।
एकान्तात्यन्ततस्तात, नात्मज्ञानाद् ऋते भवेत् ॥ १० ॥
असत्तर्कै न हन्तव्यो, वेदवादः सयुक्तिकः ।
जनन्याः शिरसः छेदे, जनकः किं प्रसोष्यते ॥ ११ ॥
अनपायं सुखं काम्यं, सर्वस्यैकान्त--गोचरम् ।
सुखरूपं परं ब्रह्म, जिज्ञास्यं किमतः परम् ॥ १२ ॥
सुखमात्रं सर्वैः काम्यं, दुःखास्पृष्टमहेतुकम् ।
आगमापायि--विषयै रधिकारी न रज्यते ॥ १३ ॥
रागद्वेषौ साक्षिभास्यौ, बुद्धि--धर्मौ न चेन्द्रियैः ।
अपञ्चीकरणाद् भास्यौ, इमौ जीवे तु गौणतः ॥ १४ ॥
पापवद् बन्धहेतुत्वात्, पापं सुकृतमप्युत ।
चिदाभासास्तु भोक्तारो, भिद्यन्ते बुद्धिभेदकाः ॥ १५ ॥
उदासीनो बुधः साक्षीः, जीवो धर्मी प्रमातृकः ।
मनो विशेषणं तस्य, साक्षी तूपहितोऽक्रियः ॥ १६ ॥
आभासार्थे नामशब्दो रूपमध्यास उच्यते ।
उभे मृषात्मनी ख्याते, ह्यस्ति--भाति--प्रियं च सत् ॥ १७ ॥
साजात्यज्ञानतो भ्रान्तिः सत्साद्दश्यमकारणम् ।
भवेत् खर्जूरिकाभ्रांतिः खर्जूरीसद्दशे फले ॥ १८ ॥
द्विजातिरात्मा शङ्खश्च पीतो रूप्यं च शुक्तिका ।
मनोलोभं विनैव स्यात् गुडस्तिक्तस्तु पित्तजः ॥ १९ ॥

बाध--ज्ञानेन बाध्यं न रजत--वलयं, शुक्तिका--व्यापि--हेतुः ।
कार्याद् ज्ञानाच्च धर्मादसदनुभवजोऽध्यास इत्यथसिद्धम् ॥
पूर्वद्दष्टः परत्र स्मृति--गत इति वाऽऽधार--वैषम्यसत्ता ।
को वैषम्यावभासो निखिल चितिगतो वेदबाध्यश्चतुर्धा ॥ २० ॥
न च सामान्यबोधेन नश्यत्याध्यासिको रिपुः ।
सुषुप्तौ स्फुटचैतन्यमपि नाऽलं तमश्छिदे ॥ २१ ॥

दास्यं दीक्षागुरोः प्राप्य, दयालोर्दुरितान्तकात् ।
अतीत-मति-दीप्तात्मा सोहमेवास्मि निश्चलः ॥ २२ ॥

इति द्वितीयस्तरङ्गः सम्पूर्णः ।

अथ तृतीयः तरंगः

चतुःसाधन-सम्पन्नो योऽधीते शास्त्रमुत्तमम् ।
उपसन्नो गुरुं शान्तं स वै कैवल्यमश्नुते ॥ १ ॥
बुद्धिभूम्यामयत्नेन ज्ञानबीजं प्ररोहति ।
अपरोक्षं दृढं तस्मात् पुष्पिता शांतिवाटिका ॥ २ ॥
घुणा लोहं न खादन्ति, काञ्चनं न मलीमसम् ।
कृताघोऽपि गुरो भक्तो न जातु नरकं व्रजेत् ॥ ३ ॥
संक्षेपेण प्रवक्ष्यामि, लक्षणं गुरु-शिष्ययोः ।
विदित्वा धारयित्वा च दृढो बोधः प्रजायते ॥ ४ ॥
उपेतोपनिषल्लिंग-व्यक्त-तात्पर्य-निर्णयात् ।
कर्मकाण्डं लक्षणया गृह्णन् श्रोत्रिय उच्यते ॥ ५ ॥
अनुक्षणं चिन्तयते, भाषते च समीहते ।
चिदानन्दमयं ब्रह्म, ब्रह्मनिष्ठो हि नान्यधीः ॥ ६ ॥
तज्ज्ञानार्थं गुरुं गच्छेत् समित्पाणिः समुत्सुकः ।
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं च, मुनिं मूकादिषड्गुणम् ॥ ७ ॥
मूकः क्लीबश्च वधिरो बालोऽन्धः पंगुरेव च ।
चरन् तिष्ठति तृप्तात्मा द्वन्द्वातीतो जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥
यस्योपदेश-पीयूषं महामोह-मरीचिकाम् ।
गंगां करोति गम्भीरां मूढानां मरुमानसम् ॥ ९ ॥
जटिलो लुञ्चितशिखो गैरिकैकपरिच्छदः ।
परिव्राजकवेशोऽपि साधको न स सद्गुरुः ॥ १० ॥

ज्वलदंगारसमां पश्यन् चितां काषायसन्निभाम् ।
श्मशान इव संसारे, बाह्यवेषं समर्चय ॥ ११ ॥
श्रुति-स्मृत्यानुकूल्येन, गुरो र्लक्षण मीरितम् ।
जिज्ञासूनां सुशिष्याणां लक्षणानि निबोध मे ॥ १२ ॥
मंत्र-यंत्र-धनादीप्सु-रीषणार्तः प्रतारकः ।
ग्रन्थाभार-शतग्राही न शिष्यो ब्रह्म-लुण्ठकः ॥ १३ ॥
शान्तो दान्तः तितिक्षुश्च यतदारपरिग्रहः ।
आप्तकामो न्यस्तकामो दीक्षया क्षीणकल्मषः ॥ १४ ॥
"यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ ।"
इत्याम्नाय-दिशा सेव्यो गुरुरीश्वरतोऽधिकः ॥ १५ ॥
लवणोदधिवत् वेदो न क्षमः चित्त-शान्तये ।
पर्जन्यतुल्या गुरवो वर्षन्ति वचनं सुधाम् ॥ १६ ॥
यथा चर्ममयः कुम्भो घृतमेवाभिषिञ्चति ।
अब्रह्मवित्तथा वान्तां पण्डितो वाचमुच्चरेत् ॥ १७ ॥
विनाऽनुभूतिं को वादो, विना योगं क ईश्वरः ।
वासरः को विना भानुं, पण्डितस्तपसा विना ॥ १८ ॥
तस्माद् वेदमधीयीत, सद्-गुरो र्वेदपारगात् ।
ब्रह्मचर्येण तपसा, श्रद्धयोपशमेन च ॥ १९ ॥
शरीरं द्रविणं चित्तं शुश्रूषायां समर्पयेत् ।
अवेक्ष्य गुरुमायान्तं, साष्टाङ्गं प्रणमेद् भुवि ॥ २० ॥
कलत्र-पुत्र-भृत्यान् स्वान्, दास-दासी-तुरङ्गमान् ।
निवेद्याऽकिञ्चनस्तिष्ठेद् अहंभाव-विवर्जितः ॥ २१ ॥
गृहिणे गुरवे वित्तं, याज्ञवल्क्य-समाय वै ।
सर्वस्वमपि यो दद्यात् संविदा च श्रिया ह्रिया ॥ २२ ॥
चरेत् परमहंसस्य सेवामिंगित-लक्ष्मणा ।
स्पृहयन्ति न भूतिभ्यो मुनयो ह्यपरिग्रहाः ॥ २३ ॥

भैक्षचर्यां चरेत् त्यागी, देह-निर्वाह-हेतवे ।
कदन्नं च रसं जित्वा मनो भवति निर्मलम् ॥ २४ ॥
गुरु-प्रसाद-मात्रेण, यापयेत् प्राणतर्षणम् ।
जीविकां याचमानस्तु छिन्नाभ्रमिव नश्यति ॥ २५ ॥
सुप्रसन्नं मुखं दृष्ट्वा गुरोः पृच्छेत् समाहितः ।
अपृष्टः शिक्षयेतैनं यद्यहोभाग्य मुत्तमम् ॥ २६ ॥
द्वे फले गुरु-सेवाया, मनसो विमलीक्रिया ।
ज्ञानप्राप्तिश्च ते सिद्धे, कृतोपासक-वर्त्मनः ॥ २७ ॥
भेदं पञ्चविधं भिन्द्यात् वाचोयुक्ति-विशारदः ।
जीवेशयो र्जडकयो स्तथा जीव-परात्मनो ॥ २८ ॥
ईशस्य जगतो भेदो जीवस्य जगत स्तथा ।
एते पञ्चविधा ख्याता भेदा द्वैतप्रवादिनाम् ॥ २९ ॥
इत्येष दैशिक-निदर्शित आत्मबोधो-
दादुप्रसाद--परिपूत-सुनिश्चलेन ।
कण्ठे स्थितं गुरुपदं वर-पद्मरागम्-
सम्पूर्णराग इव रङ्कपुटं जहाति ॥ ३० ॥

इति तृतीयस्तरङ्गः सम्पूर्णः ।

अथ चतुर्थः तरंगः

यस्याः श्रवण-मात्रेण विचारः परिपुष्यति ।
जिज्ञासुरुचिरां गाथां तां वक्ष्ये गुरु-शिष्ययोः ॥ १ ॥
आसीत् त्रिभुवनाधीशः शुभसन्तति-संज्ञकः ।
सहोदराः त्रयस्तस्य कुमारा नीति-कोविदाः ॥ २ ॥
नैतच्चित्रं त्रिभुवने शास्तु मर्त्यैः स्वधर्मतः ।
कृत्वा षाड् गुण्यम् आनृण्यम् अकार्पण्यमभीषणम् ॥ ३ ॥

षाड्गुण्यम् = नीतिम् । आनृण्यम् = ऋणत्रयशुद्धिम् ।
अकार्पण्यम् = औदार्यम् । अभीषणम् = अहिंसाम् ।

तत्त्वदृष्टिरभूज्ज्येष्ठो मध्यमोऽदृष्टिरर्थवित् ।
कनीयाँस्तर्कदृष्टिश्च सुज्ञा धानुष्क-तार्किकाः ॥ ४ ॥
स राजा जातनिर्वेदो रहसि स्थित आत्मनः ।
अचिन्तयत् सुकल्याण-साधनं तत्त्व-दर्शनम् ॥ ५ ॥
केलिभि र्याति कौमारं व्यवायेन च यौवनम् ।
हन्त भोगेषु दारेषु देहरत्नं हृतं मया ॥ ६ ॥
न शुद्धिः पङ्कमग्नस्य न तृप्तिर्विषयैषिणः ।
नोद्धारो दारसक्तस्य न यशो द्यूत-जीविनः ॥ ७ ॥
न सुरापस्य सौभाग्यं नार्जवञ्च प्रशासतः ।
न तुष्टिः शास्त्रहीनस्य मुक्ति र्नाऽतत्त्ववेदिनः ॥ ८ ॥
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च शुभसन्ततिरीश्वरः ।
विलासान् विरसान् ज्ञात्वा विहातुं चकमे श्रियम् ॥ ९ ॥
विभज्य राज्यं पुत्रेभ्यो राजधर्मे स्थिताः प्रजाः ।
देहे निरनुबन्धेऽस्मिन् विन्देय ममितं तपः ॥ १० ॥
समाहूय सुतान् राजा प्रमुखान् सचिवानपि ।
जगादैको दिवं शास्तु परोऽवतु रसातलम् ॥ ११ ॥
राजा मध्यम-लोकस्य काशीमधिवसेत् पुरीम् ।
तृतीय एवं भ्रातृणां प्रेमा वो मा विलुम्पतु ॥ १२ ॥
यस्यां तु म्रियमाणेभ्यः शिवो मुक्तिं प्रयच्छति ।
ब्रह्मविद्या परा काशी सा कथं नैव सेव्यते ॥ १३ ॥
स्पर्धमाना जगत्सिन्धो र्निवृत्तेव पराङ्मुखी ।
वहत्युदङ्मुखी यत्र जाह्नवी लोकपावनी ॥ १४ ॥
कृत्वा स्वां स्वां राजधानीं प्रजा-पालन-तत्पराः ।
भुक्त्वा नृपोचितान् भोगांस्त्रिवर्गं भजतात्मजाः ॥ १५ ॥
एवं व्यवसितो धर्मो युष्माकं कीर्त्तये मया ।
विभागाय हि द्रुह्यन्ति भ्रातरो भूमि-लोलुपाः ॥ १६ ॥

न पश्याम्यत्र भोगेषु तुष्टये किञ्चिदात्मनः ।
श्रेयोऽर्थी परमं धाम विविक्तु वनमाश्रये ॥ १७ ॥
जनकस्य वचः श्रुत्वा राजन्याः शुद्ध-बुद्धयः ।
एकान्ते मन्त्रणां चक्रुः संस्कारो हि प्रसीदति ॥ १८ ॥
यदिदं वै तृणं मत्वा धनं त्यजति नः पिता ।
नूनमक्षय-वित्ताय मोक्षाय प्रयतिष्यते ॥ १९ ॥
तारुण्यं हि तपो-योग-साधनं चाति दुर्लभम् ।
जराशेषेषु भोगेषु नीत्वा किं साधयेमहि ॥ २० ॥
अमृतत्त्वस्य नाऽऽशाऽस्ति वित्तेन स्तेन-वर्त्मना ।
जीवितं राज्यकामानां परपीडा-परायणम् ॥ २१ ॥
असम्भाष्यैव पितरं त्रयः प्रव्रजिता गृहात् ।
वासनासु जितात्मानो न पराधीन-वृत्तयः ॥ २२ ॥
सा चातुरी तद्धि बलं स धर्मस्तच्च पौरुषम् ।
यद् विदित्वा परम्ब्रह्म न भोगेष्वनुषज्यते ॥ २३ ॥
निर्जित-श्रीमदोद्रेकाः सद्गुरोः प्राप्ति-काम्यया ।
आत्ममात्रं परिज्ञातुं प्रविविक्त-धियो ययुः ॥ २४ ॥
वनाद् वनं विहरतां हिमालय-गुहान्तरे ।
श्रितो वट-तरु-च्छायं प्राप्त एको महामुनिः ॥ २५ ॥
परिवृतः शिष्यगणैर्गुरु-कारुण्य-कांक्षिभिः ।
भद्रया मुद्रया युक्तः पद्मासन-विराजितः ॥ २६ ॥
अहर्निशं ब्रह्म-विद्या-दृढाभ्यासैक-निष्ठितः ।
शिवः सर्वे शिवः सोऽहं शिवान्नान्यदिति ब्रुवन् ॥ २७ ॥
सनकादीन् यथा शम्भु र्देवान् नारायणो यथा ।
वशिष्ठ इव भृग्वादीन् राजर्षीन् जनकस्तथा ॥ २८ ॥
विप्रान् मीमांसकान् राज्ञस्तार्किकान् व्रतिनो वटून् ।
परिव्राजो वनस्थांश्च बोधयन् ब्रह्म निर्गुणम् ॥ २९ ॥

तं संशय-च्छिदं ज्ञात्वा श्रद्दधानाः सिषेविरे।
शिष्योचितेन विधिना भवरोग हरं गुरुम् ॥ ३० ॥
षण्मासानुषिताः तत्र कुर्वन्तो भक्तिमुत्तमाम्।
तान् समीक्ष्य गुरुः प्राह प्रसन्नो मुनि-सत्तमः ॥ ३१ ॥
वत्साः शृणुत भद्रं वः के यूयं ? कुत आ गताः ?
किं जानीथ ? किमिच्छन्तो हित्वा गृहमिहागताः ? ॥ ३२ ॥
भ्रातृणामिङ्गितं ज्ञात्वा भ्रू-सङ्केतं गुरोरपि।
विवेक-विनय-स्नातो ज्येष्ठो वचनमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

तत्त्वदृष्टिरुवाच

भगवन् ! सूनवो राज्ञः ख्यातस्य शुभसन्ततेः।
तत्त्वं वेदितुमिच्छामस्तत्त्वं मोहमयं जगत् ॥ ३४ ॥
वयं क्लेशातुरा दीना दया-कल्पतरु र्भवान्।
आदेशमात्रं वाञ्छामो येन पृच्छेम तत्पदम् ॥ ३५ ॥

गुरुरुवाच

प्रीतोऽहं युष्मदर्चाभिः प्रष्टव्यो योऽस्ति संशयः।
किमदेयं हि शिष्येभ्यो गुरूणां द्रुत-चेतसाम् ॥ ३६ ॥

तत्त्वदृष्टिरुवाच

को जीवः ? कश्च वा मोक्षो ? बन्धः कः ? किं च साधनम् ?
कथं मायाकृतो भोगः ? स्वप्रकाशे तमः कुतः ॥ ३७ ॥
कृत्वा श्रौतानि कर्माणि समुपास्य सुरान् पुनः।
अतृप्तचेतसा भूयः फल-पाशोऽवरोपितः ॥ ३८ ॥
कर्मारम्भेण घोरेण दह्यमानो विषेण च।
नावैमि मरण-त्राणं दष्टः कालाहिना यथा ॥ ३९ ॥
स त्वं भेद-तमो-हारि ज्ञानं मे वक्तुमर्हसि।
येन तृष्णां त्यजन् तुच्छां जीवन्मुक्तो भवाम्यहम् ॥ ४० ॥

गुरुरुवाच

प्राप्तुमिष्टो य आनन्दः स त्वमेव नचान्यथा ।
भ्रान्तिजन्यं विजानीहि क्लेशं विक्षेपमेव च ॥ ४१ ॥
न लेशतोऽपि दुःखं ते चिदानन्द स्वरूपक ! ।
आभासतो विभासन्ते सति सूर्ये मरीचिकाः ॥ ४२ ॥

तत्त्वदृष्टिरुवाच

अनुगृहीतो भवता ददता ज्ञानमुत्तमम् ।
परमानन्द आत्मा चेद् विषये तु कथं सुखम् ॥ ४३ ॥
तृप्तिस्तु विषयानन्दात् जायते देहिनो मम ।
अन्वयव्यतिरेकौ च सुखस्य विषयैः सह ॥ ४४ ॥
हेतुसत्वे कार्यसत्वमन्वयः परिकीर्त्तितः ।
कार्याभावो हेत्वभावे व्यतिरेक उदाहृतः ॥ ४५ ॥

गुरुरुवाच

बुद्धिश्चिदात्म-विमुखी विषयाननुधावति ।
आभास आत्मानन्दस्य गृह्यते सुखरूपतः ॥ ४६ ॥
एषोऽस्य परमानन्दो योऽखण्डैकरसानुभूः ।
तस्यानन्दस्य भूतानि मात्रामेवोपभुञ्जते ॥ ४७ ॥
श्रुतिरेषा महत्तत्त्वं विमलं प्रतिबिम्बभाक् ।
गृह्णाति चित्सुखाकारमधिष्ठानतया स्थितम् ॥ ४८ ॥
लब्धेनाभीष्टभोगेन क्षोभते रजसा चला ।
क्षणिकस्थैर्यमासाद्य सुखमास्वदते मति ॥ ४९ ॥
विप्रयुक्त-चिरप्राप्त-प्रिय-पुत्रादि-दर्शनात् ।
प्रथमैकाग्र्यजो मोदो न भूयो व्यग्रतादिशः ॥ ५० ॥
योगानन्दः समाधौ च सुषुप्तौ स्वात्मवेदनम् ।
विषय-व्यतिरेकेण चिदानन्दः प्रकाशते ॥ ५१ ॥
न त्वं देही त्वमात्मैव देहे तिष्ठन्सुखात्मकः ।
यच्चान्यत् प्रष्टुकामोऽसि वद वत्स ! विचारतः ॥ ५२ ॥

तत्त्वदृष्टिरुवाच

नमोऽस्तु गुरवे तुभ्यं सद्यः संशय-हारिणे ।
भवाब्धौ कर्णधाराय दयार्द्र-मनसे सदा ॥ ५३ ॥
भ्रान्तिः समूलमुच्छिन्ना स्तोकं ग्लपयते मनः ।
अज्ञानामेष संसारो दुःखानृतजडो मतः ॥ ५४ ॥
ज्ञानिनामात्मसंस्थानां कथंवृत्तिरवस्थितिः ।
समीहा धारणा भोगो व्यवहारश्च कीदृशः ॥ ५५ ॥
इति कौतूहलं वक्तुं मुखरी-कुरुते हि माम् ।
विन्द्याद् वाङ्मनसातीतं कथं वाङ्मनसे स्थितः ॥ ५६ ॥

गुरुरुवाच

शृणु प्रणिहितो धीर-मनाः श्रवण-पावनम् ।
व्यवहारस्त्वविदुषां तुल्यस्तत्त्वविदामपि ॥ ५७ ॥
आहारादि सम्प्रयोगे भोगान् विद्वानपीच्छति ।
निजात्मसुखमर्थेषु गृह्णाति प्रतिविम्बितम् ॥ ५८ ॥
अज्ञस्तु मूढ़-बुद्धित्वान्न वेत्ति परिणामिताम् ।
शान्ता घोराश्च मूढ़ाश्च वृत्तयस्तासु रज्यति ॥ ५९ ॥
शिवरूपोऽहमस्मीति प्रसन्नः स्वसुखी कृती ।
दुःख-वह्निकणं मत्वा त्यजेत् स्वर्ग-सुधामपि ॥ ६० ॥
अज्ञानां कर्म-निष्ठां च बुद्धिभेदान्न बाधते ।
वर्त्तयन्नेव चरति स्तुति-निन्दा-विवर्जितः ॥ ६१ ॥
व्यवहारः समाख्यातो बिदुषामेष ते नघ !
अलक्ष लिङ्गा निर्वाण-देहास्ते नातिवादिनः ॥ ६२ ॥

तत्त्वदृष्टिरुवाच

त्वदनुग्रहतो ज्ञातं मया तत्त्वं परात्परम् ।
यो हं विश्वं यदाभासो यदानन्दो यदाश्रितः ॥ ६३ ॥
कथङ्कारमसन्नेष प्रपञ्चः प्रसृतो मुने !
यो भाति स कथं तुच्छो नित्यः कथमगोचरः ॥ ६४ ॥

अनात्मरूपता चास्य भासते कथमात्मनः ।
देहेन्द्रियादौ चैतन्यं भोक्तृत्वञ्च किमात्मनि ॥ ६५ ।
सत्यत्वं जगतो रज्जौ सर्पो नभसि नीलता ।
शुक्तौ रूप्यं क्रिया स्वप्ने गन्धर्व-पुरमम्बरे ॥ ६६ ॥
पुण्यापुण्ये वपुर्मोह इत्येते विविधा भ्रमाः ।
यथा तंत्रान्तरे प्रोक्तं चातुर्विध्यं वदामि ते ॥ ६७ ॥
असत्ख्यातिः शून्यवाद-मतं सौत्रान्तिका जगुः ।
असन्नेवोरगो भाति रज्ज्वर्थस्त्वनुमीयते ॥ ६८ ॥
ख्यातिर्भाने च कथने तदत्र भ्रम-गोचरम् ।
आत्मख्यातिरिति प्राह योगाचार-विचक्षणः ॥ ६९ ॥
बुद्ध्योपकल्पितः सर्पो रज्जुज्ञानापसारणात् ।
वासना-वासितं भाति विज्ञानं क्षणिकं यतः ॥ ७० ॥
कणभक्षाऽक्षिचरणा अन्यथाख्याति-वादिनः ।
देशान्तर-स्थितः सर्पो रज्जुदेशे प्रतीयते ॥ ७१ ॥
न चैवं तिमिरग्रस्त-चक्षुषा कथमाश्रयात् ।
अधिकं गृह्यते वस्तु दोषे दर्शन-बाधके ॥ ७२ ॥
सत्यं पित्त-प्रकोपेन जाठरे भस्मको गदः ।
चतुर्गुणं पचेद्-यद्-वद् तद्-वद् दूर-ग्रहो दृशः ॥ ७३ ॥
मणिकारस्तु भित्यादि व्यवधानं न पश्यति ।
चक्षुस्तस्मादन्यरूपाम् अन्यथाख्यातिमिच्छति ॥ ७४ ॥
प्राभाकराः कापिलाश्च मुख्यामख्यातिमाश्रिताः ।
यथार्थाः प्रत्ययाः सर्वे नाऽप्रामाण्यं भ्रमो न च ॥ ७५ ॥
सर्पादि धर्म-स्मरणं प्रत्यक्षं रज्जु-धर्मिणः ।
भ्रमत्वेन व्यवहृतो विवेकाग्रह एतयोः ॥ ७६ ॥
अनल्प-क्षणतो नात्मा नासदर्थानुबन्धनात् ।
नान्यथामेयसादृश्यात् समूहालम्बनादपि ॥ ७७ ॥

आपणस्थात् खनिस्थाद्वा कामिनी-करकङ्कणात् ।
प्रमातॄणां भयान्मोहाच्चक्षु र्न रजतं हरेत् ॥ ७८ ॥
एष शास्त्रविदां पन्थाः प्रभेदेनोपपादितः ।
आलम्बनीयः कतमो नय इत्यनुशाधि माम् ॥ ७९ ॥

गुरुरुवाच

भ्रमोऽनिर्वचनीयो हि न ज्ञानद्वयकल्पना ।
सम्भवद्रज्जु-प्रत्यक्षे कथं भीतः पलायते ॥ ८० ॥
तस्माद् मन्दान्धकारे तु स्तोकालोक-प्रसारिणी ।
रज्जूपहित-चैतन्या विद्या क्षोभेण सर्पताम् ॥ ८१ ॥
प्राप्नोति सात्त्विकाऽविद्या मनश्चैतन्य-योगतः ।
ज्ञानाकारत्वमिति वै सर्पज्ञान-भ्रम-स्थितिः ॥ ८२ ॥
बाधार्हं प्रत्ययार्हञ्च सदसद्भ्यां विलक्षणम् ।
नोभयं द्वयवैरूप्यादनिर्वाच्यमतो विदुः ॥ ८३ ॥

शिष्य उवाच

सन्मात्रे ज्ञातमध्यस्तं जगदेतन्मृषात्मकम् ।
अधुना ज्ञातुमिच्छामि यदधिष्ठानमस्य हि ॥ ८४ ।

गुरुरुवाच

तदैव निजतादात्म्यज्ञानाद् दृश्यते जगत् ।
अधिष्ठानमथाधारस्तमेवास्य सनातनः ॥ ८५ ॥
सामान्यं सदिदंरूपम् आधार इति कथ्यते ।
विशेषः स्यादधिष्ठानं रज्जुत्वमवि मुक्तता ॥ ८६ ॥
शुद्धत्वं पापराहित्यं बुद्धत्वं बोध-रूपता ।
नित्यत्वं भेद-राहित्यं मुक्तत्वं बन्ध-दूषणात् ॥ ८७ ॥

शिष्य उवाच

ब्रह्मन्नसत्यबन्धस्य द्रष्टा को मन्यते ऽव्ययः ।
अधिष्ठानमथाधारो न द्रष्टा स्यादविक्रियः ॥ ८८ ॥

भिद्यते हि यतो द्रष्टा दृश्याद् व्याप्तिस्तदाश्रयात् ।
व्याप्तिज्ञानेन सिद्ध्यन्ति हेतवोऽव्यभिचारिणः ॥ ८९ ॥

गुरु रुवाच

अधिष्ठानादभिन्नं हि कल्पितं दृश्यते जगत् ।
अभिन्नः कल्पको द्रष्टा विवर्त्तात् स्वैकसंश्रयात् ॥ ९० ॥
द्विविधं स्यादधिष्ठानं जडं चेतनमेव च ।
जडात्तु भिन्नो रज्ज्वादे र्द्रष्टाऽभिन्नस्तु चेतनात् ॥९१ ॥
मायायाः शुद्ध-चैतन्यमाश्रयो विषयः स्वयम् ।
घटाच्छन्नो यथा दीपो घटमन्तः प्रकाशयेत् ॥ ९२ ॥
चेतनं हि मृषा स्वप्नादधिष्ठानं न भिद्यते ।
निर्धारयैवं जगतः तदभिन्नं तदाश्रयम् ॥ ९३ ॥
आश्रयाश्रयिणो र्नास्ति पार्थक्यं तदभेदतः ।
पश्य स्फुल्लिङ्गान् दहने दाहं तच्छक्तिमेकतः ॥ ९४ ॥
इत्थं दुःखमसद्भूतम् भूप्रतीतं प्रतीतवत् ।
साधो ! नित्य-निवृत्तस्य निवृत्तिं किमिवेच्छसि ॥ ९५ ॥

शिष्य उवाच

मृषाऽपि जगदत्यन्तं बाधितुं स्पृहयाम्यहम् ।
विभीषिका यथा स्वप्ने प्रशमेन चिकित्स्यते ॥ ९६ ॥
आत्मदर्शी गुरु र्लोके दुर्लभो विगत-स्पृहः ।
कर्ण-फूत्कृति-मात्रेण गुरुसंज्ञा अनेकशः ॥ ९७ ॥

गुरुरुवाच

निरुक्तः साधनग्रामो येनात्मा सम्प्रसीदति ।
नः कर्मणोपासनया मनस्त्यजति सञ्चितम् ॥ ९८ ॥
जगद् ब्रह्मणि ब्रह्माऽहं भात्यज्ञानेन भावितः ।
भव-खेद-हरो बोधो मन्तव्यः शास्त्र-युक्तिभिः ॥ ९९ ॥
एष ते विशदः ख्यातो व्यासतः सोपपत्तिकः ।
सर्व-वेदान्त-सिद्धान्त-सार आभास-वादता ॥ १०० ॥

शिष्य उवाच

त्वत्कृपालेशतो ज्ञानमज्ञानहरणं मया।
विदितं तमसो ध्वंसी प्रभाते तरणि र्यथा ॥ १०१ ॥
ब्रह्माभिन्नस्तु जीवो यः प्रोक्तः स न विचार्यते।
मृत्यु-जन्मादिमान् जीवः क्लेशपाशादि-सङ्गतः ॥ १०२ ॥
स कथं समतां यायादात्मना हतपाप्मना।
पुण्य-पापादिकर्ता च कथं स्यात् स्वयमीश्वरः ॥ १०३ ॥
सखायौ पक्षिणौ वृक्षमेकशाखाग्रमास्थितौ।
एको भुङ्क्ते न भुङ्क्तेऽन्यो वदत्याथर्वणः श्रुतिः ॥ १०४ ॥
वृक्षः प्रकृतिरव्यक्तं सुपर्णा ईश-देहिनौ।
अभोक्ता परमात्माऽत्र भोक्तु भिन्नः स्फुटं वचः ॥ १०५ ॥
लक्षणानि विचक्ष्वाथ जीवेश्वर-विदां विभो !।
यथा कूटस्थ मात्मानं प्रतिपद्येयमञ्जसा ॥ १०६ ॥

गुरुरुवाच

शृणु तात ! प्रवक्ष्यामि जीव-ब्रह्म-विनिर्णयम्।
द्वैतापत्तिहरं न्याय्यं चातुर्विध्यमभेदभाक् ॥ १०७ ॥
यथाकाशं विभिद्येत स्वरूपादेकमेव तु।
घटाकाशो जलाकाशो मेघाकाशो महावियत् ॥ १०८ ॥
एवं चतुर्धा चैतन्यं कूटस्थो जीव एव च।
ईश्वरो ब्रह्म विमलं त्रितयातीतमुत्तमम् ॥ १०९ ॥
जलपूतरितकुम्भस्य योऽवकाशप्रदो भवेत्।
तन्मात्रगगनाकारो घटाकाश इहोच्यते ॥ ११० ॥
अद्भिः पूर्णो पि यद् व्योम कलशे भाति सान्तरम्।
जलाकाशन्तु तद्विज्ञैः प्रोक्तं त्रुटिकणादिमत् ॥ १११ ॥
पयसि प्रतिबिम्बश्चेत् न गृह्येत विहायसः।
पेऽपि गाम्भीर्य-मरूपस्यापि लक्ष्यते ॥ ११२ ॥

प्रतिध्वनिश्च शब्दस्य नीरूपस्यैव सम्भवेत् ।
अतो न प्रतिबिम्बत्वे रूपवत्त्वं प्रयोजकम् ॥ ११३ ॥
महाकाशस्य मध्ये यत् मेघमण्डलमीक्ष्यते ।
प्रतिबिम्बतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः ॥ ११४ ॥
आसार-सिक्त-पानीयं मेघांशाभ्रांशमभ्रमम् ।
तत्र ख-प्रतिबिम्बो यं नीरत्वादनुमीयते ॥ ११५ ॥
बहिरन्तश्च यो व्यापी निरुपाधिरनावृतः ।
स महाकाश इत्युक्तो विद्वद्भि र्युक्ति-कोविदैः ॥ ११६ ॥
गगनेनोपमानेन चैतन्यस्याऽप्यनन्तता ।
नाऽद्वैतस्यापवादो हि चतुर्भिस्तदुपाधिभिः ॥ ११७ ॥
बुद्धे र्वा व्यष्ट्यविद्याया अधिष्ठानं घटाभ्रवत् ।
भिन्नाऽभिन्नः स कूटस्थो योऽजन्मा प्रत्यगन्तरः ॥ ११८ ॥
प्रतिफलतोऽविद्यायां बुद्धौ जीवेश्वरा वुभौ ।
चिदाभासे स्थितौ पद्मौ जीवः साक्षी तथोदितः ॥ ११९ ॥
कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः ।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥ १२० ॥
कामकर्मयुता बुद्धिस्तस्यां बिम्बान्न भिद्यते ।
प्रतिबिम्बस्तु योऽक्षाणां प्रेरको जल-खोपमः ॥ १२१ ॥
बिम्बस्थानी तु कूटस्थः स्वच्छधी-प्रतिबिम्बतः ।
जपा-पुष्पोपरागेण स्फटिके रक्तिमा यथा ॥ १२२ ॥
साभासबुद्ध्यधिष्ठानं जीव इत्यविशेषतः ।
निष्कर्षोऽस्यापि शुद्धत्वं मेघाकाशवदाश्रितम् ॥ १२३ ॥
सामान्य-चित् प्रमा तत्र प्रमाण-ग्रहणं ततः ।
तत्रारोपप्रमेयाणां ज्ञानन्तु परिशिष्यते ॥ १२४ ॥
चिदाभासो हि बुद्धिस्थः कुर्वन् सुकृतदुष्कृते ।
गमनागमने एति कूटस्थो न हि लिप्यते ॥ १२५ ॥
बिम्बितं गगनं शून्यं यथाव्यापकमक्रियम ।

तथा घट–शकुनादि क्रियया कृतिमद्भवेत् ॥ १२६ ॥
काणादेरिन्द्रियं श्रोत्रं शब्दस्य समवायिनः।
कल्पिताश्च गुणाः पञ्च संख्यादय उपाधितः ॥ १२७ ॥
चतुर्दश–गुणो जीव ईश्वरोऽष्ट–गुणः परैः।
मेघाकाशवदस्माभिश्चिन्मयं सर्वमिष्यते ॥ १२८ ॥
जीवस्त्वम्पद–वाच्यार्थोऽहंपदेनापि चोच्यते।
अहंपदस्य लक्ष्यार्थः कूटस्थः केवलो मतः ॥ १२९ ॥
चिच्छाया या तु मायायामधिष्ठानेन संयुता।
मेघाकाश–वदीशोऽसावन्तर्यामी प्रकीर्त्तितः ॥ १३० ॥
बहिरन्तश्च यद् व्यापि पूर्णमद्वयमक्रियम्।
महाकाशोपमं ब्रह्म न तद् दूरे न चान्तिके ॥ १३१ ॥
चतुर्धा चेतनः प्रोक्तो जीव एव मृषाश्रयः।
अभुञ्जानोऽप्ययं भुङ्क्ते कूटस्थं विद्धि मां शिवम् ॥ १३२ ॥
कर्मकृत् फलदश्चैवाभासो जीवे तथेश्वरे।
शुद्धभागस्तयो र्यस्तु फलदः कर्मदो न सः ॥ १३३ ॥
एवं ते कथित सौम्य! विचिकित्सा–चिकित्सितम्।
वक्त्यात्मानौ हि बुद्धिस्थौ द्वा सुपर्णाविति श्रुतिः ॥ १३४ ॥
ऋतं पिबन्तौ परमे परार्धे लोकवद् गुहाम्।
छायातपौ प्रविष्टौ तौ विदन्त्युपनिषद्गिरः ॥ १३५ ॥
उपाधित्यागादेकत्वमहंब्रह्मास्मि शब्दतः।
निश्चित्य निजमात्मानं शोक–सिन्धुं तरिष्यसि ॥ १३६ ॥

तत्त्वदृष्टिरुवाच

अहं ब्रह्मेति वै वृत्तिर्जायते कस्य हेतवे।
रागद्वेषवती बुद्धि र्न तद्विषयिणी भवेत् ॥ १३७ ॥
नित्यज्ञानान्न कूटस्थो न साभासमतिस्तथा।
भ्रमात्मकाद् ब्रह्मज्ञानात् कथं नश्येत् भ्रमात्मकम् ॥ १३८ ॥

चिदाभासो जडत्वेन नाऽलं ब्रह्मावबुद्धये ।
न वेद जाड्याद् मन्दोऽहं कृपालो ! ब्रूहि नैगमात् ॥ १३९ ॥

गुरुरुवाच

चिदाभासस्य साक्षित्वे सप्तावस्थाः समीरिताः ।
तास्वेव सात्त्विकी बुद्धि रहंब्रह्मास्मि–गोचरा ॥ १४० ॥
तत्र प्रथममज्ञानम् आवृत्ति भ्रंम एव च ।
द्विविधं ज्ञानमाख्यातं शोकनाशोऽतिहर्षकः ॥ १४१ ॥
न जानामीति वेद्यं यद् भावरूपमनादि च ।
भ्रमोपादानमज्ञानं तदुक्तं नव कोटिभिः ॥ १४२ ॥
भिन्नाऽभिन्नोभयाऽविद्या सन्नासन्नोभया न च ।
न सांशा न निरंशा च नोभया कोटयो नव ॥ १४३ ॥
वस्तु नास्तीत्यावरणं न भात्यात्मेति च द्विधा ।
असत्त्वापादकं पूर्वमभानापादकं परम् ॥ १४४ ॥
उत्क्रमानुत्क्रमौ जन्म मृत्युः सुकृतदुष्कृते ।
धर्मोऽधर्म इति भ्रान्तिरध्यारोपो निजात्मनि ॥ १४५ ॥
परोक्षमपरोक्षञ्च द्विविधं ज्ञानमिष्यते ।
परोक्षमस्ति ब्रह्मेति ब्रह्माऽहमपरोक्षधीः ॥ १४६ ॥
असत्त्वापादिकां हन्ति परोक्षज्ञानमावृतिम् ।
अपरोक्षं हरत्येव न भातीत्यखिलं तमः ॥ १४७ ॥
जनिर्मृतिः सुखं दुःखं मयि नास्त्येव लेशतः ।
किन्त्वजन्योऽस्मि कूटस्थो भ्रान्तिनाशोऽयमीदृशः ॥ १४८ ॥
असंशयं चिदानन्दघनं वेत्ति जनो यदा ।
धन्यस्याद्वैत आनंदः शोकनाशो निगद्यते ॥ १४९ ॥
आत्मानं तत्त्वतो ज्ञात्वा संशयाद्यपनोदनात् ।
निरञ्जनोऽहं त्रैगुण्यात् तृप्त एषाऽतिहर्षिता ॥ १५० ॥
नन्वाभासो भिद्यते चेद् ब्रह्मणस्तदहंमतिः ।
भ्रमात्मिका स्यादज्ञानं कथं बाधितुमर्हति ॥ १५१ ॥

मैवं न स्वान्यतादात्म्यं चिदाभासोऽवभासते ।
अहं पदस्य लक्ष्यार्थः कूटस्थ इह भास्यते ॥ १५२ ॥
अभेदस्तस्य शुद्धेन वृत्त्या च विषयीकृतः ।
वृत्तिव्याप्य मतो ब्रह्म न फलव्याप्यमन्यथा ॥ १५३ ॥
व्याप्ति र्नियतसम्बन्धो ग्राह्य-ग्राहक-लक्षणः ।
चिदाभासः फलं नाम वृत्तिः सत्त्वं† मितिश्चितिः ॥ १५४ ॥
कूटस्थो विभुना सार्धमभेदेन प्रकाशते ।
एतद् बाध-सामानाधिकरण्यं वेदसम्मतम् ॥ १५५ ॥
इदंपदार्थः स्थाणुत्वं बाधित्वा पुरुषान्वयी ।
अहंपदार्थः कूटस्थापवादाद् ब्रह्म सिद्ध्यति ॥ १५६ ॥
सामानाधिकरण्यं हि मुख्यं नीलोत्पलादिषु ।
नेह-नाना-नेति-नेति श्रुतिभि र्बाधितं मतम् ॥ १५७ ॥

तत्त्वदृष्टि रुवाच

आभाससहितः साक्षी योऽहंवृत्तौ प्रकाशते ।
युगपद् भिन्न-काले वा ब्रूहि तत्त्वं सयुक्तिकम् ॥ १५८ ॥

श्रीगुरुरुवाच

युगपत् प्रत्ययं यातः साक्ष्याभासौ न संशयः ।
साभासमन्तःकरणं भास्यं साक्षी स्वयम्प्रभः ॥ १५९ ॥

तत्त्वदृष्टिरुवाच

विनैवेन्द्रियसम्बन्धं ब्रह्माहमिति निश्चयः ।
अपरोक्षं न जनयेद् बोधं सामग्र्यभावतः ॥ १६० ॥
चाक्षुषं कृष्णमूर्त्यादि न ब्रह्मोपहितं तु तत् ।
कार्याकारतया वेद्य मर्थवादै र्विशेषतः ॥ १६१ ॥

गुरुरुवाच

प्रत्यक्षमिन्द्रियेणैव बाधस्तस्यापि दृश्यते ।
सुख-दुःखे हि प्रत्यक्षे साक्षिभास्ये अतीन्द्रिये ॥ १६२ ॥

---

† एते पर्याया ।

तथैव तत्त्वमस्यादिवाक्यादप्यपरोक्षता ।
शब्दोऽव्यवहितो गृह्णन् न परोक्षं प्रकाशते ॥ १६३ ॥
अहंरूपतया भातं निरावरणमद्वयम् ।
ज्ञातमुत्तम--संस्कार--सम्पदा तत्त्वदर्शिना ॥ १६४ ॥
भव--दावानल दग्धुं दादुरूपो दयानिधिः ।
मया गुरुप्रसादेन प्रीयतां समुपासिता ॥ १६५ ॥

इति चतुर्थः तरङ्गः सम्पूर्णः

अथ पञ्चमः तरंगः

चतुर्थे श्रुतिवाक्यानां दृष्टान्तेन समन्वयः ।
प्रोक्तोऽद्वैतेऽविरोधस्तु पञ्चमेनोपवर्ण्यते ॥ १ ॥
स्वतःसिद्धस्याऽभेदस्य साधन नैव युज्यते ।
किन्त्वारोपितभेदस्य युक्तिभिः प्रतिषेधनम् ॥ २ ॥
कार्यसामान्यवच्छब्दो मिथ्या वेदस्य वा गुरोः ।
वचनंद्वैतनाशाय न स्यात् सत्येऽद्वयः कथम् ॥ ३ ॥
मैवं स्वप्ने यथा व्याघ्रीव्रणः स्वप्न--चिकित्सितः ।
स्वप्नवैद्यौषधेनैव न हेतुस्तत्र सद् भिषक् ॥ ४ ॥
एवं मृषात्म--बन्धोऽयं मिथ्या--गुरु--निवारितः ।
अपौरुषेयः शब्दोऽपि मायान्तं स्थातुमर्हति ॥ ५ ॥
व्योमादिपञ्चभिः सृष्टिस्तेजोऽबन्नैः त्रिभिः क्वचित् ।
प्रक्रियाभेदतो दृष्टा तैत्तिरीय--छांदोग्ययोः ॥ ६ ॥
चैतन्योपाधिनिर्देशो व्योम्नि तेजसि सर्वशः ।
आत्मैवासीदिति प्राप्ते सूत्रं तत्तु समन्वयात् ॥ ७ ॥
पूर्णप्रज्ञादि विदुषां चतुर्णां भेदवादिनाम् ।
वेदाद् विरुद्धं वाक्यं स्यादप्रमाणं हि सर्वथा ॥ ८ ॥
व्यास--वाल्मीकि--वचनाद्वाशिष्ठे सुप्रतिष्ठितः ।
केवलाद्वैतसिद्धान्तो मुक्तये कल्पपादपः ॥ ९ ॥

कलौ श्रीशङ्कराचार्यः शङ्करोऽवतरिष्यति ।
गङ्गातो मूर्तिमुद्धृत्य पाखण्डान् खण्डयिष्यति ॥ १० ॥
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।
अन्योऽसावन्योऽहमिति यो वेद स पशु र्यथा ॥ ११ ॥

द्वितीयाद् भयमित्याद्याः श्रुतयो भेदबाधिकाः ।
ताभिस्त्वं ब्रह्मसूत्रैश्च कुरु सिद्धान्त-निर्णयम् ॥ १२ ॥
कुबुद्धिवासितो भेदः शास्त्रजाद्वैतनिश्चयम् ।
तीव्रेण प्रतिबन्धेन भेदभीरोः प्रबाधते ॥ १३ ॥
भर्त्तौ प्रेतत्त्व-संस्कारो राज्ञः प्रत्यक्ष-वर्त्तिनि ।
सचिवै र्दृढ़तां नीतो भीतये प्रीतये न तु ॥ १४ ॥
भवस्य यौवतं कूपं बन्धवो निगडा दृढाः ।
विदुषां सम्पदो गर्त्ता इति मत्वा सुखी भव ॥ १५ ॥
मनुष्याधिक-गन्धर्व-कर्मदेव-बृहस्पति—
ब्रह्मान्त-विषयानन्दा अन्योन्यस्यैव दुःखदाः ॥ १६ ॥
यः श्रोत्रियोऽकामहतः स सर्वानतिवर्त्तते ।
न वर्द्धते कनीयान्नो कर्मणेत्याह तित्तिरिः ॥ १७ ॥
हार-यष्टी-प्रभासार-स्नात-नारी-स्तनान्तरे ।
वृथैव विगतं जन्म पश्यापश्यौ न पश्यतः ॥ १८ ॥
एवमभ्यास-वैराग्य-निरुद्धे नान्तरात्मना ।
वेदान्त-चिन्तया कालं नय सुप्ते मृ तेः पुरा ॥ १९ ॥
तत्त्वदृष्टिस्तु सम्प्राप्त-विवेको गुरुभक्तिमान् ।
भूयः पप्रच्छ चिदचिद्विशदीकरणं क्रमम् ॥ २० ॥

आकाशादिक्रमात्सृष्टिः प्राणादिक्रमतोऽथवा ।
एकैकं युगपद्वा स्यादव्यक्ताद् व्यक्तिभेदतः ॥ २१ ॥
सत्यं न क्रमिकान् स्वप्ने जीवो रथगजार्वतः ।
कल्पयत्येवमीशोऽपि दशपञ्चकलं जगत् ॥ २२ ॥

पुरुषः षोडशकलश्छान्दोग्येषु निगद्यते ।
निष्कलं निष्क्रियं लेलायतीव ध्यायतीव च ॥ २३ ॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।
इच्छामात्रं विभोः सृष्टिः स्वभावात् स्फुरतः सतः ॥ २४ ॥
शुद्धा चिद् जीव ईशश्च भेदश्चिदुभयाश्रितः ।
माया तया चितुसम्बन्धः षडनादीन् प्रचक्षते ॥ २५ ॥
मुख्योऽनादिरनुत्पत्तिः सर्वाभाव-विवर्जितः ।
अज्ञातहेतु गौणत्वादनादिः सान्त उच्यते ॥ २६ ॥
अविद्या प्रागभावश्च मनो वेदा जगत्त्रयम् ।
कालोऽन्धतमसं जीवः सान्तानादय इत्यमी ॥ २७ ॥
माया प्रधानमज्ञानमविद्या प्रकृतिश्च सा ।
रजःसत्त्वतमःसाम्यावस्था कारणमुच्यते ॥ २८ ॥
शुद्धचैतन्यमाश्रित्य शुद्धमाच्छादयत्यतः ।
स्वाश्रयैव स्वविषया भवेद् गेहान्धकारवत् ॥ २९ ॥
पश्चिमा प्राचीतमसो नाश्रयो नापि गोचरः ।
तेनाश्रयविषयत्वे निर्विभागचिति भजेत् ॥ ३० ॥
मायाऽऽभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतिः स्वयम् ।
स्थितौ कल्पयतीत्यर्थे मायाजन्यौ ब्रवीति तौ ॥ ३१ ॥
एकोपाधिस्थ-जीवस्य निखिलस्य शरीरिणाम् ।
यदन्तःकरणाज्ञानं नष्टं तन्मात्र-मोक्षणम् ॥ ३२ ॥
वाचस्पतिस्तु न ब्रह्म वेद्म्यज्ञोऽहमितिस्थितेः ।
जीवाश्रितां तां शुद्धस्याऽऽवरिकां प्रतिपद्यते ॥ ३३ ॥
तन्मतेऽज्ञाननानात्वं ब्रह्मावरणमेकदा ।
अनेकेश्वरतापत्ति र्नानाजीवप्रकल्पना ॥ ३४ ॥
ईशस्य जीवकल्प्यत्वमिति श्रुतिबहिर्मुखम् ।
तथापि न विरुद्ध्यन्ते प्रबोधे ब्रह्मवादिनः ॥ ३५ ॥

आभासो यस्तु मायायां शुद्धसत्त्वमयी च सा ।
अधिष्ठानं च सम्भूय सर्वज्ञः परमेश्वरः ।। ३६ ।।
स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारणं शङ्करो जगौ ।
जीवशक्त्या तदीशत्वं बभाषे भामतीपतिः ।। ३७ ।।

मलिनसत्त्वप्रधानाऽविद्याऽऽभासेन संयुता ।
अधिष्टानञ्च जीवः स्यात् स कर्मफलभाग् भवेत् ।। ३८ ।।

रजस्तमोऽभिभूतत्वं मालिन्यं केवले न तत् ।
सत्त्वे वैषम्यनैर्घृण्ये न कर्माप्रेक्षिणः प्रभोः ।। ३९ ।।

देव–तिर्यङ्–मनुष्यादि–जीवानामनुपूर्वशः ।
हेतुः कर्मोत्तरे सर्गे क्षीरवत् परिणामिता ।। ४० ।।

उत्पत्तिरीति भूतानां पञ्चकोशानुशीलनम् ।
व्यासेन पञ्चदश्यादौ वेदितव्यं मुमुक्षुभिः ।। ४१ ।।

बुद्धिः सत्त्वेन पञ्चानां रजोंशात् प्राणसम्भवः ।
स्वं स्वं ज्ञानेन्द्रियं सत्त्वात् कर्मेन्द्रियाश्रयं रजः ।। ४२ ।।

वपुः स्वप्ने स्थूलं न भवति सुखात्मा त्वनुगतः
　　सुषुप्तौ नो स्वप्नः परशिवमयं कारणगतम् ।
समाधौ निर्बीजे प्रभवति न लिङ्गं न करणम्
　　विविक्तः कोशेभ्यो निज–महिम–वा[illegible]यैक–सरणिः ।। ४३ ।।

मुञ्जेषिकावद् भेदेन वल्कलाद् गुच्छवत् स्फुटः ।
आत्मा देहत्रयातीतो न नरोति करोति च ।। ४४ ।।

गगन–कुसुम–तुल्यं विश्वमेतस्य कर्त्ता
　　　　न हि भवति नितान्तं निर्जने किं प्रकाशैः ।
किमनुभव–विनाश्यं यद्विपर्यस्तमस्तं
त्यज सकल–विलासं निश्चलो निश्चलस्त्वम् ।। ४५ ।।

भवितव्यं न कर्त्तव्यं भोगयोगस्पृहा न च ।
अपदो याति गृह्णाति सर्वेन्द्रिय–विवर्जितः ।। ४६ ।।

भुंक्ते परमहंसोऽपि युवतीनां शतं यदा ।
बुद्ध्यारूढोऽप्यनारूढो नित्यसर्वमयोनिजः ॥ ४७ ॥
अहंग्रहोपासनेन लयचिंतनमाचरेत् ।
विस्तरस्तस्य माण्डूक्ये पंचीकरण-वार्त्तिके ॥ ४८ ॥
भोगान् संहरतेन्द्रियेषु तदलम्बुद्धिं मनो-वासना-
त्यागे तान् जहि भूतभौतिकमतौ छित्त्वा समष्ट्याश्रयम् ।
स्वात्मानं परिशेषतोऽवनिलयं पिण्डे परे ब्रह्मणि
विष्णुं शम्भुमवेहि मामक-तनुं सा निर्गुणोपासना ॥ ४९ ॥
मूलाज्ञान-समष्टि-सेश्वरपरः प्राज्ञो न चाव्याकृतः
सूत्रात्मा न च तैजसोऽस्मि मतिमान् विश्वो न वैश्वानरः ।
ओङ्कारः शिवशान्त रूपसकलद्वैतप्रपञ्चास्पदम्
शब्दब्रह्म परं स्मरन्ति मुनयो यं सोऽस्म्यखण्डार्थधीः ॥ ५० ॥
तत्त्वदृष्टिरदृष्टिश्च श्रुतवन्तौ यथार्थतः ।
गुरुदेव-कृपा-दृष्ट्या कृतार्थौ नात्र संशयः ॥ ५१ ॥

इति पञ्चमस्तरङ्गः संपूर्णः

अथ षष्ठः तरंगः

षष्ठे स्फुटतरैस्तर्कैर्दुरूहैः श्रुतिसम्मतैः
अज्ञाननाशनोपाय आनायो † भेदवादिनाम् ॥ १ ॥
अचेतनं स्वप्नसमं मिथ्याभूतं विकारजम् ।
अनात्मेत्यत्र संदिग्धस्तर्कदृष्टिरभाषत ॥ २ ॥
स्वाप्निकं मनसा दृष्टं सत्यं स्थूलं विमुञ्चता ।
मनसा स्मर्यते ज्ञातं जाग्रदज्ञातमेव सत् ॥ ३ ॥
स्वप्ने हस्ती पुरोवर्त्ती नान्यथा ग्रहणस्मृतेः ।
मनोमयः स सन्नेव गुणै रंशैः प्रतीयते ॥ ४ ॥

† आनायो = जालम्

नैवं सुज्ञोऽपलपितुं स्वप्नसत्यत्वमर्हति ।
त्वङ्मनोयोगतो ज्ञातं पुरीतद्देशवर्त्तिना ॥ ५१ ॥

अत्राहु लिङ्गदेहस्य निर्गमे स्यादमङ्गलम् ।
निष्प्राणत्वं शवस्येव प्रसुप्तः किं न दृश्यते ॥६ ॥

स्थितमेव मनः स्थूले वाटिकारथहस्तिनः ।
सामग्र्य-भावात् सृजति मृषाजातमहैतुकम् ॥ ७ ॥

त्रिपुटीकरणं कर्त्ता प्रतिभासोऽयमान्तरः ।
सृजते मन इत्याह बृहदारण्यकश्रुतिः ॥ ८ ॥

स्वप्नवद्देशकालादि-रहिते परमात्मनि ।
जगद् वितथमेकान्तं जाग्रतोऽन्योऽन्यनाशवत् ॥ ९ ॥

शिष्य उवाच

अनादि-संसार-परम्परायां स्वप्नक्षणा दीर्घतमा विभान्ति ।
अज्ञो हि बद्धो मतिमान् विमुक्तो यामायकल्पो न मृषा विधातुः ।

गुरुरुवाच

स्वप्नं शोचसि वत्स यत्र सकलं मिथ्याश्रुतं कल्पितम् ।
माता-पितृ-गुरु-द्विजादि-सुरलोकान्तं विलासास्पदम् ।
दृष्ट्वाऽनिर्वचनीयविभ्रममभूद् देवोऽगृधो यत्क्षणात् ।
चाण्डालो नरकी वनान्तशयनो दिव्यो द्विजः स्वप्नगः ॥ ११ ॥

वेदाः पद्मवनानि भेदि-मरुता क्षिप्ताः क्रिया-कण्टकैः
तत्त्वार्थाः कुसुमानि हन्त विकिरन्त्युन्मूलशूलैः समम् ।
दीनान् कारुणिकः सुशिष्यमधुपान् उद्धर्त्तुकामो दृढैः
सूत्रैः साधु बबन्ध पान्थहृतये व्यासाय तस्मै नमः ॥ १२ ॥

शृणु वत्स ! प्रवक्ष्यामि सर्व-वेदान्त-निर्णयम् ।
महावाक्यै र्यथा तत्त्वं-पदार्थ-परिशोधनम् ॥ १३ ॥

'प्रज्ञानम्ब्रह्म' ऋग्वेदः साम 'तत्त्वमसि'-श्रुतिः ।
'अहम्ब्रह्माऽस्मि' यजुषाम् 'अयमात्मे' त्यथर्वसु ॥ १४ ॥

सामर्थ्यं सर्व-शब्दानां शक्तिस्तादात्म्ययोगतः ।
प्रकाशो दहनस्येव पदार्थान्नातिरिच्यते ॥ १५ ॥
साभास-माया वाच्यार्थो लक्ष्यार्थः केवला चितिः ।
भागत्यागेन बोद्धव्यं जगद्-व्यापार-वर्जनम् ॥ १६ ॥
वैशद्यं प्रक्रियायास्तु विद्यारण्योक्तवर्त्मना ।
दर्शयामो यथा शिष्या मा भूद् वो गहनाद् भयम् ॥ १७ ॥
येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च ।
स्वाद्वस्वादू विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥ १८ ॥
चतुर्मुखेन्द्र-देवेषु मनुष्याश्व-गवादिपु ।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि ॥ १९ ॥
परिपूर्णः परात्माऽस्मिन् देहे विद्याधिकारिणि ।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ॥ २० ॥
स्वतःपूर्णःपरात्माऽत्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः ।
अस्मीत्यैक्य-परामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ॥ २१ ॥
एकमेवाद्वितीयं सद् नाम-रूप-विवर्जितम् ।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥ २२ ॥
श्रोतु देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वं-पदेरितम् ।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥ २३ ॥
स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम् ।
अहङ्कारादिदेहान्तात् प्रत्यगात्मेति गीयते ॥ २४ ॥
दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते ।
ब्रह्म-शब्देन तद् ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ॥ २५ ॥
नन्वस्तु लाघवेनैव लक्षणा न पदद्वये ।
किन्त्वेकपदमात्रे सा तेनाऽप्यद्वैत-साधनम् ॥ २६ ॥
यदि पूर्वपदे ब्रूहि त्रिषु पूर्वं पदं पुनः ।
जीवस्य वाचकं तत्त्वमसि वाक्ये तु नेदृशम् ॥ २७ ॥
जीववाचि पदे कृत्वा लक्षणां क्वचिदीश्वरे ।
कस्त्वां दुस्तरसंसारे मज्जन्तं पारयिष्यति ॥ २८ ॥

अथोत्तरपदे कृत्वा लक्षणां भेद-पुष्टये ।
सर्वज्ञस्य त्वंपदेन जीवत्वं प्रापितं त्वया ॥ २९ ॥
सर्वज्ञं कारकं देवं जीवांशेनाऽन्वितं ब्रुवन् ।
षष्ठी-पुत्र ! न जिह्वेषि वेद-वादान् प्रतारयन् ॥ ३० ॥
अथ तत्त्वमसीत्यत्र त्वंपदे लक्षणा यदि ।
आस्तां साक्षिण ईशत्वं वाच्यार्थो न हि ते विभुः ॥ ३१ ॥
यदि त्वंपद-वाच्यार्थे व्यापकं न निवेश्यते ।
निरूढलक्षणा न स्यात् परिच्छिन्ने त्वसम्भवः ॥ ३२ ॥
तस्मात् पदद्वये मुख्यां लक्षणां सम्प्रचक्षते ।
अभेदसिद्धौ त्वमहम्पदे हि त्यागमर्हतः ॥ ३३ ॥
वैय्याकरण-भाट्टानां भेदाभेदमते स्थिते ।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म श्रुतिरर्थं प्रकाशते ॥ ३४ ॥
लक्ष्यं दादुपदस्यापि प्रिय-भात्यस्ति-गोचरम् ।
विदेह-सेव्यं वदता निश्चलेन चलीकृतम् ॥ ३५ ॥
बन्धो मूढान्नयति नरकं सत्यताभ्रान्तिजन्यो—
मायाकूपः कलिलमलिनो रागतामिस्र-गूढः ।
प्रत्यक् पुष्पे मधुपरिचितेऽभ्रान्तपुष्टा परोक्षः ।
स्वात्मारामे सुदिवि रमते सौरभं तस्य मोक्षः ॥ ३६ ॥

इति षष्ठस्तरङ्गः सम्पूर्णः

अथ सप्तमः तरंगः

उत्तमो मध्यमो हीनस्त्रय एवाधिकारिणः ।
उपदेशं गुरोः प्राप्य ब्रह्मासंशयमासत ॥ १ ॥
उपन्यस्तं यथा तत्त्वप्रमाणै भेदबाधकैः ।
स्वरूपनिष्ठा-युक्तिस्तु सप्तमे विनिरूप्यते ॥ २ ॥

तत्त्वदृष्टिस्तत्त्वज्ञानाद् व्ययेताखिलबन्धनः
क्षिप्तः संस्कारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत् ॥ ३ ॥
विहाय कामांश्चरति पवन-प्रेरितो यथा ।
दिक्काल-वस्तु-विच्छेद-मनःखेद-निरङ्कुशः ॥ ४ ॥
कदाचिद् याति रथिकः पश्यन् उपवनश्रियम् ।
क्वचित् पदातिरेकाकी पुनाति जगतीतलम् ॥ ५ ॥
जातु स्वपिति पर्यङ्के महीपृष्ठे लुठत्यपि ।
नानुशेते न शेते च कामैः कामानुपारमन् ॥ ६ ॥
भोगा भोगाय विद्वांसं न यान्त्यपितु पूर्त्तये ।
सेवयन्ति न सेवन्ते नद्यः सिन्धुं हविर्ज्जलम् ॥ ७ ॥
यथा कलापिनो मोदो घनेषु न रसेषु च ।
विदुषोऽपि तथानन्दो दर्शने नानुकर्षणे ॥ ८ ॥
देववत् प्रणमन्त्येनं गर्हयन्त्यपि कर्मिणः ।
प्रियाप्रियेषु विरसो हर्षोद्वेगौ न वेत्त्ययम् ॥ ९ ॥
एवं जगति मुक्तात्मा प्रवृत्ति-नियमं विना ।
निरीहो निर्ममोऽकामः प्रारब्धं यापयन् स्थितः ॥ १० ॥
भवेत् समाधिरष्टाङ्गः तान्यंगानि निबोध मे ।
पातञ्जले योगशास्त्रे समाधिरुपबृंहितः ॥ ११ ॥
यमाः सत्य-ब्रह्मचर्याऽहिंसाऽस्तेयाऽपरिग्रहाः ।
नियमाः शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-भक्तयः ॥ १२ ॥
वैधीं भक्तिं तु शाण्डिल्यः साङ्गोपासनमत्रिजः ।
ईश्वरप्रणिधानञ्च पठत्यर्थात् पतञ्जलिः ॥ १३ ॥
आसनं सिद्ध-पद्मादि स्थिरं चित्तसुखावहम् ।
समाध्यंगं क्रियारूपं बलकारि चिकित्सतम् ॥ १४ ॥
प्राणायामास्तु घेरण्डसंहितायां यथोदिताः ।
बाह्यास्तेऽष्टविधास्त्वत्र सहजाभ्यन्तरोदयाः ॥ १५ ॥
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरितः ।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरुच्यते ॥ १६ ॥

ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः परिकीर्त्तितः ।
प्राणायामो निरोधोऽयमज्ञानां घ्राण-पीडनम् ॥ १७ ॥

चित्तं देशेषु नाभ्यादिषट्सु बद्धं तु धारणा ।
ध्यानं दर्शन--दृग्दृश्य--प्रत्ययस्यैकतानता ॥ १८ ॥

सविकल्पः समाधिस्तु द्विविधोऽद्वैतभावनः ।
अद्वैतावस्थितिश्चैव निर्विकल्पस्ततो भवेत् ॥ १९ ॥

सविकल्पोप्युभयथा योगिवर्यैः समाहितः ।
आद्यः शब्दानुविद्धोऽन्योऽननुविद्धश्च शब्दतः ॥ २० ॥
जप-मन्त्रानुग-प्राणः प्रथमः सक्रियात्मना ।
शब्द-शून्येऽस्पर्श-योगे द्वितीये निष्क्रियं मनः ॥ २१ ॥

ध्यातृ-ध्यान-ध्येय-रूप-त्रिपुटी-सहितं यदा ।
वितिष्ठतेऽन्तःकरणं तदा स्यात् सविकल्पकः ॥ २२ ॥

तदेवेत्यर्थ-निर्भासं त्रिपुटी-भान--वर्जितम् ।
निर्वाण-दीपवच्चित्तं निर्विकल्पक इष्यते ॥ २३ ॥

प्रतिबन्धास्तु चत्वारो लयो विक्षेप एव च ।
कषायश्च रसास्वादः समाधिस्तै र्निरुध्यते ॥ २४ ॥
लय आलस्य--निद्रादि प्रत्यन्तःकरणप्लवः ।
अज्ञाने वृत्त्युपादाने मनस्तेनैव लीयते ॥ २५ ॥
लयात्तु वृत्तिं संयम्य कुर्याद् ब्रह्ममुखीं यमी ।
चित्तसम्बोधनं ह्येतद् गौड़पादैरुदाहृतम् ॥ २६ ॥
विक्षेपो वृत्तिवैरूप्यं श्येनाद् भीता कपोतिका ।
यथा स्वायतनं गत्वा मीलन्नयनकातरा ॥ २७ ॥

निवृत्ता ग्रस्यते तद्वद् मनोवृत्तिर्भ्रमाकुला ।
विमूढा काममोहाद्यैर्लक्ष्य--भ्रष्टा विषीदति ॥ २८ ॥
तस्मादेकान्त आसीनो विक्षेपं विसृजेद् मुनिः ।
दूरे स्यात् सर्वभूतेभ्यः स्पर्शोऽप्येनं विदूषयेत् ॥ २९ ॥

राग-द्वेषज-संस्काराः कषाया बाह्य-भुक्तिजाः ।
आन्तरास्तु मनोराज्य-भाविनः शोक-हेतवः ॥ ३० ॥
कर्माग्निवात्यास्ते वृत्तिं शान्तां चपलयन्त्यहो ।
सकषायस्य चित्तस्य काषायैः किं प्रयोजनम् ॥ ३१ ॥

क्षिप्ता मूढा च विक्षिप्ता सैकाग्रा निरुद्धाऽपि च ।
पञ्चधोक्ता योगशास्त्रे ह्यन्तःकरण-भूमिकाः ॥ ३२ ॥

विक्षिप्ता तत्र युज्येत सत्त्वावेशात् समाधिना ।
महावाक्य-दृढावेशात् कषायान् ग्लपयेद् बुधः ॥ ३३ ॥

रसास्वादः त्वलंबुद्धिः शोकनाशेन या भवेत् ।
नष्टे विषधरे विघ्ने निधिलिप्सोर्निरुद्यमः ॥ ३४ ॥
यद्वा सोपाधिकानन्द-रसास्वादात् कृतार्थताम् ।
त्यक्त्वानुपाधिकानन्दे निर्विकल्पः प्रजायते ॥ ३५ ॥

समाधिरन्तःकरण-परिणामः सुषुप्तिवत् ।
सुषुप्तौ लीयते वृत्तिरिह त्वाप्मप्रकाशिनी ॥ ३६ ॥
तत्त्ववित्तु न कर्मभ्यो ध्रुवं नियतजीविकः ।
तुल्ये प्रारब्धवशगे भिक्षाशन-नृपासने ॥ ३७ ॥
सञ्चितं विद्यया छित्त्वा दग्ध्वाऽऽगामि फलोदयम् ।
क्रियमाणेष्वनध्यासः स्पन्दते भोगनिर्भरः ॥ ३८ ॥
योगानबहुमन्वानस्तत्त्वदृष्टि गुरोः पुरः ।
अनुत्क्रान्तेन्द्रियप्राणो लीनो ब्रह्मणि तत्क्षणात् ॥ ३९ ॥

उपासनाक्रमेणान्योऽदृष्टिर्गंगामुपाश्रितः ।
ध्येयं ब्रह्म प्राप्तुकामो गतोऽहंब्रह्मचिन्तनात् ॥ ४० ॥

तर्कदृष्टिस्तु वेदाप्ताऽनुमानैः कृतनिश्चयः ।
वाङ्मये व्यवहारे च ब्रह्म-चिन्तन-तत्परः ॥ ४१ ॥
जगाम विदुषां गोष्ठीं ब्रह्मवादी वितर्कविन् ।
साधुवादैः कवीनाञ्च मुमुचे शास्त्रवासनाम् ॥ ४२ ॥

पुत्रशोकाकुलो राजा शुभसन्ततिरर्थवित् ।
मन्द–वैराग्य–विधुरो न त्यक्तुमशकद् भवम् ॥ ४३ ॥
स पण्डितान् समाहूय सभायां वेदपारगान् ।
पप्रच्छ को नु देवानामपरोक्षो महेश्वरः ॥ ४४ ॥
विष्णुं वैष्णव एव शाश्वतधिया शैवः शिवं कारणम् ।
शाक्तः शक्तिमभीष्टदां प्रणमति श्रेयोऽपकर्षं वदन् ॥
सिद्ध्यर्थी गणपं कविर्दिनकृतं नान्यस्पृहः सेवते ।
भेदग्राहितया निमग्नहृदयास्तीर्णा न मायार्णवम् ॥ ४५ ॥

मिथ्याज्ञानादाकुलात्मानमारात्
प्राप्तस्तातं तर्कदृष्टिर्नोनान्तात् ।
छित्त्वा दुःखं मायिकं कर्मभीरुं–
ब्रह्माद्वैतं निश्चितार्थं बभाषे ॥ ४६ ॥
कर्मोपनीतमपि वासनया प्रशान्तं
राज्योपभोगमनुशास्ति पितुर्निदेशात् ।
शेषं व्यतीत्य किल कुण्डलि–कञ्चुकाभम् ।
लेभे समस्त-भव–कर्म–निदान–मोक्षम् ॥४७॥

रत्नाकरोऽयं विद्यानां वादानां लवणाकरः ।
सुधाकरः पण्डितानां विचारामृत–सागरः ॥ ४८ ॥
संस्कृताब्धेः समानीता भाषायां सूक्तिशुक्तिकाः ।
ताभ्यो मौक्तिकमादातुम् अनुवादः कृतो मया ॥ ४९ ॥
करुणा–कणिका यस्य शेमुषी–सरसीरुहम् ।
विकासयति तं वन्दे शास्त्रलोचनदं गुरुम् ॥ ५० ॥
तदीयं तस्य सेवायां ददता किं बहु कृतम् ।
अतदीयो महामोहो यतस्तस्मै निवेदितः ॥ ५१ ॥

इति श्रीस्वामी–विद्यानन्दकृतः सप्तमः तरंगः सम्पूर्णः

375

इस पुस्तक के संबंध में

१—मुझे खुशी है कि यह अनुवाद परमहंस स्वामी निगमानन्दजी जैसे अधिकारी विद्वान् द्वारा प्रस्तुत हुआ है। इसके साथ जो पादटिप्पणियाँ दी गई हैं; उनमें कतिपय आवश्यक विषयों का तर्कयुक्त स्पष्टीकरण किया गया है, जो लेखक के गंभीर अध्ययन का परिचायक है। ....

आत्मनिष्ठा तक मनुष्य को पहुँचाना वेदांतशास्त्र का मुख्य लक्ष्य है। यह अनुवाद हिन्दी-भाषावित् तमाम जिज्ञासुओं और साधकों के लिए इस कार्य में बहुत सहायक होगा; इसमें मुझे कुछ संदेह नहीं।

—हरिभाऊ उपाध्याय

२—आधुनिक ढंग के ठीक, पूरे और स्पष्ट व्याख्यात्मक वार्तिक की बहुत आवश्यकता थी। आपने इस आवश्यकता की इतने सुन्दर ढंग से पूर्ति कर के हिन्दी-जनता का बहुत उपकार किया है। इसमें संदेह नहीं कि आप इस सटिप्पण अनुवाद से हिन्दी की श्री-वृद्धि होगी।

—रामचन्द्रवर्मा

३—कई बार 'विचार-सागर, वाँचने को जी ललचाया; पर पुराने ढर्रे की वह भाषा बाधा बन कर खड़ी हो जाती रही। अनुवादक ने दुर्लभ निधि को सर्व-सुलभ बना दिया है।

—विश्वनाथ

४—यदि [illegible] निश्चलदास जी जीवित होते तो उन्हें अवश्य डाक्टरेट की पदवी मिल जाती। भाषा पुरानी होने के कारण इस नये युग के लिए इसका समझना महान् क्लेश था। इस क्लेश को दूर किया हमारे [illegible] भाषापत[illegible]जी ने। मैं अपने पूरे अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि यह अनुवाद सभी दृष्टियों से बहुत ही सुन्दर हुआ है।

—योगीन्द्रानन्द
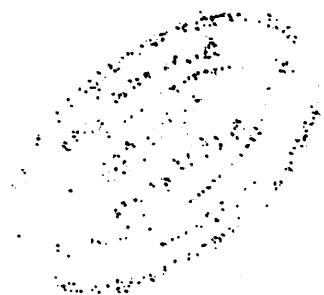
निगम-चिन्तानिका में से

१–खाते समय जिसकी दृष्टि अपने पेट की ओर रहती है; वह पशु और खाते समय जिसकी दृष्टि दूसरे के पेट की ओर रहती है; वह मनुष्य।

२–परिचित हो जाने पर तो कुत्ता भी नहीं काटता। यदि कोई परिचित मनुष्य को काटता (ठगता) है तो उसके मनुष्य होने में संदेह है।

३–यदि अंगताप हो तो भोजन में रुचि नहीं होती और यदि अनंगताप हो तो भजन में रुचि नहीं होती।

४–अपने पर अपना अंकुश आत्मा की उन्नति करता है और अपने पर दूसरे का अंकुश आत्मा [illegible] ता है।